कृपया यह ग्रन्थ नीचे निर्देशित तिथि के पूर्व अथवा उक्त तिथि तक वापस कर दें। विलम्ब से लौटाने पर प्रतिदिन दस पैसे विलम्ब शुल्क देना होगा।

हिन्दी डाइजेस्ट
जनवरी : १९८
मूल्य : रु. २.०

नवनीत

संस्थापक

कन्हैयालाल मुंशी श्रीगोपाल नेवटिया

भारती : स्था. १९५६ नवनीत : स्था. १९५२

*

संपादक

वीरेन्द्रकुमार जैन

सह-संपादक

गिरिजाशंकर त्रिवेदी

उप-संपादक

रामलाल शुक्ल

*

संयोजक

शान्तिलाल तोलाट

*

प्रकाशक

सु. रामकृष्णन्

*

आवरण-चित्र :

परात्परा मां

चित्रकार : कु. मीनाक्षी गुप्त

कार्यालय : भारतीय विद्या भवन

वर्ष : ३१; अंक : १

कुलपति मुन्शी मार्ग, बम्बई-४०० ००७

जनवरी १९८२

चित्रसज्जा : ओके, शेणै, अधिकारी, डा. भटनागर, राणा और आलोक जैन

नवनीत : आपकी निगाह में

नवनीत का दीपावली विशेषांक-८१ देखकर प्रसन्नता हुई। निश्चय ही पिछले वर्ष की अपेक्षा इस वर्ष का यह अंक अच्छा निकला है। उसमें एकरूपता थी, इसमें अनेकरूपता है। हर प्रकार की रचनाएं हैं, हर वर्ग के पाठकों के लिए। 'जीवन अपनी देहरी पर' (डा. विद्यानिवास मिश्र) तथा 'खजुराहो' पर (वीरेंद्रकुमार जैन) के आलेख बहुत अच्छे लगे। श्री जैन ने 'खजुराहो' के संबंध में योग एवं भोग की मूर्तिमान कला पर गंभीर चिंतन किया है। अन्य रचनाएं भी सुरुचिपूर्ण, रोचक एवं ज्ञानवर्द्धक हैं।

—डा. रामनारायणसिंह 'मधुर', सिवनी

० ० ०

नवनीत के निरंतर निखार के लिए मेरा साधुवाद स्वीकार करें। अगस्त '८१ के अंक में आपके 'अनुत्तर योगी' का अध्याय 'कृष्ण कमल में बजता जल-तरंग' हृदय को छू गया। सितंबर और अक्तूबर के अंकों में आपका लेख **'स्वतंत्रता के बाद हिंदी कविता'** वस्तुतः एक उपयोगी सर्वेक्षण है, जिसे हम गागर में सागर कह सकते हैं। अक्तूबर अंक में ही श्री सुरेश सरल का लेख 'गुरु संग कपट मित्र संग चोरी' कटु-यथार्थ और तीखी आलोचना प्रस्तुत करता है।

—डा. ए. एल. श्रीवास्तव, इलाहाबाद

० ० ०

नवनीत का मैं नियमित पाठक रहा हूं। हर अंक में मैं, गहन पारदर्शी चिंतन के आलोक का संस्पर्श पाता हूं। इसमें समग्र भारतीय रागबोध की चेतना का निदर्शन है। यह एक ऐसा प्रयत्न है, जिसमें भारतीय सांस्कृतिक प्रतिमा की अदृष्टपूर्व छवि देखी जा सकती है। ऐसी सुरुचिपूर्ण पत्रिका के लिए हार्दिक बधाई।

—डा. देवेंद्र शुक्ल, आगरा

० ० ०

नवनीत का सितंबर अंक अपनी कई विशेषताओं के कारण विशिष्ट हो गया है। आपका 'स्वतंत्रता के बाद की हिंदी कविता' एक दस्तावेज़ीय निबंध है। उत्तर छायावाद के कवियों, साथ ही 'परिमल' से जुड़े एवं अज्ञेय की काव्य-प्रवृत्तियों का ऐसा मौलिक, तटस्थ एवं अछूता विश्लेषण कई दशकों से देखने को नहीं मिला है। हिंदी आलोचना के स्तर में निरंतर गिरावट के कारण वह दिनानुदिन साहित्य की अन्य विधाओं से

पिछड़ती जा रही है और प्रबुद्ध पाठकों का विश्वास खोती जा रही है। डा. माचवे, सूर्यकांत त्रिपाठी आदि की रचनाएं भी पठनीय हैं। इंदिरा की लंबी कविता एक नये क्षितिज की ओर संकेत करती है।

—डा. लखनलाल सिंह 'आरोही', भागलपुर

० ० ०

नवनीत व **भारती** दो संस्कृतियां परस्पर मिलीं और एकभूत हो गयीं। लगा कि समय की यह नितांत अनिवार्यता थी। पत्रिकाओं की व्यावसायिकता से परे, आत्म-अतलांत गहराइयों को झकझोरने वाली, सात्विक सृजनशीलता के नये आयाम प्रस्तुत करने वाली एक पत्रिका की हिंदी जगत को एकमेव ज़रूरत थी। अब **नवनीत** का यह रूप, रंग और यौवन रच गया है मन-आंगन। यदि प्लेटो, अरस्तू या सुकरात को वर्तमान भारत में कोई संपादकत्व का निर्वहन हेतु मजबूर करता तो इसमें कोई संदेह नहीं कि उनके शत-प्रतिशत अंक, इसी रस, वैभव-विलास से पूरित होते, जो उनके प्रतिनिधि के रूप में वीरेंद्रकुमार जैन के माध्यम से ढाले जा रहे हैं।

—सिद्धार्थश्याम वैद्य, हरदा

० ० ०

मैं **नवनीत** का स्थायी ग्राहक और पाठक हूं। आपकी पत्रिका भारत की सर्वश्रेष्ठ मासिक पत्रिकाओं में से एक है। इस व्यस्त जीवन में उसको पढ़ने पर सुकून मिलता है। इस वर्ष का 'दीपावली अंक' पढ़ा। इस सुरुचिपूर्ण संकलन के लिए आपको अनेक बधाई। इसमें डा. माचवे, श्री वासुदेव पोद्दार के लेख बहुत ही अच्छे लगे। श्री शांति-लाल तोलाट का पत्र भी बड़ा संवेदनशील था। सबसे बढ़कर आपका लेख 'खजुराहो' मुझे अच्छा लगा। इसकी भाषा कमाल की है। इस कवितापूर्ण लेख के लिए आपको अनेक बधाई।

—बी. आर. नारायण, नयी दिल्ली

० ० ०

भारती समन्वित **नवनीत** का स्वागत करता हूं। प्रत्येक अंक श्रेयस्कर एवं प्रेय होता है। आपके 'मुक्तिदूत' का संदेश प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में मिलता रहता है। नूतन साफल्य के लिए बधाई। भावी विकास हेतु शुभेच्छा।

—डा. रामेश्वरप्रसाद, कानपुर

० ० ०

उत्कृष्ट लेखन वाले आपके हाथ श्रेष्ठ संपादन के भी परिचायक हो गये हैं।
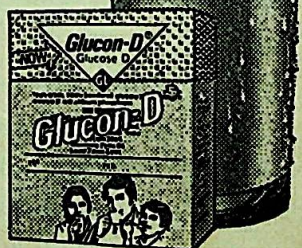
गत तीन अंकों के लिए मेरा (थोक में) साधुवाद स्वीकार करें। **नवनीत** के नये आयाम जनमानस को गहरे तक छू रहे हैं।

—सुरेश सरल, जबलपुर

० ० ०

नवनीत का दीपावली-८१ विशेषांक स्टाल से खरीदा, देखा, पढ़ा, पसंद आया। ऐसे विशेषांक अब हिंदी में हैं कहां ? 'ज्ञानोदय', 'माध्यम,' 'कल्पना,' 'कृति' बंद हो चुकी हैं। दूसरी व्यावसायिक पत्रिकाएं एकांगी हैं—इकतरफा। संतुलित-स्वस्थ सामग्री कम ही पत्र दे रहे हैं। कविता, कहानी से आगे **नवनीत** की दूसरी बौद्धिक खुराक खूब उपयोगी लगी। **नवनीत** एक मात्र संग्रहणीय पत्र है, बधाई।

—फूलचंद मानव, भटिंडा

० ० ०

नवनीत वास्तव में प्रबुद्ध पाठक वर्ग की बहुत बड़ी सेवा है। आजकल यह और भी मेरे मनोनुकूल हो गया है। मगर कुछ बातें खटकती हैं। आध्यात्मिकता की महत्ता दर्शाने हेतु, अंधविश्वास और अवैज्ञानिकता की बैसाखी ठीक नहीं। 'जब भगवान मेरे जीवन में आये' ऐसी ही रचना है। ऐसे भी तो बहुत-से लोग हैं, जो भगवान को लाख पुकारते हैं, पर उनका संकट नहीं टलता। तार्किक रूप से संकट का टलना आकस्मिक संयोग भी हो सकता है। अतः इससे भगवान का संबंध जोड़ना उचित है क्या ? फिर ऐसी अशक्त और कमज़ोर आध्यात्मिकता का प्रकाशन अध्यात्म से अनास्था उत्पन्न करता है।

—प्रमोदकुमार, [illegible]

० ० ०

नवनीत का पाठक बचपन से हूं। तथाकथित आधुनिकता और फ़ैशन के युग के अंधेरे में **नवनीत** भारतीय सभ्यता और संस्कृति की रोशनी है। **नवनीत** सचमुच नवनीत है। हर अंक की तरह ही सितंबर अंक की कहानियां मन को छू गयीं। सर तेजबहादुर सप्रू पर लेख बहुत अच्छा लगा। 'खजुराहो : अविस्मरणीय नारी सौंदर्य' ज्ञानवर्द्धक लगा। 'स्वतंत्रता के बाद की हिंदी कविता' श्री वीरेंद्रकुमार जैन के आलेख ने भी नये तथ्यों को रखा। **नवनीत** के संबंध में क्या कहूं ! इसका हर अंक प्यारा है, हर स्तंभ आकर्षक है। यह एक ऐसा गुलदस्ता है, जिसमें तरह-तरह के रंग-बिरंगे फूल सजे रहते हैं, जिनमें ज्ञान तथा प्रेरणा की खुशबू रहती है। हर वक्त आगामी अंक की प्रतीक्षा रहती है।

—अमरनाथ शर्मा 'अमर', महेन्द्रू

० ० ०

नवनीत के प्रत्येक अंक की साज-सज्जा मुग्ध कर लेती है। रचनाओं के साथ दिये गये चित्रों में श्री आलोक जैन के छोटे-छोटे चित्रांकन ताज़गी से भर देते हैं। इनकी कलात्मकता नयापन लिये होती है। सौम्यता का बोध कराती है। सचमुच आपने नवनीत को आधुनिक चिंतन-कला का नवीनतम पत्र बना दिया है। दुर्लभ-से-दुर्लभ सामग्री का संयोजन करना आपके ही वश की बात है।

—विक्रमकुमार, इंदौर

o o o

आपकी रस-स्निग्ध नवनीत/सुसंस्कार देती पत्रिका पुनीत/वृद्धि, भावना की यह यशस्विनी मीत/वर्षों से पढ़ रहा हूं। इसके लेख, गीत/'साधुवाद' का सुवासित प्रतीत/स्वीकारो यही शिष्टाचारी रीत। —प्रकाशचंद्र पुरोहित, चमोली, गढ़वाल

o o o

नवनीत का दीपावली अंक-'८१ पढ़ा। कविताएं अच्छी लगीं। विशेष रूप से रामविलास शर्मा की दोनों कविताएं प्रभावित करती हैं। बच्चन एवं अज्ञेय शायद 'नाम' पर ही छप गये। कु. पद्मजा घोरपडे की तीनों रचनाएं एवं प्रदीप की 'भूल' अच्छी रचना है। वासुदेव पोद्दार (दादा) का लेख भाषा की दृष्टि से ही नहीं बल्कि भावनात्मकता से भी उच्च लगा। —शिव सारदा, कलकत्ता

o o o

पत्रिका की साज-सज्जा देखते हुए मानना होगा कि नवनीत राष्ट्रीय स्तर की पत्रिकाओं में अद्वितीय स्थान बनाये हुए है। इसमें न केवल ज्ञान-विज्ञान की सामग्री उपलब्ध होती है, अपितु विलुप्त भारतीय संस्कृति एवं धर्म के अनचीन्हे पहलुओं को भी यह पाठकों के समक्ष लाती है। महंगाई को देखते हुए भी अन्य पत्रिकाओं की तुलना में इसका मूल्य कम है, जिससे साफ़ जाहिर है कि अति व्यावसायिकता इस पत्रिका से कोसों दूर है, जो इसकी गंभीरता को उजागर करती है।

—सुबोध सारस्वत, अलीगढ़

o o o

अत्यधिक आकर्षक मुखपृष्ठ के साथ नवनीत का अगस्त '८१ का अंक बहुत ही अच्छा रहा। ऐसे तो संपूर्ण अंक ही पठनीय, मनोरंजक तथा ज्ञानवर्द्धक रहा, परंतु 'आगामी कल का सूर्योदय', 'डा. भगवत शरण उपाध्याय', 'भारत निर्माण', '१५ अगस्त को अरविंद', 'संत तुकाराम' तथा 'स्मृति के अंकुर' विशेष रूप से पसंद आये।

—शकुनचंद गुप्त, लालगंज, रायबरेली, उ. प्र.

□

डा. महेंद्र कार्त्तिकेय के नवीनतम कविता-संग्रह

आगामी कल

पर डा. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय की समीक्षा

महेंद्र कार्त्तिकेय के कविता-संग्रह 'आगामी कल' को निमग्न पाठक—तटस्थ पाठक की तरह नहीं—की तरह मैंने पढ़ा है।

इन रचनाओं में महेंद्र कार्त्तिकेय के व्यक्तित्व और उन्हीं के शब्दों में उनके जीवन-संघर्ष की प्रतिध्वनियां हैं। यदि व्यक्तित्व पारदर्शी है, शीश-ए-दिल साफ़ है, तो उसमें जीवन-यथार्थ, अपनी गत्यात्मकता में स्वतः विवित होने लगता है, और यदि ऐसा व्यक्तित्व चुनौतियों और चिंताओं में अभावों और अन्यायों के बीच पलता है तो उस अस्तित्व की रचनाओं में समाज की सामान्य स्थितियों और सामान्यजन की दृष्टि से, असामान्य जनों या वर्गों की असंगतियां भी स्वतः बोलने-बजने लगती हैं।
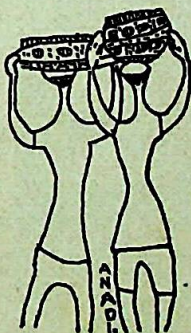
शायद इसीलिए कार्त्तिकेय कविता को 'कला' न मानकर उसे स्वतःस्फूर्त सृजन उन्मेष मानते हैं।

लेकिन इस विचार के पीछे कहीं भावाभिभूत होना भी है। भावाभिभूत व्यक्ति, कहीं भी भावनात्मक-प्रदूषण या आडंबर या अन्याय देखकर, जो भावात्मक आघात पाता है, उससे वह कविता में स्वतः झरने लगता है। ऐसा व्यक्ति स्थिति, गति और गंतव्य में कारण-कार्यपरकता नहीं जोड़ पाता। अतः ऐसे व्यक्तित्व के केंद्र में एक सहृदयता होती है, जो चीज़ों और शक्तियों में कारण-कार्य संबंध स्थापित न कर सकने के कारण, सर्वत्र गड़बड़ और गिरावट देखती है और उसके विरुद्ध लड़ने वाली शक्तियों की तरफ उसकी नज़र इसलिए नहीं उठती, क्योंकि कोई व्यक्ति, दल या संगठन उसे भावात्मक संतृप्ति नहीं दे पाता। वह सर्वत्र असंगति पाता
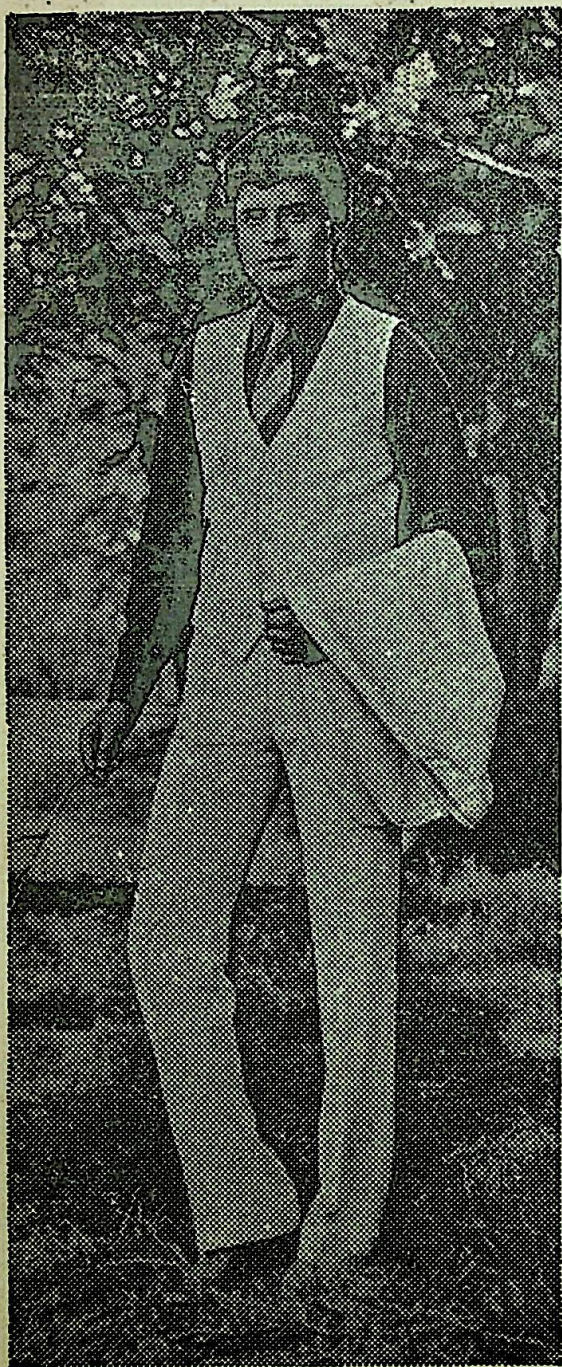
है, पर उन असंगतियों में अंतर कहां है, क्यों है, कौन असंगतियां संभावनापूर्ण और कौन पतनकारक हैं, इस सब झमेले में न पड़कर महेंद्र कार्त्तिकेय का कवि एक साधुमना मूड में, अपने को भोला और भला मानते हुए ऐसी कविताएं कहता चला जाता है, जिनमें सार्वत्रिक-सार्वजनिक अध:पतन की तीव्र अनुभूतियां और खट्टापन है।

यह असंतोष जहां मनुष्य की बुनियादी सरलता, निष्कलुषता और भावनात्मकता की रक्षा के लिए हमें प्रेरणा देता है, मनुष्यता के संवर्धन के लिए हमें उकसाता है, वहीं यह अपनी सामान्यीकृत और इसलिए अमूर्त प्रकृति के कारण भ्रम में भी डालता है और हम एक आंतरिक-वृत्त में घूमने लगते हैं, कहीं कोई विकल्प, कोई आलोक या अवलंब नहीं रह जाता।

महेंद्र कार्त्तिकेय व्यक्ति की गिरावट का मुख्य कारण व्यवस्था को नहीं मानते, स्वयं व्यक्ति की प्रकृति को मानते प्रतीत होते हैं। यदि व्यक्ति मानव-प्रकृति की किसी शाश्वत विकृति के कारण सदैव अभाव और अंधकार में भटकने को अभिशप्त है तब तो कोई विकल्प ही नहीं रहता, किंतु यदि, बहुत दूर तक, व्यवस्था ही व्यक्ति की मानव-प्रकृति को बिगाड़ती-बनाती है, तो उस व्यवस्था और तज्जन्य वातावरण को बदलने वाली शक्तियों और व्यक्तियों के साथ जुड़ाव और उनके साथ जनसामान्य के हितों के विरोधी व्यक्तियों, वर्गों के साथ भिड़ना होगा और यह भिड़ंत कविता में भी प्रतिबिंबित होगी। और यह भी कि यह भिड़ंत स्वत:स्फूर्त नहीं, बुद्धि से विचार कर, पक्ष-विपक्ष पर पूरी तरह चिंतन कर, समाज-विकास का विहंगावलोकन कर, बौद्धिक-वरण का परिणाम होगी।

यह न होने से, 'आगामी कल' की कविता में एक सदाशयी संवेदना ओतप्रोत दिखायी पड़ती है और उसमें कहीं भी विरोध के विषय स्पष्ट नहीं हैं। किंतु इस अवर्ग-चेतना के बावजूद कवि अपने भीतर लगातार जूझ रहा है और उसके मन में सामान्यीकृत सदिच्छाओं के सागर लहरा रहे हैं।

'आगामी कल' में कवि की आघातित संवेदना के सच्चे इज़हार हैं, अपनी अस्मिता की अकड़ भी :

'दोस्तों ने ... भाले पर उछाल दिया
...मत सोचो, मैं पराजित हो गया हूं
... मेरा सीना, अब भी तुम्हें चुनौती है

कार्त्तिकेय के स्वत:स्फूर्तिवाद से, वह कविता में शब्द-चयन और विन्यास के प्रति असावधान और प्राय: असूक्ष्म हो जाते हैं। मसलन कविता लिखते समय यह कोशिश होनी चाहिये कि पहले के विन्यासों को न अपनायो जाये या फिर उन्हें नयी संरचना में, नये ढंग से विन्यस्त किया जाये, पर कार्त्तिकेय अपनी भावगत सच्चाई पर जरूरत से अधिक भरोसा करते हैं और कविता में साधारणता आ
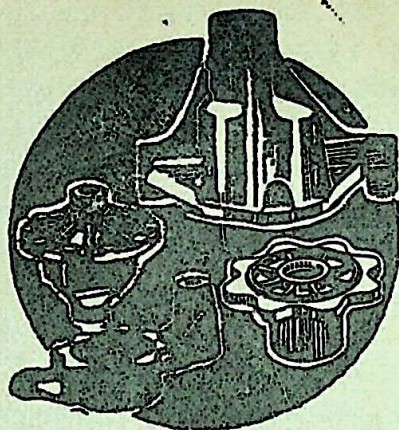
जाती है...

'शुभचिंतकों ने
जबड़े में दबाकर
खून पिया,
मैं शांत रहा'

सवाल यह है कि क्या इस प्रसिद्ध विन्यास को नहीं बचाया जा सकता था या इसे कुछ और रंग नहीं दिया जा सकता?

कविता स्वतःस्फूर्त क्रिया या मानसिक घटना है, किंतु कविता बनते समय, सृजन-प्रक्रिया में, वह कला बन जाती है। अतः उक्ति में अपूर्वता लानी पड़ती है। यह अपूर्वता कभी-कभी स्वतःस्फूर्त ढंग से अनायास अवतरित हो जाती है, किंतु हमेशा नहीं—प्रायः रचाव करना ही पड़ता है और इससे ही वह रचना बनती है।

ऐसा भी नहीं है कि महेंद्र कार्त्तिकेय में रचाव है ही नहीं। वह जहां है, वहां कविता में पर्याप्तता की तृप्ति मिलने लगती है, जैसे कवि लगातार विकसित हो रहा है। 'अपने शहर में पहला दिन', 'चेतना को बींधता फूल', 'आदिम सच', 'प्रभु से प्रार्थना', 'शहर', 'तमाशा', 'सार्थक दूरियां', 'प्यार ज़िंदगी और अंगूठा', 'ज्वार की प्रतीक्षा', 'कोई तो हो', 'अपरिचय का हिमालय', 'कसाई की प्रशंसा में', 'संदर्भों में', 'सांझ और बच्चे' शीर्षक कविताओं में महेंद्र कार्त्तिकेय काफी रचनात्मक जागरूकता दिखाते हैं।

जहां वास्तविक जीवन की स्थितियों को पकड़ा गया है वहां कविता में एक अनछुई ताज़गी आ जाती है यथा: 'संदर्भों में', 'हम हैं कच्चा माल', 'घर: एक स्थिति' जैसी रचनाओं में। वहां भी अपूर्वता आ जाती है, जहां कवि स्थिति को समग्रता में पकड़ता है यथा: 'ज्वार की प्रतीक्षा' में। किंतु जहां कवि पर्यवेक्षण के विस्तार में जाता है, वहां कविता में साधारण और अपूर्व एक साथ मिश्रित होकर पूरी कविता के प्रभाव को भी मिश्रित कर देता है।

महेंद्र कार्त्तिकेय के बौद्धिक संभ्रम को 'अपरिचय का हिमालय' में देखा जा सकता है:

दायें जायें कि बायें
या राम झरोखे पर खड़े-खड़े
देखें तमाशा?

किंतु इस तरह की कविताओं में कवि की वेदना उसके बोध से अधिक प्रभावक लगती है:

व्यक्तित्वों-संवादों-चिंतनों का गड्डमगड्ड
जाग जाता है मुझमें...
अपरिचय के हिमालय.... सबको लादे
फिरता हूं, कोई कुआं, तालाब ढूंढ़े
नहीं मिलता।

समग्रतः 'आगामी कल' में एक स्निग्ध और सरल संवेदना पर यथार्थ के दबाव की अभिव्यक्तियां हैं, जिनमें कवि की मानसगत सच्चाई के कारण एक पारदर्शिता है और कहीं-कहीं प्रभावकता भी। लगता है, जैसे एक कवि बन रहा है, बनते-बनते बन गया है!

—गया प्रयाग, ७ डी ७५
जवाहर नगर, जयपुर

☐

निष्ठापूर्ण साहस-कर्म के ४३ वर्ष

भारतीय विद्या भवन

□

एम. वी. कामत

भारतीय विद्या भवन की स्थापना १९३८ में एक छोटे से कमरे में नाममात्र की वित्तीय पूंजी, मगर अथाह निष्ठा और आस्था की अक्षय पूंजी के साथ हुई थी। तब से भवन ने जो शानदार और बहुमुखी प्रगति कर दिखायी है, उसका नवीनतम उपलब्धि-चिह्न है – २ अक्तूबर, १९८१ को न्यूयार्क में खोला गया उसका केंद्र।

०

२ अक्तूबर, १९८१ को, गांधी जन्म दिवस के शुभावसर पर, न्यूयार्क में भारतीय विद्या भवन के एक पूर्ण केंद्र ने अपना कार्य करना आरंभ कर दिया।

भारतीय विद्या भवन का जन्म १९३८ में बंबई के एक उपनगरीय कॉलेज में, एक छोटे से कमरे में, जो इस संस्था को अस्थायी रूप से, बिना किसी किराये के दिया गया था, हुआ था। तब से उसने बहुत शानदार प्रगति की है।

भवन के संस्थापक श्री कन्हैयालाल मुंशी के पास उसकी शुरूआत करते समय आस्था के अलावा कोई और पूंजी नहीं थी। वित्तीय पूजी की बात की जाये तो २५० रुपये प्रति माह के उस अनुदान का उल्लेख किया जा सकता है, जिसे एक वर्ष तक देते रहने का वायदा उनके अलावा उनके तीन मित्रों ने किया था।

१९३८ में भवन के कर्मचारियों की संख्या कुल दो थी। उस वर्ष का वार्षिक बजट मात्र १२,००० रुपये था। आज भवन का वार्षिक बजट तीन करोड़ से अधिक है, और कर्मचारियों की संख्या ३००० से ऊपर है। इससे भवन की विकास-प्रक्रिया और उसके प्रभाव का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है।

द्रष्टा मुंशीजी

श्री मुंशी, जिनका निधन १९७१ में ८२ वर्ष की आयु में हुआ, एक द्रष्टा थे। उन्होंने मृतप्राय भारतीय संस्कृति को पुनर्जीवित करने का जो महान संकल्प किया, तथा अपने इस ध्येय की पूर्ति के लिए जो कुछ किया, वह सचमुच एक विलक्षण कार्य था। सर्वप्रथम, उन्होंने आनंदपूर्वक जीने की राह दिखायी। उन्हें 'परलोक-ग्रस्तता' से मुक्त कराया। इसके पश्चात्, उन्होंने उन पुरानी परंपराओं के, जो भारतीयों की सृजनात्मक-

सांस्कृतिक चेतना का प्रतीक भारतीय विद्या भवन, बम्बई
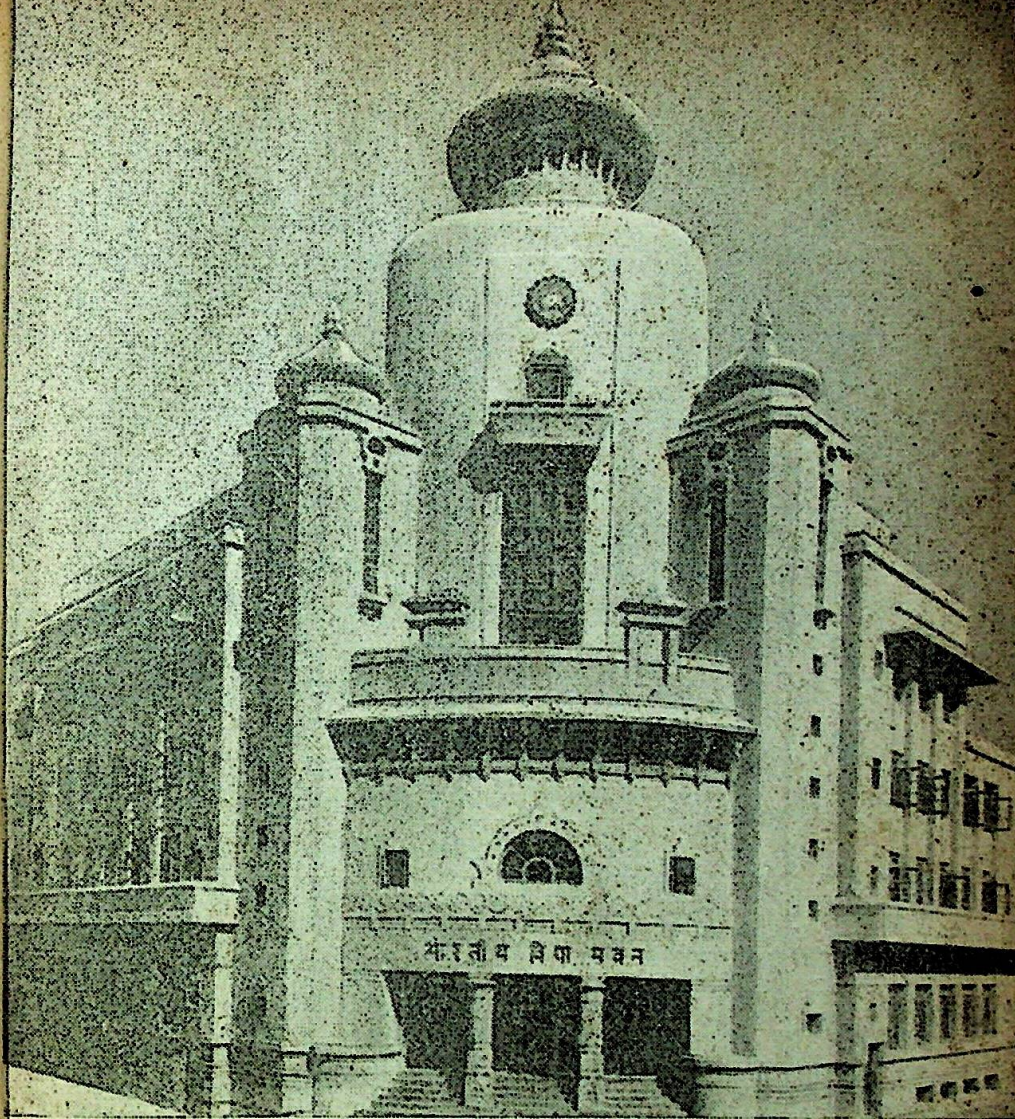
शक्ति को अवरुद्ध कर रही थीं; स्थान पर सशक्त और नमनशील परंपराओं को प्रतिष्ठित किया। और अंत में, उन्होंने भारत की नयी पीढ़ी के लिए उसके सनातन धर्म को एक नूतन ताज़गी प्रदान कर प्रस्तुत किया।

श्री मुंशी मात्र एक द्रष्टा ही नहीं थे, वे एक ऐसे क्रांतिकारी भी थे, जिनमें अपने सपनों को साकार कर दिखाने की क्षमता थी।

सिकंदर को जिस अजेय हिंदुत्व का सामना करना पड़ा था, उसी हिंदुत्व का उज्ज्वल चित्र वे हिंदू मानस के सम्मुख प्रस्तुत करना चाहते थे। वे उस अपकर्ष और असहायता पर विजय पाने के लिए संकल्पबद्ध थे, जिसमें वे हिंदुत्व को फंसा देख रहे थे। वे अपने राष्ट्र को अवनति के दलदल से निकालकर उन्नति के पथ पर अग्रसर देखना चाहते थे। स्वामी विवेकानंद ने जिस प्रगतिशील भारत की कल्पना की थी, श्री मुंशी उसे साकार करना चाहते थे।

पिछले ४३ वर्षों में यह सपना साकार हुआ है—देश-विदेश में सक्रिय २७ शाखाओं और ४५ निर्वाचक संस्थाओं और विभागों के रूप में। भारतीय विद्या भवन तथा उसकी सब संस्थाओं और शाखाओं का मूल विषय है—भारतीय संस्कृति के उस नूतन स्वरूप का प्रतिपादन, जिसमें उसके पुरातन मूल्यों और नयी आकांक्षाओं का अपूर्व समाकलन हुआ हो। यही मूल विषय है भवन का—कैसे उपलब्ध हो यह समाकलन ? कैसे भारतीय संस्कृति की विभिन्न लड़ियों—बौद्धिक, साहित्यिक, शैक्षणिक, वैज्ञानिक, आध्यात्मिक आदि—को एक माला में पिरोया जा सके ?

डाक्टर ज़ाकिर हुसेन ने एक बार कहा था : 'भवन मात्र एक संस्था नहीं, एक आंदोलन है।' सही कहा था उन्होंने। संस्कृत के अध्ययन, उसके बारे में शोध आदि के लिए जिन संस्थाओं की स्थापना भारतीय विद्या भवन के अंतर्गत हुई उनके ५०० केंद्रों में, जो भारत के अलावा, सिंगापुर, इंडोनेशिया, फिजी, मॉरिशस, श्रीलंका, केन्या तथा द. अफ्रीका तक में फैले हैं, प्रति वर्ष ६०,००० विद्यार्थी परीक्षाओं में भाग लेते हैं।

संगीत, नृत्य और नाटक को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से भारतीय कला केंद्र, भारतीय संगीत शिक्षापीठ, और भारतीय नर्तन शिक्षापीठ की स्थापना की गयी। इतिहास के क्षेत्र में तो भवन का योगदान अभूतपूर्व है। उसने १९४६ में प्रख्यात इतिहासज्ञ स्व. डाक्टर आर. सी. मजूमदार के संपादकत्व में ११ खंडों वाली 'भारतीयों का इतिहास और संस्कृति' नामक एक ग्रंथमाला का श्रीगणेश किया। ७५ विशेषज्ञों ने इस ग्रंथमाला के माध्यम से पहली बार भारतीय इतिहास का विस्तृत, खरा और समीक्षात्मक प्रस्तुतीकरण किया।

१९५१ में भवन ने विश्व भर के भारत-प्रेमियों को अल्प मूल्य का उत्कृष्ट भारतीय साहित्य प्रदान करने के उद्देश्य से 'पुस्तक विश्वविद्यालय योजना' आरंभ की। योजना का आरंभ ५ पुस्तकों के प्रकाशन से, जिसके लिए १०,०००

रुपये का कागज़ उधार लिया गया था, हुआ था। पिछले ३० वर्षों में इस योजना के अंतर्गत ८५० पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। इस योजना ने भारत में अल्प मूल्य की पुस्तकों—पॉकेटबुक्स—के प्रकाशन का सूत्रपात किया।

नानाविध प्रवृत्तियां

आज मुंशीजी का पार्थिव शरीर हमारे बीच में नहीं है, किंतु हम उनकी आत्मा को, जिसने भवन की कृषि, इंजीनियरिंग, प्रौद्योगिकी, पत्रकारिता, जनसंपर्क, मुद्रण-कला, शास्त्रीय भाषाएं, रेडियो और टेलीविज़न आदि भवन की नानाविध प्रवृत्तियों को जन्म देकर उनका सफलतापूर्वक संचालन किया था, आज भी सक्रिय पाते हैं। श्री मुंशी विज्ञान और अध्यात्म में कोई अंतर्विरोध नहीं देखते थे। ना ही, उनकी दृष्टि में विभिन्न धर्मों में कोई विरोध था। अपनी इसी सम्यक् और दूर-दृष्टि के कारण ही वे दोनों से संबंधित विभागों की स्थापना कर सके थे। और जब कोई वन्य-जीवन और वन-रक्षा की बात भी नहीं करता था, तब विलक्षण मुंशीजी ने 'वन-महोत्सव' का नारा लगाया था, और उसके महत्त्व से लोगों को अवगत कराया था।

श्री मुंशी ने भारतीय विद्या भवन को जो दिशा प्रदान की, और उसके कार्यक्रमों को जो नमनशीलता दी, उसी का परिणाम है कि उनके बाद भी भवन ने 'प्राचीन अंतर्दृष्टि और आधुनिक आविष्कार' नामक एक गौरवशाली प्रकल्प आरंभ किया, जिसकी यदि वे जीवित होते तो अवश्य प्रशंसा करते। कोचीन, कोयंबटूर, भरवारी, हैदराबाद और मद्रास में स्कूलों की स्थापना के अलावा, भवन ने जामनगर में महिलाओं के एक कॉलेज, बंबई में दो कॉमर्स कॉलेजों, प्रबंध-शास्त्र कॉलेज, लड़कियों का छात्रावास, सांस्कृतिक अध्ययन प्रतिष्ठान, और इलाहाबाद, चंडीगढ़, जयपुर, जामनगर, शिलांग, त्रिचूर, विशाखापत्तनम् और लंदन में नये केंद्रों की स्थापना भी की है। भारतीय राज्यतंत्र में नवजीवन का संचार करने के उद्देश्य से भवन ने 'राजाजी इंटरनेशनल इंस्टिटयूट ऑफ पब्लिक अफेयर्स एंड एडमिसट्रेशन' की स्थापना भी की है।

असाधारण पूर्वबोध के साथ, एक बार श्री मुंशी ने लिखा था, 'भवन की वास्तविक शक्ति का परिचय उसके द्वारा संचालित संस्थाओं और भवनों की संख्या से नहीं, बल्कि उसके समर्पित कर्मचारियों और मित्रों के कार्य और चरित्र से लगेगा।' इन्हीं समर्पित मित्रों और कर्मचारियों की कृपा से उनके निधन के एक वर्ष के बाद, भवन ने अपना एक केंद्र खोला, ५०० पौंड के साधारण से अनुदान और एक भारतीय व्यापारी के निवास-स्थान पर अस्थायी स्थान के साथ। पांच वर्ष बाद, भवन का अपना निजी निवास-स्थान हो गया, जिसका उद्घाटन तत्का-

(शेषांश पृष्ठ २८ पर)
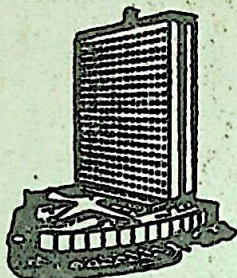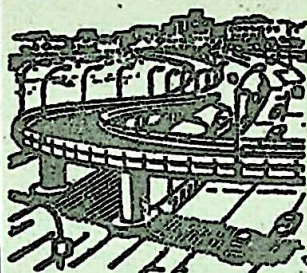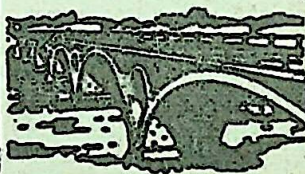
गेटे की प्रेम-कथा

जो एक महान उपन्यास बन गयी

□

सामरसेट मॉम

०

अपनी अंतिम कृति 'प्वाइंट्स ऑफ व्यू' में सामरसेट मॉम ने एक पूरा निबंध ('एक कवि के तीन उपन्यास') उपन्यासकार गेटे के तीन उपन्यासों को दिया है। इनमें से एक उपन्यास 'द सॉरोज़ ऑफ वर्थर' का संक्षिप्त रूपांतरण आप इस अंक में अन्यत्र पढ़ेंगे। निबंध के इस अंश में आप सामरसेट मॉम का इस उपन्यास के नायक की अंतर्छवि का पैना विश्लेषण तो पायेंगे ही, प्रेमी गेटे के दग्ध हृदय की उस भंगिमा को भी देख सकेंगे, जिसे उन्होंने इस उपन्यास में तो अस्थायी रूप से ही धारण किया है, मगर जो उनके जीवन में चिरजागृत फूत्कारमयी चेतना बनकर बैठ गयी थी।

०

गेटे को सर्वप्रथम मैंने एक कवि के रूप में जाना था। उनके तीनों उपन्यास—'दि सॉरोज़ ऑफ वर्थर', 'विल्हेम मीस्तर्स अप्रैंटिसशिप' और 'द एलेक्टिव अफिनिटिज़'—मैंने बहुत बाद में पढ़े। इन तीनों में 'विल्हेम मीस्तर्स अप्रैंटिसशिप' सर्वाधिक रोचक और महत्त्वपूर्ण है। रोमांटिक भी है, और यथार्थवादी भी, हालांकि इसके सशक्त और सजीव पात्र थोड़े विचित्र और असाधारण लगते हैं। किंतु, अनेक विशेषताओं से पूर्ण यह उपन्यास एक असफल उपन्यास है, और इसका कारण यह है कि गेटे अत्यंत मेधावी अवश्य थे, लेकिन उनमें वह विशिष्ट प्रतिभा नहीं थी, जो एक सफल और महान उपन्यासकार में होनी आवश्यक है।

वह विशिष्ट प्रतिभा क्या होती है, इस प्रश्न का उत्तर तो स्वयं मैं भी नहीं दे पाऊंगा, लेकिन यह तो निर्विवाद है कि बहिर्मुखी होना उपन्यासकार के लिए ज़रूरी है। बहिर्मुखी होकर ही उसमें वह परानुभूति आ सकती है, जिससे वह अपने पात्रों के साथ एक हो सकता है, उनके भाव और विचार समझ और व्यक्त कर सकता है। गेटे में, परम अहंवादी होने के कारण, इस परानुभूति की कमी थी, और इसी कारण से वे महान उपन्यासकार नहीं हो पाये।

गेटे के उपन्यासों में हम उनके पात्रों को कम, उन्हें अधिक पाते हैं। उनका पूरा का पूरा प्रेम-जीवन और भाव-जीवन उनकी कथा-कृतियों में बड़ा साफ़, आरपार और पारदर्शी दिखायी देता है। प्रेम की उनकी प्रगाढ़ आकांक्षा, तड़प, गहरी पीड़ा पाठक के तन-प्राण के पार फैल जाती है।

०००

वीस वर्ष की आयु में गेटे ने स्ट्रॉसवर्ग विश्वविद्यालय में क़ानून के अध्येता के रूप में प्रवेश किया था। वकालत पेशे में उनकी क़तई कोई रुचि न थी; अपने पिता की इच्छा के कारण उन्हें इस पेशे की पढ़ाई करनी पड़ी। उन दिनों गेटे एक चारु और सुहावने युवक थे। उनकी चारुता अत्यंत सम्मोहक थी—विशेष रूप से नव-युवतियों और छोटे बच्चों के लिए जो उनके साथ घंटों खेलते रहते थे।

पढ़ाई के दिनों में उनका एक धर्मगुरु की पुत्री, फ़ायदेरीख से 'प्रथम दृष्टि में प्रेम' हो गया था। यही हाल फ़ायदेरीख का हुआ, जिसे गेटे ने बड़े चाव से 'वाल्ज़' नाम की एक नयी नृत्य-शैली का प्रशिक्षण दिया। इन दिनों उनकी सारी अनुभूतियां, उनका सारा व्यक्तित्व फ़ायदेरीख में ही केंद्रित था; दोनों का जीवन प्रेम की दमक से प्रदीप्त हो गया था, और प्रेम की दीवा-नगी सीमोल्लंघन कर चुकी थी। चालीस वर्ष बाद, जब गेटे ने अपनी आत्मकथा 'डिक्टेट' की तब भी कहते हैं, अपने पहले प्रेम-प्रसंग का वर्णन करते समय, उनकी वाणी कांपने लगती थी।

कुछ कारणों से, जिनमें प्रेमी-प्रेमिका के बीच का वर्ग-भेद प्रमुख था, गेटे शीघ्र ही इस 'पागलपन' से मुक्त हो गये। मुक्त हो गये उस जाल से, जो उनका अपना था, उस खेल से, जो उन्होंने ख़ुद अपने साथ खेला था। लेकिन, वियोग की पीड़ा के कांटे दिल में इतने गहरे चुभ चुके थे। इस-लिए, विदाई के क्षणों में, जब फ़ायदेरीख की आंखें नम थीं, और गेटे का हृदय भारी, वे उससे कुछ न कह पाये, यह भी नहीं कि भविष्य में उनका पुनर्मिलन संभव नहीं है। यह काम उन्हें उसे एक 'तड़पता' पत्र लिख-कर करना पड़ा।

अपनी व्यथा से अधिक अपनी प्रेमिका की मनोव्यथा गेटे के लिए तीव्र पीड़ादायक थीं, असह्य थी। मुझे लगता है कि जब उन्होंने अपना मर्मस्पर्शी गीत लिखा था, तब फ़ायदेरीख की मनोव्यथा के दंश से पीड़ित होकर ही लिखा होगा। ग्रेशन की त्रासिक यातना के पीछे उनके पश्चाताप की यंत्रणा स्पष्ट दिखायी देती है। जीवन भर, उनका हृदय न कभी प्रेम से रिक्त रहा, और न कभी प्रेम की गहरी पीड़ा से, जो छाया की भांति उनके प्रणय संबंधों के साथ लगी रहती थी।

'द सॉरोज़ ऑफ वर्थर' के पीछे उनका एक अन्य प्रेम-कांड है, जिसकी शुरूआत उनकी क़ानून की शिक्षा पूरी होने के छह महीने बाद हुई थी। वेल्ज़र नामक स्थान में वकालत का शिक्षार्थन पूरा करते समय,

एक नाच में उन्हें कॉर्लोट बफ़ नामक एक आकर्षक युवती के साथ नाचने का मौक़ा मिला, जिसका विवाह जोआन क्रिश्चियन केस्नर नाम के युवक से निश्चित हो चुका था। किंतु, यह जानते हुए भी, गेटे का कार्लोट से 'प्रथम दृष्टि में प्रेम' हो गया।

गेटे और कॉर्लोट अब रोज़ मिलने लगे, रोज़ साथ घूमने जाने लगे। केस्नर भी, जब उसे कोई और काम न होता, तो उनके साथ जाता। वह एक भला आदमी था, और काफ़ी हद तक उदार और सहनशील, लेकिन कभी-कभी वह गेटे की अपनी भावी पत्नी की निकटता से विक्षुब्ध हो आता। अपनी डायरी में उसने कई स्थानों पर अपने इस क्षोभ को व्यक्त किया है।

उसकी डायरी का यह अंश विशेष रूप से उल्लेखनीय है: 'कॉर्लोट ने आज गेटे को साफ़-साफ़ बता दिया कि वे उससे उसकी मित्रता से अधिक की आशा नहीं कर सकते। यह सुनकर गेटे का मुंह पीला पड़ गया, और वे खिन्न होकर चले गये।'

अपनी प्रेमिका के जीवन से सदा के लिए हट जाने का अंतिम निश्चय लेने में गेटे को कई महीने लग गये। प्रेम से खाली होने में उन्हें डर लगता था। खाली होने की बजाय उन्हें प्रेम में दुखी होना ज्यादा पसंद था। लेकिन, एक शाम उन्होंने हिम्मत की और अपनी प्रेमिका से विलग होने का निश्चय कर ही लिया, पर मुंह से कुछ नहीं कह पाये। वेल्ज़र छोड़ते वक्त कॉर्लोट को एक निराशा-भरा पत्र

चित्र : ठाकोर राणा

लिखा, जिसे पढ़कर वह बेचारी रोने लगी।

वेल्ज़र से गेटे फ्रेंकफर्त गये, जहां कई सप्ताह बाद उन्हें सूचना मिली कि उनके एक परिचित युवक—येरूशलम—ने प्रेम में असफल होकर आत्महत्या कर ली है। उन्होंने केस्नर को पत्र लिखकर इस कांड का पूरा विवरण फ़ौरन भेजने को कहा। यह विवरण, जैसा कि उन्होंने अपनी आत्मकथा में स्वीकार किया है, 'द सॉरोज़ ऑफ़ वर्थर' के कथानक का आधार बना।

०००

और जब 'द सॉरोज़ ऑफ़ वर्थर' के लेखन की योजना उनके मन में बन रही थी, तभी गेटे ने अपने को तीसरी बार प्रेम के जाल में फंसा पाया। इस नये प्रेम के बारे में उन्होंने लिखा : 'बड़ी सुखद

अनुभूति होती है तब, जब कोई ऐसी मन:स्थिति में प्रेम में पड़ता है, जब पुराने प्रेम का सूरज पूरी तरह अस्त न हुआ हो, और एक नया प्रेमावेग मन में हिलोरे मारने लगा हो । सूर्यास्त के समय, जब हम चंद्रमा को उदय होते देखते हैं, तो दो दीप्तियों की आभा मन को अपूर्व आनद प्रदान करती है।'

जिस युवती के कारण कवि गेटे के मन में इस काव्यमय उपमा ने जन्म लिया, उसका नाम था—मैक्सीमिलियेन द लॉं रोश । उसकी मां को लिखे एक पत्र में गेटे कहते हैं : 'मैं आपकी मैक्स के बिना नहीं रह सकता । मैं आजीवन उसे प्यार करता रहूंगा।'

मालूम नहीं, इस बात का पता गेटे को मैक्स से प्रेम करने से पूर्व लगा, या बाद में कि मैक्स का विवाह पीटर ब्रेन्तानो नामक एक व्यापारी से तय हो चुका है, लेकिन यह बात हमें अवश्य मालूम है कि मैक्स के विवाह के बाद भी, गेटे ने उसके साथ अनेक मधुर क्षण व्यतीत किये । मगर, ब्रेन्तानो केस्नर की भांति उदार नहीं था, और जल्दी ही गेटे पर मैक्स के घर आने में पाबंदी लगा दी गयी ।

०००

सौ से अधिक वर्ष पूर्व, जॉर्ज हेनरी लेविस ने गेटे की एक रोचक जीवनी लिखी थी। उसमें उसने लिखा है कि 'प्रेम में असफल होने के बाद, गेटे ने कई बार आत्महत्या करने का खिलवाड़ किया था।' ध्यान रहे, 'खिलवाड़' शब्द उसका है, मेरा नहीं । वैसे, यह शब्द मुझे काफ़ी उपयुक्त लगता है ।

इस जीवनी के प्रकाशन के पचास वर्ष बाद, गेटे ने अपनी आत्मकथा लिखी । इसमें उन्होंने स्वीकार किया है कि अप्रतिदत्त प्रेम की यातना ने उन्हें कई बार आत्महत्या करने के लिए बाध्य किया, और 'मेरे सिवाय कोई नहीं जानता कि आत्महत्या की ललक से बचने के लिए मुझे कितना घोर प्रयास करना पड़ा ।'

'द सॉरोज़ ऑफ वर्थर' की सृजन-प्रक्रिया के बारे में गेटे ने अपनी आत्मकथा में जो कुछ लिखा है, उससे स्पष्ट है कि उपन्यास की थीम कॉर्लोट बफ़ के प्रति उनके दुखद प्रेम और येरूशलम की आत्महत्या, इन दोनों तीव्र और प्रगाढ़ अनुभूतियों के कुशल संयोजन पर आधारित है । उपन्यास का प्रथम खंड, वस्तुत:, गेटे और कॉर्लोट के प्रेम-प्रसंगों का, काफ़ी निकट से किया गया, तथ्यात्मक आत्म-वर्णन ही है, जिसमें गेटे ने उपन्यास के नायक वर्थर को अपनी ही सौम्यता, प्रेम की प्रगाढ़ता, प्रफुल्लता और सहजता प्रदान की है । सच तो यह है कि उन्होंने वर्थर के माध्यम से बड़ा ही चित्ताकर्षक स्व-चित्रण किया है ।

कॉर्लोट और उसके पति का चित्रण भी उन्होंने जिस ढंग से किया है, उससे पाठक के मन में इन दोनों के प्रति सहानुभूति ही जागती है । कॉर्लोट के रूप में

गेटे ने अपनी आदर्श प्रेमिका की ही छवि प्रस्तुत की, ऐसी प्रेमिका जो सुंदर, कोमल और भली होने के अलावा सदय और संवेदनशील भी है।

उपन्यास का पहला खंड पूरा का पूरा आत्मकथात्मक ही है। आत्मकथात्मक उपन्यासों का सबसे बड़ा दोष यह है कि उनमें जो मिथ्यात्व आ जाता है, उसे देख पाना उपन्यास लेखक के लिए असंभव-सा हो जाता है।

गेटे की जीवनी से हमें पता चलता है कि प्रेम में निराशा, पश्चाताप और अवसाद के क्षणों में वे या तो कविता करने लगते थे, या अन्य किसी युवती से प्रेम करने लगते थे। किसी सुंदर युवती से उन्हें प्रथम दृष्टि में ही प्रेम हो जाता था, मगर दिलचस्प बात यह थी कि ऊपर से प्रेम करते समय भी वे अपने मन में आगामी कविताओं, नाटकों और कथाओं का ताना-बाना बुनते रहते थे। लेकिन, वर्थर का चित्रण करते समय गेटे उसे इन विशेषताओं से युक्त नहीं कर सके हैं।

वर्थर के चरित्र की यह अननुरूपता हमें उपन्यास के दूसरे खंड में अधिक स्पष्टता से दिखायी पड़ती है। यह खंड पूर्णतया काल्पनिक है, और उसका वर्थर पहले खंड के वर्थर से बिलकुल भिन्न है। इस तथ्य की पुष्टि स्वयं गेटे की मां ने एक भेंट-वार्ता में की थी।

०००

जो भी हो, उपन्यास के अंतिम पृष्ठ, जो वर्थर की आत्महत्या से संबंधित हैं, आज भी पाठक को हिलाकर रख देते हैं।

कुल दो ही व्यक्ति ऐसे थे, जो उपन्यास की शानदार सफलता और लोकप्रियता से बेहद नाराज़ थे—कॉर्लोट और केस्नर, जो अपने चित्रण से असंतुष्ट था। उसे इस बात से रंजिश थी कि उपन्यास की कॉर्लोट अंत तक उपन्यास के नायक से प्रेम करती रहती है, और वह महज़ एक मूर्ख और अयोग्य पति बनकर रह गया है। केस्नर ने गेटे को एक पत्र लिखकर अपने इस चित्रण के बारे में सख्त विरोध और एतराज़ व्यक्त किया था। उत्तर में गेटे ने बड़े उद्धत ढंग से कहा था, 'काश ! तुम्हें उपन्यास के हज़ारों पाठकों के वर्थर के प्रति आदर और सहानुभूति का एक हज़ारवां अहसास भी होता, तो तुम अपने गिले-शिकवे भूल जाते !'

'द सॉरोज़ ऑफ वर्थर' को मिली शानदार सफलता का एक कारण, मेरे लेखे यह भी है कि उन दिनों जर्मन पाठक रोमांटिक साहित्य को बड़े भाव से अपना रहा था। रूसो की रोमांटिक रचनाओं के अनुवाद भी, इसी कारण, अत्यंत लोकप्रिय थे। वे प्रेम और संवेदनशीलता को 'सुंदर आत्मा के आभूषण' मानते थे।

साहित्यकार के रूप में गेटे को प्रसिद्धि इस उपन्यास से ही मिली। इसके बाद उन्होंने जो भी लिखा, उसे 'द सॉरोज़ ऑफ वर्थर' के लेखक की एक अन्य कृति के रूप में पढ़ा जाता रहा।

□

(पृष्ठ १९ का शेषांश)

लीन ब्रितानी प्रधानमंत्री जेम्सन कैलेघन ने किया, और जिसके प्रमुख संरक्षक थे—लार्ड माउंटबेटन । 'वसुधैव कुटुंबकम्' भवन के पावन आदर्श को चरितार्थ करने वाले इस केंद्र को प्रिंस चार्ल्स, हैरल्ड मैकमिलन, लार्ड फैनर ब्रॉकवे, ग्रेहूदी मेनुहिन, फिलिप नोएल-बेकर और वर्तमान प्रधानमंत्री श्रीमती मार्गरेट थैचर जैसे प्रतिष्ठित ब्रितानी अपने आगमन से गौरवान्वित कर चुके हैं। इस केंद्र की स्थापना और उसके विकास की कहानी किसी चमत्कार-कथा से कम नहीं। और चमत्कारों को कर दिखाने के लिए जिस निष्ठा, अदम्य साहस, अंतहीन उत्साह और व्यावहारिक बुद्धि की आवश्यकता होती है, उसकी भवन के एग्ज़ीक्यूटिव सेक्रेटरी श्री सु. रामकृष्णन् तथा उनके साथियों में कमी नहीं है।

और अपने इन्हीं गुणों का परिचय देते हुए भवन ने २ अक्तूबर, १९८१ को न्यूयार्क में भारतीय विद्या भवन के केंद्र की स्थापना की है, जो भारतीय विद्या भवन की विजय-यात्रा में एक शानदार 'मील के पत्थर' के समान है।
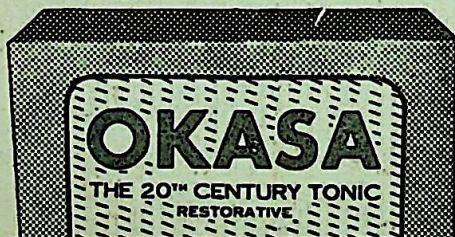
□

विज्ञान की कसौटी पर

मंदिरों में मौजूद सौर ऊर्जा

श्रीकांत

प्राचीन काल में मंदिर एक वैज्ञानिक व्यवस्था के अनुसार निर्मित किये जाते थे। और जब तक यह व्यवस्था कायम रहती थी, वे मंदिर किसी भी तरीके से नष्ट नहीं हो सकते थे, और 'जीवित' रहते थे। सोमनाथ का मंदिर इसी कारण मुहम्मद गजनवी द्वारा नष्ट किया जा सका कि उसकी वैज्ञानिक व्यवस्था भंग हो गयी थी, और वह 'मृत' हो गया था।

सभी परा-वैज्ञानिक बातों के साथ एक कठिनाई है, और वह यह कि व्यक्ति के पास देने को अनुभव होता है, लेकिन कोई ऐसा प्रमाण नहीं होता, जिससे उस अनुभव को सिद्ध किया जा सके।

लेकिन, यह कठिनाई अब धीरे-धीरे दूर होती जा रही है, क्योंकि विज्ञान अब ऐसे विन्दु पर आकर खड़ा हो गया है जहां उसके डगमगाते क़दम अब परा-विज्ञान की ओर ही बढ़ रहे हैं, क्योंकि उसकी अगली मंजिल परा-विज्ञान ही है। इस परा-विज्ञान के विषय में आधुनिक भौतिकी में अपनी 'क्वाण्टम थ्योरी' से क्रांति लाने वाले मैक्स प्लांक का कहना है: 'एक भौतिक-शास्त्री के रूप में मेरे मन में पदार्थ के बारे में न कोई संदेह है, न कोई कट्टरपन। अब तक परमाणु को पदार्थ की इकाई माना जाता रहा है; लेकिन, परमाणु पर, शोध करने के बाद, मैं कह सकता हूं कि जिसकी पदव्याख्या की जा सके, ऐसी परमाणु नाम की कोई वस्तु है ही नहीं। सब पदार्थों का जन्म एक ही ऊर्जा से हुआ है। वही ऊर्जा परमाणु के कणों को दोलायमान करती रहती है, और उसके अपने नन्हे सौर-परिवार का निर्माण करती है। और चूंकि ब्रह्मांड में कोई आन्तरिक और प्रज्ञावान ऊर्जा नहीं है, इसलिए हमें यह अनुमान लगाने को बाध्य होना पड़

जाता है कि इस ऊर्जा के पीछे प्रज्ञावान आत्मा ही काम कर रही है। यही आत्मा पदार्थ का मूल सिद्धांत है ।'

इसी वैज्ञानिक सत्य को योगी अरविन्द ने 'सावित्री' में इन शब्दों में विभोर होकर वर्णित किया है :

'जगत का निर्माण संयोग की बेतरतीब
ईंटों से नहीं हुआ,
कोई अन्धा ईश्वर नियति का नियामक
नहीं है,
किसी चेतन ऊर्जा ने ही जीवन की
व्यवस्था की है।'

वैज्ञानिक भी उसी सत्य से परिचित होता जा रहा है, जिससे योगियों और ऋषियों का परिचय हज़ारों वर्षों से है। एक और उदाहरण लीजिये ।

आज का शरीर-विज्ञान शरीर की पूरी रचना से, उसके अंग-प्रत्यंग से भली भांति परिचित है । शरीर-क्रिया विज्ञान के सभी पहलुओं से हमारे पूर्वज भी भली भांति परिचित थे, किन्तु वे यह भी जानते थे कि मानव स्थूल शरीर ही नहीं, पांच कोषों से बना है । ये पांच कोष (शरीर) हैं : अन्नमय कोष (स्थूल शरीर), प्राणमय कोष (ऊर्जा-शरीर), मनोमय कोष (मनस शरीर), विज्ञानमय कोष उच्चतर ज्ञान सम्पन्न शरीर और आनंदमय कोष (परमानंद देने वाला आत्मिक शरीर)। अन्नमय कोष को छोड़कर, शेष चारों शरीर सूक्ष्म शरीर हैं।

विज्ञान इन चारों सूक्ष्म शरीरों से परिचित होता जा रहा है । कुछ वर्ष पूर्व, जो एक घटना घटी, और उसे लेकर जो वैज्ञानिक प्रयोग हुए उनसे यह पता तो लग ही गया कि प्राणमय कोष (ऊर्जा-शरीर) से विज्ञान का परिचय हो चुका है ।

जीव-संदीप्ति-विज्ञान

१९३९ में एक दक्ष रूसी यंत्रविद् किरलियान एक शोध-केन्द्र में लगे एलेक्टोथेरेपी के ऊंची आवृत्ति वाले यंत्र की मरम्मत कर रहा था कि उसने देखा, जैसे ही उसका शरीर यंत्र के निकट संपर्क में आता है, उसके शरीर में से विभिन्न वर्णों वाली नन्ही नन्ही क्षण-दीप्तियां प्रकट होने लगती हैं । उसके वैज्ञानिक मन ने यह भी जान लिया कि शरीर में ऊर्जा का पैटर्न-विशेष विद्यमान है । उसने अपनी पत्नी की सहायता से इस ऊर्जा-पैटर्न पर वैज्ञानिक शोध आरंभ की । इस शोध की परिणति हुई उस किरिलियान-फोटोग्राफी-विधि में, जिसके द्वारा जीवित शरीर में छिपे ऊर्जा-पैटर्न के छायाचित्र खींचे जाते हैं । रूसी वैज्ञानिकों ने इस नये विज्ञान को जीव-संदीप्ति-विज्ञान कहा ।

इस ऊर्जा पर जो वैज्ञानिक प्रयोग किये गये, उनसे पता चला कि वह न वैद्युत् थी, न विद्युत्-चुम्बकीय । यह भी पता चला कि वह पौधों में भी, जिनमें स्नायु-तंत्र बिलकुल नहीं होता, विद्यमान है ।

और हाल ही में इस ऊर्जा पर जो वैज्ञानिक प्रयोग किये गये हैं, उनसे इस स्तब्ध भरे तथ्य का पता चला है कि यह

ऊर्जा मनोभावों और मनोदशाओं से भी प्रभावित होती है। विचारों की, वातावरण की इस ऊर्जा पर सुस्पष्ट प्रतिक्रियाएं होती हैं। प्रयोगों से वैज्ञानिकों को यह भी पता चला है कि प्राणमय कोष अन्नमय शरीर को प्रभावित कर, उसे रोगी बना सकता है। इसलिए यह वैज्ञानिक धारणा दृढ़ होती जा रही है कि 'सब रोगों की जड़ मन में है', और मन स्वस्थ हो, तो शरीर को भी स्वस्थ रखा जा सकता है।

एक और वैज्ञानिक प्रयोग की बात करके फिर हम यह जानने का प्रयास करेंगे कि क्या प्राचीन काल में मंदिरों का निर्माण इस विशेष व्यवस्था से किया जाता था कि उसकी मूर्तियों और उसकी रचना में यह रहस्यमयी ऊर्जा मौजूद रहे। (इस वैज्ञानिक प्रक्रिया को हमारे पूर्वजों ने प्राण-प्रतिष्ठा का नाम दिया था।)

ऊपर जिस रहस्यमयी ऊर्जा की चर्चा हुई है, उसे अभी तक कोई निश्चित नाम नहीं दिया जा सका है। कुछ कामचलाऊ नाम हैं: क्ष-ऊर्जा, जीव-ऊर्जा, और 'सायकोट्रॉनिक' ऊर्जा।

इस रहस्यमयी ऊर्जा के आविष्कार के बाद, अनेक वैज्ञानिकों के मन में यह प्रश्न उठा: 'क्या इस ऊर्जा को किन्हीं पदार्थों में संग्रहीत किया जा सकता है?'

चेकोस्लोवाकिया का एक आधुनिक वैज्ञानिक है, राबर्ट पावलिता, जिसे विज्ञान के अलावा गुह्य विद्या में भी रुचि थी। उसने गुह्य विद्या पर लिखे गये अनेक प्राचीन ग्रंथों का अध्ययन करके, यह प्रयोग करने का निश्चय किया, जिससे मानसिक प्रक्रियाओं द्वारा सोना, लोहा, तांबा आदि धातुओं में इस रहस्यमयी ऊर्जा को संग्रहीत किया जा सके।

अपने एक प्रयोग में पावलिता ने एक विशिष्ट आकार की मिश्रधातु ली, और उसे हाथ में लेकर, देर-देर तक उस पर ध्यान करता था। इस प्रयोग के बाद उस मिश्रधातु में यह रहस्यमयी ऊर्जा, जिसे पावलिता ने 'सायकोट्रॉनिक' ऊर्जा का नाम दिया था, संग्रहीत होने लगी, और अ-चुम्बकीय पदार्थों को भी अपनी ओर आकर्षित करने लगी।

इस 'सायकोट्रॉनिक' ऊर्जा का सफल प्रयोग पानी के अंदर करके, उसने यह भी सिद्ध कर दिया कि यह स्थिरवैद्युत ऊर्जा नहीं है, जैसा कि उसके कुछ सहयोगी वैज्ञानिक मानने लगे थे, क्योंकि स्थिर-वैद्युत् ऊर्जा जल के नीचे काम नहीं करती।

चेकोस्लोवाकिया के एक विश्वविद्यालय के भौतिकी-विभाग के वैज्ञानिकों ने इस रहस्यमयी ऊर्जा से सम्पन्न धातु की वस्तुओं पर जिन्हें पावलिता 'सायकोट्रॉनिक जेनरेटर' कहा करता था, स्वतंत्र प्रयोग किये। उन्होंने पावलिता के जेनरेटर को सील कर दिया, और धातु के एक बक्से में बंद बिजली का एक पंखा उस पर चलाया, ताकि कोई ऊर्जा सरलता से संग्रहीत न हो सके। इतनी व्यवस्था करने के बाद पावलिता से उस धातु पर

ध्यान करने को कहा गया। बक्से से ६ फुट दूर बैठे पावलिता ने अपना सारा ध्यान उस धातु पर केंद्रित करना आरंभ कर दिया। कुछ समय बाद, पंखे का ब्लेड अचानक धीमा हो गया और फिर रुककर विपरीत दिशा में घूमने लगा। ज़ाहिर था कि यह उसी रहस्यमयी ऊर्जा का परिणाम था। अब तक इस ऊर्जा के, जो वैज्ञानिकों को ज्ञात सभी ऊर्जाओं से पूर्णतया भिन्न है, उद्गम का पता वैज्ञानिकों को नहीं लग सका है।

अगम शास्त्रों की व्यवस्था

प्राचीन काल में मंदिरों का निर्माण अगम शास्त्रों में वर्णित व्यवस्था तथा शिल्पशास्त्र के नियमों के अनुसार होता था। इन मंदिरों की रचना इस ढंग से की जाती थी कि वह रहस्यमयी ऊर्जा, जिसका उल्लेख हम ऊपर कर आये हैं, किसी ऊर्जा-सम्पन्न व्यक्ति से प्रवाहित होकर, उस मंदिर से इस प्रकार बंध जाये कि जब वर्षों बाद कोई खुले हृदय वाला साधक या भक्त उस ऊर्जा को ग्रहण करने के लिए आये, तो वह उसकी ओर बहकर उसे भी ऊर्जा से भर सके। जिन मंदिरों का निर्माण ऐसे ऊर्जा-सम्पन्न ऋषियों और योगियों द्वारा किया गया, या कराया गया, वे इसी रहस्यमयी ऊर्जा की उपस्थिति के कारण आज भी 'जीवित' हैं और वहां पहुंचकर, भक्त कुछ पाता है।

केरल में एर्णाकुलम् के निकट एक देवी का प्राचीन मंदिर है, जिसमें यह रहस्यमयी ऊर्जा आज तक मौजूद है। इस मंदिर में श्रद्धा-भाव से जाने वाले दर्शनार्थियों पर, इस ऊर्जा का तत्काल प्रभाव होता है।

सोमनाथ के मंदिर को उसके निर्माण के समय इसी रहस्यमयी ऊर्जा से भरा गया था, मगर पुरोहितों और निहित स्वार्थों वाले व्यक्तियों के हस्तक्षेप से यह ऊर्जा क्रमशः क्षीण होती गयी, और कभी का यह जीवंत मंदिर मुहम्मद गज़नवी के आक्रमण के समय तक 'मृत' हो चुका था। तभी उसे आसानी से नष्ट किया जा सका।

धातु की बनी मूर्तियां भी जो मंदिरों में प्रतिष्ठापित की जाती थीं, इसी वैज्ञानिक व्यवस्था से निर्मित की जाती थीं। उन्हें ऊर्जा-सम्पन्न करने के लिए उन पर सच्चे साधुओं द्वारा दीर्घ काल तक ध्यान किया जाता था। इसे 'प्राण-प्रतिष्ठा' कहा जाता था।

'प्राण-प्रतिष्ठा' के बाद, मूर्ति जीवित और सक्रिय हो जाती थी। उसके 'जीवित' रहने के पीछे इसी रहस्यमयी ऊर्जा का हाथ होता था, जो एक बहुत गहन और गुह्य विज्ञान का चमत्कार था। जीवित मूर्ति की ऊर्जा भक्तों को पहुंचती रहती थी। भक्तों के अभाव में तथा अन्य कारणों से वह बिखर जाती थी। मृत मूर्ति की पूजा मात्र औपचारिक क्रिया बन जाती है, और उससे ऊर्जा-दान नहीं मिलता।

(लेखक की 'पॉवर इन टैम्पल्स' का संक्षिप्त रूपांतर—साभार उद्धृत)

□

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः

०

भवन की पत्रिका 'भारती' से समन्वित

मनुष्य के नवोत्थान का सूचक;
जीवन, साहित्य और संस्कृति का मासिक

तेजो मयि धेहि

एधोऽस्येधिषीमहि समदसि ।
तेजोऽसि तेजो मयि धेहि ।।

हे प्रभु ! आप जो अपने जाज्वल्यमान प्रकाश से हमारे अंतर को आलोकित करते हैं और हमें सब प्रकार का ज्ञान देते हैं, हमें ऐसा तेज प्रदान करें कि जिसको प्राप्तकर हम सभी दिशाओं में प्रगति कर सकें ।

यजुर्वेद, ३८–२५

सन्त भानुदास

सावित्रीबाई खानोलकर

भानुदास की ख्याति महाराष्ट्र के एक महान संत के रूप में तो है ही, प्रख्यात संत एकनाथ के प्रपितामह के रूप में भी है। अपने प्राणों की बाज़ी लगाकर, वे भगवान विट्ठल की खोयी मूर्ति को विजयनगर से खोजकर लाये थे, और उसे पंढरपुर के मंदिर में पुनः प्रतिष्ठापित किया था।

चकित-स्तब्ध रह गये थे सभी संत और भक्तगण, उस दिन पंढरपुर के सुप्रसिद्ध मंदिर में भगवान विट्ठल की मूर्ति को अनुपस्थित देखकर !

यह उन दिनों की बात है, जब महाराष्ट्र में संत तथा भक्तगण पंढरपुर मंदिर में एकत्रित होकर, भगवान विट्ठल के नाम का संकीर्त्तन किया करते थे, और उनकी पवित्र हरि-कथा सुनकर तथा सुनाकर अपने को धन्य मानते थे।

कभी-कभी यह अखंड संकीर्त्तन कई दिनों और कई रातों तक अविराम चलता। न किसी को थकान अनुभव होती, और न कोई कीर्त्तन के बीच में विश्राम करने की सोचता। एकादशी तथा अन्य पर्वों पर कीर्त्तन में भाग लेने वालों की संख्या हज़ारों तक पहुंच जाती थी।

... उस दिन जब भक्तजन कीर्त्तन करने के लिए मंदिर में आये, तो मंदिर में विट्ठल की मूर्ति को न पाकर आश्चर्यचकित रह गये, और आपस में पूछने लगे, 'कहां गयी मूर्ति? क्या हुआ मूर्ति को?' सब किंकर्त्तव्यविमूढ़ थे। किसी की समझ में नहीं आ रहा था कि मूर्ति को कहां और कैसे खोजा जाये ?

तभी, भगवान का परम भक्त भानुदास उठा, और मूर्ति की खोज करने चल दिया। वह इस संकल्प के साथ गया था कि मूर्ति लेकर ही लौटेगा।

भानुदास की ख्याति महाराष्ट्र में एक महान संत के रूप में तो है ही, वे प्रख्यात संत एकनाथ के प्रपितामह के रूप में भी जाने जाते हैं।

सन १४४८ में जन्मे भानुदास जन्म से ही स्वतंत्र प्रकृति के थे। जब वे दस वर्ष की आयु के ही थे, तब उनके पिता ने उन्हें किसी बात पर डांटा था। इससे अप्रसन्न होकर वे एक वन की गुफा में

स्थित सूर्य-मंदिर में चले गये थे, और वहां सात दिनों तक छुपकर रहे थे। वहां एक अज्ञात ब्राह्मण उन्हें प्रतिदिन एक प्याला दूध दे जाता था। उसी के सहारे वे जीवित रह सके थे। सारा समय वे सूर्य-देवता की उपासना में व्यतीत करते।

एक गांववाले ने एक दिन उन्हें मंदिर से बाहर आते देख लिया, और उनके पिता को उनके वहां छिपने की सूचना दे दी। जब उनके पिता उन्हें लेने आये, तो देखा कि उनके पुत्र सूर्य-देवता की मूर्ति के चरणों में सो रहे हैं। तभी से उनका नाम 'भानुदास' (सूर्य का सेवक) पड़ गया। वे आगे चलकर इसी नाम से विख्यात हुए।

भानुदास मंदिर छोड़कर जाने को तैयार न थे। बड़ी मुश्किल से वे घर आने को तैयार हुए। कुछ समय बाद, उनका विवाह हो गया, किंतु विवाह के तुरंत बाद उन्हें अपने माता-पिता का बिछोह सहना पड़ा। पत्नी और बच्चों की पूरी जिम्मेवारी उनके कंधों पर आ पड़ी। और चूंकि वे कुछ कमाते नहीं थे, और अपना सारा समय भजन-कीर्त्तन में व्यतीत करते थे, इसलिए शीघ्र ही उनके परिवार के सदस्यों के भूखों मरने की नौबत आ गयी।

उनकी बुरी हालत देखकर, उनके गांव के बड़े-बूढ़ों ने उनकी सहायता करने के उद्देश्य से १०० रुपये का कपड़ा खरीद-कर उन्हें दिया, ताकि वे कपड़ा बेचने के व्यवसाय से अपने परिवार का भरण-पोषण कर सकें। प्रभु की कृपा से उनका यह धंधा चल निकला। धीरे-धीरे वे अपने धंधे में इतने सफल हो गये कि अन्य कपड़ा-व्यापारी उनसे ईर्ष्या करने लगे। उन्होंने किसी उचित अवसर पर उनसे बदला लेने का फैसला किया।

एक दिन, तड़के ही तड़के भानुदास अन्य व्यापारियों के साथ एक नगर में पहुंचकर एक धर्मशाला में रुके। पास में ही कहीं कीर्त्तन हो रहा था। वे उसमें भाग लेने को चल दिये, अपने साथियों से अपने सामान की देखरेख करने को कहकर। साथी-व्यापारियों ने पहले से ही एक कपट-योजना तैयार कर ली। भानुदास के जाते ही उन्होंने उनके कपड़े एक गढ़े में फेंक दिये, और उनके घोड़े को आज़ाद कर छोड़ दिया। लेकिन तभी कुछ डाकुओं ने धर्मशाला पर आक्रमण कर सभी व्यापारियों को मारकर, उनका सारा सामान लूट लिया।

जब भानुदास वापस धर्मशाला लौटे, तो उन्हें अपने लुटे-पिटे और लज्जित साथियों से उनकी अनुपस्थिति में घटी सब घटनाओं का पता चला। उनका घोड़ा इस बीच वापस लौट आया था, और कपड़े भी गढ़े से मिल गये थे। ये कपड़े उन्होंने अपने साथी-व्यापारियों में बांट दिये, और हरि-कीर्त्तन करते हुए आनंदपूर्वक अपने घर लौट आये।

विट्ठल की खोयी मूर्ति की खोज करते-
(शेषांश पृष्ठ ७० पर)

कुंडलिनी-शक्तिपात के महान शक्तिधर योगी-गुरु दिवंगत स्वामी विष्णु तीर्थ का अपूर्व साक्षात्कारी चिन्तन्, जिसमें ब्रह्मचर्य का रसायन-वैज्ञानिक विवेचन किया गया है।

□

ब्रह्मचर्य और पंचाग्नि विद्या

ब्रह्मचर्य सभी साधनों का मेरुदंड है, और उसकी अनुपस्थिति में कोई सदाचार नहीं ठहर सकता। स्वामी विष्णु तीर्थ ने ब्रह्मचर्य के साधन और लक्ष्य के विषय में गंभीर और विस्तृत विवेचन किया है, तथा इसी प्रसंग में उस पंचाग्नि-विद्या का भी उल्लेख किया है, जिसका वर्णन हमें उपनिषदों में पढ़ने को मिलता है, और जिसका सीधा संबंध ब्रह्मचर्य से है।

छांदोग्य उपनिषद में पंचाग्नि-विद्या के माध्यम से ऋषि ने प्राण की वनस्पति-जगत तथा प्राणि-जगत तक की अनभिप्रेत यात्रा का बड़ा सुंदर वर्णन है।

देवताओं ने सर्वप्रथम यज्ञ में आकाश पर श्रद्धा का चढ़ावा चढ़ाया, जिसके परिणामस्वरूप उन्हें सोम की प्राप्ति हुई। दूसरे चढ़ावे के रूप में उन्होंने सोम का चढ़ावा पर्जन्य पर चढ़ाया, जिसके परिणामस्वरूप, वर्षा की उत्पत्ति हुई। पृथ्वी पर वर्षा का चढ़ावा चढ़ाने पर प्राणियों के लिए शाकाहारी भोजन प्राप्त हुआ। और इसके बाद प्राणि-शरीर पर शाकाहारी भोजन का चढ़ावा चढ़ाया गया, जिसके फलस्वरूप वीर्य की प्राप्ति हुई। और अंत में जब वीर्य का चढ़ावा नारी के डिंब पर चढ़ाया गया, तो शिशु की प्राप्ति हुई।

जब आदमी अपने शरीर के अंदर इस अनभिप्रेत यात्रा-चक्र को उल्टा करना चाहता है, तो वह इस प्रक्रिया की शुरूआत अपनी काम-ऊर्जा के नियंत्रण से करता है। वज्रोली-मुद्रा के माध्यम से हठयोगी वीर्य को शरीर में खींचकर इस प्रक्रिया को विकासीय स्वरूप प्रदान करता है। साधारण आदमी को वीर्य-रक्षा के हेतु संयम की राह अपनानी पड़ती है।

वीर्य को स्थूल बिंदु कहा गया है। आंतरिक पंचाग्नि, सूक्ष्म बिंदु तथा सोम, इन्हें सर्वोत्तम बिंदु माना गया है। योगी के लिए ये तीनों बिंदु 'स्व' के तीन विभिन्न प्रकार ही हैं।

स्थूलं सूक्ष्मं परं चेति त्रिविधं ब्रह्मणो वपुः
स्थूलं शुक्रात्मकं विन्दुः सूक्ष्मं पंचाग्नि रूपकम्।

सोमात्मकः परः प्रोक्तः सदा साक्षी सदाच्युतः

(योगशिखोपनिषत् ५-२८, २९)

संस्कृत में वीर्य को शुक्र और बिंदु दोनों नामों से पुकारा जाता है। स्त्री की डिंब-ग्रंथि से बहनेवाले तरल पदार्थ को रज भी कहते हैं, और बिंदु भी। योगियों के अनुसार जिस प्रकार पुरुषों में रज अविकसित रूप में मौजूद रहता है, उसी प्रकार पोषण करते हैं, और दूसरी ओर वैश्वानर के रूप में प्राणियों के उदरस्थ भोजन को पचाते हैं।

शरीर के बाहर जानेवाला वीर्य यदि शरीर में ही मौजूद रहे, तो वह सोम बन जाता है। इस प्रकार ब्रह्मचर्य प्रजनक-चक्र की गति को ही समाप्त नहीं करता, आवागमन के चक्र की गति को भी समाप्त कर देता है।

स्त्रियों में भी शुक्र अविकसित रूप से मौजूद होता है। इन दोनों परस्पर-विरोधी स्वभाववाले तरल पदार्थों को अपने शरीर में संयुक्त करके, योगी विकास-प्रक्रिया की शुरूआत करता है। इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप, प्राण-शक्ति सोम में रूपांतरित हो जाती है और सोम अंततः समाधि का कारण बनते हैं। वहीं सोम, जो गीता के अनुसार, एक ओर वनस्पति-जीवन का

योगियों के उत्तम स्वास्थ्य और तेजोमय शरीर का रहस्य ब्रह्मचर्य में ही छिपा है। साधारण लोग भी ब्रह्मचर्य का पालन करके योगियों के समान उत्तम स्वास्थ्य के स्वामी और दीर्घजीवी हो सकते हैं।

काम-ऊर्जा का आंतरिक प्रवाह

यदि योगी के शरीर में वीर्य का ऊर्ध्वगमन हो, तो काम-ऊर्जा भीतर की ओर बहने लगती है, और बाहर विकीर्ण नहीं

होती, और निरंतर ऊपर ही चढ़ती जाती है। यही है उसकी ब्रह्मचर्य साधना—काम-ऊर्जा का आंतरिक प्रवाह और निरंतर ऊर्ध्वगमन। इसलिए, योगी को ऊर्ध्वरेता भी कहते हैं, क्योंकि उसकी काम-ऊर्जा या सर्जनात्मक-ऊर्जा भीतर बहने लगती है, जो आनंद की एक अंतरधारा को प्रवाहित करने में भी सहायक होती है। अपार आनंद की अविराम वर्षा करने के अतिरिक्त, यह प्रवाह, जिसमें काम-ऊर्जा या सर्जनात्मक-ऊर्जा का तनिक भी स्खलन नहीं होता, भीतर छिपी पड़ी और सोयी सर्जनात्मक-ऊर्जा को सजग, जागरूक और सक्रिय भी करता है।

एक अमरीकी लेखक नेपोलियन हिल ने 'थिंक एंड ग्रो रिच' नामक अपनी लोकप्रिय पुस्तक में लिखा है कि काम-ऊर्जा का उच्चतर सर्जनात्मक-ऊर्जा में, जो विज्ञान, कला और साहित्य के नये आयाम खोलने में समर्थ है, तत्त्वांतरण हो सकता है। उन्होंने यह भी कहा है कि यदि उसको उच्चतर सर्जनात्मक-ऊर्जा में तत्त्वांतरित नहीं किया गया, तो वह निम्नतर ऊर्जा में तत्त्वांतरित होकर आदमी को अवनति के गड्ढे में धकेल सकती है।

हर प्रकार की आध्यात्मिक और बौद्धिक उन्नति के मूल में काम-ऊर्जा के श्रेष्ठतर रूपांतरण के ही दर्शन होते हैं। ब्रह्मचारी ही धार्मिक या मेधावी व्यक्ति बन सकता है। ब्रह्मचारी के लिए काल और स्थान के अंतर समाप्त हो जाते हैं, और वह अतींद्रिय-दर्शन कर सकता है। वह, आप क्या सोच रहे हैं, वह सिर्फ़ सोच ही नहीं सकता, उसे देख भी सकता है। उसे 'इल्हाम' या 'दिव्य-आदेश' प्राप्त हो सकते हैं।

हिंदू ऋषि मानते थे कि हम सबके पास एक 'एस्ट्रल बॉडी' (सूक्ष्म शरीर) भी है, जिसमें अपस नामक एक सूक्ष्म तरल पदार्थ, जिसे श्रद्धा तथा पवित्र विचारों से सोम में परिवर्तित किया जा सकता है, प्रवाहित होता रहता है।

ब्रह्मचर्य के माध्यम से योगी इस सूक्ष्म तरल पदार्थ को नियंत्रित कर लेता है और इस प्रकार अपने 'एस्ट्रल बॉडी' (सूक्ष्म शरीर) पर भी नियंत्रण प्राप्त कर लेता है।

योगी इस सूक्ष्म तरल पदार्थ से निर्मित सूक्ष्म शरीर को 'प्राणमय कोष' और भौतिक शरीर को 'अन्नमय कोष' कहते हैं, क्योंकि दोनों का निर्माण क्रमशः प्राण और अन्न से हुआ है।

मन 'एस्ट्रल' (सूक्ष्म) का भी सूक्ष्म है। इस मनस शरीर को ऋषि 'मनोमय कोष' कहते हैं।

प्राणमय कोष और श्रद्धा के माध्यम से कोई भी व्यक्ति अपने से बड़ों से आशीर्वाद ग्रहण कर सकता है, और अपने से छोटों को आशीर्वाद दे सकता है। जो प्राणमय कोषों और मनोमय कोषों के स्वामी हो जाते हैं, वैसे योगी सब द्वन्द्वों से मुक्त हो जाते हैं।

कृपालु पाठकों से नम्र निवेदन

कागज़ की निरंतर बढ़ती महंगाई और छपाई के खर्चों में होती जा रही वृद्धि के कारण हमें जनवरी - १९८२ से नवनीत के चंदे की दरों में वृद्धि करने के लिए बाध्य होना पड़ रहा है। आशा है कि नवनीत के कृपालु पाठक नवनीत को अपना पूर्ववत् स्नेह प्रदान करते रहेंगे और उसे अपने बहुमूल्य सुझावों से लाभान्वित करते रहेंगे।

जनवरी १९८२ से नवनीत के चंदे की नयी दरें :

भारत में : १ वर्ष : २८ रु.; दो वर्ष : ५४ रु.; ३ वर्ष : ८० रु.।
विदेशों में (समुद्री डाक से) : १ वर्ष : ८० रु.; २ वर्ष : १५० रु.; ३ वर्ष : २२० रु.।
सीलोन, पाकिस्तान, बांग्लादेश :
१ वर्ष : ४० रु.; २ वर्ष : ७८ रु.; ३ वर्ष : ११५ रु.।
विदेशों में हवाई डाक से : (पाकिस्तान, श्रीलंका, अफगानिस्तान और बर्मा)
१ वर्ष : १२५ रुपये। अन्य सभी देशों के लिए २०० रुपये।
एक प्रति : २·७५ रुपये।

— व्यवस्थापक

किंतु प्राणमय कोष पर योगी को नियंत्रण तभी प्राप्त हो सकता है, जब वह अपने वीर्य को सोम में रूपांतरित करने में सफल हो जाता है।

योगशिखा के अनुसार, सोम का स्थान है—भृकुटियों का मध्यस्थान। इस स्थान को देखने के प्रयास में आपकी आधी आंख बंद रह जायेगी, और आधी खुली रहेगी। इसे नासाग्र दृष्टि कहते हैं, जिसका यौगिक महत्त्व है।

अंत में, मैं कहना चाहूंगा कि ब्रह्मचर्य एक अनुभव है, सिद्धांत नहीं। और अनुभव और सिद्धांत के मार्ग भिन्न-भिन्न हैं, विपरीत हैं।

जिन्हें ब्रह्मचर्य के अनुभव से गुज़रना हो, उन्हें योग-शास्त्रों से कोई प्रयोजन नहीं होना चाहिये।

ब्रह्मचर्य कामवासना से लड़ाई नहीं है, वह है, काम का ऊर्ध्वंगमन और उच्च केंद्रों की सक्रियता। काम-ऊर्जा को जबर्दस्ती रोकने से आनंद के द्वार नहीं खुलते। जो ऐसा करते हैं, वे यौन के प्रति पहले से अधिक सजग और सक्रिय हो जाते हैं। काम के ऊर्ध्वंगमन से ही ब्रह्मचर्य की यात्रा पर अग्रसर हुआ जा सकता है। रूपांतरित काम ही ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य राग-विरोधी नहीं है, सौंदर्य-विरोधी नहीं है, वह है—राग का रूपांतरण, परम सौंदर्य की खोज। ब्रह्मचर्य प्रेम से तोड़ता नहीं, परम प्रेम से जोड़ता है।

□

भारत के महान इतिहास-दार्शनिक और सांस्कृतिक चिन्तक स्व० डा० नीहार रंजन रे का एक गतिमान इतिहास-लेख

□

एशिया, कैसा एशिया?

नीहार रंजन रे के निधन से देश ने एक अग्रगणी साहित्यकार को खो दिया। वे जिस अभिजात वर्ग के बंगला साहित्यकार थे, उसकी परंपरा काफ़ी पुरानी है—राजा राममोहन राय, देवेंद्रनाथ ठाकुर, माइकेल मधुसूदन दत्त, केशवचंद्र सेन, रवींद्रनाथ ठाकुर प्रभृति की शानदार परंपरा।

बंगाली और अंग्रेज़ी में लिखी उनकी अनेक पुस्तकों में उनकी मनस्विता और सृजनशीलता के दर्शन होते हैं। उनकी सर्वाधिक विख्यात और चर्चित बंगाली पुस्तकें हैं—'रवींद्रेसाहित्येर भूमिका', 'बंगलीर इतिहास' और रवींद्रनाथ के व्यक्तित्व और कृतित्व पर आधारित 'आर्टिस्ट इन लाइफ' (जिस पर उन्हें साहित्य अकादमी पुरस्कार मिला)। इस पुरस्कार के अतिरिक्त उन्होंने प्रेमचंद रायचंद पुरस्कार, ग्रिफिथ मेमोरियल प्राइज़, टैगोर पुरस्कार और आशुतोष पुरस्कार भी जीते।

हाल ही में उन्होंने प. बंगाल की शिक्षा-नीति के विरुद्ध आंदोलन में भाग लेकर जेल-यात्रा की थी।

भारत के प्राचीन इतिहास के वे एक सुधी मर्मज्ञ थे, और उन्होंने बारीकी से उसका अध्ययन किया था।

प्रस्तुत लेख जो उनकी अंतिम रचनाओं में से एक है, उनकी इसी सूक्ष्मता को उजागर करता है।

०

प्राच्यविदों ने भारत की जो अनेक छवियां प्रस्तुत की हैं, उनमें एक यह है कि भारत सदा से एकात्मक और समशील एशिया का एक अंग रहा है। किपलिंग ने जब कहा था कि 'पूर्व पूर्व है, और पश्चिम पश्चिम, और दोनों का मिलन कभी संभव नहीं।' तो उसने भारतीय और यूरोपीय प्राच्यविदों की इसी छवि को अपनी अभिव्यक्ति प्रदान की थी।

टैगोर और स्वामी विवेकानंद भी इस धारणा में आस्था रखते थे। टैगोर को यह आस्था प्राप्त हुई थी, ओकाकुरा नामक एक विद्वान जापानी से, जो इस सदी के आरंभ में भारत आया था और टैगोर-परिवार के साथ ठहरा था। उसकी पुस्तक 'आइडियल्स ऑफ द ईस्ट' इस मार्मिक वाक्य से आरंभ होती है–'एशिया एक है।'

बाद में घटी अनेक घटनाओं से इस धारणा को बल मिला। ये घटनाएं थीं : रूस-जापान युद्ध, जिसमें जापान विजयी रहा, बंगाल में स्वदेशी और राष्ट्रीयता आंदोलन, सुन यात सेन के नेतृत्व में चीन में राष्ट्रीयता आंदोलन का सूत्रपात आदि। वस्तुतः, उस काल में यह धारणा हमारे प्रबुद्ध-वर्ग में इतना घर कर गयी थी कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष के रूप में उस काल के प्रमुख सांस्कृतिक तथा राजनैतिक नेताओं में में से एक–चित्तरंजन दास ने अपने अध्यक्षीय भाषण में एशियाई देशों की एकता पर बहुत ज़ोर दिया था, और मांग की थी कि सब एशियाई देश मिलकर पश्चिम के उपनिवेशवाद का सामना करें।

इसके पच्चीस वर्ष बाद, स्वाधीनता से कुछ समय पूर्व, नेहरू ने एशियाई एकता की मशाल पुनः प्रज्वलित की, और १९४७ के अंत में नयी दिल्ली में एक विशाल अखिल एशियाई सम्मेलन का आयोजन किया। उस काल के प्रायः सभी अग्रणी एशियाई नेताओं ने इस सम्मेलन में भाग लिया था। सम्मेलन का उद्घाटन गांधीजी ने किया था, और सरोजिनी नायडू उसकी अध्यक्षा थीं। सम्मेलन में विभिन्न पहलुओं से इसी एक समस्या के हल पर विचार - विनियम हुआ था कि एशियाई देश कैसे एकजुट होकर पश्चिमी देशों की आक्रामक और साम्राज्यवादी नीतियों का सामना कर सकते हैं?

राजनीति-शासन-कला और राजनय के कारण और प्रयोजन इतिहास के प्रमाणित तथ्यों पर आधारित हों, यह आवश्यक नहीं होता, किंतु यहां चित्तरंजन दास और नेहरू की धारणा प्राच्यविदों और भारत-विद्या-विशेषज्ञों की स्थापनाओं द्वारा समर्थित थी।

प्राच्यविदों का ज़ोर इस बात पर था कि पूर्व और पश्चिम में सिर्फ़ भौगोलिक

अंतर ही नहीं, मनोवैज्ञानिक, ऐतिहासिक, सामाजिक और स्वभावगत अंतर भी हैं। दूसरे शब्दों में, पूर्व और पश्चिम दोनों अलग-अलग समशील इकाइयां हैं, ऐसी इकाइयां जिनका आपस में मिलन संभव नहीं है।

किंतु, मेरा कहना है कि उनका यह दावा और ज़ोर एकदम ग़लत है। पूर्व और पश्चिम दोनों के समशील होने का दावा ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और नृजातीय किसी भी दृष्टि से प्रमाणित और संपोषित नहीं किया जा सकता। मैं इस धारणा से भी सहमत नहीं हूं कि भारत एशिया का एक अनिवार्य अंग है। इस धारणा के समर्थन में कोई भी सांस्कृतिक, नृजातीय और ऐतिहासिक प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया जा सकता।

इसमें कोई संदेह नहीं है कि भौगोलिक दृष्टि से भारत एशिया का एक भाग है। लेकिन साथ में यह भी निश्चित है कि प्राणि-विज्ञान की दृष्टि से एशिया एक ईकाई नहीं है; बड़ी पंचमेल और विषम स्थिति है एशिया की।

अकेले भारत में ही हमें अनेक जातियों के लोग दिखायी देते हैं। इनमें से कुछ जातियां हैं—नेग्रीटो, भूमध्यसागरीय, आदि-आस्ट्रेलियाई, तिब्बती-बर्मी, काकस और ऐल्पाइन। दक्षिण-पूर्व और पश्चिम एशिया में भी अनेक जातियों का ऐसा ही पंचमेल दिखायी पड़ता है।

सांस्कृतिक और मानव-शास्त्रीय दृष्टि से एशिया को दो मुख्य क्षत्रों में विभाजित किया जा सकता है। पूर्वी क्षेत्र में आते हैं—चीन, जापान, कोरिया, पूर्वी और दक्षिणी भारत, और पश्चिमी क्षेत्र में मध्य एशिया, मध्य पश्चिमी, और उत्तरी-पश्चिम भारत और पश्चिमी एशिया का समावेश होता है।

पूर्वी क्षेत्र के लोग चावल और मछली खाते हैं, खाना पकाने के लिए वनस्पति तेल का इस्तेमाल करते हैं, और लुंगी, चादर पहनते हैं। पश्चिम क्षेत्र के लोग गेहूं और मांस खाते हैं, और प्रायः सिले-सिलाये, तंग कपड़े पहनते हैं। इन दोनों क्षेत्रों की सांस्कृतिक पृथकता जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी दिखायी पड़ती है।

ऐतिहासिक दृष्टि से भी देखा जाए तो कोई ऐसा समान अभिधान नज़र नहीं आता, जिसके आधार पर सारे पूर्व को एक ईकाई माना जा सके। हां, अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी में अवश्य सारा एशिया तब एक ईकाई बन गया था, जब प्रायः सारे एशिया महाद्वीप को पश्चिम के उपनिवेशवाद की बढ़ती लहरों में डूब जाना पड़ा था।

एशिया की एकात्मकता का थोड़ा-सा आभास बीसवीं सदी के आरंभिक कुछ दशकों में उस समय भी हुआ, जब एशियाई देशों ने स्वयं को पश्चिम देशों की दासता की बेड़ियों से मुक्त करने के लिए संघर्ष किया। तब इन एशियाई देशों में भावात्मक एकप्राणता के दर्शन

हुए थे।

पूर्वी एशियाई देशों की अपेक्षा युरोपीय देशों से भारत का संपर्क मध्ययुग से ही काफ़ी ज़्यादा और काफ़ी गहरा है। चंद्रगुप्त मौर्य के बाद, उनकी तीन पीढ़ियों की आंखें और कान पश्चिम की ओर ही लगे रहे। अशोक के पिता बिन्दुसार यूनानी संस्कृति से अत्यधिक प्रभावित थे। वे यूनानी शराब और यूनान से आये सूखे अंजीरों के प्रेमी थे।

पांचवीं सदी के अंत तक, भारतीय प्रायद्वीप में कम से कम बीस प्रमुख बंदरगाह ऐसे थे, जहां से यूरोपीय देशों को माल जाता था। व्यापार के अलावा, सांस्कृतिक प्रवृत्तियों का आदान-प्रदान भी होता रहता था। इन बंदरगाहों में उस काल में रोमन स्वर्ण और रजत मुद्राएं, रोमन शराब, रोमन मृण्पात्र, रोमन और अबीसियन दास, कुलीन रोमन महिलाओं का प्राचुर्य था। उज्जैन आदि आंतरिक नगरों में भी, कभी कभी रोमन सामान और व्यक्तियों के दर्शन हो जाया करते थे।

तत्कालीन भारतीय कला, नाट्य-कला, खगोल-विज्ञान, ज्योतिष-शास्त्र और प्रतिमा-विज्ञान पर यूनान और रोम का प्रभाव सुस्पष्ट था। इस संबंध में गांधार, मथुरा, अमरावती और नागार्जुनकोंडा की कला का उल्लेख प्रासंगिक होगा।

मुस्लिम संस्कृति की देन

ऐतिहासिक और सांस्कृतिक दृष्टि से स्थान आता है, भारत का मध्य एशियाई देशों के साथ संपर्क का। यह संपर्क तब स्थापित हुआ जब इन देशों से कुषाण आदि जातियों के लोग दक्षिण की ओर आये। इन लोगों ने भारत के अनेक क्षेत्रों को अपने अधिकार में किया, और जब वहां से विदा हुए तो इन क्षेत्रों पर अपने-अपने अमिट प्रभाव छोड़ गये। सिंधु घाटी तथा गंगा और यमुना के दुआब का क्षेत्र विशेष रूप से उनकी संस्कृति से प्रभावित हुआ।

भारत और अरब देशों के व्यापारिक संबंध भी काफी पुराने हैं। नवीं सदी से लेकर चौदहवीं सदी तक, भारत के पश्चिमी तट के बंदरगाहों से होने वाले इस व्यापार के अनेक वर्णन उपलब्ध हैं।

और, जब पुर्त्तगाली, फ्रांसीसी और अंग्रेज़ भारत आये, तो पूर्व-पश्चिम के संबंधों में एक नया दौर आरंभ हुआ। और चूंकि इन संबंधों का इतिहास काफ़ी नया और ताज़ा है, इसलिए मैं जानबूझकर उसका यहां उल्लेख नहीं कर रहा हूं। मैं अंत में सिर्फ़ इतना कहना चाहता हूं कि पश्चिम और उसके ईसाई धर्म का भारतीय संस्कृति पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है। अपने जीवन के संकटपूर्ण क्षणों में, एक बार अकबर ने नये धर्म का अनुयायी बनने का निश्चय कर लिया था। उसने 'दीन-इलाही' नामक जिस धर्म की स्थापना करने का स्वप्न देखा था, वह ईसाइयत से काफ़ी हद तक प्रभावित था।

अंतरराष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त राजनीति-दार्शनिक
डा. शान्तिप्रसाद वर्मा
का संस्मरणात्मक सांस्कृतिक पत्र-लेख जिसमें समग्र भारतीय साहित्य के एकीकरण का एक महान, मगर विफल प्रयत्न दस्तावेज़ हुआ है

पुरानी यादें: नये क्षितिज

[डा. शान्तिप्रसाद वर्मा का विस्तृत पत्र वीरेन्द्रकुमार जैन के नाम]

जवाहर नगर, जयपुर
१४ जून १९८

सस्नेह ! मैंने तुम्हें एक पत्र, शायद फरवरी में लिखा था। उसके उत्तर की प्रतीक्षा रही। पर, बाद में 'नवनीत' के जनवरी व फरवरी के अंक आ जाने से लगा कि वह सान्निध्य, पत्र-व्यवहार में व्यवधान के होते हुए भी, टूटा नहीं बल्कि और प्रगाढ़ हो गया है। इतनी सुंदर और सुरुचिपूर्ण पत्रिका 'त्यागभूमि', 'विशाल भारत' और (प्रेमचंद-काल के) 'हंस' के बाद हिंदी में अब तक प्रकाशित नहीं हुई थी। उन पत्रिकाओं में जिस प्रकार प्रत्येक लेख के चयन एवं संपादन पर हरिभाऊ उपाध्याय, बनारसीदास चतुर्वेदी और प्रेमचंद के अपने-अपने व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप दिखाई देती थी वैसी ही-अथवा उससे भी अधिक स्पष्ट—'नवनीत' के प्रत्येक अंक पर तुम्हारे बहुमुखी और बहु-आयामी व्यक्तित्व की छाप है। जिन तीन व्यक्तियों के मैंने नाम लिये हैं उन सभी से मेरा, और तुम्हारा भी, निकट का संबंध रहा है। वे हमारे लिए आदरास्पद रहे हैं, और उनकी विभिन्न प्रतिभाओं को हम लोगों ने सराहा है और उनके जीवन और कृतित्व से बहुत कुछ सीखने का प्रयत्न किया है। परंतु मेरा अपना व्यक्तित्व इनमें से किसी एक के व्यक्तित्व से कभी अत्यधिक प्रभावित नहीं रहा-उनकी अपनी एकांगिताओं को मैं देख

सका हूं—और मैंने जीवन के अन्य अंगों को, जिन्हें ये लोग अपने व्यक्तित्व में समाविष्ट नहीं कर सके थे, कभी उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखा।

मुझे याद है कि एक दिन जब मैं इंदौर में माखनलाल चतुर्वेदी के साथ एक पुस्तक-विक्रेता के यहां खड़ा हुआ था, हरिभाऊ उपाध्याय वहां आ गये। दोनों से ही मेरे अत्यधिक निकट के संबंध थे, और दोनों ही अपने युग के प्रमुख व्यक्तियों में से थे—और तभी मैंने, मन ही मन में, दोनों के व्यक्तित्वों का एक तुलनात्मक चित्र खींच डाला। दोनों ही राष्ट्रीय चेतना के सबल प्रतीक थे और अपने-अपने क्षेत्रों (मध्य प्रदेश और राजस्थान) की राजनीतिक गतिविधियों में अग्रणी थे (यद्यपि इंदौर दोनों के ही राजनीतिक व साहित्यिक कार्य-विधियों का एक प्रमुख क्षेत्र रहा)। पर, इससे अधिक सादृश्य की अपेक्षा उनसे नहीं की जा सकती थी। जबकि हरिभाऊ उपाध्याय की राजनीति गांधीवाद से प्रेरित थी, माखनलाल चतुर्वेदी के राजनीतिक चिंतन् और क्रियाशीलता की जड़ें तिलक के सिद्धांतों में थीं और राजनीति में हिंसा और क्रांतिकारियों के योगदान को वह काफी सम्मान की दृष्टि से देखते थे। यद्यपि गांधी के भारत के राजनीतिक क्षितिज पर छा जाने के बाद से उन्होंने अपने को गांधी के द्वारा उठाई हुई प्रत्येक आंधी में (एक भयंकर अंधड़ से कम उनका कोई आंदोलन नहीं होता था, चाहे हम १९-२०-२२ के सत्याग्रह और असहयोग के आंदोलन को लें, चाहे १९३०-३२ के सविनय अवज्ञा आंदोलन को, अथवा १९४२ के 'भारत छोड़ो' आंदोलन को, और अपने बहाव में वह सभी को बहा ले जाता था) अपने को झोंक दिया। इस संबंध में मुझे एक घटना याद आती है। १९३० में जिस दिन गांधी ने दांडी-यात्रा के अंत में नमक कानून तोड़कर अपने सविनय अवज्ञा आंदोलन को प्रारंभ करने की घोषणा की थी मैं इंदौर में माखनलाल चतुर्वेदी के साथ था। माखनलालजी एक तेजस्वी, निर्भीक और प्रखर बुद्धिवादी
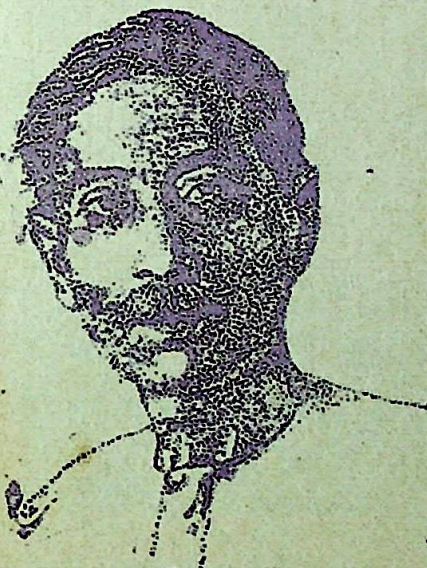
मुंशी प्रेमचन्द

भी थे। उन्होंने कहा कि भला इस प्रकार ब्रिटिश साम्राज्य की मज़बूत नींव को झकझोरा जा सकता है! नमक कानून को तोड़ने के संबंध में उनका दृष्टिकोण आस्था का दृष्टिकोण नहीं था। पर जिस दिन गांधी ने समुद्र-तट पर नमक कानून तोड़ा, उस दिन माखनलाल चतुर्वेदी ने खंडवा में नमक कानून तोड़ा और गिरफ्तार हुए।

हरिभाऊ उपाध्याय और माखनलाल चतुर्वेदी के व्यक्तित्वों में एक विशेष अंतर यह था कि जब कि हरिभाऊ उपाध्याय गांधीजी की प्रत्येक बात का आंख मींचकर समर्थन करते थे, माखनलाल चतुर्वेदी, एक बौद्धिक-वैज्ञानिक स्तर पर उसकी आलोचना करते थे, यद्यपि अंततोगत्वा वह भी उसी मार्ग पर चल पड़ते थे। यहां इन दोनों व्यक्तित्वों की समानता समाप्त हो जाती है। साहित्य के क्षेत्र में हरिभाऊ उपाध्याय का दायरा गांधीवादी साहित्य तक ही केंद्रित था, जब कि माखनलाल चतुर्वेदी का व्यक्तित्व साहित्य-देवता का, उसके सर्वांगीण रूप में, एक संपूर्ण प्रतिनिधित्व करता था—दूसरे शब्दों में, उनका साहित्य किसी दृष्टिकोण अथवा वाद विशेष तक सीमित नहीं था। व्यक्तित्व की जितनी सघनता और गहराई, जितनी संपूर्णता और सचाई, माखनलाल चतुर्वेदी में थी, उतनी मैंने किसी अन्य साहित्यकार में नहीं देखी। (यद्यपि मैं तीस के दशक में हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं के कुछ शीर्षस्थ लेखकों के संपर्क में भी रहा)। हरिभाऊ उपाध्याय और माखनलाल चतुर्वेदी की तुलना, कुछ सीमा तक, गुजराती साहित्य में काका कालेलकर और के. एम. मुन्शी से की जा सकती है—पर केवल इस दृष्टि से कि काका कालेलकर गुजराती साहित्य में गांधीवादी और के. एम. मुन्शी रोमांस-मूलक प्रवृत्तियों के प्रमुख प्रतिनिधि थे—हिंदी साहित्य का क्षेत्र बहुत अधिक व्यापक और अनेकों विधाओं से प्रेरित रहा है।

डा. शान्तिप्रसाद वर्मा

मैं कुछ भटक गया। कहना यह चाहता
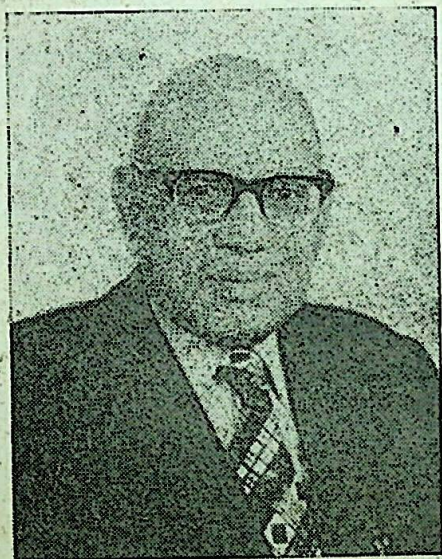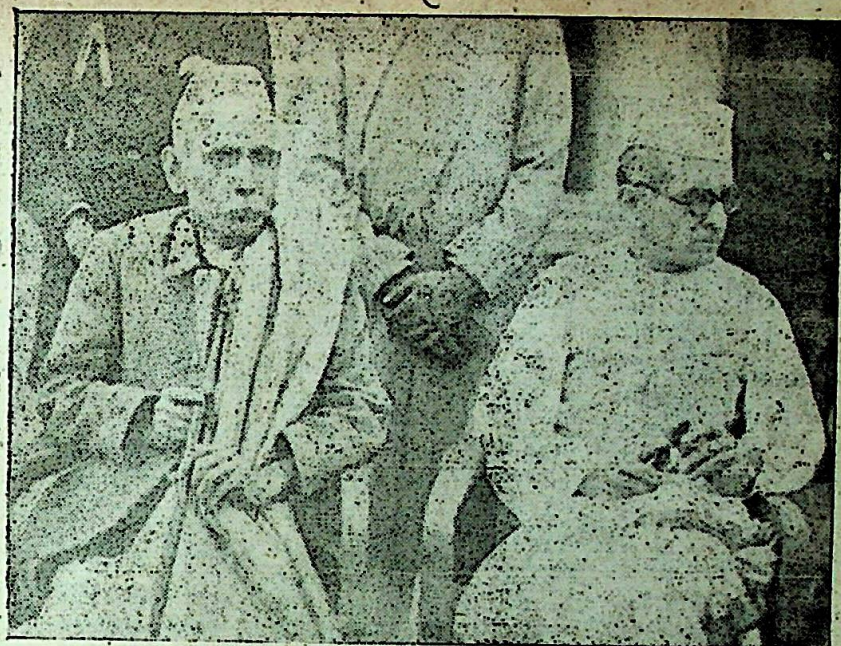
स्व. माखनलाल चतुर्वेदी : स्व. कन्हैयालाल मुन्शी

था कि मैंने अपने व्यक्तित्व को अनेकों व्यक्तित्वों के प्रभाव के प्रति खुला (ओपन) रखा, जिसका एक उदाहरण तो यही है कि हरिभाऊ उपाध्याय और माखनलाल चतुर्वेदी के साथ निकटतम संपर्क रखते हुए काका कालेलकर और के. एम. मुन्शी के साथ भी मेरे काफी निकट के संबंध रहे, जिन संबंधों की अभिव्यक्ति १९३५ में हिंदी साहित्य सम्मेलन के इंदौर में, गांधीजी के सभापतित्व में होने वाले, वार्षिक अधिवेशन में हुई, जब मैंने भारतीय साहित्य परिषद् की स्थापना का अपना प्रस्ताव रखा, जिसमें काका कालेलकर और के. एम. मुन्शी दोनों का ही योगदान था और गांधीजी ने १९३६ में नागपुर में होने वाले उसके वार्षिक अधिवेशन में अध्यक्ष पद स्वीकार किया । संयोग की बात है (अथवा इसे दृष्टिकोणों की विविधता माना जाये ?), इसमें मैंने हरिभाऊ उपाध्याय और माखनलाल चतुर्वेदी इन दोनों में से किसी का सक्रिय सहयोग लेना उस समय आवश्यक नहीं समझा (यद्यपि माखनलाल चतुर्वेदी ने भारतीय साहित्य परिषद् के १९३६ के नागपुर-अधिवेशन में, विशेषकर कार्यकारिणी के चुनाव में, सेठ गोविंददास के पक्ष में सक्रिय भाग लिया) । इस प्रयत्न की प्रारंभिक अवस्था में जैनेंद्रकुमार मेरे साथ थे, (जैनेंद्रकुमार से भी मेरे और तुम्हारे हिंदी साहित्य सम्मेलन के इंदौर अधिवेशन से, माखनलाल चतुर्वेदी जिसमें

साहित्य परिषद् के अध्यक्ष थे और जैनेंद्रकुमार स्वागत-मंत्री, आज तक बहुत निकट के संबंध रहे हैं) और बाद में प्रेमचंद ने, के. एम. मुन्शी के साथ, जिसका प्रमुख नेतृत्व किया। (के. एम. मुन्शी के उन अनेकों संदेशों को मैंने प्रेमचंद तक पहुंचाया जिनमें प्रेमचंद से 'हंस' को भारतीय साहित्य परिषद् का मुख-पत्र बनाने का इसरार था और जिन्हें प्रेमचंद ने, बड़ी अन्यमनस्कता से, स्वीकार किया।) 'हंस' के १९३५-३७ के अंकों को देखने से पता लगता है कि भारत की सभी भाषाओं के श्रेष्ठतम साहित्य का कितना सुंदर प्रतिनिधित्व यह संयुक्त नेतृत्व हमें देने में सफल हुआ था।

हरिभाऊ उपाध्याय और माखनलाल चतुर्वेदी से हटकर—काका कालेलकर और के. एम. मुन्शी पर थोड़ा रुककर—मैं जैनेंद्रकुमार और प्रेमचंद पर आ गया हूं। जैनेंद्रकुमार से आज हम दोनों का निकट का संपर्क बना हुआ है—उनके साथ एक अत्यधिक निकटता और घनिष्ठता, आत्मीयता और ममत्व, का हम आज भी अनुभव करते हैं। प्रेमचंद का १९३६ के अक्तूबर में, भारतीय साहित्य परिषद् के नागपुर-अधिवेशन के ६ महीने बाद, देहावसान हो गया, पर उनसे भी, उनके सजीव और अक्खड़ व्यक्तित्व से, एक निकटतम आत्मीयता आज भी हम दोनों अनुभव करते हैं। मेरे व्यक्तित्व पर हिंदी के अन्य मूर्धन्य साहित्य-स्रष्टाओं के व्यक्तित्व की छाप भी पड़ी है—महादेवी वर्मा, जिनसे १९३१ और १९३९ के बीच अनेकों बार मिलने के अवसरों के बयालीस वर्ष बाद, मैं पिछले दिनों जयपुर में मिला जब वह एक अखिल भारतीय लेखक-सम्मेलन की अध्यक्षता के लिए यहां आयीं, और जिनके एक संवेदनशील कवयित्री और अत्यंत स्नेह और ममता से आपूर्ण बहिन के व्यक्तित्व को, रूप को समस्त राष्ट्र के दुःखों और कष्टों के प्रति संवेदनशील और उनके निवारण के लिए तत्पर एक सफल राष्ट्रीय व्यक्तित्व के रूप में विकसित होते मैं देख सका। उनकी वाणी में छायावाद (रहस्यवाद शब्द शायद अधिक उपयुक्त हो) की मृदुलता, उसका शब्द-सौष्ठव, अनुभूति की गहराई और कल्पना का इंद्रधनुष रूप तो आज भी है, पर उसमें एक पैगम्बर का ओज भी समाविष्ट हो गया है—मानो समाज के उस वर्ग की जो शोषित, दलित

पीड़ित और सर्वथा उपेक्षित वर्ग है, वेदनाओं को वाणी देना उनका एक धर्म बन गया है। राजनीति से वह उदासीन हैं, बल्कि राजनीति के प्रति उनके मन में एक उपेक्षा का भाव है। पर ऐसे लोगों के भी संपर्क में मैं आया हूं जो हिंदी के माध्यम से राष्ट्रीय एकीकरण के लिए प्रयत्नशील रहते हुए राजनीति में सक्रिय थे। पुरुषोत्तम दास टंडन, चरित्र की ईमानदारी की दृष्टि से जिन्हें गांधीजी के समकक्ष रखने में मुझे कोई आपत्ति नहीं होगी, इसका एक अच्छा उदाहरण थे। एक कट्टर हिंदू (राधास्वामी) होते हुए भी जो हिंदू-मुस्लिम एकता के लिए उतनी ही तत्परता से अपने प्राण समर्पित कर सकते थे, जितनी गणेशशंकर विद्यार्थी (जिनकी मैं केवल एक झांकी ही देख सका, पर जिनके प्रखर चरित्र और व्यक्तित्व से मैं बहुत अधिक प्रभावित हुआ), और जिनकी तुलना सहज ही मौलाना अबुल कलाम आज़ाद से की जा सकती है, जो कट्टर मुस्लिम-धर्मी होने के साथ ही धर्म-निरपेक्ष राजनीति के भी कट्टर समर्थक थे। बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' के सम्पर्क में मैं कम आया, पर उनके बलिष्ठ, प्रतिभावान और विनम्र व्यक्तित्व ने भी मुझे आकर्षित किया। पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र', जिनसे मैं कभी मतैक्य स्थापित नहीं कर सका, और जिनके इंदौर-प्रवास के प्रभावशाली दिनों में, जब इंदौर का एक तरुण साहित्यिक वर्ग, हमारे मित्र
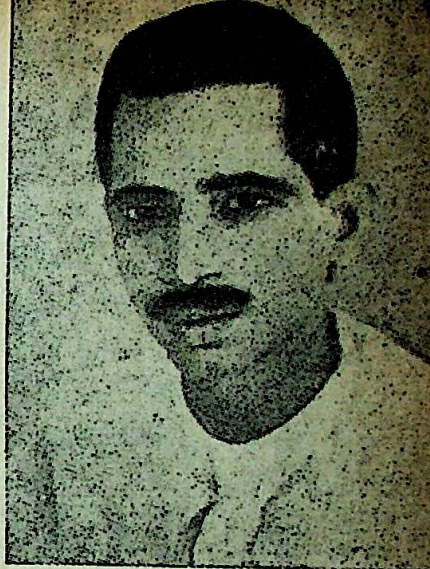
युवा जैनेन्द्रकुमार

नीलकंठ तिवारी 'ज़ख्मी' जिसके नेता थे, अपने को प्राणपण से उनका सच्चा अनुयायी सिद्ध करने में लगा हुआ था, मैं और तुम उस प्रभाव से अक्षुण्ण, दूर, रहे थे, और जिस कारण हमें रोम्यां रोलां और न जाने किन-किन नामों से पुकारा जाता था (शायद इस कारण भी कि हम लोगों ने तभी रोम्यां रोलां का मुग्ध कर देने वाला सशक्त महाकाव्यात्मक उपन्यास 'ज्यां क्रिस्तोफ़' साथ-साथ पढ़ा था और प्रायः उसकी चर्चा में लगे रहते थे।) पर, 'उग्र' की उदारता से मैं उस समय स्तब्ध रह गया जब, लगभग बीस वर्ष बाद, दिल्ली की एक साहित्य-गोष्ठी में—उस समय तक मैं हिंदी साहित्य में अपरिचित हो गया था—उन्होंने बहुत ही स्नेह और आदरास्पद शब्दों में मेरा परिचय

कराया।

तीस के दशक के बाद मेरे जीवन की धारा इतिहास,समाज-शास्त्र, राजनीति-विज्ञान आदि के क्षेत्रों में निर्माणात्मक चिंतन् और सृजन की ओर मुड़ गयी और हिंदी-साहित्य से मेरा संपर्क टूट-सा गया। जब से मैं राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय दोनों ही स्तरों पर, लब्ध-प्रतिष्ठ और विश्व-विख्यात लेखकों और चिंतकों के संपर्क में आया हूं, उनसे प्रभावित हुआ हूं, और संभवतः कुछ सीमा तक उनके विचारों पर अपना प्रभाव डाल पाया हूं। इन सभी रचनाओं और संपर्कों का माध्यम (दुर्भाग्य से) अंग्रेज़ी रहा है और हिंदी-जगत से मेरा संबंध बहुत कुछ टूट-सा गया है। जैनेंद्रकुमार से प्रायः मिलना होता है, पर चिंतन् के क्षेत्र में। हिंदी में मैं अब नहीं लिखता हूं, इसके लिए (तुम्हारी तरह) उनकी भी मुझसे शिकायत रहती है। पर, व्यक्तिगत संबंध आज भी उनसे उतने ही गहरे हैं, जितने १९३४ में प्रथम मिलन के अवसर पर अचानक बन गये थे। 'अज्ञेय' से कभी-कभी मिलना हो जाता है (एक बार तो 'बर्कले' के एक दोपहर के भोज में वह मिल गये, जो विश्वविद्यालय के दक्षिण एशियाई अध्य-यन केंद्र ने मेरे उपलक्ष्य में दिया था), पर उनसे साहित्य की चर्चा नहीं होती। 'बच्चन' से एकाध बार प्रयाग के हिंदू-होस्टल में नरेंद्र शर्मा और शमशेर के साथ मिला था, एक बार टंडनजी के निवास-स्थान पर दक्षिण से, सत्यनारायण के नेतृत्व में आये ज्ञान-यात्री मंडल के स्वागत के अवसर पर, जब उनकी 'मधु-शाला' ने सभी को मंत्र-मुग्ध कर लिया था, और १९३५ में इंदौर साहित्य सम्मेलन में जब मैंने उन्हें कवि-सम्मेलन में आमं-त्रित किया था। पर, आज उन्हें संभवतः मेरा स्मरण नहीं है।

जयशंकर प्रसाद के बनारस के उनके निवास-स्थान पर मैं रामनाथ 'सुमन' के साथ गया था, पर वही समय था जब वह बनारस से कहीं बाहर चले गये थे। पर मेरे गद्य-गीतों की उन्होंने सराहना की थी और उनके कहने से रायकृष्ण दास उन्हें अपने यहां से प्रकाशित करने के लिए राजी हो गये थे। पर, प्रकाशन में देरी के कारण सुमनजी ने पांडुलिपि उनसे वापस ले ली थी और वह अजमेर के सस्ता साहित्य मंडल द्वारा १९३ में प्रकाशित हुई।

पत्र की शुरूआत मैं इस बात से करना चाहता था कि, यद्यपि मैं भी अनेकों व्यक्तित्वों और विचार-धाराओं के संपर्क और प्रभाव में आया हूं पर, मेरे देखते देखते, तुम तो और भी अधिक, असंख्य और अगणित, व्यक्तित्वों और विचारों के निकटतम संपर्क में आये हो जिनमें संत और महात्मा, साधक और स्रष्टा चिंतनशील और भक्ति-निष्ठ, सभी प्रकार के लोग हैं। मूल बात यह है कि 'नवनीत' के प्रत्येक पृष्ठ में, उसकी प्रत्येक रचना

में, तुम्हारे इस बहु-आयामी व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। साथ ही, इस बात की भी, कि तुम इन सभी प्रभावों को चीरते हुए उनसे ऊपर उठते चले गये हो और वैसी ही असंलग्नता, निर्लिप्तता, समदृष्टि की भावना 'नवनीत' के ठोस लेखों में व साहित्यिक रचनाओं में समान रूप से दिखाई देती है।

'नवनीत' का अप्रैल का अंक जब मिला, तब तक मैं उसकी रचनाओं की विविधता और गहराई से इतना प्रभावित हो गया था कि जनवरी से अप्रैल तक के अंकों को, समस्त तन्मयता से, एक बार फिर पढ़ डाला और चाहा कि तुम्हें लिखूं कि विविध दृष्टिकोणों और विचार-धाराओं का कितना सुंदर और सारगर्भित समन्वय तुम इन अंकों में कर पाये हो। साहित्य के क्षेत्र में मैंने देखा, कि उनमें जहां हिंदी-साहित्य का अच्छा प्रतिनिधित्व है, बंगला, गुजराती, मराठी, कन्नड़ आदि के साहित्य की भी अच्छी झांकी उनमें मिल जाती है। अंग्रेजी में प्रकाशित साहित्य के लिए भी उसके द्वार उतने ही खुले हैं, जितने वेदों और उपनिषदों के उद्धरणों के लिए। परमार्थ और अध्यात्म से संबंध रखनेवाले लेख भी उतने ही हैं, जितने इहलौकिक घटनाओं पर आधारित। भक्ति का स्रोत भी उनमें झरता हुआ दिखाई देता है, और वासना का वासंती आकर्षण भी।

सचमुच तुम मार्क्स और अरविंद दोनों के ही विचारों का अतिक्रमण करने में सफ़ल हुए हो!

संक्षेप में कहा जा सकता है कि तुम्हारे महाकाव्यात्मक उपन्यास 'अनुत्तर योगी' के विविध खंडों में प्रतिबिंबित व्यक्तित्व की सबल झांकी 'नवनीत' के प्रत्येक अंक में मिलती है—और 'नवनीत' के पाठकों की यह क्या कम खुशक़िस्मती है! 'अनुत्तर योगी' के तीन खंड पढ़ जाने पर भी, मैं तुम्हें कुछ लिख नहीं पाया, इसका कारण मेरी वहीं अवशता है जिसने, 'ज्यां क्रिस्तोफ़' की गहराइयों में कई-कई बार डूब जाने पर भी उसके संबंध में कुछ लिखने से वंचित रखा।

साहित्य में मैं 'अनुत्तर योगी' की तुलना रोम्यां रोलां के उसी महाकाव्यात्मक उपन्यास से कर सकता हूं।

अप्रैल में तुम्हें विस्तृत पत्र लिखना चाहता था, तभी मेरा स्वास्थ्य बिगड़ गया और, जीवन में पहली बार, लगभग दो महीने तक बिगड़ा रहा। बीच में, श्यामाचरण दुबे की एक भाषण-माला के सिलसिले में श्रीमती सुलोचना रांगेय राघव से, जो उसी समय बंबई जाने वाली थीं, तुम्हारे संबंध में कुछ संस्मरणात्मक चर्चा हुई थी। उन्होंने तुम्हारे स्वास्थ्य के खराब होने की बात कही थी और यह भी कहा था कि तुम्हारे संबंध में उनसे मेरी जो बात हुई है उसे सुनकर तुम प्रसन्न होगे। आशा है, उस बातचीत की चर्चा

(शेषांश पृष्ठ ५५ पर)

क्रान्तदर्शी चिन्तक मुनिश्री रूपचन्द
का प्रगतिशील जीवन-दार्शनिक लेख

□

धर्म और यथार्थ

धर्म का संदेश प्रेम है, लेकिन इतिहास साक्षी है कि मानव-समाज में धर्म के नाम पर जितनी घृणा फैली, अत्याचार हुए, विखराव तथा पार्थक्यता को पोषण मिला, उतना अन्य किसी चीज़ के नाम पर नहीं हुआ। भारत जैसे महादेश का तो विभाजन ही धर्म के नाम पर हुआ था और आज तक ऐसा कोई वर्ष शायद ही बीता हो जब धर्म के नाम पर कहीं दंगे न हुए हों।

इसी कारण धर्म के प्रति लोकमानस का एक खंड शंकाशील हो गया है, कुछ अंशों में उसे अफीम मानने भी लगा है। दूसरी ओर अगणित संप्रदाय भी अपने को सच्चा धर्म तथा दूसरों को झूठा पाखंड घोषित करते जा रहे है। संप्रदाय तक सीमित रहने के कारण अभेद से दृष्टि भेद की ओर चली गयी, अतः आचारीय मूल्यों की, जो सब धर्मों में एक समान हैं, उपेक्षा की जाने लगी है, क्योंकि वे किसी एक संप्रदाय के प्रतीक नहीं बन सकते—इनकी व्यापकता और भिन्नता इसमें बाधक है तथा संप्रदाय की सत्ता और महत्ता का आधार ही दूसरे संप्रदायों से इसकी भिन्नता है जो उपासना के क्षेत्र में ही बनी रह सकती है।

चिंतन के इस धरातल पर उपासना-पक्ष को तो पोषण मिलता रहा है, लेकिन आचार-पक्ष एकदम उपेक्षित, लगभग परित्यक्त रह गया है और धार्मिकता वर्तमान लोकमानस में कहीं नहीं रह गयी है। आचार पक्ष से हीन धर्म अपने संप्रदायगत कर्मकांडों, उपासना पद्धतियों, विश्वासों और धारणाओं की रक्षा विज्ञान के साथ अपने बढ़ते संघर्ष में कर नहीं पा रहा है, अतः पराभूत हो रहा है। पीछे हट रहा है।

आज स्थिति यह है, हमारा सारा ध्यान जीवन के भौतिक निर्माण पर ही आकर ठहर गया है। जीवन के निर्माण की सारी रूपरेखा भौतिक समृद्धि के उपादानों पर आकर ठहरी है। आदमी के जीवन में सुख-सुविधा के जितने साधन हो सकते हैं, वे सब बनाये जा रहे हैं

लेकिन खुद आदमी को भीतर से अनबना ही छोड़ दिया गया है। परिणाम यह हुआ है कि विश्व-मानवता की देह तो हम वस्त्राभूषणों से अलंकृत कर रहे हैं, लेकिन उसमें प्राणों की प्रतिष्ठा नहीं हो पाने से वह मिस्र के प्राचीन ताबूतों में रखी ममी की तरह हो गया है। भौतिक समृद्धि मानवता का शरीर है, परंतु अध्यात्म उसकी आत्मा है। अध्यात्म-रहित भौतिक

समृद्धि आत्मा-विहीन शरीर के समान है जिसे हम बाहर से चाहे कितने ही मूल्यों से मंडित कर डालें, भीतर जिसका अपने आप में कोई भी मूल्य नहीं है।

आज धर्म के समक्ष सबसे बड़ा प्रश्न यही है कि क्या वह वर्तमान जीवन की हमारी समस्याओं का कोई समाधान दे सकता है? अगर वह यह नहीं कर सकता तो कोई बुद्धिजीवी उसकी सत्ता भीतर से स्वीकार नहीं कर सकेगा। यह प्रश्न किसी संप्रदाय विशेष का नहीं, बल्कि धर्म के पूरे अस्तित्व से जुड़ा हुआ है और इस पर इसी स्तर पर विचार किया जाना अपेक्षित है। संप्रदाय-परक चिंतन् के पास इस प्रश्न का कोई सर्व-सम्मत उत्तर नहीं है, अतः उसकी सत्ता बुद्धिजीवियों के लिए स्वीकार्य नहीं है। अगर धर्म के अस्तित्व के इस मूल प्रश्न को भी संप्रदाय-परक चिंतन् के आधार पर हल करने का प्रयास करेंगे तो संप्रदायों की जो नियति होने वाली है, वही धर्म की भी होगी और व्यक्ति धर्म को नकार देगा।

दूसरी दुर्भाग्यपरक बात यह रही कि धर्म विज्ञान के विरोध में खड़ा हो गया। यह स्थिति विचारणीय है। धर्म स्वयं भी अंतःकरण का विज्ञान ही है। हजारों वर्षों से धर्म ने व्यक्ति के अंतःस्थल की

गहराई में जाकर अनेक सत्य प्रकट किये और उसी आधार पर उसकी सत्ता मानवता के लिए सहस्राब्दियों तक जीवंत एवं प्रभावक रही। आज धर्म दो तरह से अपने ही हनन में लगा है। एक तो उसने भीतर का प्रयोगात्मक पक्ष छोड़ दिया है, दूसरे विज्ञान के विरोध में खड़ा हो गया है, जिसकी प्रक्रिया अनुसंधान व प्रयोग परक है और वही भीतरी तौर पर धर्म की प्रक्रिया रही है। विज्ञान के विरोध का अर्थ है प्रयोग, अनुसंधान तथा बौद्धिकता का विरोध जो धर्म की अपनी आधारशिला को ही भीतर से खोखला कर रहा है और उस पर से मानव-जाति की बौद्धिक आस्था को मिटा रहा है।

इस संदर्भ में धर्म के सार्वकालिक एवं सार्वभौमिक मूल्यों को उजागर करना सबसे अधिक ज़रूरी हो गया है। उन मूल्यों को छोड़कर आज जो उपासना पर ही ज़ोर दिया जा रहा है, यह चिंतनीय है, क्योंकि संप्रदायों और उनके भेद-प्रभेदों में धर्म की सत्ता बंदी होने के कारण धर्म निस्तेज हो गया है। संप्रदायों का आधार ही भेद तथा संघर्ष है। अतः उपासना को उसका आधार बनाकर विविध धर्म-संप्रदायों के माध्यम से धर्म अपने ही साथ संघर्ष में लगा है। मैं यह नहीं कहता कि संप्रदायों को विघटित कर देना चाहिये या उनके अंतर्गत आने वाले विविध उपासना-परक मूल्यों से कटकर अलग हो जाना चाहिये। पर इतना मैं अवश्य अपेक्षित मानता हूं कि उपासना-परक भेद-प्रभेदों के कायम रहते हुए भी सार्वकालिक, सार्वभौमिक एवं व्यापक आचारीय मूल्यों की भूमिका पर धर्म की सत्ता अभेद रूप से प्रतिष्ठापित रहे तथा सभी संप्रदाय उन व्यापक मूल्यों को धर्म के प्राण-तत्त्व मानकर उनके प्रचार-प्रसार पर बल देते हुए हुए संकीर्ण भेदबुद्धि से ऊपर उठकर मानवता के लिए सबल सहारा बनने को तत्पर रहें।

इसमें कोई संदेह नहीं कि आज विश्व जिस दारुणमय व प्रलंयकर विनाश के कगार पर पहुंच गया है, उससे बचाकर उसे वापिस सुरक्षित, साम्यमय व संतुलित जीवन का पथ दिखलाने का काम धर्म ही कर सकता है। वह कौन-सा धर्म हो सकता है यह एक विचारणीय प्रश्न है। मेरा मंतव्य है कि यह काम कोई विशेष धर्म—चाहे वह ईसाई हो या मुसलमान, जैन हो या बौद्ध, हिंदू हो या पारसी नहीं कर सकता। निर्विशेष धर्म, जो सब धर्मों में व्यापक है ही मानवता को भावी विनाश से बचाने में समर्थ हो सकता है। अगर धर्म में विश्वास रखने वाले सभी संप्रदायों ने इस निर्विशेष धर्म को आधार बनाकर विश्व को व्यापक क्रांति का रूप दिया तो मानवता बचायी जा सकती है। अन्यथा इन संप्रदायों का भविष्य तो संकट में है ही, स्वयं धर्म का भविष्य भी संदेहास्पद हो जायेगा।

इस विचार में किसी भी संप्रदाय

विशेष के दूसरों में विलयन की बात नहीं है। मेरा विचार यही है कि सभी धर्म-संप्रदायों के प्रति परस्पर सम्मान व सद्-भावना का भाव बढ़े तथा उपासना-परक भेदों पर आधारित कटुता समाप्त हो। इससे सभी धर्म-संप्रदायों की बिखरी हुई शक्तियां मानव धर्म की प्रतिष्ठा में लगेंगी जो कि हर धर्म का चरम लक्ष्य है। इससे सभी धर्म-संप्रदायों को अपने-अपने अस्तित्व की सार्थकता मिलेगी और धर्म की सत्ता को लोकजीवन में सबल आधार मिलेगा तथा मानवता का कल्याण होगा।

आज जो हर संप्रदाय के आराधकों में उससे बाहर के लोगों के प्रति परायेपन की भावना है, वह मिटे, यह भी अपेक्षित है। यह भावना हर संप्रदाय द्वारा प्रतिष्ठित अपने ही आचारीय प्रतिमानों का उल्लंघन भी है। ईसा मसीह ने जब कहा—'अपने पड़ौसी को प्यार करो' तो उनका आशय ईसाई संप्रदाय के लोगों तक सीमित नहीं था। कोई भी व्यक्ति, किसी भी धर्म-संप्रदाय का अनुयायी पड़ौसी हो सकता है।

बुद्ध व महावीर ने जो करुणा व अहिंसा का संदेश दिया था, वह मानव मात्र ही नहीं, अपितु जीवन मात्र के प्रति था। हमने अपने संकीर्ण दायरों में अपने प्रभु की वाणी को बांध दिया है। अपेक्षित यह है कि वह वाणी व्यापक परिवेश में पुनः प्रकट होकर विश्व-मानवता के सामने अपनी समग्र विराटता में मुखरित हो। तब उसमें वर्तमान जीवन के यथार्थ की गुत्थियों को सुलझाने की क्षमता प्रकट हो सकती है, और तभी धर्म मानवता का रक्षक बन सकता है।

□

[पृष्ठ ५१ का शेषांश]

उन्होंने तुमसे की होगी। उसके बाद मई और जून के अंक भी आ गये। पर, मेरे पत्र लिखने की बारी नहीं आयी। 'नवनीत' के किसी भी अंक में मुझे कोई शिथिलता नज़र नहीं आयी। लगता यह है कि तुम उसी अध्यवसाय के साथ, अपने स्वास्थ्य की चिंता न करते हुए, 'नवनीत' के संपादन में जुटे हुए हो जिससे तुमने 'अनुत्तर योगी' की रचना की है। पर, शारीरिक क्षमता की अपनी सीमाएं हैं, और बराबर उनका अतिक्रमण करते रहने से स्वास्थ्य को ख़तरा तो बना ही रहता है। तुम्हारी परिस्थितियों से मैं परिचित हूं, और कार्य के वेग को आसानी से तुम नियंत्रित कर सकोगे, इसका विश्वास मुझे नहीं है; इस कारण यह कामना भर कर सकता हूं कि वह शक्ति, जो तुम्हें निरंतर प्रेरणा और साहस देती रही है, इस कठिन परीक्षा में भी तुम्हें विजयी बनाये।

अनंत शुभ-कामनाओं के साथ;

तुम्हारा अपना,
शान्तिप्रसाद वर्मा

□

डा. प्रभाकर माचवे का उद्‌बोधक यात्रा-लेख

□

जापान देखें : उससे क्या सीखें

जापान, थाईलैंड, हांगकांग की यात्रा नवंबर १९८० में हुई थी, प्रायः एक मास। उसे भी अब तेरह मास हो गये। कुछ संस्मरण, रेखाचित्र, 'दिनमान' में जून १९८१ में छपे हैं। मेरी 'गांधीजी की आज के भारत में सार्थकता' पर लंबी बातचीत, मेरे 'हीरोशिमा' के स्केच के साथ जापानी पत्रिका 'सर्वोदय' के नवीन अंक में, जापानी भाषा में छपी है। जो दो सौ 'हाइकू' मैंने वहां अनुवादित किये थे, उनमें से कुछ डा. सत्यभूषण वर्मा ने 'हाइकू' पत्रिका में दो अंकों में छापे हैं, वे सबको मूल देवनागरी में लिखकर, एक पूरी पुस्तक बना देना चाहते हैं। डा. सत्यभूषण वर्मा जवाहरलाल नेहरू युनिवर्सिटी में जापानी भाषा के प्राचार्य हैं। हाल में उन्हें 'हाइकू और हिन्दी कविता' पर हिन्दी में पी-एच. डी. मिली है। यह सब तथ्य केवल उन पाठकों के लिए जो मेरे बारे में अधिक जानते न हों-यानी मेरे हाल की दैहिक और मानसिक यात्राओं के बारे में। 'नवनीत' के मई १९८१ के अंक में मित्र वीरेन्द्रकुमार जैन ने एक चिट्ठीनुमा लेख 'प्रेम और कर्म' भी छापा, जिसमें जापान का जिक्र है।

मैंने जापान पर बहुत पढ़ रखा था मराठी, गुजराती, हिन्दी, बंगाली, अंग्रेजी में भारतीय प्रवासियों की और अनुवादित पचासों पुस्तकें। 'पचास' मैं विनय से ही लिख रहा हूं—पढ़ी अधिक हैं। जापान में सबसे पहली चीज़ कोई सीखे, तो विनय। इतने बड़े विद्वान् नाकामुरा हों या नारा हों, दोई हों या मेईदा हों, इतने चुप्पे, इतने मितभाषी, इतने आत्म-प्रेषणीयता के आग्रह से दूर! कभी कोई वाक्य 'मैं' या 'हम' से शुरू नहीं करेगा। हमारे यहां इससे उल्टे हैं : कितना बड़बोलापन-बड़े से छोटे तक। बड़े लोग स्मृतियां लिखेंगे तो औरों के बदले अपनी ही बात ज्यादा करेंगे। छोटों का तो कहना ही क्या! वे नित्य आत्म-प्रचार में ही विरत हैं। (जबकि उस 'आत्म' में 'अनात्म' ही अधिक होता है।)

दूसरी बड़ी चीज़ जो जापान में मैंने सीखी वह प्रकृति प्रेम है। प्रोद्योगिकी और तंत्र-शिक्षक (टेकनोलॉजी) में वे इतने आगे बढ़े हुए हैं—कंप्यूटर से, सैकंडों में बड़े-बड़े होटलों में, बिल खटाखट तैयार होते हैं, चुकते किये जाते हैं। फिर भी जीवन उनका 'यांत्रिक' उस अर्थ में नहीं बना है कि मानव और प्रकृति के संबंध वे भूल गये हों। घर-घर में छोटे-छोटे वृक्षों के 'बोन्साई उद्यान' हैं। पुष्प-प्रदर्शनियां होती रहती हैं। बच्चे प्राकृतिक सैर पर जाते रहते हैं। जापानी पर्वतारोही भारत के हिमालय की चोटियां चढ़ते हैं। समुद्र के तल की सर्वोत्तम फोटोग्राफी जापान की मारफत हमें मिलती है। फूल और तितली, पत्ते और कोहरे, ओस और घास की पत्ती, हिमकण और चेरी वृक्ष अब भी कविता के प्रतिमान हैं। इधर मैंने दस साल से भारतीय कविता के आधुनिकतम प्रयोगधर्मियों की शाब्दिक कसरतें देखी हैं—'कमल' या 'पद्म' का उल्लेख शायद बंगाल में कहीं कभार हो, शेष तो 'कैक्टस-फ्लावर' (मराठी की एक कवयित्री अनुराधा पोतदार का काव्य संग्रह) के पीछे पड़े हुए हैं। क्या हो गया हमें? या तो हम वृक्षों में 'गायत्री मंत्र' खोजते हैं, या अपनी सारी मन की कुदूरत उस हरियाली पर क्षण भर के लिए उंडेल देते हैं। प्रकृति हमारे लिए 'वि' कृति क्यों बन गयी?

मिचीको नाकादा

तीसरी चीज़ जो मैंने जापानियों में देखी—और पहले योरप में, जर्मनों में, नार्वे-निवासियों में, इटली में लोगों में भी खूब देखा था—यह एक जीवंत परंपरा के प्रति सश्रद्ध आस्था है। वैसे तो अंधविश्वास हमारे देश में कम नहीं हैं। तीन चौथाई जनसंख्या अपढ़, कुपढ़, उसी में पल-बढ़ रही है, एक पंचमांश भारत देश झुग्गी, झोपड़पट्टी, गंदी बस्ती, 'स्लम' में बसता है। वहां कैसी परंपरा और कैसी 'नयता'? वहां तो ज़िंदा रहने की कशमकश मात्र है 'येनकेनप्रकारेण' पैसा पूजा जा रहा है, पैसा कमाया कि गंवाया—ज़हरीली शराब में, हातभट्टी में, जुए में, और अन्य व्यसनों में। हमने जापान में एक भी आदमी शराब से लड़खड़ाता हुआ सड़क पर चलता नहीं देखा, न शराब ज्यादा पीकर बदहवास कार ड्राइव करके दुर्घटना करता हुआ। यह नहीं कि जापान कोई शुद्धि-वादी देश है और सभी

इस लेख के सारे रेखा-चित्र स्वयं लेखक द्वारा
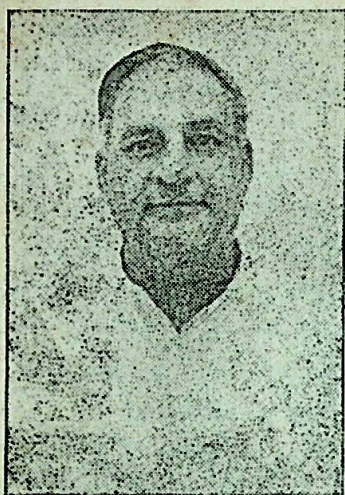
डॉ. प्रभाकर माचवे

मोरारजी के अनुयायी वहां बसते हों, पर हर दूसरे पन्ने पर शराब का बखान करने वाले लेखक भी वहां नहीं हैं, न खलासीटोला में 'खलास' होने वाली तरुण प्रतिभा (?) एं।

जब मैं कहता हूं कि परंपरा का प्रभाव उन पर स्वस्थ रूप से है तो उसका अर्थ है कि एक तरह का संस्कार और शील उन्होंने विकसित किया है। उनका 'कल्चर' आयातित नहीं है—चाहे 'कल्चर्ड' मोतियों के सबसे बड़े व्यापारी वे हों। उनकी रचना-धर्मिता का स्रोत कोई विदेश से उधार लिया हुआ 'वाद' नहीं है, न कोई खास 'अंदाज़' है, जो उन्होंने बतौर 'मैनरिज़्म' के पाला-पोसा हो। उनके लिए पश्चिम की कई चीज़ें अग्राह्य नहीं हैं—पर वे उनसे आतंकित नहीं हैं। भारत में तो जो अच्छी अंग्रेज़ी ज़रा-सा लिख-बोल लेता है, उसका भाव बढ़ जाता है। अंग्रेज़ी में लेख लिखो, तो पारिश्रमिक अधिक, हिन्दी में उतनी ही मेहनत करो, दाम आधे! ऐसा कोई हीनता-बोध जापान ने पश्चिम के लिए नहीं पाला। वे आत्म-स्थ हैं। इसी से वे तटस्थ भी हैं। हम तो सब 'पर-स्थ' और चिर परास्त हैं!

जापान की यात्रा में एक बात का पुनः अहसास हुआ कि भारत के प्रति, प्राचीन भारत के प्रति, उन्हें बहुत अधिक आदर है। बुद्ध यहीं के थे। कई दर्शन-संबंधी पुस्तकों के जापानियों ने अनुवाद किये। गांधी उनके लिए अजूबा नहीं हैं। उनके कागावा थे। गांधी उनके लिए, आज के भारतीयों की तरह संदर्भ च्युत नहीं हैं। रवीन्द्रनाथ उनके लिए प्रणम्य हैं। वे ओकाकुरा के मित्र थे। उन्हें इस बात पर फख्र है कि

उनके आयोमा यहां आये और उनके काष्ठ उकेरन शिल्प की नन्दलाल बसु और उनके पुत्रों ने शिक्षा ली।

मेरी अनेक विद्वानों से भेंट हुई, जो प्राचीन भारत की कला, संस्कृति साहित्य, दर्शन आदि बातों में विशेष रस लेते थे।

परंतु उसी मात्रा में आधुनिक भारत के प्रति उन्हें विशेष रुचि नहीं जान पड़ी।

कोकी नागा

बंबई के समुद्र तट से तेल निकालने या मध्यप्रदेश के आदिवासी अंचल से खनिज ले जाने में उनकी रुचि थी, केरल में मत्स्य-उत्पादन में सहायता करने या तत्सम औद्योगिक मामलों में सहयोग करने में वहां के वैज्ञानिक, उद्योगपति, व्यापारी अवश्य रुचि रखते होंगे। पर आधुनिक भारत के संस्कृतिक मामलों में सारे दक्षिण-पूर्वी एशिया में ही मुझे बहुत कम दिलचस्पी दिखायी दी। सन ६३ में मैं श्रीलंका गया था, सन ७२ में बांगला देश और हाल में जापान, थाइलैंड आदि देशों में—इस बीच वहां से आने वाले लेखकों, कलाविदों से भी मिलना-जुलना होता रहा। पता यह लगा कि यह उदासीनता दोनों ओर से बराबर है। अपवाद हैं: काकासाहब कालेलकर अनेक बार जापान गये, या इसी तरह राम-कथा का अध्ययन करने वाले विद्वान और संगीत-नृत्य-नाटच के परंपरित शैली के अध्येता दक्षिण पूर्वी एशिया में भारत से जाते रहे हैं, किंतु कितने लोग मार्टिन विक्रमसिंघे या डा. शरच्चंद्र (श्रीलंका के उपन्यासकार) की रचनाओं से परिचित हैं? बर्मा, अफगानिस्तान, लाओस, स्याम के साहित्य के बारे में हम क्या जानते हैं?

जापान की कलाप्रियता उनके जीवन के कण-कण में, पोर-पोर में संव्याप्त है। गुड़िया हो या कागज के बक्स, छपाई हो या मकान के भीतर की सज्जा, कपड़ों के रंग हों या पुस्तकों के कवर, चायदानियां हों या लकड़ी के चम्मच-कड़छियां, बांस की बनी चीजें हों या वाद्य—जहां भी मैंने देखा एक करीने से, सलीके से, अनुशासित सौंदर्यासक्त मानव का संस्पर्श पाया। यंत्र-सभ्यता ने उन्हें यांत्रिक इतना अधिक नहीं बना दिया है कि अमेरिका की तरह अतिसमृद्धि, अति-

[शेषांश पृष्ठ ७१ पर]

सत्येन्द्र सक्सेना का कलाकार-दर्शन

□

उस्ताद हबीबउद्दीन खां

तबला-वादन भी ललित कला है। पर, जब तबला शब्द कानों में गूजता है या 'जोड़ी' को नज़र चूमती है तो मेरे शरीर में सिहरन का सैलाब नहीं उठता, मस्तिष्क में सुकून अंगड़ाई नहीं लेता, नज़र सुडौलता नहीं अपनाती, विचारों में पवित्रता जज़्ब नहीं होती। मेरी आत्मा परम-आनंद के सागर में गोते नहीं खाती। मेरा तन-मन पाशवी-वृत्ति नहीं छोड़ता। मेरा व्यक्तित्व इंसानी आवरण नहीं ओढ़ता और मैं धरती से ऊपर नहीं उठ पाता ... मेरा दुर्भाग्य !
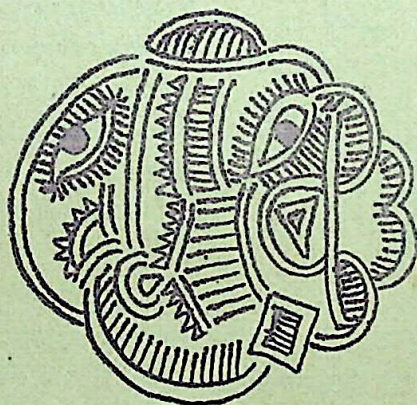
पर, कृपया तबला-वादकों को भी न बख्शें। उन्हें अवश्य निरखे-परखें। महाराज, उस्ताद आदि पदवियों के समक्ष सिर न झुकायें। कुर्ते पर कढ़े बेल-बूटों में न उलझें। होठों पर पान की लाली, माथे पर तिलक की दिव्यता, हाव-भाव में बूटी-दारू की रंगीनी से प्रभावित न हों। बादामी ग़िज़ा और गधा रियाज़ के पहलवानी प्रदर्शन से न घबरायें। घराने का नाम सुनकर कान को हाथ न लगायें। तबलिये को ज़बरदस्ती दाद देकर उसका भविष्य न बिगाड़े।

और, कुछ प्रश्नों से अवश्य उलझते रहें। क्या 'जोड़ी' को टांगों में दबाकर उस पर चढ बैठना, साधक का सही आसन है ? क्या 'पुड़ी' को मरी खाल समझ उसे उधेड़ना ललित कला है ? क्या 'लय' को अपने अधीन मान उससे बेतुकी-बेताली छेड़छाड़ करना खरा गणित है ? क्या एक-दो 'बोल' उंगलियों में फंसाकर फुर्रफुर्र करना 'संपूर्ण' तबला-वादन है ? क्या 'सम' से रवाना हो 'सम' आ गिरना किसी दैवीशक्ति का प्रताप है ? क्या बिना सबक सीखे पांडित्य झाड़ना ईमानदारी है ?

यदि तबला-वादन का आनंद लेना

चाहें तो, 'पुड़ी' पर वादक के हाथ का रखाव देखें । तबला सुर में मिला है या नहीं, अंदाज़ा लगायें। 'किनार' में सुर सुनें। 'बोल' का सही निकास समझें । 'तबला' और 'डग्गा' की अभिन्नता अनुभव करें । 'पेशकार' की अदाओं में नफ़ासत खोजें । 'कायदा' की बोल-बांट में सुंदर हिसाब पढ़ें । 'गत-परन' की बंदिश में शायर की सुडौल कल्पना निहारें। 'रेला-रौं' की रवानगी में अपना अस्तित्व वहता महसूस करें । तवलिये की उंगलियों से टपकता रस चखें... तो वादक, कलाकार और वादन, ललित कला सिद्ध हो सकेगा । .

उस्ताद हबीबउद्दीन खां

एक मृत तबला-वादक को जीवित करने का प्रयत्न कर रहा हूं, क्योंकि वह जीते जी तो उस 'तख्त' को हासिल न कर सका जिस पर उसका जन्मसिद्ध अधिकार था । सुलझे संगीतज्ञ और समझदार संयोजक उसे 'मंच' से दूर ढकेलने में जी-जान से प्रयत्नशील रहे और अपनी सफलता पर मुस्कुराते भी रहे। कूटनीति, कला पर ऐसी हावी रही कि हबीबउद्दीन मृत्यु-शैया पर भी भूखा ही सोया।

उसकी अपनी कमज़ोरियां थीं । वह किसी समकालीन तबला-वादक की प्रतिभा से प्रभावित नहीं हुआ। मंच पर सवार हो, दंगल मारना उसे विरासत में मिला था, इसलिए वह मजबूर था। उसने तबलिये का दर्जा, प्रमुख-प्रदर्शक से नीचा स्वीकारना, आत्मग्लानि समझा। स्वार्थपूर्ति के लिए चरण-बोसी, उसका सिद्धांत न था। उसका अपना व्यक्तित्व था ।
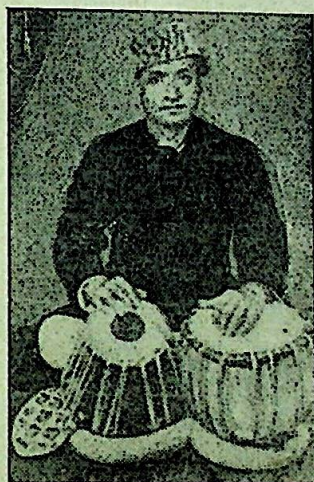
हबीबउद्दीन अनपढ़ अवश्य था पर उसमें तथाकथित बुद्धि-जीवियों जैसा दिखावा न था। वह दुहरे व्यक्तित्व का शिकार न था। दिखावटी सात्विकता का कोरापन उसकी आत्मा को छीलता था। वह आत्म-श्लाघा हीन समझता था। निंदा की उसे चिंता न थी, दाद का वह भूखा न था। वह झूठी नम्रता दिखाने में असमर्थ था। उसने कभी सांसारिक उपलब्धियों से विरक्तता जताने का ढोंग नहीं रचा....हबीबउद्दीन सच्चा कलाकार जो था !

हबीबउद्दीन की कला बेजोड़ थी... एक कमसिन की-सी कोमलता लिये उसका हाथ जब 'पुड़ी' को चूमता था तो फुलझड़ियां-सी छूटने लगती थीं। हबीब-

उद्दीन उंगलियों के टिप से तबला बजाता था, इसलिए आवाज़ गोल निकलती थी और 'बोल' का सही रूप दिखायी देता था। 'पुड़ी' पर उसकी उंगलियों का चलन गोलाकार होता था इसलिए 'वादन' बहुत सरल प्रतीत होता था। वह 'अक्षर' के अनुसार 'बोल' को कम-ज़्यादा दबाता था, इसलिए सुनने में आनन्द आता था। 'बोल' इतना साफ और जानदार निकलता-बजता था कि ऐसा आभास होता था कि तबला उंगलियों से नहीं, फौलादी छड़ों से बज रहा है। और 'लय' की गति जितनी बढ़ती थी उतना ही 'बोल' का शबाब निखरता आता था। हबीबउद्दीन 'बोल' बजाता नहीं था बल्कि 'पुड़ी' पर लिखता चला जाता था। उसका कहना था कि 'पुड़ी' पर हर 'बोल' बजाने का एक निश्चित स्थान है। इसलिए हबीबउद्दीन की 'चांट' की लौ में सुर गूंजता था। 'मैदान' में लड़ती 'धिन' में सांस उभरती थी और 'स्याही' पर कटती 'तिटकिट' में बताशों की लड़ें फूटती सुनायी देती थीं। हबीबउद्दीन के दायें और बायें तबले में ग़ज़ब का संतुलन था। दायां यदि कूकता था तो बायां हुंकारता था। और दायें-बायें की यह रसीली मोहब्बत श्रोताओं पर नशा छिड़कती रहती थी।

मैंने हबीबउद्दीन के तबला-वादन में लालित्य का नशा पिया है... विस्तार को सुडौल आकार अपनाते देखा है। गहराई को बूंद में सिमटते अनुभव किया है। भव्यता को पुख्ता रूप धारण करते निहा है। शृंगार को मुस्कुराता-लजाता चू है। गूंज को क्षितिज में लय होते सुना है शास्त्रीय गांभीर्य और मासूम चंचलता आनंद लिया है। वैरागी सादगी शोख रंगीनी को छुआ है। नफ़ासत नज़ाक़त की लज्ज़त चखी है। मैंने हबी उद्दीन का तबला सुना है।

उत्तरप्रदेश के ज़िला मेरठ में अजरा नाम का एक छोटा-सा गांव है। हबी उद्दीन वहीं का 'बाज' बजाता था। अ राड़ा घराने की एक विशेष अकड़ है, अनोखी अदा है। तबला-वादन के निराले ढंग में 'लय' का बड़ा मज़ा है। 'बंदिश' आड़ में या झोल देकर बज जाती है। इसलिए समझदार श्रोता दाद देता नहीं अघाता पर 'लहरा' ब वाले की जान मुसीबत में अवश्य रहती उसके लिए 'लय' की गति को सं रखना बेहद कठिन हो जाता है। अजर का तबला छह उंगलियों से बजता इसलिए 'बोल' का सही उंगली से नि जानना अति आवश्यक है वरना संभ अजराड़ा-बाज द्रुत गति में बजाते वादक की उंगलियों के जोड़ ढीले जायें।

अजराड़ा घराने के मुंशियों ने 'अक्षर' का 'क़ायदा' बनाया है जैसे, तिट, तिटकिट, कत्त, धिनगिन, दि गिन, घिड़नग' आदि। इसलिए 'अक्षर' का कायदा बजता है उसी

के 'वल' खोले-समेटे जाते हैं। 'वंदिश' में ऊटपटांग 'बोल' का प्रयोग, अजराड़ा-वाज में वर्जित है। दायें और वायें तवले में संतुलन वनाये रखना इस घराने की विशेषता है। 'वायां' पार्श्व-भूमि प्रदान करता है और 'दायें' पर आकर्षक आकृतियां खिचती-घुलती-मिटती रहती हैं।

पाखंडी समाज में तिरस्कृत तवायफ़ों का, सरस्वती के साधकों के जीवन में एक विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। हवीव्र-उद्दीन भी इस वरदान का शिकार था। उत्तरप्रदेश की प्रसिद्ध मंडी हापुड़ की आवादी वेगम, बीबू पर जी-जान से फिदा थीं.. फिर तबला रसीला क्यों न बजता! हवीव को सही ग़िज़ा मिली तो वह तन-मन से रियाज़ में जुट गया। इस तपस्या का फल था कि हवीवउद्दीन 'जोड़ी' लेकर जिस महफ़िल में बैठा हाय-हाय मचा दी।

कवूतरवाज़ी के शौकीन उस्ताद शंभू खां ने अपने बेटे हवीव से एक अजीव ढंग से रियाज़ करवाया। उनका कबूतर जव तक 'उड़ान' पर से लौट न आता हवीव 'धा धिन धिन धा, धा धिन धिन धा' से सुलटता रहता। हवीव यदि पलभर के लिए भी हल्का पड़ जाता तो वालिद का डंडा उस पर 'धा धिन धिन धा' शुरू हो जाता। और कभी-कभी 'गुटुर-गूं' चौबीस घंटों के वाद सुनायी पड़ती ... बेचारा हवीव!

हवीवउद्दीन खां ने अजराड़ा-बाज अपने वालिद उस्ताद शंभू खां से, दिल्ली-बाज जनाव उस्ताद नत्थू खां साहब से और पूरब-वाज ललियाने के उस्ताद मुनीर खां से सीखा। इन उस्तादों से मिली तालीम का चमत्कार था कि हवीबउद्दीन खां के सामने दूसरे तवलिये बच्चे से लगते थे। किसी की हिम्मत न होती थी कि हवीव-उद्दीन खां से नज़र मिला ले। अक्सर, तवलियों को उनके पैर छूते ही देखा गया। फर्रुखावाद के उस्ताद अमीर हुसेन खां साहब का कहना था : 'हवीवउद्दीन जैसे गट्टेवाला तवलिया, अल्लाह कभी बरसों में बनाकर भेज देता है।' हवीवउद्दीन खां अक्सर श्री महेश्वरी प्रसाद, सैशंस जज का ज़िक्र करते थे। जज साहव की सिफ़ा-रिश से ही हवीवउद्दीन खां को 'मंच' मिला था।

बंगाली कलकत्ता हवीवउद्दीन के पीछे पागल था। हवीवउद्दीन बंगाल में घुसता तो उसकी जय के नारे गूंजने लगते। एक बार कलकत्ते में लाला बाबू की कांफ्रेंस में हवीवउद्दीन एक प्रख्यात सितार-वादक के साथ तवला बजा रहा था। संगति इतनी सही और खूबसूरत हो रही थी कि श्रोता चिल्लाने लगे : 'सितार बंद करो, तवला ही वजने दो।' हवीवउद्दीन स्वतंत्र-वादन और साथ-संगति दोनों में ही बेजोड़ था।

हवीवउद्दीन खां से संवंधित कुछ चट-पटी यादें सदा गुदगुदाती रहेंगी :

अपने साथ 'लहरा' बजाने वाले सारंगी-वादक का जिससे परिचय करवाया यही

कहा, 'मियां, चचा जैसा लयदार सारंगिया न पैदा हुआ और न होगा।' और जब मंच पर तबला बजाने बैठे तो बोले, 'हज़रात, आप लोगों को अजराड़ा सुनाने बंबई आया हूं, पर आपकी खिदमत तभी कर सकूंगा जब चचा का मुझ पर करम होगा और ये लय संभाले रहेंगे।'

राजधानी में एक गायक के साथ एक सज्जन 'ठेका' लगा रहे थे। हवीबउद्दीन खां से उनका वादन सुना-सहा न गया। और जब पूछने पर पता चला कि उस तबलिये का नाम फ़कीरचंद है तो हवी-बउद्दीन खां तुरंत बोले, 'मियां, चंद रहने दो फ़कीर ही काफी है।'

एक सितारवादक ने एक मुश्किल ताल में 'गत' बजानी शुरू कर दी। 'ताल' तुरंत हवीबउद्दीन खां के समझ में न आयी तो वह 'गत' के अंदाज़ से संगति करने लगे। और जब सितारिये ने 'ठेका' बजाने का आग्रह किया तो हवीबउद्दीन खां बोले, 'मियां ठेका लगवाना था तो यहीं कल-कत्ते से ही किसी तबलिये को पकड़ लेते। क्या हवीबउद्दीन को मेरठ से ठेका लगाने के लिए बुलाया है।'

विश्वविद्यालय के छात्रों से भरी मह-फ़िल में एक प्रसिद्ध सरोदवादक, आं बंद किये 'आलाप' द्वारा राग का खड़ा करने के प्रयत्न में जुटे हुए थे। हवी उद्दीन खां में इतना धीरज कहां कि 'गत' की प्रतीक्षा में हाथ बांधे चुपचा बैठे रहते। वह 'आलाप' की संगति क लगे। सरोदिये ने उद्घोषक महोदय द्वा हवीबउद्दीन खां से 'शांत' रहने की प्रार्थ की और सरोद बजाने की आज्ञा मांगी। हवीबउद्दीन खां बोले, 'मियां, मैंने इसके हाथ पकड़ र हैं, यह बजाता नहीं, इसे आते क्या है जो ब वेगा।'

एक शाम हवी उद्दीन अपने एक शागिद के साथ मे के बेगम पुल तफरीह करने नि रास्ते में शागिर्द एक मित्र मिल और उन्होंने 'उस्ताद' को पान खाने न्योता दे दिया। उस्ताद तंबोली से बो 'मियां पंडत, बारह पान कलकतिया, पांच कप्सटान के पैकेट भी बांध देना फिर मित्र और शागिद में गाली-गलौ स्वाभाविक ही थी।

उस्ताद ने फ़रमाइश की तो शागिर्द चंद कलाई-घड़ियां उनके हुजूर में पेश

(शेषांश पृष्ठ ८३ पर)

संथाल परगने के आदिवासी जीवन पर
आधारित शशिकर की हिंदी कहानी

□

पांचवां पति

रांदो नया-नया शहर आया था। दिन भर काम करने के बाद उसके सामने सवाल आया कि वह रात कहां गुजारे? उसने यह सुन रखा था कि शहरों में होटल होते हैं, लेकिन होटल में ठहरने के पैसे वह कहां से लायेगा? किसी ने कहा—धर्मशाला में जाकर टिको। वह सड़कें बदलता रहा पर धर्मशाला नहीं मिली। अब वह राह चलते लोगों को देख रहा था, किससे पूछे?

ऐसे में बाज़ार करके लौट रही जानो की नजर रांदो पर पड़ी। रांदो ने भी देखा जानो को। जानो यह समझ गयी यह आदमी उसी की तरह जंगल से आया है। रांदो ने भी यही अंदाज़ लिया था जानो के बारे में, लेकिन जानो के लिबास से

अंदाज़ विश्वास नहीं बन रहा था । जानो ने ही पहल की ।

'धर्मशाला क्यों ?... मेरे घर चलो। इस शहर के अंत में है । हड़िया भी पिलाऊंगी ।'

'हड़िया' चावल से बना मादक पेय, जो आदिवासियों में प्रचलित है, का नाम सुनते ही रांदो के मन में अपनत्व जागा और वह जानो के साथ हो लिया ।

तब से रांदो जानो के यहां रहता है । जानो का घर रांदो का घर है ।

और दिनों की तरह आज भी रांदो शाम को अपने इस घर लौटा, लेकिन और दिनों की तरह जानो ने मुस्कराकर रांदो का स्वागत नहीं किया ।

'क्या बात है ...खाना ?'

'खाना नहीं बना है, तुम बना लो ।' बदले हुए तेवर में जानो ने जवाब दिया ।

'ठीक है ... ।' रांदो ने बात सहजता से ली ।

'ठीक है नहीं .. जल्दी बनाओ ।' जानो असहज हो उठी थी ।

'मुझे भूख लगी है,'—जैसे बिजली कड़की हो और रांदो भौचक रह गया ।

'तबीयत खराब है क्या ?'

इस आत्मीयता के जुमले को जानो ने अपनी तेज़ तर्रार ज़बान से धुनकर रख दिया । 'मुझसे सवाल करता है ? इतनी हिम्मत ! तू तो पांचवां पति है । पहले के चार पतियों ने कभी मेरे सामने ज़ुबान नहीं खोली... समझा ।'

अब तक रांदो का भी पारा चढ़ चु
था, उसने चटाख-खटाख दो तमाचे उ
गालों पर जड़ दिये । चोट करारी थी
जानो गरजने के बजाय आंसुओं में
पड़ी । जानो को तमाचे मारकर भी
संतोष नहीं हुआ, उसने औरतों के
जो सबसे भद्दी गाली होती है उसे दे डा

जानो फुफकार उठी — 'बुढ़िया क
है । साला ! सड़क का कुत्ता ! बीस
पहले मैं जवान थी, कल तक जवान थी
हरामी । निकल जा ...'

जानो के 'निकल जा' कहने से प
रांदो निकल चुका था ।

०००

जानो जानती है, रात होते ही
लौट आयेगा । वह मर्दों की इस कमज़ो
से अच्छी तरह परिचित है, किस
बिस्तर पर आते ही मर्दों की बित्ते भर
जीभ बाहर चली आती है । और-
और उस वक्त कहो तो औरत की
टोपी की जगह रख लेते हैं । उसे अपने
चार पतियों का अनुभव जो है।

वह आज खाना नहीं पकायेगी।
सकता है रांदो होटल से खाना लेता आ
जाते-जाते रांदो की नज़र मदिरा
बोतल पर ज़रूर पड़ी होगी ...फि
वह सरदारजी के होटल से भूना हुआ
लायेगा ही ।

भूने हुए मांस का ख्याल आते ही
का क्रोध कमज़ोर पड़ता गया और
रांदो के लौटने का इंतज़ार बैठे

करने लगी।

रांदो उस रात नहीं लौटा। दूसरे दिन भी दिखायी नहीं पड़ा। दूसरी रात भी नदारद। तीसरे और चौथे दिन भी गायब रहा और न चौथी रात को ही लौटा। जानो बहुत उदास हो गयी, इस दरमियान उसने कई बार अपने शरीर पर गौर किया। क्या वह सचमुच बुढ़िया हो गयी है?

सप्ताह में एक दिन वह इस छोटे से शहर से बड़े शहर में बीड़ियां बेचने जाती है। बीस पान की दुकानें तय कर रखी हैं उसने। सुलेमान, मेहंदी सिंह, फर्नांडीज़ सभी तो जानो के आने का इंतज़ार शिद्दत से करते हैं।

सुलेमान तो बस यही कहता है—'तुम अपनी बीड़ियों से भी अच्छी हो और मज़ेदार भी।' और मेहंदी सिंह तो हर क्षण उस पर मर मिटता, कहता—'जानेमन, मैं तो तुमसे मिलने के लिए ही तुम्हारी बीड़ियां खरीदता हूं। वरना . . .'

यह फर्नांडीज़ तो बस बावला है। उसे देखते ही एक लंबी सांस खींचकर कहता—'हाय! क्या जवानी को बांध रखा है . .'

जानो का इन तीनों को बस यही उत्तर—'चल, बात मत बना। पैसे निकाल।'

जानो को लगता वह किसी अभिनेत्री से कम नहीं है। हर अगली बार वह अधिक आकर्षक बनने की कोशिश करती। इस आकर्षण में वह जितनी भी बीड़ियां ले जाती सभी बिक जातीं।

बीड़ियों का धंधा उसने तब आरंभ किया था, जब जसूभाई उसके जीवन में आया था। जसूभाई की प्रसन्नता के लिए जानो ने अपनी एक मात्र बिटिया जांबी, जो अभी दस वर्ष की थी, को कलकत्ते के सेठ के यहां काम में लगा दिया था। इस बिटिया का अब कहीं पता नहीं। जसूभाई का स्मरण होते ही जानो का मुंह कड़ुआ हो गया। जसूभाई उसके जीवन में आया तो ज़रूर, लेकिन तोते की तरह वह उड़ गया था। वह उसका तीसरा पति था।

पहला पति था मांगूराम। मांगूराम उसके गांव के बगल का था। जानो ने जब जवानी की दहलीज़ पर कदम भी नहीं रखा था कि वह मांगूराम को जानने लगी थी। मांगूराम और जानो की मुलाकातें प्रायः बाज़ार में हो जाया करती थीं। जानो मौसम्मियां बेचने बाज़ार जाया करती। मांगूराम प्रायः इन फलों को लेने आता था, यह उसे तब पता चला जब मांगू ने कहा था, 'अब तो मैं तुम्हारे यौवन के फलों का ग्राहक हूं। देख, मेरे अलावा इन फलों को कोई और हाथ नहीं लगावे।'

मांगू के पिता जानो की कीमत (आदिवासियों में कन्या की कीमत चुकानी पड़ती है—गाय-बैल, बकरी, हड़िया आदि। इसे गोनंग कहते हैं) अदा नहीं कर सके तो जानो मांगूराम के यहां भाग आयी थी और सामाजिक मान्यता के अनुसार जानो मांगूराम की ब्याहता बन गयी थी। कितना मज़ाक पसंद था मांगूराम! उसे कितना

प्यार करता था ! रांदो भी वैसा ही मज़ाक पसंद था और उसका प्यार भी मांगू जैसा था जीवन से भरा हुआ । जानो को लगा था—मांगूराम रांदो के रूप में लौट आया है ।

'मांगू ! मांगू !! तुम कहां खो गये हो ?' वह ज़ोर-ज़ोर से रोने लगी

मांगू को हैज़े ने हजम कर लिया था । जानो उससे बिछड़ने के बाद टूट-सी गयी थी । उसने हड़िया बेचने का धंधा बंद कर दिया था । भला जब मांगू ही नहीं रहा तो वह किसके लिए हड़िया बनाये ! वह तो मांगू के लिए हड़िया बनाती थी और अधिक बन जाने से बेचने का कारोबार शुरू किया था ।

एक दिन उसके स्थायी ग्राहक मानकी ने ज़ोर मारा । 'तुम जैसी बढ़िया हड़िया बनाती हो न, वैसी कोई पांच मील तक नहीं बनाता । नहीं तो मैं तुम्हे हड़िया बनाने के लिए मजबूर नहीं करता।' मानकी ने कहा था ।

रांदो भी हड़िया की तारीफ में कुछ ऐसा ही कहा करता था—'वाह ! क्या खूब हड़िया बनाती हो । हाथ में लिया नहीं कि नशा आ जाता है ।'

मानकी एक रात हड़िया पीकर जानो के यहां पड़ा रहा । सुबह जब नींद खुली, तो उसने जाने से इन्कार कर दिया, फिर वह जानो का पति बन बैठा । जानो हड़िया बनाती, मानकी शराब चुलाता । अब दुकानदारी ज़ोरों पर थी ।

बुरा हो, सरदारजी का । सरदारजी[illegible] मानकी को ईंट के भट्ठे में काम करने[illegible] लिए बाहर भेज दिया था । मानकी[illegible] कहा था, वह बस एक सीज़न काम क[illegible] लौट आयेगा । और उसके लिए कान[illegible] झुमके लायेगा । . . . लेकिन मानकी [illegible] लौटा उसने सीज़न का काम समाप्त [illegible] जानो को दो लाइनों का पत्र लिख[illegible] दिया । 'थोड़ा देश घूम लें—अब वह आ[illegible] जा रहा है ।'

इसके बाद उसका पता नहीं च[illegible] जानो ओझा के पास गयी । चावल लि[illegible] लाये । ओझा ने बतलाया—'मानकी कि[illegible] औरत से फंस गया है ।'

जानो ने पूछा—'कोई उपाय है, ओझाजी[illegible]'

'है, दो काली मुर्गियां . . . एक का[illegible] बकरा . . .'

जानो सोचने लगी थी, मानकी यहां[illegible] जायेगा तो उस औरत का क्या होगा ? [illegible] क्या . . . जाने दो. . .। और उसने गांव[illegible] ओझा से मंत्र कराने का विचार [illegible] दिया था ।

अब सोचती है—यदि रांदो नहीं [illegible] तो इस बार ओझा के पास जायेगी [illegible] उससे मंत्र पढ़वाकर रांदो को बुलाने[illegible] हर संभव प्रयास करेगी ।

गर्मियों की जलती हुई दुपहर उसे[illegible] भी याद है, जब उसकी झोपड़ी में [illegible] नौजवान आया था । नौजवान ने आते[illegible] शराब की फरमाइश की । जानो ने [illegible] 'शराब नहीं है . . .'

'हड़िया ही पिलाओ'—नौजवान शायद बहुत पीता था।

हड़िया पीकर नौजवान वहीं खाट पर पड़ गया। आंख लग गयी। नींद खुली तो उसने बतलाया कि उसे बीड़ियों के काम करने के लिए जगह चाहिये और जितनी जगह जानो के पास है, उतनी जगह में इसका काम चल जायेगा।

जानो ने गौर किया—एकदम कड़ियल नौजवान है। वह भी इस प्रांत का नहीं है। गुजरात का मालूम पड़ता है। कहीं हाथ आ गया तो स्वर्ग! जानो ने मौका हाथ से जाने नहीं दिया।

जसूभाई बीड़ी का काम करता और जानो इसमें उसका हाथ बटाती। अब जानो ने हड़िया का धंधा बंद कर दिया। दोनों आपस में बहुत जल्द करीब आ गये। एक-दूसरे पर संपूर्ण अधिकार—यहीं से दूसरी आज़ादी की तरह जानो के जीवन में एक दूसरा युग आरंभ हुआ। बोलचाल, लिवास सभी बदल गये। जानो ने सपना देखा—वह गुजराती सीख लेगी। वह गुजरात जायेगी, ब्याहता की तरह रहेगी। जानो को यह पता है, इसी शहर में गुज-रात के एक नौजवान ने उसकी बिरादरी की लड़की से ब्याह कर अपना घर बसा लिया है।

जसूभाई के हाथ दो पैसे आये तो वह गुजरात चला गया। गुजरात से लौटा तो साथ में ब्याहता गुजरिया लेता आया। ब्याहता को देखकर पहले जानो खूब रोयी फिर वाक्‌युद्ध हुआ।... जसूभाई आश्वा-सन देकर पुनः गुजरात चला गया। चला गया तो चला गया।

जसूभाई की ताज़गी रांदो में थी। इस तरह से रांदो को पाकर उसने जसूभाई को पा लिया था, लेकिन अब तो दोनों खो गये थे।

चौथा पति था साधो। साधो को पति कहना पाप है। सब कुछ ठीक, एकदम वफादार। कभी उसे गुस्सा नहीं आता। बस कमी थी एक बात की—वह उसके सान्निध्य में डरा-सा रहता एक बच्चे की तरह। कहीं रांदो भी तो आगे चलकर ऐसा नहीं हो जायेगा। बस इसी छानबीन में... उलझ पड़ी थी रांदो से। रांदो कभी साधो जैसा नहीं होगा... वह बच्चा नहीं है। रांदो मर्द है मर्द!

रांदो जिस दिन गया था—उस रात को पूरा चांद निकला था। चांद पतला होता गया। चांद खो गया। आज ऐसी रात है कि हाथ को हाथ दिखलायी नहीं पड़ता। जानो ओझा से ओझाई करा रही है।

ओझाई के तीन दिन बाद रांदो लौट आया। रांदो लौट तो आया, लेकिन अकेले नहीं उसके साथ ताज़े टपके महुए की तरह एक युवती थी। युवती ने जानो को पहचाना, जानो ने युवती को। युवती का नाम था—जांबी। दस साल पहले बिछुड़ी मां-बेटी लिपट कर रो रही थीं।

रांदो, जो जानो का पांचवां पति था, और उसके साथ आयी युवती का पहला पति था, यह सब देखकर अवाक् था।

□

(पृष्ठ ३५ का शेषांश)

करते, भानुदास विजयनगर पहुंचे, क्योंकि उन्हें पता चल गया था कि मुस्लिम लुटेरों द्वारा मूर्ति की चोरी के डर से विजयनगर के राजा, रामदेवराव उसे मंदिर से उठाकर अपने साथ ले गये थे।

विजयनगर आकर उन्हें पता चला कि मूर्ति तक उनका पहुंचना असंभव है, क्योंकि वह एक मंदिर में ताले में बंद है। भानुदास मंदिर के बाहर बैठकर भगवान पांडुरंग से बाहर आकर उनके साथ पंढरपुर वापस जाने की प्रार्थना करने लगे।

उनकी प्रार्थना से द्रवीभूत होकर भगवान विट्ठल की मूर्ति मंदिर के बंद द्वारों को खोलकर बाहर आ गयी। जैसे ही भानुदास मूर्ति के चरणों पर गिरे, भगवान विट्ठल ने प्रकट होकर अपने भक्त को गले से लगा लिया, और उससे एक दिन तक और प्रतीक्षा करने को कहा।

अगले दिन प्रातःकाल जब मंदिर के पुजारी ने मूर्ति की प्रार्थना करने का उपक्रम किया, तो वे यह देखकर दंग रह गये कि मूर्ति का सोने का कंठा गायब है। तुरंत, राजा के सैनिकों ने कंठे की खोज आरंभ कर दी। उन्हें यह कंठा भानुदास के गले में पड़ा मिला। फौरन भानुदास को राजा के सामने पेश किया गया। राजा ने भानुदास को सूली पर चढ़ाये जाने का आदेश दिया। भानुदास को मृत्यु से कोई भय न था। उन्हें सिर्फ इस बात का दुख था कि भगवान विट्ठल उनसे रूठ गये हैं, और उन्हें दर्शन नहीं दे रहे हैं। वे सूली पर चढ़ते सम[illegible] आर्त्तनाद कर उनको स्मरण करने ल[illegible] वे गाने लगे, 'चाहे आकाश टूट पड़े, चा[illegible] पृथ्वी फट जाये, चाहे तीनों लोक भस्[illegible] भूत हो जायें, तो भी हे विट्ठल, ते[illegible] नाम मेरे होठों पर आता रहेगा।'

सूली पर जाते समय, भानुदास को [illegible] सूली दिखाई दे रही थी, न उन्हें सूली [illegible] चढ़ानेवाले दिखाई पड़ रहे थे। उन्हें स[illegible] पांडुरंग दिखाई पड़ रहे थे।

जैसे ही वे सूली पर पहुंचे, सूली [illegible] फूलों से लदे एक वृक्ष में रूपांतरि[illegible] गयी। इस दैवी घटना को देखकर [illegible] चकित रह गये।

राजा, उनके मंत्री तथा सूली पर चढ़[illegible] वाले सब भानुदास के चरणों में गि[illegible] क्षमा मांगने लगे। वे सब एक स्वर से [illegible] रहे थे, 'हमें क्षमा करें, भक्तश्रेष्ठ। [illegible] अज्ञानी आपको पहचान नहीं पाये थे। [illegible] आशीर्वाद देकर अनुग्रहीत करें।'

भानुदास की इच्छा का पालन क[illegible] हुए, राजा ने भगवान पांडुरंग की मू[illegible] को वापस पंढरपुर के मंदिर में भिज[illegible] की व्यवस्था करा दी। जब भानुदा[illegible] मूर्ति के साथ पंढरपुर के मंदिर में प्र[illegible] किया, तो पांडुरंग के भक्तों ने मूर्ति [illegible] दर्शनकर, उसकी जयजयकार से आ[illegible] को गुंजायमान कर दिया। इन भक्तों [illegible] स्वर में सबसे अधिक सशक्त स्वर [illegible] दास का ही था।

□

(पृष्ठ ५९ का शेषांश)

धन का फूहड़ प्रदर्शन वे करते रहें, न आर्थिक विपन्नता की ओट लेकर एक-दूसरे छोर की रूढ़िवादिता उन्होंने अपना ली है, जैसी साम्यवादी देशों में पायी जाती है कि सौंदर्य मात्र मानो 'बूर्जुआ' मूल्य है !

यहां नियोजित आर्थिक उत्पादन और वितरण का स्वतंत्र व्यापार तथा विनियम के साथ अद्‌भुत समन्वय हुआ है। बहुत किफ़ायतसारी से, बहुत कम बोलकर, बहुत कम साधनों से कितनी बड़ी उपलब्धि संभव है, यह जापान में देखा जा सकता है।

तीस बरस तक जापानी युवक या युवती निज-निज धर्म-निर्वाह, कर्तव्य-यज्ञ में जुटा रहता है।

कोई प्रदर्शन, घेराव, तालाबंदी, हड़ताल, 'ले-आफ, लाक-आउट' पर आर्डिनेंस आदि कोई समस्या ही नहीं है—चूंकि हर उद्योग में कार्यकर्ता समभागी हैं। हर उद्योग में सहकारिता अनिवार्य है। इसलिये समृद्धि सिमटकर कुछ मुट्ठी भर लोगों के मोटे पाकिटों या थैलों, तिजोरियों में मुंह दुबकाये नहीं बैठती। वह प्रसन्न भाव से 'सर्वेष: सुखिन: संतु, सर्वे संतु निरामय:' का स्मित-वितरण करती चलती है।

छोटे-से देश ने, अणुबम द्वारा इतनी बड़ी तहस-नहस के बाद कैसा निर्माण का चमत्कार कर दिखाया !

मैंने जापान में कभी किसी को भी दूसरे जापानी की निंदा करते हुए न देखा, न सुना। बौद्धिक वहां मात्सर्यग्रस्त नहीं। धनी वहां कृपण नहीं। कलाकार वहां एक-दूसरे से ईर्ष्यालु नहीं। सबके मन में अपने 'निप्पौन' देश के प्रति गहरा प्रेम, प्रगाढ़ श्रद्धा और त्याग और बलिदान करने का उच्च राष्ट्रीय मनोबल देखा। ऐसा ही चरित्र राष्ट्र-निर्मिति में ज़रूरी होता है। हमारे यहां वह कहां है ? हम तो 'अहिंसा' का नाम जप करते हैं, मन में पता नहीं कितनी तरह की हिंसाएं पालते हैं। हम तो पद-लोलुप, सत्ता-लोभी और संकीर्ण स्वार्थों के पंक में आकंठ डूबे हुए हैं। हम कैसे राष्ट्र-निर्माण कर सकेंगे ?

क्षमा करें, स्मृतियों के बदले में मैं अपनी देश-काल-परिस्थितियों की तुलना में थोड़ा बहक गया। पर 'तीर्थंकर' यहां भी हुए, वहां भी हुए। वे अभी भी उनके पद-चिन्हों पर चल रहे हैं। हम उन पग-चिन्हों को मिटाने में लगे हुए हैं। गांधी के नाम पर इस देश में कितने 'प्रतिष्ठान', कितने समाधि-धुलाई कार्यक्रम और व्यर्थ के 'आश्रम' नाम के खोखले नकली उपचार मात्र चल रहे हैं। जापान ने अहिंसा का मुखौटा नहीं पहना, पर वह लघु-उद्योगों और विकेंद्रीकरण की राह पर बराबर क़दम चलाता रहा। विश्व-मैत्री केवल भाषणों का विषय नहीं, आचरण का आशय होना चाहिये।

□

विवेकी राय का मौलिक साहित्य विवेचन

□

सूर का कथा-नाटच शिल्प

सूर की असीम लोकप्रियता का क्या रहस्य है ? क्यों वे अचूक प्रभावों के साथ इतनी गहराई से जनमानस को छूते हैं ? ऐसे प्रश्नों के बीच से गुज़रते हमारा ध्यान महाकवि की शिल्प सम्बन्धी जिन विशेषताओं पर आकृष्ट होता है उनमें से दो की चर्चा हम मुख्य रूप से करना चाहेंगे। एक तो यह कि उनमें कथा प्रस्तुत करने का मोहक ढब है और दूसरे हृदयावर्जक नाटकीय मुद्रा है। वृन्दावन विहारी कृष्ण की कथा स्वतः अति मनोरम है, फिर उनके लीला नटनागर रूप के साथ कवि के हृदय का रागाकुल तादात्म्य काव्य में कथा-नाटच का चमत्कारी प्रभाव सहज कर देता है। मनुष्य जाति के हृदय में कहानी और नाटचरस की आदिम तथा संस्कारित संसक्ति शाश्वत है। अन्तस्तल के इन कला केन्द्रों को भाव-भक्ति की कलम से छेड़ने का जादू यदि इस सीमा तक प्रभावी होता है कि 'किधौं सूर को सर लग्यौ, रहि-रहि धुनत शरीर' कहना पड़ा तो क्या आश्चर्य !

'सूरसागर' में कहानी कृष्ण की तो केंद्र में है और परिधि पर नाना प्रकार की अन्यान्य कहानियों का ठाट है। प्रथम से लेकर अष्टम स्कन्ध तक के बीच शु व्यास, विदुर, परीक्षित, ब्रह्मा, सनका रुद्र, कपिल, ध्रुव, दत्तात्रेय, पृथु, ऋ देव, जड़भरत, नारद, च्यवन, अम्बरी कूर्म-वाराह आदि की कहानियां आगे सम्पूर्ण नवम स्कन्ध रामकथा गंगावतरण और राम-परशुराम की तार कथाओं के साथ छह काण्ड कहानी, राम-आगमन और भरत-मि तक। सातवां उत्तरकाण्ड छूट क्योंकि उसकी कहानी का जितना सूर के छूने योग्य था लंकाकाण्ड में सम्मिलित हो गया है। सूर की कवि कला की अतल गहराइयों का मुख्य वि कथासागर दशम स्कंध है। इस महासा में रंग-बिरंगे द्वीप की भांति कृष्णच के इर्द-गिर्द सैकड़ों जीवंत कहानियां हैं। पूतना, शकट, काग, तृणवर्त, शंखचूड़, वृषभ और व्योमासुर-अ आदि असुरों के बध की कहानियां; लीला, गोचारण, वंशीवादन, राधा प्रेम, रासलीला, दानलीला, मथुरा उद्धव-संदेश आदि और उत्तरार्द्ध में द्वारि पुरी प्रसंग, रुक्मिणी विवाह, जरासं और सुदामाचरित आदि तथा ए

और द्वादश स्कन्ध में नारायण, हंस, वुद्ध और कल्कि की अवतार कथाओं से लेकर परीक्षित और जनमेजय तक अर्थात् पूरे युगान्त की कहानी प्रस्तुत है।

किंतु कृष्ण-चरित-सागर के इन विभिन्न क्रमागत कथा-द्वीपों से ही नहीं, सूर के कथानाट्य शिल्प के निखार-शिखरों के आकलन के लिए उनमें उगे मुक्तकों के सरस-सौरभीले फूलों की ओर भी दृष्टि-पात करना होगा। ऐसा कोई शायद ही मुक्तक गीत-पद 'सूरसागर' में होगा जिसे हम कथा-हीन कह सकें। पद-पद में कथा-नाट्य की रमणीय योजना अद्भुत है। सूर के पद कथारहित हो भी कैसे सकते हैं जब उनके निर्माण के पीछे सगुन लीला-पद गाने की सुदृढ़ संकल्पात्मक भूमिका है। यह लीला अकेले न नाट्य है और न कथा। यह दोनों का समुच्चय है और दोनों के मूलतत्त्व अनिवार्य रूप से उसमें सन्निहित हैं। प्रधानता किन्तु कथा-तत्त्व की है जिसके संयोजन में सूर की निपुनाई कसौटी चढ़ी है। सूर विशुद्ध लीला-पदों के अतिरिक्त विनय-पदों में भी कथांचल को कसकर पकड़े रहता है। कहीं कथा-संकेत, कहीं मिथ, कहीं अन्तर कथा, कहीं भाव कथा, कहीं विचार कथा और कहीं अलंकार कथा। इसी प्रकार कहीं खण्ड कथा-चित्र तो कहीं पूर्ण चित्र। विनयपदों में ऐसा संयोजन सूर की अपूर्व कल्पना शक्ति के साथ उनके व्यक्तित्व के विनोदरंजक आयामों को उजागर करता है। ऐसा देखते

संतकवि सूरदास

हैं कि गिनी-चुनी पंक्तियों वाले पद में कहानी के तत्त्वों का कसाव है। कौतूहल-वर्धक आरंभ है, द्वंद्वपूर्ण आरोह है, तृप्ति-कर चरमबिन्दु है, तीव्रगतिक अवरोह है और समाधानक या आशीर्वादात्मक जैसा अन्त है। सूर का ऐसा एक पद 'अब की राखि लेहु भगवान' ('सूरसागर' का. ना. प्र. स., पद संख्या ९७) हमारे सामने है, कथानाट्य का आकर्षक सृजन –

हे प्रभु, अब इस बार तो बचा ही लो। पाठक या श्रोता सजग हो जाता है। क्यों? क्या कोई खास बात है इस बार? हां है, और शुरू होती है विपद्ग्रस्त पक्षी की कहानी। बेचारा अनाथ है। पेड़ की डाल

पर बैठा है । बैठा क्या है फंस गया है । अब जान नहीं बचेगी । नीचे से बहेलिये ने निशाना साध लिया है । उसका कान तक खिचा वाण अब पक्षी को खा जाने ही वाला है । तब वह क्या करे ? उड़कर जान बचाये ? मगर कहां । ऊपर बाज मंडरा रहा है । वह भी उसी की घात में है । नीचे वहेलिया, ऊपर बाज, कैसे उसकी रक्षा होगी ? अस्तित्व का अति गंभीर और दुर्निवार संकट है । अब कौन उसके प्राणों को बचा सकता है ? क्षण भर के लिए अन्तस्तल में 'कौन ? कौन ??' का रहस्य स्वर गूंजता है । सूर ने इस रक्षक रहस्य-तत्त्व को जिस नुकीले चरमबिन्दु पर प्रतिष्ठित किया है वह क्या साधारण है ? आगे बिजली की कौंध-सा उस एक क्षण के संकट का चमत्कारपूर्ण समाधान कि पक्षी के सम्पूर्ण समर्पण भाव से प्रभु को स्मरण करते ही कहीं से एक सांप निकल आता है । बहेलिये को डसता है । घबराहट में उसके हाथ से बाण छूटता है । वह बाज को लगता है । जै जै कृपानिधान !

अतिशयोक्ति अथवा अप्रस्तुत प्रशंसा के संगठित अर्थ चमत्कार में डूबे पक्षी, जीवात्मा के सनातन उपमान के संकटबोध और फिर उसके अति नाटकीय त्राण की हर्षोत्फुल्लता को मुक्तक की कसी इकाई में, कथागत एकतानता और सूत्र-बद्धता के साथ आयत्तकर जिस रूप में उपस्थित किया गया है वह श्रेष्ठ और उत्कृष्ट कला का उदाहरण है। सूर में ऐसी कला-कुशलता विरल नहीं है । विविध [illegible] गंधों में, रूपाकारों और अलंकृत भा[illegible] भंगिमा में यह सघन कथारुचि हजा[illegible] हजार पदों में विद्यमान होकर इतिवृ[illegible] सौन्दर्य को सूर के पदों की एक परिनि[illegible] पहचान बनाती है । टेक में कोई संवाद [illegible] टुकड़ा उछालकर कवि कभी-कभी जिज्ञा[illegible] को एकदम तेज़ कर देता है; क्यों ? [illegible] हुआ ? और 'तुम कब मो सो पतित उ[illegible] र्यो' (प. सं. १३२), अथवा 'प्रभु [illegible] बड़ी देर कौ ठाढ़ौ' (१३७), अथवा '[illegible] हौं एक-एक करि टरिहौं' (१३४) [illegible] संवाद संभव चित्राभिनयों में हम डूब [illegible] हैं । एक-एक पद मानो मुक्त रंगमंच है [illegible] जैसे कहीं कोई ध्वनि नाटक चल रहा है।

अरे माधवजी, देखिये, यह रही [illegible] एक गाय । (प. सं. ५१) अब आज [illegible] हमने इसे श्रीमान्जी को सौंप दी । [illegible] जाइये, अब इसे आप ही चराइये । यह [illegible] वश की नहीं रही । बहुत हरहाई [illegible] है । इसे देख रहे हैं न ? घेरने-घारने [illegible] और भी कुजगह भागती हैं । इस [illegible] भक्त-नायक के एकालाप में डूबा [illegible] विस्मय विमुग्धभाव से गाय की हरहाई [illegible] जायज़ा लेता रहता है कि नया प्रश्न [illegible] पेश । तुम तो गोकुल पति हो । [illegible] कुछ ख्याल रखते हो तो बस एक [illegible] कर दो । इसे अपनी गायों में मिला [illegible] बोलो, क्या कहते हो ? बस एक [illegible] हां कर दो प्यारे, मैं धन्य हो जा[illegible] सुखपूर्वक सो सकूं । यह क्या कहते [illegible]

रखवाली की मजूरी पहले लोगे ? ठीक, तय रहा। यह लो, पहले ही चुकता कर लो।–एक मार्मिक ध्वनिरूपक। कमी दृश्य कथाओं की भी नहीं। एक तो सामने ही हैं–'ऐसी को सकै करि बिनु मुरारी' (४२५) पाठक सोचता है, क्या ऐसा अद्भुत कर दिया मुरारी ने ? बहुत क्रम से, मार्मिक शब्दों में एक पूरी कहानी आहिस्ते-आहिस्ते मंच पर खुलती है। तब कोई प्रह्लाद प्रार्थना करता होता है, कोई नृसिंह भगवान खंभ फाड़ निकलता होता है, कितना रोमांचक ! फिर चकित हिरण्य-कश्यप के साथ गदा-युद्ध चलता होता है कि सांझ का धुंधलका घिर आता है। दृश्यान्तर पर दृश्यान्तर होते जाते हैं; देवताओं की पुष्प वर्षा, सिद्ध–गंधर्वों की जय जयकार और फिर प्रह्लाद की प्रार्थना तक। अन्त में प्रभु के हाथों उसे राजतिलक लगाया जाता होता है। वास्तव में कहानी जो सूर की काव्य-संगीत-धारा में पड़ प्रवाह पाती है किसी चमत्कार से नहीं, अपनी सहजता के आकर्षण से आकर्षित करती है और उसका रंगमंचीय गत्वर दृश्य विम्ब भी उसी सहजता से मन पर जमता है।

सूर की कोमल कथावृत्ति दशम स्कन्ध की कृष्णलीला में चरमोत्कर्ष पर पहुंचती दृष्टिगोचर होती है। किसी लम्बी चलती कहानी के टुकड़े को कहां से काटकर, किस कोण से उपस्थित किया जाय कि वह चुस्त होकर एकदम मर्मस्पर्शी हो जाय, ऐसी तकनीक सूर में बेजोड़ है। कभी-कभी सीधी-सादी वर्णनात्मकता के भीतर सहज भाव से कोई कहानी आगे बढ़ती-बढ़ती अत्यन्त वेगवती होकर नाटकीय भंगिमाओं में परिवर्तित हो जाती है। पाठक विस्मय विमुग्ध हो आस्वादन में खो जाता है। 'सूरसागर' की ऐसी दो कहानियां, ब्रज की गलियों में कृष्ण के खेलने निकलने की कहानी और यमुना-तट पर राधिका के जल भरने निकलने की कहानी हमारे सामने हैं। समान अन्दाज़ में दोनों शुरू होती हैं। दोनों में उदात्त सौंदर्य बोध, रेखाचित्रात्मकता और कहानी का लचीला फार्म है। दोनों द्विपदी कहानियां हैं। किन्तु पृथक-पृथक पदों का मुक्तक गुण भी सुरक्षित है। पद का आरंभ 'खेलन हरि निकसे ब्रजखोरी' (प. सं. १२९०) और 'जमुना चली राधिका गोरी' (२६४१) जैसी इति-वृत्तात्मकता में होता है। कृष्ण को क्रीड़ार्थ घर से निकाल कवि उनका एक रेखाचित्र उपस्थित करता है। कछनी, पीताम्बर, चकभौंरी, मोरमुकुट और कुंडल के बीच कैसी शोभा बनती है ! उन्हें यमुना तट पर पहुंचा वह चट परदे के पीछे हो जाता है। अब रंगमंच पर रम्य तट है, एकान्त है और कृष्ण हैं। अचानक आ जाती है राधा, बड़ी-बड़ी आंखें, भाल दिये रोरी, एक प्रसन्न मुग्धा चित्र। उपसंहार के समग्र प्रभाव के साथ प्रथम दर्शन का प्रेम, प्रेम में पड़ी आंखों की ठगौरी, सब अति मनो-रम। ब्रज की गलियों से यमुना तट और

खेल से प्रेम तक के बीच की कथा-यात्रा में एक सम है, संयम है और उत्तरोत्तर उत्कर्ष है। किन्तु ठीक इसके बाद वाले कथा के उत्तरार्द्ध पद में इस उत्कर्ष का एक ललित सम्वादी चरमोत्कर्ष है—

'बूझत स्याम कौन तू गोरी।
कहां रहति, काकी है बेटी,
देखी नहीं कहूं ब्रजखोरी।।
काहे को हम ब्रज तैं आवति,
खेलति रहहिं आपनी पौरी,
सुनत रहहिं स्रवननि नंद ढोटा,
करत रहत माखन की चोरी।
तुम्हरो कहा चोरि हम लै हैं,
खेलन चलौ संग मिलि गोरी,
सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि,
बातनि भरइ राधिका भोरी।
(प. सं. १२९१)

दूसरी कथा अर्थात् राधिका के जमुना तट पर जल भरने जाने की शृंखलाबद्ध कहानी में रागमूलक घटनात्मक आवर्त अधिक हैं। राधिका का चलते-चलते गली में कृष्ण को एकाकी देखना, उनकी अंतराकुलता का अनुमान करना, एक हलका अन्तरान्दोलन, कैसे मिलन संभव है? एक 'भाव' की कौंध, एक योजना, उधर से एक सखी को जल लिये आते देख साभिप्राय कृष्ण की ओर देखना, सकुच मुसकान, सार्थक संकेत के साथ ऊंचे सुनाकर सखी से कहना कि मैं जल भरकर लौटती हूं तब तक मेरे घर आना! एक 'भाव' का पूरा ठाट। मोहक कथानाट्य की झनकती कड़ियों का शिल्पी सूर अपनी मर्मभेदी अन्तरदृष्टि से सचमुच वह सब भावलीला की झांकी देखता है जिसके चलते उसकी मंगलाचरण की स्थापना 'अंधे को सब कुछ दरसाई' सार्थक-सटीक प्रतीत होती है। इस झांकी को कवित्व, कला और कल्पना के सहारे सर्वसाधारण के लिए सहज-सुलभ करा देना कवि की महती देन है। गूंगे के गुड़ जैसा अन्तरानुभूत परम स्वाद नहीं, बाहर जगत में पुरुष-प्रकृति की शाश्वत लीला-झांकी, उस झांकी का परानुभूति-परक नित्य चित्र-सृष्टि कवि को अभीष्ट है।

'सूरसागर' में पद संख्या ३०९५ से लेकर ३१०२ तक के बीच एक ललित कथा चलती है ललिता सखी की, 'ठाढ़े नन्द द्वार गुपाल' से शुरू होकर। प्रेम, मिलन, विरह,

आश्वासन, प्रतीक्षा, पश्चात्ताप, विस्मृति, कुदर्शन, उपालम्भ और व्यंग्य के रोमांचक आरोह-अवरोह से पूर्ण सरस लीला-द्वार खड़े कृष्ण को ललिता संकेत से बुलाती है। वे चुपके से जाते हैं, मिलते हैं, 'लाइ उर भरि चापि कुचनि कठोर'। वह ताना देती है। आप तो भूलकर भी इधर नहीं आते। इस पर वादा, आज रात आऊंगा। ललिता शृंगार कर रात भर प्रतीक्षा करती है, प्रभात तक। उधर वे कहीं और हैं। याद आने पर दौड़े। अरे मैं तो भूल ही गया था, माफ करना। मगर यह क्या ? 'अंजन अधर कपोलनि बन्दन !' ललिता सामने कर देती है आईना। हुजूर, ज़रा अपना चेहरा तो देख लें! पूरी अष्टपदी कहानी पाठक एक सांस में पढ़ जाता है। भाषा की चिपकनशीलता, भंगिमा की सहजता और चित्रों की स्पष्टता कथारस को कितना गाढ़ा कर देती है !

'सूरसागर' का क्रीड़ा और माखन चोरी प्रसंग कथानाटच की उपलब्धियों के रूप में रेखांकित किया जा सकता है। नेपथ्य से जैसे एक सूचना मिल रही है—

खेलत श्याम ग्वालनि संग,
सुबल हलधर अरु श्रीदामा करत नाना रंग।

फिर परदा उठता है और उठते दृश्यों का मानस प्रत्यक्ष होता है—

हाथ तारी देत भागत सबै करि करि होड़,
बरजै हलधर, श्याम तुम जनि,
चोट लागै गोड़।
तब कह्यौ मैं दौरि जानत,
बहुत बल मो गात,
मेरी जोरी है श्रीदामा हाथ मारे जात।
उठै बोलित बै श्रीदामा
जाहु तारी मार।

अब खेल शुरू। बहुत ज़ोरदार खेल, फिर उसका चरम बिंदु एक अति सहज और भोले-भाले संवाद के साथ; संवाद कि दर्शक मुस्करा उठें—

आगे हरि, पाछै श्रीदामा,
धरचौ श्याम हंकारि।
जानिकै मैं रह्यौ ठाढ़ौ
छुवत कहा जु मोंहि,
सूर हरि खीझत सखा
सौं मनहिं कीन्है कोहि।'
(प. सं. ८३१)

इस चलते बाल-नाटक में प्रतिस्पर्द्धा, ईर्ष्या, आत्माभिमान, छल, भुलावा, अप-नाव-दुराव, विवाद, रूठना-मानना, नीति-अनीति, व्यंग्य, कटूक्ति, ताना और फटकार आदि भाव मुद्राओं की प्राणवान झलक वेग-आवेग में लहर-लहर जाती है। यहां संवाद में घटना है और घटना में संवाद है। चित्र-

वृत्त आंखों के रास्ते मन में उतर देर तक झनझनाता है। उत्सुकता की तीव्रता का क्या पूछना! क्या होता है कृष्ण के रूठने के बाद? एक खिलाड़ी जैसे हवा में हाथ चमका आंखें नचा कहता है–'खेलत में को काको गुसैंया!' (प. सं. ८३३) अरे महाराज, खेल में ठकुराई नहीं चलती है। दूसरा खिलाड़ी जैसे बात की दो टूक सफ़ाई के अंदाज़ में बोल उठता है–

'हरि हारे, जीते श्रीदामा,
बरबस ही कत करत रिसैंयां!

तब तक तीसरा एक तीर छोड़ता है–

'जाति पांति हम ते बड़ नाहीं
नाहीं बसत तुम्हारे छैयां!'

चौथा और ज़बरदस्त पड़ा। वह क्यों चूके–

'अति अधिकार जनावत याते,
अधिक तुमारे हैं कछु गैयां।'

बेचारा नन्हा कान्हा! पिट रहा है, खामोश, सिर झुकाये और तभी उसका पांचवा खिलाड़ी दोस्त जैसे निर्णय ही दे देता है–

'रूठहि करै तासो को खेलै?'

और परिणाम यह होता है कि रंगमंच पर–

'बैठि रहे जहं तहं सब ग्वैयां!'

अब क्या हो? दर्शक सांस रोक इस नाटक के अन्त की प्रतीक्षा में है। कृष्ण की स्थिति बहुत विचित्र है। मुखमुद्रा से साफ झलक रहा है कि भीतर से खेल की ललक है और बाहर से खीझ है। फिर धीरे-धीरे बातों की इतनी मार खा अन्तरविरोधपूर्ण खीझ का रंग चेहरे से कपूर की भांति उड़ जाता है। सूत्रधार घोषित करता है–

'सूरदास प्रभु खेल्यौई चाहत,
दाउ दियौ करि नन्द दुहैयां!'

नाटकीय भंगिमाओं के ऐसे ताज़े और नित्य प्रभावशाली उदाहरण 'सूरसागर' में भरे पड़े हैं। 'मैया मैं नहिं माखन खायो' (९५२), 'जसोदा हरि पालने झुलावे' (६६१), 'बनचर कौन देश तें आयो' (५३२), 'आजु जौ हरिहिं न सस्त्र गहाऊं' (२७०), 'सोभित कर नवनीत लिये' (७१७), 'कहन लागै मोहन मैया मैया' (७७३). 'मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी' (९७३), 'हरि अपने आगे कछु गावत' (७९५), 'मैया मैं तो चंद खिलौना लैहौं' (८११), 'स्याम कहा चाहत से डोलत' (८९७) 'हमारे माई मोरवा बैर परे' (३९४७), 'कोउ बरजै री या चंदहिं' (३९७७), 'निरगुन कौन देस कौ बासी' (४२४९), और 'मानि मनायौ राधा प्यारी' (३४४४) आदि पदों में और इनके इर्दगिर्द नाना भावदशाओं से पूर्ण सूक्ष्म अभिनय की उत्कृष्ट कला अपने पूरे तामझाम के साथ गहमागहमी भरा निखार लेती दृष्टिगोचर होती है।

'सूरसागर' में सम्वादों का ठाट देखकर चकित रह जाना पड़ता है। सूत-शौनक, भगवान-दुर्योधन, अर्जुन-भीष्म, नारद-ब्रह्मा, मैत्रेय-विदुर, देवहूति-कपिल, जड़-भरत-रहूगण, और यशोदा-नंद-गोपी-कृष्ण आदि के परस्पर संवाद और इन संवादों की चलती-चुस्त संरचना महाकवि

की नाटच रुचि और काव्य में उसके सम्यक् समावेश की प्रवृत्ति को स्पष्ट करती हैं। सूर की राम-कथा में भी संवाद हैं। लक्ष्मण-केवट, राम-भरत, राम-हनुमान, संपाती-वानर, निशिचरी-रावण, त्रिजटा-सीता, हनुमान-रावण, विभीषण-रावण आदि संवाद ध्यान आकृष्ट करते हैं। संवादों में यद्यपि तुलसी की गहराई तथा केशव की प्रगल्भता नहीं है तथापि वे सूर के साधु-सीधे अन्तस्तल की नाटच-व्यापार-रुचिशीलता को प्रकट करते हैं। सूर की राम-लीला उनकी कृष्ण-लीला की अपेक्षा ठण्डी है और उसमें वे पूरी स्वच्छन्दता के साथ रम नहीं पाये हैं। वह बहुत सीधी-सपाट है तथापि संक्षिप्त संवादों में सहृदयता की पूरी-पूरी पहचान उभरी है।

लीला के साथ वास्तव में कृष्ण का ही नाम सम्यक् रूप से जुड़ता है। उनके चरित का सूर-स्पर्शित प्रारंभिक अंश अपने आप में स्वरूपतः लीला है। कृष्ण के भुवन-मोहन रूप की दर्शन-माधुरी का प्रसंग, अगाध उक्ति वैभव सम्पन्न मुरली और भ्रमरगीत के प्रसंग और व्यंग्य-वक्रोक्तियों में लहराते और आह्लादक वचन-भंगिमाओं के शिखर छूते विविध लीलाओं के प्रकरण; सर्वत्र सूर का कथानाटच शिल्प-चमत्कार पाठकों को अभिभूत करता चलता है। बाल लीला, दान लीला, पनघट लीला, चीरहरण लीला, गिरिधारण लीला, मानव लीला और रास लीला आदि का तो नाम ही लीला से जुड़ा हुआ है। घुटने चलने, चांद-खिलौना के लिए मचलने, माखनचोरी और गोचरण आदि में विशेष रूप से लीला-शिल्प की रसात्मकता छलक-छलक पड़ती है। 'सूरसागर' में चन्द्र-प्रस्ताव वाला प्रकरण पद संख्या ८०६ से लेकर ८१४ तक के नव पदों में क्रमशः चलता है। इस अति रम्य लीला-नाटच की भूमिका अर्थात् प्रथम पद की प्रथम पंक्ति में कहा गया है, 'ठाढ़ो, अजिर जसोदा अपने, हरिहि लिए चंदा दिखरावति।' और अन्त का समापन पद है, 'लै लै मोहन चंदा लै लै!' इसके बीच में क्या होता है? सूर का यह सारा प्रस्तुतिकरण कहानी में नाटक और नाटक में कहानी जैसा है। हम उसे यथास्वरूप यहां देखेंगे।

स्थान: नन्द भवन के अन्तःपुर का खुला आंगन। समय: रात की शयन वेला। पात्र: मां यशोदा, पुत्र कृष्ण और खिला हुआ आकाशी चांद। एकांकी नाटक शुरू होता है। रंगमंच पर यशोदा कन्हैया को चंदा दिखा-दिखाकर बहला रही हैं। मुख्य संघर्ष की बात तब उभरती है जब बेटा जिद पर अड़ जाता है कि मैं उसे ही खाऊंगा, मुझे जोरों की भूख लगी है। अब बना! कहां के कहां इस नटखट को चंदा दिखाया! फुसलाने का एक क्रम चलता है। बेटा, यह तो सभी का खिलौना है। भला इसे खाने को कोई कहता है? बस, इसे केवल देखा जाता है। खाने के लिए घर पर मक्खन-मिठाई गंजी है। फिर यही तो रोज सांझ सकारे मक्खन दे जाता है...। सब बेकार। बेटा सुसुक रहा है, उसने मंच पर सत्याग्रह

छेड़ दिया है, छरियाकर गोदी से खिसक जाता है ! सोचो कोई और उपाय । मां एक बड़ी थाली में जल भर रखती दृष्टि-गोचर होती है । अच्छा तो ले, तुम्हारा चंदा मंगा दिया । यह देखो । बेटा खिल उठता है । हाथ डालकर टटोलता है । धत्तेरे की ! यहां तो कुछ नहीं । फिर वैत-लवा डाल पर ! फिर वही सुसुकी, फिर वही मेवा-मक्खन-मिठाई की फुसलाहट, भौंरा-चकई का प्रलोभन । मगर बात कुछ बनती नहीं । विरोध और उग्र हो जाता है । नहीं, मैं चंद्र खिलौना लूंगा ही । भोले बालकृष्ण की वे मुंह फुलाकर दी जाती हुई धमकियां। रटन और तेज़ हो जाती है, 'मैया री मैं चंद खिलौना लै हौं ।' तभी इस नाटक में एक चमत्कारी मोड़ आता है । एक सुन्दर-सी युक्ति कि पानी में चंदा खोजते में हाथ खाली न निकले । 'लै लै मोहन चंदा लै लै !' कैसा पानी में छिपता है आकाशी चंद मक्खन का वेश बदल-

कर ! वह तुम्हारे मुख की शोभा देख डरता है न ? देख, उसे एक चिड़िया पकड़कर लाई और यहां छोड़ गयी । लेकिन यह नाटक का अन्त नहीं । कवि दर्शकों को सन्तुष्ट-असन्तुष्ट भाव के बीच वाली एक भावदशा–विरुझी दशा–में कृष्ण को दिखाता है । उनका यह विरुझना तृप्ति की रुझान बन जाती है । मां की गोद में बाल-चरित नायक अब सोने जा रहा है । जाते-जाते विरुझे मुखमण्डल की एक झांकी और पटाक्षेप । मध्य के मनोमुग्धकारी घटनात्मक तनाव और आदि-अन्त की चुस्त संगतिसहित कलात्मक आकर्षण लिये प्रस्तुत नवपदी कथानाट्य हमारे भावलोक को कितना शान्त और निरुद्वेग बनाता है । 'सूरसागर' में बिखरे इस प्रकार के प्रसंगों और उनके विशिष्ठ शिल्प-सौष्ठव के कारण ही सूर में वह सम्मोहन शक्ति आ जाती है जो उन्हें हिन्दी साहित्य का सूर बनाती है ।

– बड़ी बाग, गाजीपुर (उ. प्र.)

□

जब भगवान मेरे जीवन में आये :

नरसी मेहता

वैष्णव भक्त नरसी मेहता के, जिनका गीत 'वैष्णव जन तो तेने कहिये' गांधीजी को अत्यंत प्रिय था, जीवन में भगवान द्वारका के सेठ सामलदास के रूप में आये, ऐसे उदार सेठ सामलदास, जिन्होंने अपने भक्त की १५०० रुपये की हुंडी को स्वीकारा ही नहीं, उसके बदले में २००० रुपये दिये।

गुजरात के प्रख्यात कवि-संत नरसी मेहता (सन १४१४ से सन १४८१) का जन्म जूनागढ़ के एक धनी नागर ब्राह्मण परिवार में हुआ था।

यदि नरसी साधारण गृहस्थों की भांति जीवन व्यतीत करते तो सारा जीवन सुख से, सारी आर्थिक चिंताओं से मुक्त होकर बिता सकते थे, इतनी दौलत उन्हें विरासत में मिली थी। किंतु, वे बचपन से ही धार्मिक वृत्ति के थे, और साधुओं तथा जरूरतमंद लोगों की मदद करना अपनी दौलत का सर्वोत्तम उपयोग मानते थे।

ब्राह्मण होते हुए भी उन्हें उच्च जाति में जन्म लेने का कोई गर्व न था, और वे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, हिंदू-मुसलमान सबको समान भाव से प्रेम करते थे, क्योंकि सभी प्राणियों में उन्हें भगवान् के दर्शन होते थे। इसलिए ब्राह्मण तथा अन्य उच्च जातियों के लोग उन्हें कोसते रहते थे। उन लोगों ने नरसी का सामाजिक बहिष्कार कर रखा था।

इसलिए, जब उनकी पुत्री विवाह-योग्य हुई, तो उन्होंने पाया कि उनके पास उसके विवाह के लिए एक दमड़ी तक नहीं है, और ना ही उनका कोई रिश्तेदार या परिचित उनकी सहायता करने के लिए तैयार है। लेकिन, नरसी इस बात से चिंतित न थे, क्योंकि उनके पास ऐसी बातों के लिए चिंता करने का समय ही न था; उनका सारा समय भगवद् भजन में ही बीतता था। लेकिन, उनकी पत्नी मानेकबाई को सदा चिंता लगी रहती थी कि उसकी पुत्री का विवाह कैसे होगा?

एक दिन जब मानेकबाई से न रहा गया, तो उसने अपने पति से सीधे पूछा, 'पता भी है कि तुम्हारी पुत्री विवाह-योग्य हो गयी है। उसे कब तक कुंआरी रखने का इरादा है? कहीं से रुपयों का जुगाड़ करो, क्योंकि बिना रुपयों के उसका विवाह होना असंभव है।'

नरसी मेहता ने मुस्कराते हुए पत्नी से कहा, 'द्वारकाधीश के रहते तुम्हें कोई चिंता करने की क्या आवश्यकता है ? और सुनो, कल रात उन्होंने सपने में मुझसे कहा था, पुत्र ! अपनी पुत्री के विवाह के बारे में चिंता करने की कोई आवश्यकता नहीं है । वह तो साक्षात् महालक्ष्मी है । उसके होते तुम्हें धन की क्या चिंता होनी चाहिये ? ऐसा करो, द्वारकापुरी के सेठ सामलदास के नाम, जितनी भी रक़म तुम्हें चाहिये, उतनी की हुंडी ले जाओ । वे उसका भुगतान कर देंगे ।'

मानेकबाई की चिंता दूर हुई । उसके हर्ष का ठिकाना न था ।

अगले दिन नरसी मेहता ने सेठ सामलदास के नाम १५०० रुपये की हुंडी लिखकर तैयार की, और मानेकबाई ने एक रबारी (ग्वाले) के हाथ उसे सेठ सामलदास के पास भिजवाने की व्यवस्था की ।

जब रबारी द्वारका जाने की तैयारी कर रहा था, तब उसकी भेंट द्वारकाधीश के दर्शन के लिए जानेवाले चार-पांच तीर्थयात्रियों से हो गयी । इन तीर्थयात्रियों के पास, कुल मिलाकर १५०० रुपये की राशि थी । डाकुओं के डर से वे इस राशि को अपने साथ ले जाने से डर रहे थे । इसलिए, जब उन्हें द्वारका के सेठ सामलदास के नाम की १५०० रुपये की हुंडी का पता चला, तो उन्होंने रबारी को १५०० रुपये नकद देकर बदले में उससे वह हुंडी ले ली । नरसी मेहता ने हुंडी उन तीर्थयात्रियों के नाम समर्थित कर दी ।

जब तक तीर्थयात्री द्वारका पहुंचे, तब तक नरसी मेहता की पुत्री का विवाह संपन्न हो चुका था ।

द्वारका पहुंचकर तीर्थयात्रियों ने सेठ सामलदास का पता लगाने की बहुत कोशिश की, और जब बहुत कोशिश करने पर भी उन्हें किसी सेठ सामलदास का पता न लगा, तो उन्हें विश्वास हो गया कि नरसी मेहता नाम के उस तथाकथित भक्त ने उनके साथ धोखा किया है ।

तभी, एक चमत्कार हुआ ।

एक आदमी ने तीर्थयात्रियों के पास आकर कहा, 'मैं सेठ सालमदास हूं । मुझे यह पता चला है कि तुम लोग मुझे खोज रहे थे ।'

'हां, हम भगत नरसी मेहता की आपके नाम लिखी एक हुंडी लाये हैं । आप उसका भुगतान कर देंगे, तो बड़ी कृपा होगी !'

'मैं उस हुंडी का भुगतान करने को तैयार हूं ।'

तीर्थयात्रियों की सांस में सांस आयी । तभी उन्होंने सेठ सामलदास को पूछते सुना : 'हुंडी कितने की है ?'

'१५०० की है ।'

'मगर मेरे पास तो इस समय २००० रुपये हैं । ख़ैर, कोई बात नहीं । मैं १५०० की हुंडी के २००० देने को तैयार हूं ।'

लेकिन, तीर्थयात्री किसी भी हालत में, अतिरिक्त ५०० लेने को तैयार न थे ।

उन्होंने कहा, 'नहीं, नहीं, सेठजी ! हमें १५०० रुपये ही चाहिये, २००० नहीं ।'

'हुंडी तो लाओ,' सेठ सामलदास ने कहा ।

'लेकिन हमारे पास उस पर दस्तख़त करने के लिए क़लम नहीं है । ठहरिये, हम दस्तख़त करने के लिए क़लम लेकर फौरन आते हैं ।'

'दस्तख़त या क़लम की कोई ज़रूरत नहीं। हमारा सारा हिसाब-किताब विश्वास पर चलता है ।'

तीर्थयात्रियों ने हुंडी देकर २००० रुपये ले लिये । सेठ इससे कम राशि के को तैयार ही न थे । लाचार थे, बेचारे तीर्थयात्री ! लाचार भी, थोड़े चकित भी ।

और यदि उन्हें यह पता चल जाता कि सेठ सामलदास के रूप में स्वयं द्वारकाधीश कृष्ण ही उन्हें २००० रुपये दे गये थे, तब तो उनके आश्चर्य का ठिकाना ही न रहता !

□

(पृष्ठ ६४ का शेषांश)

दीं । शागिद कम समझदार न था, उसने सबसे सस्ती घड़ी की सबसे ज्यादा कीमत बता दी और उस्ताद को वही घड़ी पसंद आ गयी ।

उस वर्ष जुलूस में मिरासियों का ताज़िया भी शामिल था। आगे-आगे हबीब-उद्दीन गले में ताशा डाले और उसे अज राड़ा अंदाज़ में लकड़ियों से खड़खड़ाते चले जा रहे थे । भीड़, हुसेन के मातम में रो रही थी पर हबीबउद्दीन को दुआएं दे रही थी ।

हबीबउद्दीन के शौक़ भी बड़े मस्त थे . . मुगलयी खाना, देसी शराब, पतंग-बाज़ी, कबूतरबाज़ी और अखाड़ेबाज़ी . . . फिर दुनिया जाये जहन्नुम में ! हबीब-उद्दीन स्वभाव का बहुत भोला और बेहद डरपोक (पर मंच पर शेर) व्यक्ति था । उसका हृदय दया का सागर था ।उसका मज़ाक सस्ता था । वह बंडल फेंकने में कभी न झिझका । उसके जैसा सफ़ाई पसंद मिरासी मुश्किल से ही मिलेगा। हबीबउद्दीन कभी-कभी दिन में दो-दो, तीन-तीन बार नहाता था और कभी तो इत्र की बोतल सिर पर उंडेलकर स्नान कर लेता था ।

हबीबउद्दीन की आदतें उसे चाट गयीं । शराब उसे पी गयी । फ़ालिज के हमले के बाद तो वह दाने-दाने को मोहताज हो गया, जो सामने आता उसके आगे हाथ फैला देता । और एक दिन गली के नुक्कड़ पर कोई रज़ाई से ढका बैठा था । पूछताछ करने पर मालूम हुआ वह उस्ताद हबीब-उद्दीन खां साहब हैं ।

ग़रीबी से कशमकश कब तक चलती . . . २० जुलाई सन १९७२ को भी सूरज निकला और उसके प्रकाश में एक कला-कार विलीन हो गया ।

—कुमकुम, ६ ठा माला,
५०- ए, पेडर रोड, बंबई-२६

□

सावित्री परमार की कलम से आलेखित जयपुर की वारांगनाओं की रंगीन रोमानी कहानियां

□

दूध-केसर धुली चांदनी रातें

पुरानी यादों की केसर-गंध लिये बड़ी नाजुक और स्वाभिमानी गुलाबी नगरी। रंगीन पारदर्शियां ओढ़े अजीब ठसकेदार नगर जयपुर। हीरे-जवाहरात का विश्वप्रसिद्ध शहर, नयी-पुरानी परंपराओं की अल्पनाएं-वंदनवार सजाये इसकी शान। साहित्य, कला और संस्कृति का बिल्लौरी संगम। राजा-महाराजाओं के हाथों ध्यान-प्यार से संवारी हुई मरुथली राजस्थान की लाड़ली-नखरीली राजधानी। आधुनिकतम नवनिर्मित भवनों-

सबसे प्रसिद्ध गायिका तथा नर्तकी

गौहरबाई
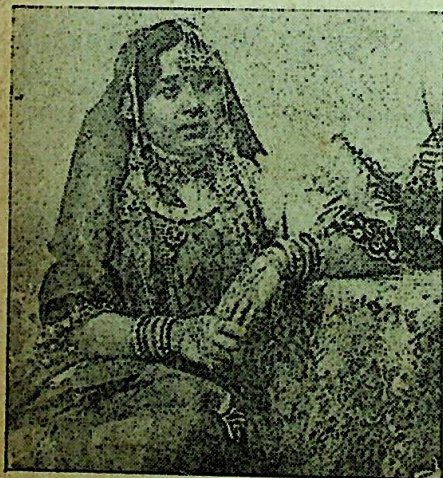
इमारतों के बीच गर्व से गर्दन उठाये दुर्ग-किले, महल, परकोटे, छतरियां-बुर्जियां-चौकियां, पोल-द्वार और बाग-बगीचे, चौपड़-गोख। हर बालिश्त पर सामंतशाही युग के हीरामनी हस्ताक्षर। बीते अतीत का आश्चर्यजनक इतिहास। आसपास फैली हुई हैं सामंतों, जागीरदारों, ठिकानेदारों मर्ज़ीदानों और ज़मींदारों की आलीशान जीवंत गढ़ियां-ड्योढ़िया। श्रेष्ठि पुत्रों की बेजोड़ स्थापत्यकला और भित्तिचित्रों से जड़ी-मढ़ी हवेलियां और डेरे-ढांणियां। उस युग के पर्व-आयोजनों, झरोखा-दर्शनों, राज-सवारियों, दरबारों, मनोरंजनों, मनुहारों-महफिलों, युद्ध-पराक्रमों, विजय-स्तंभों तथा राजपूती आन-बान-शान से ओतप्रोत अनेकों किस्से-आख्यान ... लोक गीतों-कथाओं में बुनी हुई ढेर-ढेर कहानियां ... बड़े-बूढ़ों की ज़बान पर मीठी चाशनी से महकते तर्क-बर्क संस्मरण ...

महल-गढ़ी-किले, शीशमहल-दरबार हाल और गुणीजनखाना-सभी जैसे किसी गहरे विश्राम की स्थिति में मौन बैठे-लेटे हैं। वक्त की पदचापें गुज़रती रही हैं

इन परकोटों-गलियारों से, लेकिन ये जाने किस परिचित आहट के लिए चिरप्रतीक्षित हैं। महराबों-छज्जों की सघन-बोझिल पलकें पुराने सपनों की उंगलियां थामे जाने कौन-से खोये-छुटे क्षण तलाश रही हैं। सड़कों पर अलभ्य चित्र-पटल। सूर्य को देखते हुए पगलाये से हंसते रहते हैं गुंबद-शिखर। बारहदरियों की हथेलियों पर मेहंदी-रचे मोरले और दरीचियों के अध-मुंदे ओठों में रतजगे का नशीला खुमार जाने कितनी बार टहोककर रोकने लगता है। गंगा-जमुनी फर्श के संगमरमरी दर्पण में रह-रहकर मोती गुंथी नाजुक जूतियों में उमंगते महावरी कदमों के कपोती रंग, हीरे-पन्ने-माणक से चकाचौंध आभूषण... बाजूबंद-नथनी के फिरोजी छंद, कसूमी स्वर्ण-प्यालों में छलकते सांसों के उत्ताल ज्वार जादुई करिश्मों की तरह आंख-मिचौनी खेलने लगते हैं। दूधिया चांदनी में नहाती होंगी जब ये छतें और छत्तर-सारियां .. वाद्यों के स्वर जब हवा की तरंगों पर मुरकियां मींड़ते होंगे। पायलों के घुंघरुओं के बौराये अंदाज़ों पर जब दिल किर्च-किर्च होकर टकराते होंगे।

कमल-पांखुरियों-सी बिछी दृष्टियों को जब कजरारे नयन-संकेतों के गूढ़ अर्थ मिलते होंगे .. तब ? तब माहौल की जानमारू सुर्खियों में तलवार की धार-सी पैनी जाने कितनी हस्तियां डूब जाती होंगी! जाफ़रानी खुशबू रचाये गुलाबी ओठों की बलखाई जुंबिश में जाने कितने लौह-दिल
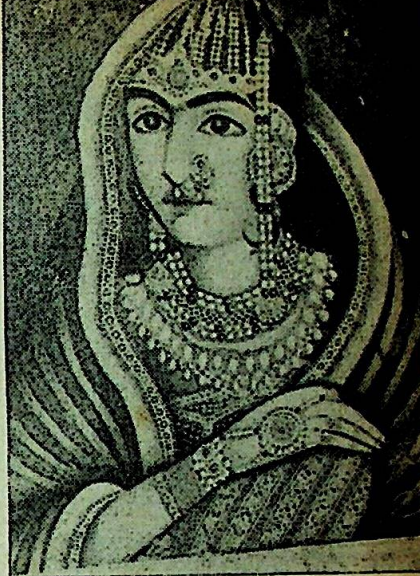
हीरे-मोतियों से जड़े झूमर-तौक हार और हथफूल

क़ैद होकर मोम से पिघल उठते होंगे। गिलाफी पलकों की चिलमनें आहिस्ता-आहिस्ता जब उठती होंगी, तब पारखी नज़रों में कैसे चटख शोख रंग छटपटा उठते होंगे। कैसा ईर्ष्या-डाह और आनंद-विलास का मिला-जुला वातावरण होगा कि एक ओर चौबीस शृंगार किये प्रतीक्षा की देहरी पर प्रिय की याद में सुलगता मन... जाली-झरोखों में बैठा खानदानी राजपूती सौंदर्य ... स्वामी की बलिष्ठ बांहों के घेरे में समाने को अंतःपुर की आतुर मर्यादा .. और उधर, प्याज़ी-धानी पारदर्शी दुपट्टों में लिपटी दूध-केसर-गुलाब से फेंटी घुंघरुओं पर लरजती-थिरकती कमनीय देह ... सारंगी की दिलकश लय

में उतरती भीगी-भीगी रात . . .

राजाओं, ठिकानेदारों की अपनी-अपनी महफिलों के अलग-अलग अंदाज़ . . . दिन गुज़रते थे रियासती मामलों के हाशियों में और शामें उतरती थीं संदली हिना की पुरजोशियों में। हर पल तहज़ीब के सलीकेदार तेवरवाला, हर कदम स्वाभिमान के तौर वाला, राग-रागनियों से लेकर युद्ध-शिकार के दौरों तक सतर्क-पैनी और गुणग्राही दृष्टि। तलवारों पर कसी जितनी बलिष्ठ मुट्ठियां, अंतःपुर की मनपसंद छत के नीचे अथवा शरबती महफिलों बीच उतनी ही मुलायम दृष्टियां . . ज़नानी ड्योढ़ियों की महफिलों के भी बड़े ऊंचे ठाठ होते थे। नर्तकियों के बड़े बांके

गौहर जान द्वितीय—श्रेष्ठ गायिका

अंदाज़। राजाओं की पारखी तबीयतें और साहित्यकारों-कलाकारों की उच्च-स्तरीय कला और सृजन का वह युग था, मूल्यांकन था और उनके लिए वाजिब पद थे, पारितोषिक थे। तहज़ीब, सौंदर्य और शृंगार के बेमिसाल सागर थे और कस्तूरी-केसर के छलछलाते सोने-चांदी मढ़े गंगा-जमुनी पैमाने थे।

राजस्थानी बालू का विविध रंगी इतिहास। जुझारू ज़िंदगी की पीढ़ी-दर-पीढ़ी समर्पित वसीयतें। शक्ति-शौर्य की प्रशस्तियां। स्वयं की अर्जित कीर्ति की सुरक्षा और बुजुर्गों द्वारा स्थापित हुई गरिमा के अस्तित्व को चारचांद लगाने की चेष्टा में संलग्न एक पूरी सामंती सदी . . बात-बात में आत्मसम्मानी शपथें केसरिया धारणकर मौत को हथेली पर सजाना और आकाशी नक्षत्रों तक उठती हुई आग की लपटों के बीच जौहर के चंदन का अंगलेप करना इनका खेल रहा है। ऐसी साहसी गाथाएं यहां की धरती के कण-कण की थाती रही हैं . . .

ऐसे वीर पुंगवों को जब कभी भी फुरसत की क्षणिकाएं हाथ लगतीं, तभी उनकी कलात्मक अभिरुचि का वैभव अंगड़ाई ले उठता था। ठुमरी-दादरों और नृत्य की झंकारों के बीच मानसिक और दैहिक थकान समूची पिघलकर नयी स्फूर्ति ले लेती थी।

जयपुर की फिज़ा आज भी उन मादल स्वरों से महकती है। सूने जाली-झरोखों

के पीछे हंसी की चांदी की मीठी घंटिया-सी खनखना उठती हैं.. दबी-दबी कोई अबूझी-सी सांस-गंध कानों में चुपचुप बतियाने लगती है...

कितना वैभवपूर्ण रहा यहां के राजा-महाराजाओं का पराक्रम, कला, साहित्य और संस्कृति से भरपूर युग। इसके जीवित प्रमाण हैं ढेरों हस्तलिखित ग्रंथ, काव्य-सूक्तियां, पांडुलिपियां, भित्तिचित्र, स्थापत्य कला के चित्रित नमूने और सभागार। यह अलग बात है कि कुछ को आक्रमणों और युद्धों से मुक्ति नहीं मिली और कुछ को ऐश्वर्य का जीवन भोगने को मिला। फिर भी प्रस्तर-शिल्प, स्थापत्यकला, चित्रकला और संगीत-नृत्य कला को सभी के शासन-काल में प्रश्रय मिला। लेकिन इनका चरम-युग रहा महाराजा सवाई रामसिंहजी के काल में। जितने पराक्रमी, उतने ही कुशल शासक। प्रजापालक, समस्त कलाओं के संरक्षक और अपने समय के श्रेष्ठ कलावंत। सामंती परंपराओं के दायरे से बहुत आगे बढ़ा हुआ उनका उर्वर मस्तिष्क, उदारता से भरा विशाल हृदय। साहित्य, नृत्य और संगीत का दरिया ठाठे भरने लगा उनके ज़माने में। नाटक-कंपनियां उभार पर आ गयीं—एक से बढ़कर एक हुनरवाली नर्तकियां, जिनके बड़े ठाठ-बाट। कला की बा ीकियों की जानकारी। राजसी संरक्षण और प्रोत्साहन। सभी के पास अकूत धन, आभूषण, पोशाकें और जागीरें। इन्द्रपुरी को लज्जित करने वाले

शृंगारित एक नर्तकी

आवास। ऊंचे मिज़ाज और ऊंचे दिमाग—इनके ढेरों किस्से, हज़ारों मिसालें—क्या था इनका जीवन? कैसी थी इनकी कला-वंत शैली? राजाओं का वरदहस्त? मह-फिलों की रौनक और तहज़ीब कैसी थी? कैसी होती होगी उनकी साज-सज्जा और उनकी अभिरुचि?

देखें, क्या कहती है उस काल की तवा-रीख? बड़े-बुजुर्गों की आंखों के कुहासे में से टटोलने होंगे उस वक्त के नीलम-हीरक दृश्य... किले-दुर्ग के शीशमहलों, ज़नानी ड्योढ़ियों और दरीचियों के दिल कुरेद-कर छाननी होंगी सुबकती यादें.... जाने कौन-सी तौक-झूमर सर्द आहों में बुदबुदा उठे...

गजल-ठुमरी-आबशारों का ज़माना था,
चिलमनों में जन्नते-हूरे ज़माना था

गुलाबों की बस्तियों में धुआं उड़ता है,
नरगिसी आलम गाफ़िले-मन जमाना था।

हस्तलिखित पुस्तकें टटोलकर, बात करके पता लगाया है कि उस वक्त की नर्तकियां कला में सर्वांगीण पगी-पली होती थीं। बड़े रुतबे और ठसके की ज़िंदगी ... इन्हें अशोभनीय संबोधन नहीं, बल्कि इज्ज़तदार संबोधन दिया जाता था—'भगतण'। बताया गया कि शायद बहुत पहले देवदासियों की तरह कभी देवघरों में देवताओं की पूजा-सेवा के लिए, नृत्य-गायन के लिए इन्हें समर्पित किया होगा। शायद तभी से यह खिताब इनके साथ लगा। वैसे भी निम्नजातियों को हीन संबोधनों से नहीं, वरन काकी, ताई, बींदणी, सासू सा और भौजी आदि आत्मीय लगने-वाले संबोधनों से गांव, नगर और राज-धानी में पुकारा जाता था। इन भगतणों को बड़े-बड़े ठिकानों पर, रईसों सेठों के यहां और दरबार-रनवास में कला प्रस्तुत करनी होती थी, इसलिये बोलने-हंसने, उठने-बैठने-चलने, सलाम-मुजरे करने, अवसर के अनुसार पोशाकें, आभूषण, साज-शृंगार करने के सारे तौर-तरीके और तहज़ीब के तमाम नुस्खे बचपन से ही घुट्टी में घोलकर सिखाये जाते थे। राग-रागनियों की पहचान, गले की लचक, लय-मुरकियां, भाव-भंगिमाओं के शीरीं अंदाज़ कदम-कदम पर समझाये जाते थे। हुनर की पूरी सिलसिलेवार तालीम और फिर कसौटी पर खरा उतरने के बाद ही इन्हें महफ़िलों की संध्याएं सौंप दी जाती थीं।

महाराजा रामसिंहजी के ज़माने की नन्ही जान—नृत्य की एक मुद्रा में

सुर-सिंगार की झलकियां देखने के लिए बहुत पीछे लौटना पड़ेगा : उस वक्त का परकोटे और विशाल फाटकों से जड़े मुख्य द्वारों से घिरा जयपुर। बांहें फैलाये चौपड़ें। इत्र-फूलों की बिक्री। झाड़शाही ताम-झाम। ऊंट-बैल गाड़ियां। मुस्कराती हुई ईसर लाट। पहरे पर तैनात पगड़ियां-तलवारें। त्रिपोलिया, सिरह ड्योढ़ी, ज़नानी ड्योढ़ी। महल—जलमहल, चंद्रमहल, नाहरगढ़, मोती डूंगरी और आमेर—जाने कितने बेशकीमती ये हीरे जड़े थे इस नगरी की पोशाक पर। उन हज़ारों पुख-राज-पन्नों की गिनती कहां, जो इसकी सज्जा
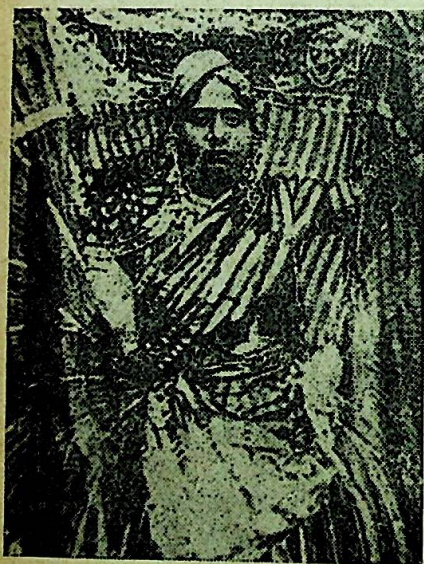
में टंके हुए थे . . . ! ज़माना महाराजा सवाई रामसिंहजी का। गुलाबी नगरी के गुलाबी घर-द्वारं, छज्जे-कंगूरे और गोख-जालियां-गुंबद सब कुछ गुलाबी। सेठों-रईसों की हवेलियां, टमटम-बग्घियां, नौकर-गुमाश्ते-चौकीदार-चोबदार, कबूतर-फाख्ता-मैना और तोतों के पिंजरे . . . घरों में राजस्थानी घाघरी, कुर्ती-कांचली ओढ़नों, ज़ेवरों में सज्जित कुलवधुएं। मर्दानी बांकी अदाओं में पुरुष वर्ग और बहुमूल्य पत्थरों के सौदे-हिफ़ाज़त करता हुआ विश्वप्रसिद्ध जौहरी बाज़ार। पतंगों के रंगीन पेंच और मुर्गों की प्रतियोगी लड़ाइयां। दिन का सूरज था तिजारती-सियासती और शामें थीं कसूंबी-शरबती...

असंख्य मंदिरों के घंटे गूंजने मंद पड़ते कि चूड़ीदार साटन पर घुंघरुओं की तहें-दर-तहें जमनी शुरू होने लगतीं। भगतणों को फुरसत थी कहां ? बड़े-बड़े अमीर-उमराव, सेठ-साहूकार, आला अफसरान अपने बच्चों को तहज़ीब की शिक्षा, अदब-कायदों की बाहरखड़ी सीखने-समझने के लिए इनके पास भेजते थे। त्योहारों, घरेलू शुभकार्यों पर, समारोहों पर, सार्वजनिक उत्सवों, जलसों, मनोरंजनों पर, धार्मिक रथ-डोले-सवारी, यात्राओं पर, जन्म-मुंडन-शादी-सगाइयों पर इन्हें अपने नृत्य-गायन को प्रस्तुत करना पड़ता था। घर की छतनारी सघन छाया के तले मर्द लोग सुख-चैन और खानदानी शान की मिठास पा सकते थे, लेकिन दिल को चौचीर करने
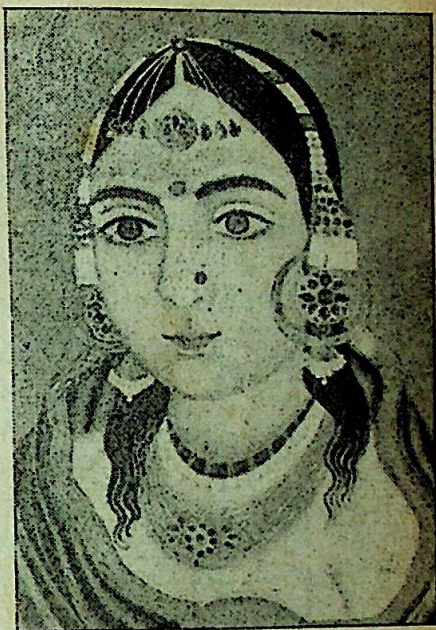
अमूल्य आभूषणों से अलंकृत

वाली दिलकश इच्छाएं—एक ही रंग-गंध-वाली ज़िदगी की थकान को धज्जी-धज्जी करने वाली उत्कट लालसा और घर से बाहर निकल दूसरी सीढ़ियों पर चढ़कर बेबाक, निरापद और अल्हड़, मगर तह-ज़ीबी वरकों में लिपटी सुगंध से दो-चार होने की निछावरी कामना लेकर जब यही मर्द लोग (जो सही अर्थों में संगीत-नृत्य-सौंदर्य और आशिकी के दीवाने होते थे) भगतणों के यहां आ बैठते थे, तब इन्हें यहां की महफिलों को भी गुलज़ार करना होता था।

नृत्य-संगीत और नाटकों में गहरी

जानकारी और अभिरुचि रखने वाले महाराजा सवाई रामसिंह के संरक्षण में इन भगतणों की कला चर्मोत्कर्ष पर थी। कला और कला-पारखियों में होड़ लगी हुई थी। महाराजा साहब ने एक थियेटर की स्थापना की थी—रामप्रकाश थियेटर। दूर-दूर से नाटक कंपनियां वहां आती थीं। उल्लास-उमंग का दरिया बहता था। नृत्य - कला और संगीतात्मक संवाद-शैली वाले नाटक, नौटंकियां और कथा-विलास-लीलाएं हुआ करती थीं। रंगमंच तथा थियेटर की सजावट की निराली ही धज होती। सुनते हैं कि रैंगरों की कोठी-हवेली वाली जो नन्ही-मुन्नी भगतणें थीं, जिनका नृत्य-गायन और तबके-तहज़ीब स्वयं महाराज को बहुत प्रिय थे, इनसे उनका बड़ा

एक अनाम नर्तकी

गहरा नज़दीकी रिश्ता था। इनके बड़े-बड़े रंगीन और नाज़ोअदाओं वाले चित्र इस रामप्रकाश थियेटर के दोनों ओर लगे रहते थे। राजसी सजावट के ये अभिन्न अंग थे। इन सभी उच्च स्तर की भगतणियों का रूप-लावण्य, पोशाकों का चुनाव और आभूषणों का वैभव कुछ इतना कशिशवाला था कि लोग इनके चित्रों को अपने घरों की दीवारों पर लगाना फख्र समझते थे . . . रईसी और जिंदादिली का प्रतीक-जैसे आजकल आधुनिक चित्रों की सज्जा अच्छे स्तर की पहचान बन गयी है। नन्ही और मुन्नी की पोशाकें बड़ी खूबसूरत और कीमती होती थीं। सलमे-सितारों से जड़े सुनहरी तारों का काम, हवा से हल्के सत-रंगी दुपट्टे, चुन्नटों में कसा चूड़ीदार पाय-जामा, किमख्वाब की पट्टी लिये पिश-वाज़। माथे पर चंदनिया-पिंगल लेप, नगीनों से दिपदिपाते झूमर-बेसर-नथनी। गर्दन छूते हुए कर्णफूल-बुंदे। एकलड़ा, सतलड़ा, चौक-लड़ी हार। हथफूल, हीरे-माणक जड़े चूड़े-कंगन, लहराती गुच्छे-घुंडीदार करधनी, स्वर्ण-पायलें, झांझर-कड़े, सभी कुछ लाजवाब और लकदक। महफिलों के शौकीन और कलात्मक अभि-रुचिवाले लोग लहापोट रहते इनके गायन पर . . नाच-नखरों पर . . अशर्फियों की थैलियां लुट जातीं . . पैसों की बरसात और चांदी के फर्श पाट दिये जाते . . . एक दूसरे से बढ़कर रईसी का प्रदर्शन . . . मूंछों की इज्ज़त का प्रश्न . . . स्वाभिमान टक-

रातें . . ईर्ष्याएं धधकतीं . . प्रतिद्वंद्वी आंख की किरकिरी हो जाते। दिल कहीं जुड़ते, कहीं फटते । नाज़नीनों की नज़रों की बुर्जियों पर चढ़ने के लिए जाने कितने वारे-न्यारे होते । किस-किस की टोपियों और पगड़ी-साफों के पेच खुलते-बंधते, मगर घुंघरू उसी मस्ती से छनछनाते रहते ... शिकायतों भरे शोख अंदाज़ यों ही नेह-मोह की गांठें कसते-मरोड़ते रहते ।

'आसमानों की बुलंदी, सितारों के ये महल—यों ही खिलते रहेंगे हंसते नज़ारों के कंवल . . . ' मशहूर शायरों की गज़लों से वातावरण केवड़ा हो उठता था। शानदार शेरो-शायरी, पक्के राग और शास्त्रीय-संगीत—आवाज़ में सोज़ और अंग-संचालन में बला का लचीलापन। अमीर-उमरावों, ठिकानेदारों-ज़मींदारों से लेकर राजा-महाराजाओं के मन चंपई हो उठते। एक-एक शब्द, हावभाव मुग्ध कर डालता । जहां तहज़ीब और संगीत का रंग चटकीला होता, वहीं बड़े लोगों की आमदरफ्त अधिक रहती । समय भी कुछ ऐसा था वह कि जिसके पास सौंदर्य और संगीत होता था, वही ज्यादा रुतबेवाली मानी जाती थी । भगतणों के पास बैठना, अपने अधिकार में रखना, संगीत-नृत्य में शरीक होना बहुत बड़ी बात मानी जाती थी उस वक्त के धनाढ्य वर्ग में ।

जो बेहद प्रसिद्ध नर्तकियां थीं, उनके यहां राज्य के उच्चकोटि के अधिकारी बेनागा शाम को आते थे । कितने ही

चिलमन से झांकता गायकी सौंदर्य

पोशीदा कार्य, रियासत के छोटे-बड़े काम । उलझे हुए मसले, षड्यंत्र, रैयत के दुख-दर्दों की फरियादें वहीं पर हल होतीं । बड़ी गौहरजान का निवास स्थान ऐसा ही था । नवाबों, रईसों और रियासत के अहलकारों का दिमाग बड़ा सुकून पाता, यदि आने वाली फरियादी भीड़ में कुछ ऐसे चेहरे भी होते, जिन पर उनका रौब गालिब हो, कि गौहरजान का संगीत सुनना कोई हंसी खेल नहीं है! ऐसे रईसों, अहलकारों के घमण्ड का क्या कहना था !

गौहरजान के यहां ऐसा इंतज़ाम होता था कि महाराजा साहब तक को कोई

शिकायत न रहे । अमीर-उमरावों की शान में कमी न आये । खस-इत्र का छिड़काव, रेशमी पर्दों की झालरें मोतियों की बानगी देतीं, रंगीन झल्लरवाले बड़े-बड़े पंखे आतिशदानों में गमकते गंध-चूर्ण . . . कलाबत्तू और ज़री के डोरों से कसी फर्शियों की नहें, मीनाकारी का हुक्का, मोगरे-केवड़े का पानी और सुगंधित तंबाकू की मदहोश फुहारें . . . कलात्मक पच्चीकारी की चांदी की लड़ियां लटकाये जालीदार चिलमें और अंगारों के दहकते पलाश। कुशल साज़िंदों के साजों पर थिरकती उंगलियां । पुखराज, नीलम, हीरे-पन्नों से दमदमाती परछाइयां, कालीनों पर बिछलते पांव; मसनदों पर मुग्ध पड़ी रईसी की खुमारी और सलमे-सितारों की बगदादी टोपी लगाये गौहरजान. . . ज़र्क-बर्क लिपटे, गुलाबजल से महकते कारचोबी तश्तरियों में मुस्कराते लालम-पान, मूंगे की डलियों-सी सुवासित छालियां और गोटे की फुलकारियों में रेशमी सरकफूंद के झब्बे टांके रेशमी थैलियां, बटुए . . . जिनमें लौंग, इलायची और खोपरे-मिश्री के टुकड़े शहद उंडेलते रहते। नाच-गायन के साथ-साथ हंसी-चमगोइयां भी चलतीं । पहेलियां और अंताक्षरियां भी । शतरंज-चौपड़ भी । गौहरजान के माध्यम से फरियादें पहुंचतीं, काम बनते, काम बिगड़ते—जिस पर शहतूती निगाह, वहीं किला फतह ... नवाबों, अमीरों, उमरावों की पूरी तमीज़ के साथ खातिर। सलाम-दस्तूर और नृत्य की हरेक घुमेर पर, ठुमरी के हर बोल पर प्रशंसाओं के गुलमोहर झर उठते, दौलत की वर्षा हो उठती । कसूंबी के प्यालों में सागर लहरा उठता । आंखों के कटोरों में महुआ लहकने लगता । पलकों की झील में हज़ार रंगों की नशीली कश्तियां लहलहाने लगतीं । ठिकानों के सरदारों की भौंहें तलवारों-सी खिंच उठतीं । राजपूती चेहरों पर गर्व-खुशी और ऐंठ के इंद्रधनुष तने रहते थे—सभी गुणीजन, पारखी। एक शायरी का टुकड़ा-मुखड़ा उछाल दिया जाता कि बंदिशें चलने लगतीं. . . गुलाबी शामें सुरमई रात में उतरने लगतीं, महफिलों के रंग और गाढ़े हो उठते। गौहरजान की खुदकी बड़ी शानशौकत. . . सभी में इज्ज़त . . .

महाराजा माधोसिंह के युग में खवासजी, जो रियासत के दबंग अधिकारी थे, इन्हें भी संगीत में बड़ी दिलचस्पी रही। इनके ज़माने की प्रसिद्ध नर्तकी बेनज़ीर इनकी अंतरंग रही—संग-साथ में भी और कामकाजी मामलों में भी । रुतबा ऐसा कि नज़रों की गर्वीली कटार के सामने हर चीज़ तुच्छ. . .मुझे बताया गया कि दयालु, प्रजा के दुख-दर्द को दूर करने में व्यस्त, धार्मिक भावनावाले, गंगाजल का सेवन करनेवाले, कुशल शासक महाराजा माधोसिंहजी भी केवल दुर्गा के गायन से दिली प्रसन्नता से भीग-भीग जाते थे । इसके हुस्न-हुनर में कुछ ऐसी बात थी कि महा-

राजा की नज़र को बांध लेती थी। वरना उनके महलों, ज़नानी ड्योढ़ियों, नाहर-गढ़ के किले में और चंद्रमहल में न जाने कितनी नर्तकियां-पासवानें नज़रे-इनायत पाती थीं। दौलत-पेटी, नज़राने, जागीरें, पोशाकें और आभूषण उन्हें बंधे हुए थे, दैनिक भोजन-भत्ता मिलता था। श्रृंगारित सौंदर्य उनका दर्पण निहारता हुआ इसी प्रतीक्षा में उम्र गुज़ार देता कि कब महा-राज पधारें? किसी दूसरे मर्द-बच्चे की पहुंच उस सरहद में नहीं हो सकती थी।

बाज़ारों में शामों के किस्से बड़े चट-खारे ले लेकर भुनाये जाते—तंदूर, फूल-वाले, पानवाले, रमजानी-फकीरे, रंगरेज़-भटियारे, इत्रफरोश, संगतराश, चूड़ों पर जड़ाव करनेवाले, तीतर-बटेरवाले, पतंगची-तंबोली ... सफेदपोश साहबों के ओंठों तक फिरदौस की गज़लों के मिसरे मिश्री की गिलौरी से घुला करते थे। फूटे खुरेंवाली फिरदौस की अदायगी में कमाल की मुश्की थी। गाने में बरसाती बूंदों-सी रिमझिम ... कितने दीदावर तो उसकी स्वरलहरी मात्र सुनने के लिए सड़क पर, गली-खिड़की के आसपास घंटों मुग्ध बने खड़े रहते थे। कितनों के बीच उसके नाम पर, गाने-नाचने की कला को लेकर मल्लयुद्ध तक हो उठते थे।

वह ज़माना ही कुछ और था। राज-दरबार, ज़नानी ड्योढ़ी और राजा की खास महफिलोंवाली नर्तकियां मामूली नहीं थीं। इनका स्तर राजसत्ता और

एक सांवला सलौना अन्दाज़

महाराजा के स्तर के अनुसार ही होता था। बड़े अदब-कायदे और नियम-अनु-शासन। राजमांड और पनिहारी-कलाली, ओल्यू के बिरहा गीत जिस समय गुलाब, छोटी-बड़ी गौहरजान, नन्ही-मुन्नी, धन-कुंवर, मैना-चमेली, पुखराज-शहज़ादी, चंदा-बिब्बो और बेनज़ीर-पारो गाती थीं—शर्बत बरसता था ... दिलों पर बिजलियां मचलती थीं ...

रनवास—ज़नानी ड्योढ़ियों के रंग-महलों में इन उच्चस्तर की नर्तकियों का, वारांगनाओं का प्रवेश था, जहां केवल राजा ही जा सकता था। इन अंतःपुरों में, रावलों में रानी-महारानियों का मनोरंजन,

दिलबहलाव करने के लिए संगीत, अभिनय-कला और नृत्य में पारंगत ये ही जाया करती थीं। उचित पारिश्रमिक धन, ज़ेवर, बहुमूल्य पोशाकें और गाड़ी-बग्घी के रूप में प्राप्त करती थीं।

इनमें भी वर्ग-श्रेणियां थीं। कुछ केवल राजा द्वारा पसंदीदा होती थीं, जिन्हें राजा साहब को प्रसन्न करना होता, अपनी श्रेष्ठ कला का प्रदर्शन इन्हीं के समक्ष पेश करना होता था। कुछ रानियों-महारानियों के द्वारा चुनी हुई खास रुतबेवाली होती थीं, इनका काम रंगमहलों की ज़नानी महफिलों में सुर और साज़ का दरिया बहाना होता था। जब कभी महाराजा साहब का दिलबहलाव का ठाठ अंतःपुर में लगता, तब दोनों वर्गों की नर्तकियां होड़ ले-लेकर अपनी-अपनी कला का रस निचोड़कर छिड़क देती थीं। उस समय राजमाता, पटरानी-महारानी और रानियां-परदायतें सभी वहां राजा के चारों ओर प्रभामंडल बनी शोभित रहती थीं। इन्हें राजा की ओर से पूरा खर्चा बंधा हुआ था। इनकी अपनी बांदियां, दासियां और कपड़ों, ज़ेवरों, धन-दौलत की देखभाल के लिए चौकीदार होते थे। गौहरजान की आवाज़ 'उदैपुर री कांचली, जोधपुर रो चूड़लो... जैपुर रो रंग-लहरियो सायबा, मेंहदी ब्यावर देस री' जब हवाओं में रेशम-सी लहराती थी, तब रानी-महारानियों की पलकों पर केसर-कस्तूरी के रंग गहरा उठते थे।

रूप-सौंदर्य और बुद्धि में इनकी तुलना नहीं थी। चौंसठ कलाओं की रजनी-गंधाएं थीं। कभी-कभी ये राजा-रानियों के साथ चौपड़, शतरंज, और आंख-मिचौनी भी खेलती थीं। सुना है कि किसी राजा को यह शौक था कि शतरंज की मोहरों के स्थान पर इन्हीं को बैठाया, चलाया जाता था—सजीव खेल! राजाजी की तबीयत जब बसंती होती... नज़रों में जब सरसों फूल जाती... सांसें महुआ और ओठों पर कंधारी अनार बौराने लगते थे, तब 'घूमर' का नृत्य शीशमहल के रंगीन कांचों में दमदमाने लगता था। ज़री, सितारे किंगड़ी, सुनहरी ताराकशी-आरातारी में गुंथी कुर्ती-कांचली-घाघरी और ओढ़नी में इन लोगों का रूप-सौंदर्य निखरकर चंद्र-कला बन जाता। ये तहज़ीबयाफ्ता नर्तकियां गायन-नृत्य कला के साथ-साथ रचनात्मक रुचियों के वैभव से भी संपन्न होती थीं। मोहनराय एकांत मिलने पर बहुत मार्मिक काव्य रचती थी। इसने 'क्रीड़ा-विनोद' नाम की एक कविता की रस-सर्जना की थी। गुलाबजल से ठंडे किये चांदी-सोने की नलियोंवाले हुक्के, गुलेनार की नक्काशीदार तश्तरी में चांदी-सोने के वर्कों में लिपटी पान की गिलौरियां, कमल पत्तियों की माणक जड़ी चुस्कियों में कसूंबा-कस्तूरी और बनारसी दुपट्टों से प्राण चुराते झिलमिलाते ज़ेवरों के मनुहारी आमंत्रण... मखमली कालीन पर फुदकते फाख्तई मखमूरी कदम... अजीब नशीला

आलम . . . ऐसे नरम-कोमल नखरीले अंदाज़, ऐसी पारदर्शी शंख-ग्रीवाएं कि जल भी उतरे तो सरसराता दिखाई दे। गुलवदनी नज़रों के रतनारे कटाक्ष। ख़स, हिना, चंदन और केवड़ों में डूबे पर्दे, तरह-तरह के अफीमी दौर 'डूंगर पे छाई काली बादली, आज न ज्यासा म्हारा सायवा . . . थाने पिलावां दारूड़ो सारी रात ... बरसन लागी अंगना बादली . . .' बाजूबंद, झूमर और टेवटे के मोती-गुच्छे जलतरंगी होने लगते थे, चुटीलों की नाग-वेणी के रेशमी-कलावत्तू-बंधं, इज़ारबंद के तिलड़े, मोती की लड़ियों में कसे रेशमी झब्बे-झुमके लहरा उठते थे। चांदी की पुतलियोंवाले पायों पर कसी चौकियां। उन पर पन्ने-बिल्लौर के प्याले, हवाओं की तितलियां छेड़ते मोरछले, शिकायतें, फरमाइशें और मनुहारों में भीगती-उतरती शामें-रातें . . . आसावरी, भूपाली, छायानट, मालकोश, तैलंग, देस और भीमपलासी की मदिर-मदिर रागनियां . . . मदहोश थपकियां देते रसिक क्षण ... मींड़, गमक और मुरकियों की रसीली रंगतें ... ज़ायका बदलने के लिए चलता था कभी-कभी टप्पा, चैती, ठुमरी, कजरी, होली और पूरबी का दौर।

ये सभी नर्तकियां समय की नज़ाकत और नब्ज़ की बड़ी बारीक पकड़ और पहचान रखती थीं। शिष्टता, कोमल स्वरों में वाक्पटुता, हास्य-व्यंग्य तथा हाज़िर-जवाबी में भी ये बड़ी मंजी हुई होती थीं। इनकी अपनी-अपनी पुश्तैनी शैलियां होती थीं गायन की . . . अद्भुत सांचे में ढली-ढरकी गहराई-गहराई आवाज़ . . . ठुमरी-दादरे-गज़लें गाते समय अजीब-सा लोच। दर्द, व्याकुलता और टीसती मुरकियां—महफिलों में जब मर्मग्राहिता का वातावरण होता, गुण-पारखियों की दृष्टियों में प्रशंसा के पारिजात विहंसने लगते, तब ऐसी परिष्कृत रुचियों के सामने ये नर्तकियां नृत्य-गायन के और भी बारीक-गूढ़ भाव प्रदर्शित करती थीं।

आज तो यह सब स्वप्न है...पुरानी यादों की सुगंध, जैसे डायरी के पृष्ठों में रखे फूलों की सूखी पत्तियों की पुरनम गंध ... किस्से-दर-किस्सों की चुन्नटदार पुड़ियों में बांधकर सुधियों के ये खमीरे देनेवाले भी धीरे-धीरे ज़िंदगी के सफर से गुज़रते जा रहे हैं। रह जायेंगे केवल पृष्ठों पर अंकित सामंती आंकड़े और चित्रों में रेखांकित यौवन-शृंगार-कला के मूक-मुखर युग-इतिहास। रह गये है केवल बीते क्षणों के स्वप्न और पुरानी अदायगी के मुखड़ों-धुनों की रस गंध —

सिरहाने खिड़की पर जब चुपचाप चांद
उतरता होगा,
सपनों की बस्ती से ज़रूर कहीं कोई
गुज़रता होगा।
दूधिया चांदनी में नहायी हुई नर्गिसी
खुशबू थी जहां,
घड़ी भर ही सही मगर मौसम वहां
ठहरता होगा।

—महावीर हा. से. स्कूल, सी. स्कीम, जयपुर

□
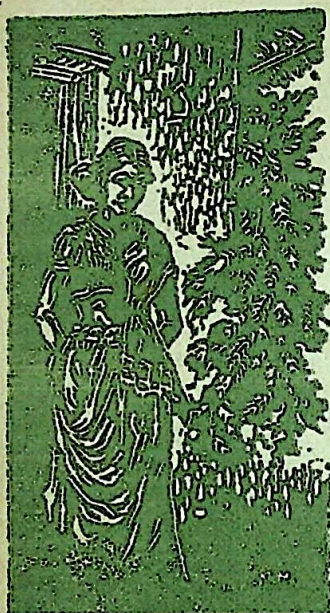
शशि कुक्रेजा
की
दो कविताएं

अंदाज़, जीने का

ओह आकाश !
तुमने धरती को प्यार किया है
और धरती
तुम्हारी नज़रें
आकाश पर टिकी हैं
तुम दोनों जानते हो
मानते हो
क्या हो तुम एक दूसरे के लिए ?
तुम्हारा नाम जुड़ा है साथ-साथ
एक ही प्रकृति
एक ही देवत्व
के प्रतीक हो तुम
परंतु तुम्हारा नाता आंसुओं से आगे
कभी नहीं बढ़ पाया
आकाश और धरती
धरती और आकाश
दोनों ने
एक दूसरे से
महज़ जल ही पाया ।

आकाश

हम तो तेरे साथ
कहां-कहां हो आये
और तू
एक पल भी न उतरा
हमारे दुःख में !
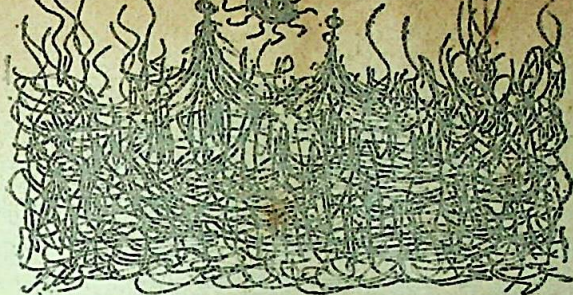
डा. लखनलाल सिंह आरोही की मार्मिक हिंदी कहानी

सलीब पर लटकती मुस्कान

'सो जाओ, राधे !' बिछावन पर थोड़ी ही अंतराल पर बार-बार करवट बदलती अपनी बेचैन पत्नी को कोठरी में छाये सन्नाटे को तोड़ते हुए सुधाकर ने कहा।

राधा को आज ही विभाग से स्थानांतरण-आदेश का पत्र रजिस्ट्री डाक से मिला था। उसको इसका आभास पहले ही मिल चुका था। लिफाफे पर विभाग की मुहर देखते ही राधा समझ गयी कि पत्र में क्या है। तभी से वह बेचैन और उद्विग्न मानसिकता में जी रही थी।

विद्यालय के प्रधानाध्यापक के सेवा निवृत्त होने के बाद राधा विद्यालय की प्रभारी बनी। विद्यालय की वह सबसे वरीय शिक्षिका थी। वह आदर्शों से प्रेरित थी। इसलिए वह अपने प्रभार-काल में विद्यालय को एक आदर्श संस्था के रूप में परिणत करना चाहती थी। आदर्शों से प्रेरित राधा को ज्ञात नहीं था कि जीवन में आदर्श के मार्ग पर चलना अपने कंधे पर सलीब लेकर चलना है। आदर्श के मार्ग पर चलने का व्रत यथार्थ के लिए असह्य होता है। जीवन के यथार्थ आदर्श को चक्रव्यूह के समान घेर लेते हैं। आदर्शों के मधुर स्वप्नों में खोयी राधा जीवन के कटु यथार्थ के बोध से सर्वथा अनभिज्ञ थी।

राधा ने विद्यालय का सर्वांगीण विकास करने का दृढ़ संकल्प कर लिया था। पहले उसने विद्यालय के प्रशासन को चुस्त करने के लिए कदम उठाया। विद्यालय में प्रायः शिक्षक अनियमित रूप से आया करते थे। बिना प्रशासन को चुस्त किये विद्यालय का कायाकल्प नहीं हो सकता था। राधा ने शिक्षकों को नियमित रूप से विद्यालय आने के लिए कहा, तो संतोष का अहं-सर्प फण फनफना उठा। संतोष स्टाफ में सबसे बहका शिक्षक था। वह हीन-ग्रंथि का भी शिकार

था। किसी शिक्षिका द्वारा शासित होना उसके लिए असह्य था। वह कभी नियमित रूप से विद्यालय नहीं आता था। कभी तो वह महीनों विद्यालय से फरार रहता था। राधा द्वारा उसे नियमित रूप से विद्यालय आने के लिए कहना एक खुले सांड़ को नाथने का दुस्साहस करना था। उस पर गांव के कई दादा किस्म के लोगों का हाथ उसकी पीठ पर था।

वस्तुतः राधा चक्रव्यूह में घिर गयी थी और गांव के महारथियों ने संतोष के संकेत पर अपना-अपना ब्रह्मास्त्र चलाना आरंभ कर दिया था। संतोष ने राधा के विरुद्ध झूठे और मनगढ़ंत आरोप लगाकर विभाग से पहली बार विद्यालय से स्थानांतरण करवा दिया। वह जानता था कि जब तक राधा विद्यालय में रहेगी, उसकी मनमानी नहीं चलेगी। परंतु इन आधुनिक कौरवों का षड्यंत्र सफल नहीं हो सका। राधा के स्थानांतरण के विरुद्ध अर्पित अभिवेदन पर उसके विरुद्ध लगाये गये आरोपों की पुनः विभागीय जांच की गयी। और सारे आरोप निर्मूल पाये गये। राधा का स्थानांतरण रद्द हो गया।

पाप पराजित होकर भी पराजित नहीं होना चाहता। पराजय उसमें घोर प्रतिक्रिया उत्पन्न कर देती है। पाप पराजित होकर अपने में सुधार नहीं करता। पराजय से कोई सबक नहीं लेता। वह और उग्र हो उठता है। संतोष ने इस बार और घातक प्रहार राधा पर किया। दादाओं के संयुक्त प्रयास से इस बार संतोष ने राधा के चरित्र पर उंगली उठाते हुए विभाग को उकसाया। विभाग ने इस बार पुनः राधा का स्थानांतरण कर दिया। राधा का रहा-सहा विश्वास विभाग से उठ गया।

'मुझे विभाग से न्याय की अब कोई आशा नहीं।'

'नहीं, राधे, ऐसी बात नहीं। सत्य धीरे-धीरे प्रकट होता है।'

'ऐसा न्याय क्या, जो विलंब से मिले!'

'इसलिए तो मूल्यों को जीवन में अपनाने वाले को धैर्य धारण करना पड़ता है। सत्य और असत्य के संघर्ष में पहले असत्य जीतता मालूम पड़ता है। यह जीत क्षणिक होती है। और फिर सदा के लिए असत्य मार्ग से विदा ले लेता है। हारता हुआ सत्य अंत में विजयी होता है और जीवन में स्थायी रूप से बना रहता है।'

'मुझे तो लगता है, यह चक्रव्यूह सदैव बना रहेगा!'

'भूलती हो, राधे! प्रत्येक चक्रव्यूह टूटता है, प्रत्येक सत्य चक्रव्यूह से घिरकर और तेजस्वी बनकर बाहर आता है और संतोष मारा जाता है।'

सुधाकर को लगा कि किसी की मुस्कान सन्नाटे की दराड़ों में अचानक आयी बाढ़ के समान भर गयी हो और अंधकार कांप गया हो।

—शंकरशाह, विक्रमशिला महाविद्यालय,
कहलगांव (पो.), भागलपुर (बिहार)

□

दान का सुख

स्पेन में अतुलित संपत्तिवाला एक मनुष्य रहता था। उसके बारे में प्रसिद्ध था कि वह इतना कंजूस था कि जीवन में न तो उसने कभी अच्छा खाया, न कभी अच्छा पहना। दान में कभी उसने किसी को फूटी कौड़ी भी न दी थी। वह मंदिर जाता था, केवल भगवान से मांगने के लिए। एक बार जिस नगर में वह रहता था, वहां महामारी का भयंकर प्रकोप हुआ। हज़ारों लोग मरे। स्त्री-बच्चे निराश्रित होकर गलियों में भटकने लगे।

उसी नगर में एक महात्मा रहते थे। उनसे नगरवालों की यह दुर्दशा देखी न गयी। निराश्रित मनुष्यों की सेवा के लिए महात्माजी निकल पड़े। उन्होंने लोगों से चंदा एकत्र किया और उसी से अनाज और वस्त्र खरीदकर पीड़ित मनुष्यों में बांटने लगे। मगर पीड़ितों की संख्या ज्यादा और एकत्र किये गये धन की राशि कम थी, काम चलता भी कैसे?

महात्माजी धनिकों के पास सहायता के लिए गये, किंतु वहां से उन्हें उतना धन नहीं मिला, जितनी उन्होंने अपेक्षा की थी। महात्माजी सोच में पड़ गये। अंत में उन्होंने एक युक्ति ढूंढ़ ही निकली। वे नगर के उस महाकंजूस धनिक के पास गये और उससे बोले–'श्रेष्ठि, तुम मुझे दान में कुछ नहीं दो, केवल दस हज़ार रुपये का एक चेक शाम तक के लिए दे दो। शाम को मैं तुम्हारा चेक वापस कर दूंगा।'

'शाम तक के लिए चेक लेकर क्या करोगे?' कंजूस ने आश्चर्य से पूछा।

'तुम नगर के बड़े सेठ हो और बड़े कंजूस भी, जब मैं तुम्हारे चेक को दिखाऊंगा, तो मुझे विश्वास है, दूसरे धनिक सोचेंगे कि जब तुम जैसे कंजूस दस हज़ार दे सकते हो, तो वे क्यों नहीं। ऐसे तुम्हें बिना दिये ही दान का पुण्य मिल जायेगा।'

कंजूस सेठ ने सोचा, सौदा तो नफे का है। बिना कुछ दिये नाम भी होगा और पुण्य भी। उसने तुरंत दस हज़ार का एक चेक दे दिया। जैसी आशा थी, वैसा ही हुआ। उस चेक को देखकर धनिकों में होड़-सी लग गयी। शाम तक हज़ारों रुपये एकत्र हो गये।

शाम हुई। महात्माजी उस कंजूस का चेक वापस करने आये। मगर कंजूस ने चेक वापस लेने से साफ़ इंकार कर दिया। महात्माजी तो दंग रह गये। वह कंजूस दस हज़ार दान दे देगा, ऐसी उन्होंने कल्पना भी नहीं की थी। उन्होंने उससे पूछा कि वह चेक वापस क्यों नहीं ले रहा? तो उसने कहा–'आज तक मैंने दान की महिमा नहीं जानी थी। जब से मैंने चेक दिया है, प्रशंसा और बधाई देनेवालों का तांता मेरे घर लगा हुआ है। आज जैसा सुख मिला है, वैसा कभी नहीं मिला।' इतना कहकर उसने एक और दस हज़ार रुपये का चेक काटकर महात्मा को दे दिया। —डा. गोपालप्रसाद 'वंशी'

□
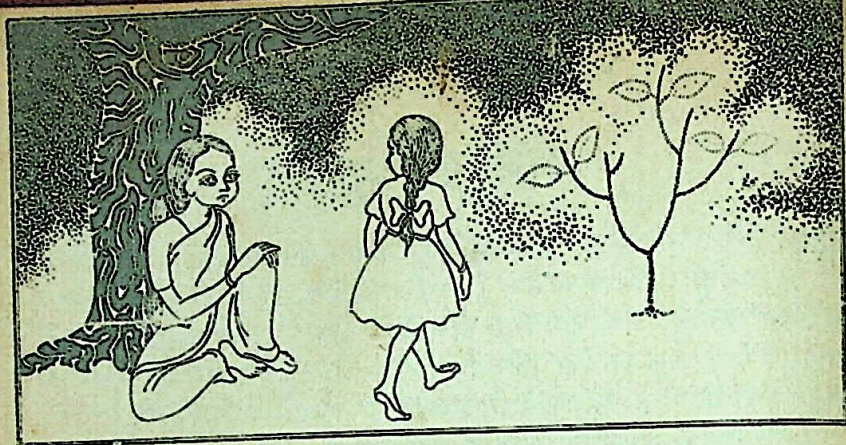
सुखबीर की रोचक बोधप्रद बालकथा

□

रोशनी का पौधा

पुष्पा ने देखा, सामने एक पौधा खड़ा था, जिसके पत्तों से रोशनी फूट रही थी। वह ठिठककर वहीं खड़ी हो गयी और उस पौधे को एकटक देखने लगी। वह उसे रोशनी का पौधा प्रतीत हुआ। फिर, उसे लगा कि उसकी प्रत्येक टहनी पर जो दो-दो पत्ते थे, वे आंखों की शक्ल के थे। और वह पौधा अपनी उन हरे रंग की आंखों से जैसे चारों ओर देख रहा था और धीरे-धीरे लहराता हुआ रात के अंधेरे में जगमगा रहा था।

पुष्पा कुछ देर उसी प्रकार हतप्रभ-सी खड़ी उसे देखती रही। तभी उसके मन में आया कि पास जाकर उसे देखे। पर वह आगे बढ़ने का साहस न कर पायी। वहां पास ही जो श्मशान था, उससे उसे डर लगा। वहां तो वह दिन के समय भी जाने से डरती थी। उसने गांव की स्त्रियों से सुना था कि वहां चुड़ैलें रहती हैं।

लेकिन उस पौधे का ऐसा आकर्षण था कि पुष्पा को पता ही न लगा कि वह कब अन्यमनस्क-सी बनी आगे बढ़ गयी और अब उससे कुछ ही दूर खड़ी थी। उस समय पौधा और भी जगमगाने लगा था। तभी पुष्पा के ओंठ फड़के और उसने जैसे खुद से कहा, 'अरे यह रोशनी का कैसा पौधा है!'

'हां, रोशनी का पौधा है यह, क्योंकि इसके पत्तों में किसी मां की आंखों का नूर झलक रहा है।' कहीं पास ही से आवाज़ आयी। पुष्पा ने भयभीत होकर इधर-उधर नज़र दौड़ाई, तो कुछ दूर पर एक पेड़ के नीचे बैठी एक स्त्री को देखा।

'हां, इसके हर पत्ते में से किसी मां की

आंखों का नूर झलक रहा है,' स्त्री ने कहा। 'और इसकी जड़ों में किसी मां के बेटे की राख है।'

'और तुम कौन हो ?' पुष्पा के मुंह से निकला। उसे लगा कि कहीं वह कोई चुड़ैल न हो। पेड़ तले के मद्धिम-से अंधेरे में वह साफ तौर पर दिखाई नहीं दे रही थी। पुष्पा ने गौर से देखा, तो उसका गोल-सा उदास, गोरा चेहरा उसे डरावना न लगा, वल्कि किसी हद तक दयनीय और प्यारा-सा लगा। और उसकी छोटी-छोटी आंखें ऐसे चमक रही थीं, जैसे हल्की-सी राख के नीचे दो चिनगारियां दबी हुई हों। तभी अचानक पुष्पा को लगा कि वह किसी हद तक उसकी मां से मिलता-जुलता चेहरा था।

'डरो नहीं,' स्त्री ने बड़ी नर्म आवाज में कहा, 'मैं चुड़ैल नहीं हूं। बस, एक साधारण स्त्री हूं।'

'यहां बैठी क्या कर रही हो ?'

'बस, बैठी हूं। इस पौधे को देख रही हूं। लगभग रोज़ ही यहां आया करती हूं और इसे देखा करती हूं।'

'पर कितना अजीब-सा पौधा है यह !' पुष्पा ने कहा। 'और तुम कह रही थीं कि इसकी जड़ों में किसी के बेटे की राख है ! मैं समझी नहीं। उसकी राख यहां कैसे आ गयी ?'

'आओ, यहां आकर बैठो। मैं तुम्हें बताती हूं।'

पुष्पा आगे बढ़ने से झिझकी, पर फिर साहस करके उसके पास जाकर बैठ गयी।

'बड़ी प्यारी लड़की हो।' स्त्री ने उसे ध्यान से देखते हुए कहा।

सुनकर पुष्पा को खुशी हुई।

स्त्री कुछ क्षण चुप बनी उस पौधे की ओर देखती रही। फिर, उसने कहा, 'हां, तो उस राख के बारे में बताऊं। इस गांव में एक मां का बेटा युद्ध में मारा गया था— अभी कुछ साल पहले हुए युद्ध में। उन दिनों तुम बहुत छोटी रही होगी। मुश्किल से तीन-चार साल की। मोर्चे पर लड़ता हुआ वह बुरी तरह जख्मी हो गया था।'

'बहुत बहादुरी से लड़ा होगा ?' पुष्पा ने कहा।

'हां, वह बचपन से ही निडर और साहसी था। एक गोली उसके सीने में लगी थी और दूसरी दायें कंधे में। उसे मोर्चे पर से अस्पताल पहुंचाया गया। पर उसकी हालत बहुत खराब हो चुकी थी। तीसरे दिन उसने जान दे दी।'

'कहीं वह बच जाता, तो कितना अच्छा होता !' पुष्पा ने कहा। 'कितनी शान से गांव आता।'

'आया तो वह शान से ही था, पर जिंदा नहीं। उसकी लाश के साथ बहुत बड़ा जुलूस निकला था। और लोग उसके नाम के नारे लगा रहे थे।'

'पर उसकी मां तो बहुत रोयी होगी ?'

'हां, रो-रोकर उसकी आंखें सूज गयी थीं। पर वह अकेली ही नहीं, गांव के लोग भी रोये थे। उनके दिलों में दुख भी

था और गर्व भी। पर मां के दिल में दुख ही दुख था। वह ज़ार-ज़ार रोती हुई छाती पीट रही थी, सिर के बाल नोच रही थी। लोग उसे जितना ही धीरज़ देते, चुप कराते, उसका रोना और ज्यादा बढ़ता जाता। अपने इकलौते बेटे को खोने पर उसे चारों तरफ अंधेरा ही अंधेरा दिखाई दे रहा था। और वह कहती, 'हां, प्रकाश, मेरे अंदर-बाहर अंधेरा फैला गया है! मेरी सारी दुनिया ही अंधेरी कर गया है!'

'प्रकाश कौन?' पुष्पा ने पूछा।

'प्रकाश—उसका बेटा,' स्त्री ने कहा और पौधे की ओर देखने लगी।

'फिर?'

'फिर?—क्या कह रही थी मैं?'

'कि उसके अंदर-बाहर अंधेरा फैला गया था।'

'हां। और वह रोये जा रही थी। उसके आंसू खत्म होने में ही नहीं आ रहे थे। आखिर गांव के एक बूढ़े व्यक्ति ने उसके सिर पर हाथ रखकर कहा था, 'रो ले, बेटी, जी भरकर रो ले। पर क्या तू समझती है कि प्रकाश मर गया है? नहीं, वह मरा नहीं, बल्कि हमेशा के लिए अमर हो गया है। मरता तो हर कोई है, पर ऐसी शहीद की मौत किसी-किसी को ही नसीब होती है। वह तेरा ही नहीं, सारे गांव का नाम रोशन कर गया है। और लोग अब, सिर्फ उससे ही नहीं, तुझसे भी प्रेरणा लेंगे जिसने ऐसे सपूत को जन्म दिया है। और अब तू अपने बेटे की ही नहीं, सारे गांव के बेटों की मां बन गयी। मैं तुझे चुप कराने नहीं आया। रो, जी भरकर रो, तभी तेरा मन हल्का होगा।'

'वह चुप हो गया था, पर पहले ही की तरह उसके सिर पर हाथ रखे हुए था। तब कुछ ही क्षणों में स्त्री का रोना बंद हो गया था और उसने आंखें पोंछकर कहा था, 'पर प्रकाश के बिना मुझे चारों ओर अंधेरा ही अंधेरा दिखाई दे रहा है।'

'तब उस बूढ़े ने कहा था, 'नहीं, बल्कि अब तो प्रकाश तेरी आंखों में समा गया है। और अब हर कोई उसे तेरी आंखों में ही देखा करेगा।'

'उसी समय स्त्री की आंसुओं भरी आंखों में अजीब-सा प्रकाश चमक उठा था, और वह सामने बैठे लोगों को देखने लगी थी, जिनकी आंखों में उसके लिए सहानुभूति के साथ-साथ गर्व और आदर भी था।'

'वाह, उस बूढ़े ने तो कमाल कर दिया!' पुष्पा ने कहा। 'उसे और ज्यादा रोने के लिए कहकर आखिर चुप करा दिया।'

स्त्री फिर पौधे को देखने लगी थी। पुष्पा ने भी उधर देखा, तो वह और भी जगमगाता हुआ लगा, और उसके पत्ते उस स्त्री की आंखों की शक्ल के प्रतीत हुए।

स्त्री ने कुछ क्षण चुप रहने के बाद कहा, 'हां, उस बूढ़े ने उसे जैसे नयी नजर दे दी। और तब उसके चारों ओर का अंधेरा दूर होने लगा।'

'फिर क्या हुआ।'

'फिर क्या होना था। प्रकाश का दाह-

संस्कार हुआ—वहां श्मशान के बिलकुल बीच में। उस समय उसकी मां यहां नहीं आ सकी थी। ऐसे मौकों पर स्त्रियां श्मशान में प्रायः नहीं जाया करतीं। पर उसके बाद एक दिन वह यहां आयी थीं, और जिस जगह बेटे का दाह-संस्कार हुआ था, वहां से मिट्टी मिली राख को मुट्ठी भरकर लायी थी। तब उसने एक छोटा-सा गढ़ा खोदकर राख को उसमें डाला था और बेटे की याद में यह पौधा लगाया था। पता नहीं, उस राख में क्या बात थी कि पौधे ने जड़ पकड़ ली थी, तो उसके पत्तों में से रोशनी फूटने लगी थी। फिर, ऐसा लगने लगा था जैसे उसके बेटे, प्रकाश की आंखें उन पत्तों से झांक रही हों। और अब तो वे हर समय उनमें से झांकती हुई दिखाई देती हैं। और मुझे लगता है कि प्रकाश मरा नहीं है। प्रकाश मर नहीं सकता है। मेरा बेटा अमर हो गया है।'

'हां, सचमुच अमर हो गया है,' पुष्पा ने कहा। 'हमारी पुस्तक में भी एक पाठ में यह लिखा है कि देश के लिए शहीद होने वाले कभी मरते नहीं हैं।'

'अच्छा, अब मैं चलूं, देर हो गयी है। तुम यहीं रहोगी या—'

'मैं भी चलूंगी। सुबह मुझे जल्दी उठकर स्कूल का काम करना है।'

स्त्री एक ओर को चल दी, तो पुष्पा अपने घर की ओर बढ़ी। घर में जाते ही वह लेट गयी और नींद आने तक उस स्त्री की बातों के बारे में सोचती रही। साथ ही, वह उस रोशनी के पौधे को देखती रही, जिसके पत्तों में उसे उस स्त्री की आंखें नज़र आ रही थीं। और उस पौधे की रोशनी बढ़ती ही जा रही थी। तभी वह रोशनी पुष्पा ने अपने कमरे में महसूस की, तो वह हड़बड़ाकर उठ बैठी। उसका कमरा सुबह के प्रकाश से भरा हुआ था!

—बी-१९, सन एंड सी, वरसोवा रोड,
बंबई-६१

□

भय-नाश का उपाय

एक बार कश्मीर-नरेश ललितादित्य ने दरबार में आते ही, मंत्रियों से प्रश्न कर दिया : 'मनुष्य का भय मिटाने का सबसे सरल ढंग क्या है?'

प्रश्न सुनकर सभी मंत्रियों ने मौन धारण कर लिया और बगलें झांकने लगे।

नीलांभर शरण नामक मंत्री ने, अत्यंत नम्रतापूर्वक उत्तर दिया : 'प्रजापति! भय भगाने का संसार में एक ही साधन है और वह है—साहस। साहस आता है कर्मठता से। कर्मठता आती है व्यस्तता से, और व्यस्तता आती है चुस्ती और फुर्ती से। अतएव प्रमाद छोड़कर, जीवन के हर क्षण में बेहतरीन ढंग से कार्य करते रहना ही, भय-नाश का एकमात्र उपाय है।' ललितादित्य ने प्रसन्न होकर, अपने गले का बहुमूल्य हार नीलांभर शरण की ओर उछाल दिया।

—कु. उर्वशी केसर

□

अमृता प्रीतम का क्रान्तदर्शी प्रेम-दर्शन

□

प्रेम बांधता नहीं, मुक्त करता है

एक संवेदनशील कवयित्री और एक सशक्त कथा-लेखिका के रूप में विख्यात अमृता प्रीतम का व्यक्तिगत जीवन काफ़ी उन्मुक्त और रूढ़िमुक्त रहा है। उनका साहसिक प्रेम-जीवन इस उन्मुक्त जीवन का एक विशेष अंग है। साहिर से इमरोज़ तक की उनकी लम्बी प्रेम-यात्रा मुश्किल, मगर बड़ी खूबसूरत रही है।

पत्रकार-कवि कल्याण मुकर्जी के साथ इस साक्षात्कार में ६१ वर्षीया अमृता प्रीतम ने प्रेम, पुरुष और सेक्स के बारे में अपने विचार और विश्वास बहुत खुलकर व्यक्त किये हैं।

क्या यह कहना सही होगा कि हमारे देश की तथाकथित 'मुक्त' युवतियों के लिए प्रेम मर चुका है।

यह कथन काफ़ी हद तक सही है। वे प्रेम से अधिक अपनी नौकरी या अपने काम-काज की चिंता करती हैं। मैं मानती हूं कि वे अधिक शिक्षित हैं, अधिक पढ़ती हैं, लेकिन इस कारण मानसिक दृष्टि से अधिक विकसित और प्रौढ़ भी हो गयी हों, ऐसा मैं नहीं मानती। प्रेम से ज़्यादा उन्हें अपने व्यक्तित्व की चिंता है।

उन्हें प्रेम की चिंता नहीं है, यही कहना चाहती हैं न आप!

वे प्रेम से अधिक अपने व्यक्तित्व के बारे में चिंतित रहती हैं। यह अच्छा ही है। प्रेम की शुरूआत आत्म-प्रशंसा से ही हो सकती है। या, दूसरे से प्रेम करके। मैंने एक किताब लिखी थी: 'मैं और तुम।' वह प्रेम के बारे में ही है।...

क्या पुरुष-शासित समाज में प्रेम मर गया है?

पुरुष मूलतः स्त्रियों को अधिकार की वस्तु समझते हैं। प्रेम में इस प्रकार के स्वामित्व की भावना का कोई स्थान नहीं है।
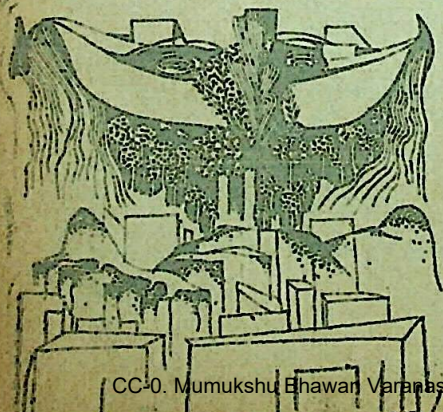
और कुंआरापन ?

कुंआरेपन का प्रेम से कोई रिश्ता नहीं है। पुरुष की दृष्टि में कौमार्य का महत्त्व अपनी पत्नियों तक ही सीमित है। विवाह ने इस महत्त्व को वैधानिकता का दर्जा भी दे दिया है। प्रेम पिंजड़ा नहीं। उसे प्रेम करने वाले को मुक्त करना चाहिये, और वास्तव में सब बंधनों से मुक्त करता भी है प्रेम।

क्या इसके लिए पुरुष जिम्मेदार हैं ? क्या वे मूलतः बलात्कारी होते हैं ?

नहीं। अमूमन वे बलात्कारी नहीं होते। लेकिन हमारे रिवाज़ बड़े अजीब हैं। आजकल वैवाहिक बलात्कार की बात भी सुनने में आती है। अधिकांश विवाहों में वैवाहिक बलात्कार होता ही है। मैंने सुना है कि मछेरों की एक जाति में खून से सनी चादर गांव भर को दिखायी जाती है, और इस बात का उत्सव मनाया जाता है।

इस प्रसंग में, विवाह की प्रथा के बारे में आप क्या सोचती हैं ?

विवाह की व्याख्या से तात्पर्य है शायद आपका। मेरी राय में, विवाह देहों से अधिक दो मनों का मिलन है। लेकिन, विवाह की इस व्याख्या को कौन स्वीकार करता है ? परंपरागत व्याख्या देहों के मिलन की है।

क्या विवाह की प्रथा को बिलकुल समाप्त कर देना चाहिये ?

यह निर्भर करता है। मैं तो इतना जानती हूं कि प्रेम विद्रोह है। इसके
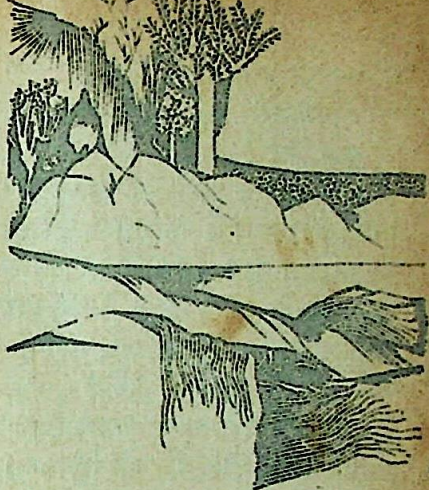
बरखिलाफ़, विवाह आपके अपने मूल्यों के प्रति विद्रोह है। हाल ही में मैंने एक लड़की से भेंट की थी। मैंने उसे एकदम निडर और बेबाक पाया। जब मैंने उससे उसकी सबसे बड़ी इच्छा के बारे में पूछा, तो उसने कहा कि वह अपने बचपन को दुबारा अनुभव करना चाहती है। उसकी दूसरी इच्छा थी—और मैं इसे बड़ी साहसपूर्ण इच्छा कहूंगी—उस पुरुष की पुत्री के रूप में जन्म लेना, जिससे उसकी मां प्यार करने के बावजूद विवाह नहीं कर सकी थी।

कामुकता का विवाह से क्या संबंध है ?

काम एक महान अनुभव है। पर, यह जरूरी नहीं कि आप जिस-जिस व्यक्ति के साथ ऐसा अनुभव करें, उनके साथ विवाह भी करें। आज बहुत सी स्त्रियां यह मांग कर रही हैं कि कामुकता और उसकी स्वतंत्रता हर स्त्री का व्यक्तिगत मामला है। चर्च और सरकार को उसमें

दखलन्दाजी करने का कोई अधिकार नहीं होना चाहिये।

मुक्त सेक्स?

सेक्स (काम) एक महान अनुभव है। मगर, सेक्स को बड़ी गंभीरता से लेने की ज़रूरत है। सेक्स के बारे में जो मजाक किये जाते हैं, —खासतौर से वे गंदे और छिछोरे मज़ाक, जो पुरुष प्राय: करते हैं— उनसे यह गंभीरता कम होती है।

स्त्रियां भी ऐसे मज़ाक करती हैं।

मैंने स्त्रियों को अलग नहीं किया है।

आपने काफ़ी रूढ़िमुक्त और स्वेच्छाचारी जीवन बिताया है। उसकी आपको क्या क़ीमत चुकानी पड़ी?

उसके बावजूद, मेरा वजूद है। बस, मैं यही कह सकती हूं।

कैसे? किस कीमत पर?

पिछले कुछ सालों में, मूल्यों में काफ़ी परिवतन हुए हैं। आज समाज में काफ़ी रूढ़िमुक्त लोग हैं। यश, प्रतिष्ठा और धन हो तो आप कुछ भी करके बच सकते हैं।

क्या आपकी आधुनिक मूल्यों की दिशा ने आपके बच्चों को भी प्रभावित किया है?

दुर्भाग्य से, नहीं। मेरी बेटी ने दस वर्षों के वैवाहिक जीवन के बाद तलाक़ लिया। मैंने उससे अपनी पढ़ाई पूरी करने को कहा था, ताकि वह आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र हो सके। अब उसे नये सिरे से शुरूआत करनी पड़ रही है।

यदि यह पुरुष-निर्मित समाज इतना खराब है, तो क्यों न पुरुषों से घृणा का अभियान शुरू किया जाये?

घृणा से कोई कहीं नहीं पहुंच सकता, घृणा एक प्रतिक्रिया है। घृणा करनी ही हो तो ग़लत मूल्यों से करनी चाहिये। स्त्रियों का विद्रोह ग़लत मूल्यों के विरुद्ध है। और इस प्रक्रिया में घृणा को नकारात्मक नहीं हो जाना चाहिये। मैं भी पुरुष-निर्मित समाज से बहुत घृणा करती हूं। इसकी ज़रूरत है।

क्या प्रेम भी घृणा के समान शक्तिशाली है?

निश्चय ही। लेकिन प्रेम बांधता नहीं, मुक्त करता है।

तो फिर विवाह की इस प्रथा को, जो प्रेम पर आधारित नहीं है, कैसे समाप्त किया जाये?

अविवाहित रहकर। स्कैंडिनेवियाई देशों में बहुत से तरुण-तरुणियां कभी विवाह नहीं करते। जिस व्यक्ति से आप प्रेम करते हों, बस, उसी के साथ रहिये। यदि स्त्री को बच्चे की ज़रूरत है, तो उसके पत्नी होने की कोई आवश्यकता नहीं है।

ऐसे विचार आपके लिए तो ठीक हैं, क्योंकि समाज में आपका दर्जा काफ़ी ऊंचा है।

मुझे अपने विचारों और विश्वासों की भारी क़ीमत चुकानी पड़ी है। वैसे, मैं यह स्वीकार करती हूं कि सिर्फ आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र कुछ इनीगिनी स्त्रियां ही ऐसे निश्चय ले सकती हैं।

और बाकी स्त्रियां क्या करें ?

उन्हें कुछ समय लगेगा। स्त्री का व्यक्तित्व ऐसा होता है कि वह अपने बारे में फ़ौरन निश्चय ले सकती है। भारत एक बड़ा देश है—उसमें स्वतंत्र विचारों वाली कुछ स्त्रियां आसानी से खप जायेंगी। मैं ऐसे लोगों को जानती हूं, जो पति-पत्नी न होते हुए भी, आपस में बहुत प्रेम करते हैं। लेकिन विवाह की प्रथा अभी बहुत दिनों तक चलेगी।

और पुरुष ?

आदमी अधिकांश स्त्रियों को दासी ही समझते हैं। अभी-अभी, मैंने एक अखबार में पढ़ा कि एक शिक्षित पुरुष ने अपनी पत्नी को मार डाला। मैं थाने में फोन करके, उस पुरुष से मिलने गयी। मैंने उससे पूछा, 'आपने अपनी पत्नी को क्यों मारा ?' उसने कहा, 'वह मुझे प्यार नहीं करती थी। मैंने पिछले तीन वर्षों से उसे छुआ भी नहीं था, क्योंकि मुझे पता लग गया था कि वह मुझसे प्यार नहीं करती थी।' जब मैंने उससे पूछा, 'उस औरत को, जिसे प्यार नहीं करते थे, जिसे आपने छुआ भी नहीं, मारने का आपको क्या अधिकार था ?' तो, उसके पास मेरे सवाल का कोई जवाब न था।

('संडे एनुअल' से साभार उद्धृत)

०००

साहित्य और अश्लीलता

'अर्थों की नग्नता ढकने को मैंने उनके गले में शब्दों की बांहें डाली थीं। ये शब्द शायद किसी मर्यादा पर नहीं रुकते। आज वही शब्द अर्थों का 'रेप' करके लौटे हैं, और लज्जा के कारण मेरे सामने आंख नहीं उठाते।'

यह कविता मैंने एक ऐसे साहित्यकार के संबंध में उसी की ओर से लिखी थी, जो थोड़े-बहुत निजी लाभ के लिए कुछ विशिष्ट राजनैतिक घटनाओं को तोड़-मोड़कर अपने पाठकों के सामने प्रस्तुत करता रहा था। पर, घटनाओं में जब कुछ स्पष्टता आ गयी, और लोगों को उनके बारे में भ्रम में रखना कठिन हो गया, जनमत ने उसकी लेखनी को झुठला दिया, और उसकी कलम लज्जित होकर अपने कहे के लिए बहाने ढूंढने में और भी सुंदर शब्दों का उपयोग करने लगी। तब ये 'सुंदर शब्द' मुझे हद दर्जे की अश्लीलता से भरे लगे।

कोई भी विषय अश्लील नहीं होता, यदि उसका वर्णन अनुभव की विपुलता और विचार की ईमानदारी से निकला हो। और यदि इस वर्णन में लेखन-कौशल भी झलकता हो, तो सोने में सुहागा। किसी संवेदनशील और सहृदय साहित्यकार द्वारा वर्णित देह का सूक्ष्मतम वर्णन भी अश्लील नहीं हो सकता, और जीवन की यथार्थता से हटे हुए साधु-वचन भी अश्लील हो सकते हैं।

कहानी, उपन्यास का विषय कुछ भी, कोई भी हो सकता है। अस्वस्थ विचारों वाला पात्र भी। किन्तु, यह कसौटी कि
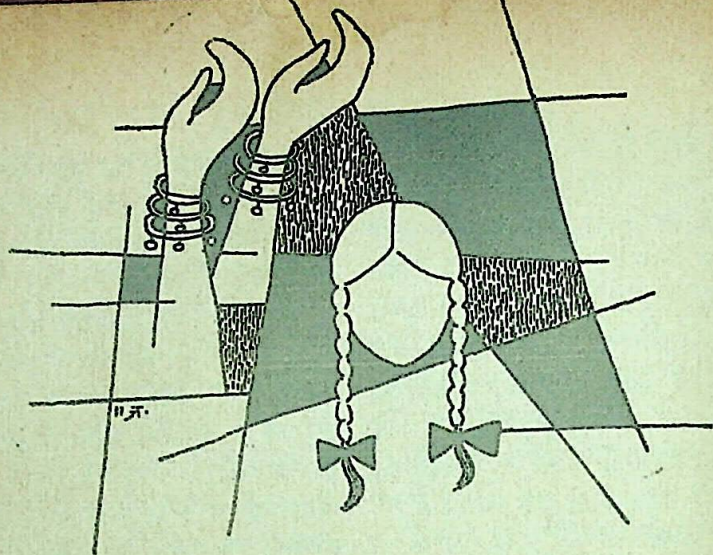
विषय अश्लील है या नहीं, एक ही है, और वह यह कि लेखक का उसके वर्णन में रस नहीं लेना चाहिये। उसे सिर्फ़ एक 'स्टडी' प्रस्तुत करनी चाहिये। और यह निश्चय कि वह कथा सस्ते मनोरंजन के लिए लिखी गयी है, या गहरे अध्ययन के लिए, उस कथा के समूचे प्रभाव पर निर्भर करता है।

स्वस्थ दृष्टिकोण वाला कथाकार हर तंग गली से गुज़रता है, भले ही वह मैले शरीरों की हो या रोगग्रस्त मानसिकता की। किंतु ऐसे दृष्टिकोण के स्वास्थ्य की परख के लिए परंपरा का मानदंड काम नहीं आता। यह दृष्टिकोण फिल्मों के इस दृष्टिकोण से भिन्न है कि किसी औरत को गिरी हुई बताना हो तो, बस, उसके हाथ में एक सिगरेट थमा दो।

कई बार ऐसा होता है कि साहित्य में आज आरोपित अश्लीलता कल अश्लीलता नहीं रहती। इसका मुख्य कारण यही है कि साहित्यिक शिष्टाचार जहां एक ओर समाज के शिष्टाचार की रक्षा करता है, वहां उसके बंधन से स्वतंत्र होने की राह भी दिखाता है।

सेक्स का वर्णन अपने आप में अश्लील नहीं है, यदि वह कथा के किसी पात्र की मनोदशा का विश्लेषण करने के उद्देश्य से किया गया हो। वह अश्लील तब बनता है, जब लिखने वाले के सामने पात्र की कोई गहरी समस्या न हो, और उसका उद्देश्य पाठकों का सस्ता मनोरंजन करना ही हो। और यह वही लेखक करता है, जिसके पास अनुभवों का विपुल भंडार नहीं होता। सेक्स का ऐसा भद्दा और छिछला वर्णन लेखक के अंतर के दिवालियेपन और उसकी मानसिक अकर्मण्यता का परिचायक होता है।

('साहित्य संगम' से साभार)

□

सूरज की बेटी

□

दिलीप कौर टिवाणा

बहुत पुराने ज़माने की बात है। उन दिनों सूरज स्वर्ग में रहता था। इसलिए पृथ्वी पर बहुत ठंड होती थी।

सूरज की एक बेटी थी, जो बहुत शरारती थी। वह कभी सैर करने के बहाने पृथ्वी पर आ जाती। एक दिन वह आयी, तो पृथ्वी के सभी लोग एक ओर को भागे जा रहे थे।

'क्या बात है ?' उसने पूछा।

'ठंड लग रही है। भागने से ठंड कुछ कम हो जाती है।' किसी ने बताया।

सूरज की बेटी हंसी।

तभी किसी ने उसे कहा, 'सूरज से हमें थोड़ी-सी आग मांगकर ला दो।'

'चोरी करके ?'

'हां।'

'नहीं, मैं चोरी नहीं कर सकती।'

वह फिर एक दिन आयी, तो एक स्त्री अपने बच्चे को पीट रही थी।

'क्या यह बहुत शैतान है, जो पीट रही हो ?' सूरज की बेटी ने पूछा।

'नहीं, इसे ठंड लग रही है। पीटने से इसके शरीर में कुछ गर्मी आयेगी।'

सूरज की बेटी हंसी और एक तरफ को चल दी। कुछ आगे जाने पर उसने पीपल के नीचे एक नौजवान को बैठे हुए देखा।

'क्या बात है ?' उसने पूछा।
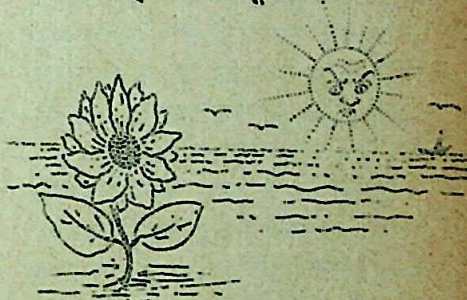
'ठंड लग रही है।' नौजवान ने कहा। 'आदमी की आधी ज़िंदगी तो ठंड से बचने की कोशिश में बीत जाती है। देवता ऊपर बैठे तमाशा देखते रहते हैं।'

'तुम ऊपर चलोगे ?'

'नहीं,' नौजवान ने कहा।

'क्यों ? ऊपर सूरज है। वहां ठंड नहीं लगेगी।'

'मेरे भाई-बहन और दूसरे लोग तो

(शेष पृष्ठ ११५ पर)

आशारानी की वियतनामी लोककथा

□

स्वर्ग का चाचा

बहुत पहले की बात है कि पृथ्वी पर अकाल पड़ा। ऐसा अकाल पृथ्वी के इतिहास में न कभी पहले हुआ और न उसके बाद।

अपने तालाब को दिन प्रतिदिन सूखते देखकर बुद्धिमान मेढक ने सोचा कि इस अकाल का क्या उपाय है? उसने इस प्रकार मरने से बेहतर समझा कि स्वर्ग जाकर स्वर्ग के राजा को याद दिलाया जाये कि इधर पृथ्वी पर अकाल पड़ रहा है।

हिम्मत करके मेढक महोदय अकेले निकल पड़े। रास्ते में उन्हें मधुमक्खियों का एक झुंड मिला। पूछने पर उसने बताया कि इस प्रकार मरने से कुछ करना बेहतर है। मधुमक्खियों की दशा भी अच्छी नहीं थी। वे फूलों के बिना मधु कहां से बटोरतीं? उन्होंने भी साथ चलने का निर्णय किया और मेढक के साथ चल पड़ीं।

बहुत दूर जाने पर एक मुर्गा मिला। मुर्गा उदास-सा बैठा था, खेती भी नहीं थी और मुर्गे को खाने के लिए कीड़े भी नहीं मिल रहे थे। इसलिये मेढक और मधुमक्खियों को उसे भी साथ लेने में देर नहीं लगी।

अभी वे यात्रा पर चले ही थे कि एक क्रुद्ध शेर मिल गया। वह गुस्से में भरा हुआ था क्योंकि उसे खाने को कोई पशु नहीं बचा था। उसने उनकी बातें सुनीं तो वह भी उनके साथ हो लिया।

कई दिनों की यात्रा के बाद वे सब स्वर्ग के राजा के दरबार में पहुंचे। मेढक ने सबको बाहर रोकते हुए कहा, 'तुम लोग बाहर रुको और मैं पहले अंदर जाकर देख आऊं कि राजा साहब कहां हैं?'

इतना कहकर वह कूदकर महल में दाखिल हो गया। बड़े-बड़े कमरे बढ़िया ढंग से सजे हुए थे। पर वहां कोई न था। परंतु एक ओर से हंसी का स्वर आ रहा था। बस, मेढक सारे कमरे पार करता हुआ उसी ओर चल पड़ा। उसने आगे बढ़कर देखा कि एक कमरे में बीचोबीच स्वर्ग के राजा बैठे हुए परियों के साथ ताश खेल रहे थे।

मेढक को गुस्सा आ गया। उसने एक लंबी सांस ली और एक छलांग लगाकर उनके बीच में कूद गया। सब चुप हो गये और सन्नाटा छा गया। जब राजा ने देखा कि एक मेढक इतनी हिम्मत कर रहा है तो उन्हें गुस्सा आ गया। वह अपनी भौंहें सिकोड़ते हुए चिल्लाये; 'बेवकूफ मेढक,
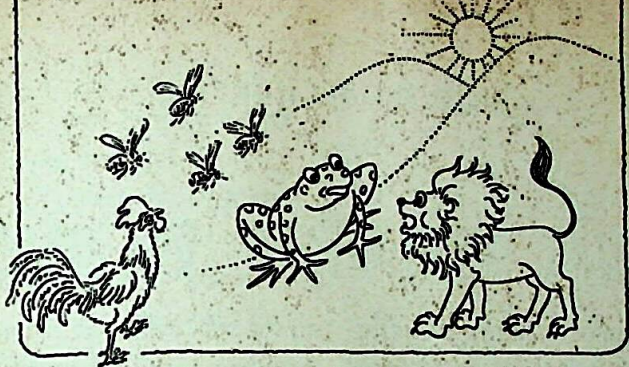
तुम्हारी यह जुर्रत ! हमारे बीच आने का दुस्साहस तुम्हें कैसे हुआ ?' परंतु मेढक को पृथ्वी पर भी अकाल के कारण ही मृत्यु नज़र आ रही थी। जब मृत्यु सामने हो तो सब निडर हो ही जाते हैं। मेढक ने बोलना आरंभ किया :

'महाराजाधिराज . . .' पर इसके आगे वह कुछ बोल न सका।

राजा फिर चिल्लाये। पहरेदार एवं रक्षक दौड़े आये कि मेढक को पकड़ बाहर फेंक दें। पर मेढक महोदय उन सबके बीच में इधर-उधर छलांग लगा जाते। बहरहाल छलांगें तो जीवन भर लगाते ही रहे थे। मेढक ने मधुमक्खियों को आवाज़ दी। वे आकर अंगरक्षकों के चेहरों के साथ चिपक गयीं। उन सबके मुंह सूज गये और वे सब भाग गये।

राजा आश्चर्यचकित हो देखता रहा। तब उसने तूफान के देवता को आवाज़ लगायी।

लेकिन मुर्गे ने अपने शोर से और पंख फड़फड़ाकर उसे भी भगा दिया। तब स्वर्ग के राजा ने अपने कुत्तों की फौज को बुलाया लेकिन भूखा एवं क्रुद्ध शेर इधर पहले से ही तैयार था।

तब स्वर्ग के राजा ने कुछ सहमकर और श्रद्धा से मेढक की ओर देखा। मेढक ने कहा, 'राजा साहब, हम तो केवल आपके पास अपना प्रार्थना-पत्र लेकर आये हैं कि पृथ्वी पर अकाल पड़ रहा है हमें वर्षा चाहिये।'

स्वर्ग के राजा ने कहा, 'अच्छा, चाचा!' यह पता नहीं कि उस छोटे-से मेढक की हिम्मत देखकर स्वर्ग के राजा के मुंह से 'चाचा' शब्द अचानक निकल गया या कोई दूसरा कारण था। जब वे सब पृथ्वी पर वापस लौटे और उनके साथ वर्षा भी आयी।

इसलिये आज भी वियतनाम में मेढक को 'स्वर्ग का चाचा' नाम से पुकारा जाता है और जब मेढक की आवाज़ आती है तो सब जान जाते हैं कि स्वर्ग का चाचा आ गया है तो वर्षा भी अवश्य आती ही होगी। □

सिद्धेश का एक सूचक लख

□

आधुनिक बंगला कविता : एक सर्वेक्षण

बंगला आधुनिक कविता का आविर्भाव रवींद्रोत्तर काल में जीवनानंद की कविता से माना जाता है। जहां आत्मा-परमात्मा और प्रकृति की पुरातन मानवेतर धारा नया जन्म लेती है और ईश्वरीय चेतना, छायातुर कल्पना तथा सूक्ष्म आत्मदर्शन का रूप बदलकर अतिमानवीय संधित स्वाभाविक कल्पना, प्रयोजनीय चिंताधारा एवं रूपाकार चित्रात्मकता में परिणत हो जाता है। आधुनिक नव-उत्थानवादी कविताओं में ईश्वर-आत्मा को एक प्रयोजनीय वस्तु के रूप में चिन्हित किया गया है। इस तरह अस्तित्व बोध की अनिवार्यता बाद के कवियों में देखी गयी है, ऐसी स्थिति में ईश्वर और प्रेम

चित्र : अनादि अधिकारी
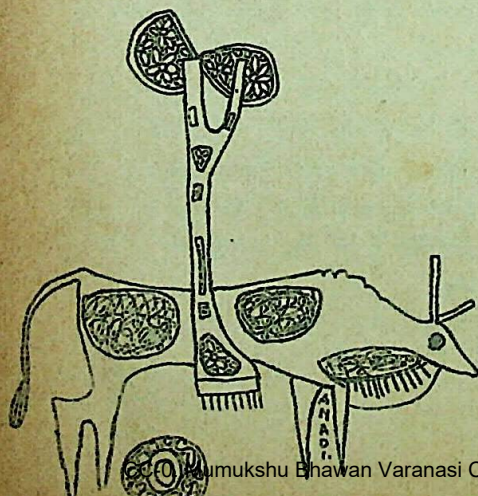
को एक नये धरातल पर कवियों ने रेखांकित किया। स्वयं जीवनानंद दास ने भी प्रेम की नश्वरता को भी एक अनिवार्य उपलब्धि के रूप में ग्रहण किया है–

'मुझे नहीं खोज रही तुम बहुत दिन
मैं भी नहीं खोजता तुम्हें
–एक आकाश के नीचे तब भी
एक ही प्रकाश के बीच, पृथ्वी के
उस पार हम दोनों हैं।
पृथ्वी की यह पुरानी पथ-रेखा मिट जाती है,
प्रेम भी धीरे-धीरे समाप्त होता है, इन
नक्षत्रों को भी मिट जाना होता है,
नहीं होता?'

अर्थात् प्रेम को भी एक मानवीय अवधारणा से चिन्हित किया गया है। जिस प्रकार रूप, रस, गंध सभी कुछ मिट जाते हैं, उसी तरह प्रेम भी मिट जाता है। यहां कुछ भी स्थायी नहीं है। मृत्यु और वेदना का नग्न रूप वस्तु-जगत में कवि दिनेश दास के शब्दों में 'जीवन के नये बैंडेज को खोलकर देखने' जैसा परिकल्पित है। वह इस यांत्रिक जगत में मनुष्य की असहायता इस रूप में प्रकट होती है–'विशाल यंत्र के दांतों के फ्लाई व्हील में मेरी खोपड़ी!' –तरुण सान्याल।

रोमांटीसिज़्म में भी एक विचित्र प्रकार की विषण्णता का भाव दृष्टिगोचर होता है, जब कवि मृणाल दत्त कहते हैं—
'स्थिर रमणी की आंखों में अविश्वासी
शीत-रात्रि।
समस्त ममता झर जाती है वृक्ष की
मर्मर ध्वनि में।'

और अस्तित्व की अमूर्त भावना इस रूप में मूर्त होती है—
'यही नहीं, अकेली / दो आंखें सूर्यास्त के
वक्त एकटक
मानो कहती हैं, मैं क्या बहुत दूर चला
गया हूं?'
—शंख घोष

प्रेम के नव उन्माद का पर्यवसन जब होता है, तो प्रेम और दैहिकप्रवृत्ति की शाश्वतता पर एक प्रश्न-चिन्ह लगा देती है बंगला की विदुषी कवयित्री नवनीता देवसेन—
'केशों के बीच अटकी है चुइंगम की तरह
चौदह वर्ष की उम्र / हथेली पर कैशोर्य /
भौंहों से गलकर बह रहे हैं चांद रूपी मोम /
इनका जोड़ : शून्य!'

रोमानी स्वप्न को जितनी चित्रात्मकता और प्रतीक-विन्यास की स्वस्थ परिकल्पना आधुनिक नवधारा की कविताओं में मिलती है, उतनी रवींद्र पूर्व की कविताओं में नहीं। इसे ही Poetic personality के रूप में ग्रहण किया गया है। इनमें इसका शरीरी रूप भी परिलक्षित होता है। याने 'बनलता सेन' के रूप-वर्णना
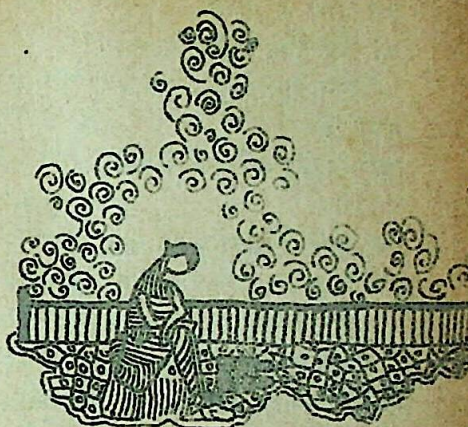
में जीवनानंद दास कल्पना करते हैं, 'मुख तार श्रावस्तीर कारूकार्य' अथवा—'ऊटेर ग्रीवार मतो कोनो एक निस्तब्धता'— तब कवि का भावना-सूत्र और व्यंजना की स्पष्टता पर ध्यान जाता है। यही निर्वैयक्तिक चित्र-धर्म की सृष्टि कविता को और भी वस्तु-जगत से जोड़ती है। स्वतंत्र-आत्म की खोज की सार्थकता भी यहीं मापी जा सकती है। अपने पूर्ववर्ती काल से अलग-थलग शाश्वत मूल्यों की खोज में निकला कवि अपने परिवेश और यांत्रिक नगर-जीवन की क्लांत अंतर-वेदना का रूपायन वह इसी रूप में करके संतुष्ट होता है। कवि बुद्धदेव बसु के शब्दों में—
'आकाश में सूर्य-प्रकाश की बाढ़,
नजर नहीं टिकती।
गायें अपने में मगन घास चबाती हैं,
कितनी शांत।
—तुमने क्या कभी सोचा था,

इस झील के किनारे हम देख पायेंगे,
जो इतने दिन नहीं पाया था !'

अथवा सुभाष मुखोपाध्याय के मार्मिक शब्दों में–

'धान के खेत अगल-बगल सोये
चारो तरफ–
क्या सुनते हैं खोल करके कान
हंसुए की सान
भट्ठी में ?'

रेनेसां युग में जब यह घोषणा हुई थी कि 'ईश्वर नहीं रहे !' (God is dead) तब इसका प्रभाव अन्यान्य क्षेत्रों से होते हुए बंगला के नव अध्यात्मवादी कविताओं पर भी पड़ा था। और फिर बीटनिक कवि के भारत आगमन पर हंग्री जेनरेशन के कवियों में तो इसका आलोड़न ही जगा था। इनके काव्य में ईश्वर को एक वस्तु के रूप में देखते हुए इनके अस्तित्व के प्रति संदेह ही प्रकट किया गया था। प्रमुख कवियों ने ईश्वर को अपने मानसिक ढांचे में बदलकर स्थापित किया।

कवि आलोकरंजन दास गुप्त ने ईश्वर के अस्तित्व को नयी मानवीय सत्ता के साथ जोड़कर यों लिखा –

'बीच-बीच में स्पष्ट रूप से बता देना
जरूरी है। ईश्वर हैं।
बीच डाली पर बैठी पापिया को और
पर्यवसित वस्तु
पृथ्वी को स्नान करा रहे हैं।'

उसी तरह ईश्वर और अपने बीच के संपर्क पर विशिष्ट कवि शक्ति चट्टोपाध्याय ने एक योजना ही रच डाली है-

चित्र : नीता वैद्य
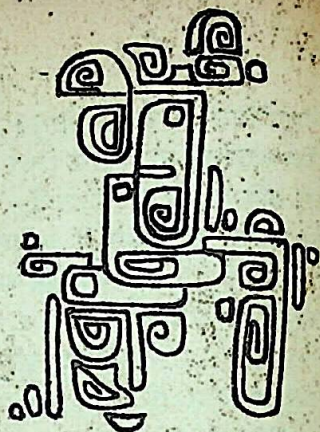
'ईश्वर रहते हैं पानी में
उनके लिए बगीचे में तालाब
मुझको एक दिन बनाना होगा
मैं अकेला...
ईश्वर रहें नजदीक
यही चाह है–पानी में ही रहें !'

लेकिन नये कवि देवी राय ने ईश्वर पर आरोप लगाते हुए कहा है –

'आजन्म एक अहंकारी,
जानता हूं ईश्वर है वह
आकाश से पूरा शरीर ढंककर रखता है!
केवल मैं ही क्यों ? उसका मन यदि चाहे
ठीक इस बार ही, मेरी तरफ घूरकर देखे!

नव उत्थानवादी युग के प्रगतिवादी उन्नायक कवि नीरेंद्र नाथ चक्रवर्ती जब एक नंगे राजा की कल्पना करते हैं और तमाशा खड़ा करते हैं –

'सभी देख रहे कि राजा नंगा, तब भी
सभी ताली पीट रहे।
सभी जोर से बोल रहे : शाबाश, शाबाश!'

अन्याय, अनाचार के प्रति आक्रोश, प्रतिवाद और संघर्ष का रहा है। और यही परवर्ती काल से अब तक जारी है, जिसकी नींव गहरे तक गयी है, इसकी शृंखला निरंतर क़ायम रही है। इसके प्रमुख कवियों में हैं—सर्वश्री अमिताभ दास गुप्ता, पवित्र मुखोपाध्याय, देवाशिष बंद्योपाध्याय, रणजित दास, मलय सिंह आदि।

□

(पृष्ठ १०९ का शेषांश)

तब लगता है, पूरे साम्राज्य पर जिनका आधिपत्य है यानें राजा पर आक्रोश इस रूप में प्रकट करते हुए नये युग की कल्पना में एक ऐसे बालक को जन्म देते हैं, जो सत्यवादी, सरल और साहसी है। वे उसका आह्वान करते बोलते हैं—

'वह आकर एक बार तालियों के बीच
ऊंचे गले से पूछे :
राजा, तेरे कपड़े क्या हुए ?'

बंगला कविता का यह काल अपने बीच यहीं रहेंगे न। मैं अकेला वहां क्या करूंगा ?'

'वहां मैं तुम्हारे साथ रहूंगी।'

'तुम्हीं क्यों नहीं यहां रह जातीं ?'

सूरज की बेटी सोचने लगी। वह जवाब दिये बिना वहां से चली गयी।

अगले दिन जब सूरज सोया हुआ था तो उसकी बेटी ने थोड़ी-सी आग चुराई और पृथ्वी पर आकर वह आग उस नौजवान को दे दी।

पृथ्वी पर गर्मी हुई और लोग बड़े जोश से काम करने लगे।

सूरज जागा, तो उसने पृथ्वी पर अनेकों दिये जलते हुए देखे। तभी उसने अपनी बेटी को आवाज़ दी। लेकिन बेटी वहां कहीं नहीं थी।

आखिर सूरज को बेटी की चोरी के बारे में पता लगा, तो वह आग बबूला हो उठा। वह बेटी के पीछे पृथ्वी पर गया।

बेटी ने उसे देखा, तो भयभीत होकर पानी से भरे एक पोखर में छिप गयी।

सूरज उसे ढूंढ़ता रहा। उसकी गर्मी से चारों ओर तपस ही तपस फैल गयी। उस गर्मी से जब पोखर का पानी सूख गया, तो सूरज की बेटी सूखकर एक पौधा बन गयी।

सूरज उसे न पाकर चला गया।

कुछ दिनों के बाद पोखर के पौधे पर एक फूल खिला।

अब भी सूरज रोज पृथ्वी पर आता है और उसके एक सिरे से दूसरे सिरे तक अपनी बेटी को ढूंढ़ता है।

सूरज की बेटी उसकी ओर देखती रहती है। वह जिधर जाता है, वह उसी ओर मुंह घुमाकर हमेशा उसे निहारती रहती है।

जब सूरज चला जाता है, तो बेटी सिर झुका लेती है।

लोग उसे सूरजमुखी कहते हैं क्योंकि उसकी शक्ल सूरज जैसी है।

अनुवाद : सुखबीर

□

डा. रामजी तिवारी का अन्वेषणात्मक काव्य-चिंतन

□

संत साहित्य की प्रासंगिकता

साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में प्रासंगिकता का प्रश्न नया नहीं है। किंतु आधुनिक समीक्षण-व्यापार में प्रासंगिकता का निकष, किसी रचना को स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने के लिए एक अमोघ अस्त्र के रूप में प्रयुक्त होता है। इस तथाकथित प्रासंगिकता के संदर्भ में मूलरूप दो बातों पर विचार किया जाता है। प्रथमतः यह कि किसी रचना में निरूपित कथ्य वर्तमान जीवन की समसामयिक मनोभौतिक परिस्थितियों से कहां तक संबद्ध है। दूसरे यह कि जो रचना हमारे वर्तमान जीवन की समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करती है वही प्रासंगिक है। जो रचना इस कसौटी पर खरी नहीं उतरती उसे काल-वाह्य अथवा अप्रासंगिक घोषित कर दिया जाता है। मूल्यांकन की यह उपयोगितावादी दृष्टि एकांगी और अतिवादी होती है। इस आग्रही दृष्टि से साहित्य अथवा किसी भी कलात्मक कृति का समुचित मूल्यांकन असंभव है।
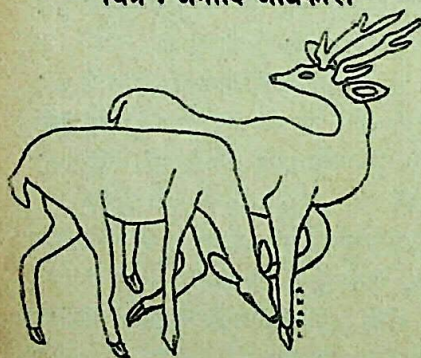
चित्र : अनादि अधिकारी

कलात्मक कृति पर विचार करते समय यह अनिवार्यतः लक्षणीय है कि संवेदनशील कलाकार अपनी रचना-प्रक्रिया में किसी गहन अनुभूति की तीव्रता से आवेशित होने के कारण एक विशिष्ट मनोभूमि में होता है। वह प्रतिष्ठित सामाजिक मूल्यों, नैतिक आचारों, सैद्धांतिक दृष्टियों धार्मिक विश्वासों और ऐतिहासिक भ्रांतियों आदि की कुहेलिका को अतिक्रांत करके अपनी स्वतंत्र दृष्टि से वर्तमान जीवन की सार्थकता का परीक्षण करता है। इसी प्रक्रिया में उसे अपनी निजता और अपनी अपूर्णताओं की पहचान होती है। अपनी अपूर्णता अथवा अभाव की स्थिति के बोध से ही उसकी पूर्ति की दुर्दम आकांक्षा कृतिकार को रचना में प्रवृत्त करती है। यही

आकांक्षा कृति का केंद्रवर्ती तत्त्व होता है। अपनी रचना-प्रक्रिया में कलाकार परंपरा और परिवेश की सीमाओं से ऊपर उठकर एक ऐसे अनुभूत्यात्मक सत्य को प्रतिष्ठित करता है जिसका संबंध तात्कालिक प्रतिक्रियाओं से न होकर मानवमात्र के अवचेतन की मूलभूत संरचना से है। अवचेतन की मूलभूत संरचना से संबद्ध होने का ही परिणाम है कि कलात्मक कृतियों में प्रत्येक युग का मनुष्य अपनी पहचान खोजता है और उसके संस्पर्श से दीप्त होता है। साथ ही वह इतिहास के सतत प्रवाह में कृति के माध्यम से 'स्व' की पहचान और भावात्मक साहचर्य के माध्यम से अपने अधूरेपन और अकेलेपन से मुक्त होने का अवकाश प्राप्त करता है। मानव-मन की इसी मनोवैज्ञानि संगति के कारण श्रेष्ठ कलात्मक कृति युग और परिस्थिति विशेष में व्यक्ति विशेष की सृष्टि होने पर भी कालातीत अर्थवत्ता प्राप्त कर लेती है। कला की यह कालजयी शक्तिमत्ता कृति की विशिष्ट संरचना में ही निहित होती है।
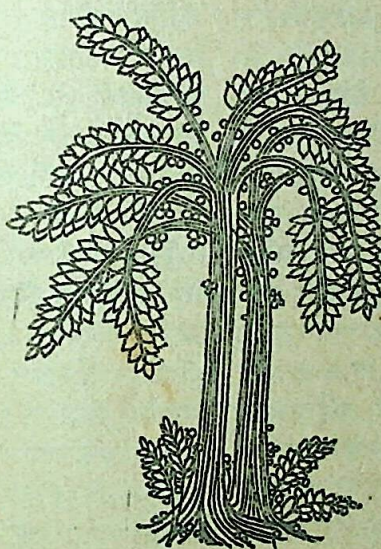
चित्र : चंदुलाल सांकला

किसी चिरकालिक सत्य की प्रतिष्ठा अथवा किसी मानवीय समस्या का आत्यंतिक समाधान उपस्थित करना कला की मूल प्रकृति नहीं है। कला प्रकृत्या सृजनात्मक और अनंत संभावनाओं से संपन्न होती है। सजग और संवेदनशील कलाकार स्थितिशील व्यवस्था के सम्मुख प्रश्नाकुल जिज्ञासु के रूप में उपस्थित होता है। उसकी जिज्ञासा उसे नये जीवन मूल्यों की खोज के लिए प्रेरित करती है। कलाकृति में निरूपित जिज्ञासाभाव प्रश्नगर्भी संक्रांति को जन्म देता है। प्रकृत्या विकास-कामी होने के कारण मनुष्य अपनी स्वाधीनता को सुरक्षित रखने और जीवन की पूर्णता प्राप्त करने के लिए विसंगतियों और विडंबनाओं को चुनौती देता हुआ विकासशील जीवन मूल्यों की खोज करता है। कलात्मक कृतियां इसी प्रयास की परिणतियां हैं। मानवीय संभावना और सार्थकता के प्रति संकल्पित जिज्ञासु चेतना की शक्तिमत्ता ही किसी कृति को सार्थकता और अमरत्व प्रदान करती है। वही मानवीय संवेदना तादात्म्य स्थापित करके मनुष्य के सार्वकालिक भावलोक से जुड़

जाती है। सारांश यह कि साहित्य अथवा कला की प्रासंगिकता केवल समसामयिक परिस्थितियों की व्याख्या अथवा तत्कालीन सामाजिक राजनैतिक समस्याओं के समाधान में न होकर कृति की संरचना में निहित गहन अनुभूति की तीव्रता, मानवीय पूर्णता की बलवती आकांक्षा, देश-काल निर्पेक्ष संभावना संपन्नता, कलात्मक स्वायत्तता, मूल्यान्वेषण की जिज्ञासा आदि पर निर्भर करती है।

संत साहित्य की प्रासंगिकता पर विचार करना वस्तुतः वर्तमान संदर्भ में उसकी प्रभविष्णुता की पहचान का उपक्रम है। संत साहित्य जिस मध्यकाल की उपज है वह हमारे अतीत और वर्तमान का संधिस्थल है। हमारा अतीत बोध इसी मार्ग से होकर हमारे पास तक आया है। उसी के माध्यम से पुरातन अतीत से हमारी पहचान होती है। अतः संत साहित्य की ऐतिहासिक भूमिका अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। मध्यकाल की समस्त निगतिगामी प्रवृत्तियों की प्रतिक्रियात्मक अभिव्यक्ति संत साहित्य में प्रचुरता से हुई है। सगुण धारा के सूर, तुलसी, मीरा तथा निर्गुण धारा के कबीर, दादू, नानक, पल्टू, रैदास, सहजोबाई, सुन्दरदास, चरणदास जैसे सभी संतों ने अपने समसामयिक प्रवाह का वैज्ञानिक परीक्षण करके स्थितिशील जड़वादी रूढ़ियों और स्थापित मूल्यों के खोखलेपन को उद्घाटित किया। धार्मिक कट्टरता, सांप्रदायिक जड़ता, विलासी वृत्ति, स्वार्थान्धता, विवेकशून्य लोकाचार जैसी दूषित एवं निंदनीय प्रवृत्तियों पर उंगली रखकर संतों ने हिंदू और मुसलमान दोनों संप्रदायों की घोर भर्त्सना की। धर्म के ठेकेदार पंडों और मुल्ला-मौलवियों को चुनौती भरे शब्दों में ललकारा और उनके पथ-भ्रष्ट होने की साहसपूर्ण घोषणा की। स्वस्थ सामाजिक संगठन के लिए संतों ने सभी को एक ही ईश्वर की संतान मानकर मानवमात्र में तात्विक अभेद की घोषणा की। उन्होंने घोषित किया कि मनुष्य की श्रेष्ठता कुल विशेष में न होकर उसकी करनी अर्थात् उसके आचरण में है। श्रेष्ठता वंशपरंपरा में नहीं व्यक्ति के अर्जित ज्ञान में है। जाति-पांति का प्रश्न निरर्थक है। श्रेष्ठता का प्रमाण ईश्वरीय अनुकम्पा है जो बिना आंतरिक शुचिता के प्राप्त नहीं हो सकती। गणिका, गिद्ध और नीच निषाद जैसों के प्रति कृपाभाव रखनेवाला प्रभु अपनी संततियों के बीच भेद भाव नहीं रख सकता। अतः वही श्रेष्ठ है 'जापै दीनदयाल ढरै।' 'पोषणम् तदनुग्रहम्'। उसी दीनानाथ दीनदयाल के चरणों में निष्काम भाव से समर्पित होकर साधक निशंक और निरानंद हो जाता है। उस राखनहार के होते हुए भय किसका? उसी को प्राप्त करके मनुष्य पूर्णकाम हो जाता है। फिर न उसे सीकरी से कोई सरोकार और नहीं किसी के मनसबदार होने की आकांक्षा। क्योंकि उसका दृढ़ विश्वास

है कि 'जिनको कछू न चाहिये वे शाहन के शाह।' अपने इसी दुर्दम आत्मविश्वास से संतों ने पतनशील व्यवस्था पर प्रहार किया। यह प्रवृत्ति समस्त भारतीय संतों में समानरूप से दिखाई पड़ती है।

संत साहित्य की उपादेयता अथवा प्रासंगिकता को रेखांकित करते हुए प्रायः यह कहा जाता है कि हमारी वर्तमान समस्याएं भी प्रायः वैसी ही हैं जैसी मध्य-काल में थीं। किंतु सूक्ष्मता से विचार करने पर यह तर्क ठीक नहीं जंचता। आज की समस्याओं का संदर्भ निश्चय ही मध्य-काल से भिन्न है। धार्मिक आस्था पर आधारित भक्त का चातकव्रत आज का समुचित समाधान नहीं हो सकता। संतों की सामाजिक चेतना की पहचान वस्तुतः त्रस्त मनुष्य की पीड़ा की वास्तविक पहचान और मनुष्य को मनुष्य के रूप में प्रतिष्ठित करने की वलवती आकांक्षा में है। उनकी प्रासंगिकता मनुष्य की लुप्तप्राय स्वाधीनता और जीवनव्यापी, विकास की संभावना प्रदान करने में है। मानवमात्र के कल्याण के लिए आत्मदान के संकल्प में है, जिसके संस्पर्श मात्र से हमारी मानवीय संवेदना आज भी झंकृत हो जाती है। यही झंकृति वास्तविक प्रासंगिकता है जो अनायास ही काल की विभाजक रेखा को मिटाकर हमें उस भाव से जोड़ देती है।

साहित्य अथवा कलात्मक कृतियों की प्रासंगिकता परिस्थितियों के साम्य में नहीं मानवमात्र की संवेदनशीलता की समता के कारण है। बंगाल के क्रांति-कारियों ने कबीर के निम्नलिखित दोहे को अपने जीवन के मूल दर्शन के रूप में घोषित किया—

हम घर जारा आपना
लिया मुराडा हाथ।
जो घर जारे आपना
चले हमारे साथ॥

इस घोषणा का यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि जिस बात के लिए कबीरदास संघर्ष कर रहे थे वही लक्ष्य इन क्रांति-कारियों का भी है। वास्तविकता यह है कि अपने समकालीन समाज की बुराइयों को समाप्त करने के लिए, मनुष्य को मनुष्य की समुचित प्रतिष्ठा दिलाने के लिए कबीर में जो उत्कटता और संकल्प-शीलता थी वही हमें प्रभावित करती है और अनंत काल तक प्रभावित करती रहेगी। मानवीय कल्याण की आकांक्षा ही संत साहित्य की शाश्वत सनातन प्रासंगिकता है।

संतों के चैतन्य प्रधान नैतिक मूल्यों का आकलन भी व्यावहारिक धरातल पर ही संभव है। उनकी रचनात्मक नैतिकता किसी रूढ़ मतवाद से अर्जित अथवा आरो-पित न होकर उनकी आंतरिक चेतना की अभिव्यक्ति है। स्वतंत्र आत्मचेतना से अनुशासित सदाचार, चित्त शुद्धि, परदुख-कातरता, उत्सर्जनशीलता, उच्चतर मूल्यों में निष्ठा, आत्मालोचन, आडम्बरहीनता,

मनुष्यमात्र के प्रति सम्मान का भाव आदि प्रवृत्तियां संत साहित्य में निरूपित नैतिकता की प्रमुख घटक हैं। संतों की आत्मलीनता, अपने प्रति असंतोष से उत्पन्न, आत्मसाक्षात्कार की प्रेरणा है। यही प्रेरणा संतों के आत्मिक उन्नयन का सोपान रचती जाती है जिस पर चलकर वे व्यावहारिक अनुभव से शक्ति ग्रहण करते हुए सामाजिक और आध्यात्मिक पूर्णता को प्राप्त करते हैं।

व्यष्टि-समष्टि; प्रेय-श्रेय; कथनी-करनी; वैराग्य-गार्हस्थ्य, ऊंच-नीच आदि के बीच संतुलन और सामंजस्य स्थापित करके संतों ने जिन नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा की वे आज भी अपनी अनुभूतिपरक व्यावहारिक सहजता में विश्वसनीय हैं।

चित्र : डा. विष्णु भटनागर

संत साहित्य में प्राप्त सांस्कृतिक चेतना का स्वरूप विशेषरूप से लक्षणीय हैं। संस्कृति किसी देश के जातीय जीवन के संस्कारों का समाहार है, उसके परिष्कृत संस्कारों का संपुंज है। प्रत्येक संस्कृति अपने अनन्त कालप्रवाह में अन्य संस्कृतियों के साथ आदान-प्रदान द्वारा निरंतर विकसित होती रहती है। उसके निर्मल प्रसन्न प्रवाह में अवरोध उत्पन्न होने पर स्थिरता के कारण दूषण उत्पन्न होता है जिससे जनमानस का स्वास्थ्य प्रभावि[त] होने लगता है। अंधविश्वास, कर्मकाण्ड भेद भाव, स्वार्थपरता, संकीर्णता जैसी बीमारियों का प्रकोप स्वाभाविक हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में नयी दिशा और न[ये] आलोक की खोज में प्रश्नगर्भी संक्रान्ति जन्म लेती है और अवरुद्ध जनचेतना एक सहज प्रवाह से जुड़ जाती है। प्रत्येक संस्कृति का इतिहास इस प्रक्रिया का साक्षी है। विकासशील संस्कृति में सामंजस्य का गुण अनिवार्य है। मध्य काल की अवरुद्ध सांस्कृतिक चेतना को सामंजस्य-पूर्ण गति देने का श्रेय संतों को ही है। प्रकृत्या विकारजन्य होने के कारण मनुष्य की प्रकृति निरंतर परिष्कार की अपेक्षा रखती है। संतों ने व्यावहारिक जीवन में उपलब्ध आत्म-संस्कार संपन्न मानवीय चेतना को समाज सापेक्ष बनाकर जीवन को सहज, संतुलित और व्यापक बनाने की भूमिका तैयार की। अपनी अकम्प आस्था और आत्मविश्वास से संतों ने निराश जनता में उल्लासपूर्ण जीवन का नूतन अर्थ प्रतिपादित किया जो मनुष्य की स्वाधीन प्रकृति को एक बृहत्तर सार्थकता से जोड़ता है।

युग के सजग प्रहरी संतों ने हीन संस्कार वाले शोषित और उपेक्षित जन-साधारण को अपने साहित्य के केन्द्र रखा। सांस्कृतिक समन्वय के लिए उन्होंने लोक संस्कृति के प्रभावी माध्यम को अपनाया। साहित्य, संस्कृति, भाषा, आचार-विचार आदि लोक जीवन में ही विकसित होते हैं। लोक जीवन की महत्ता को रेखांकित करते हुए व्यासजी ने भी कहा था—'प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नरः।' हिंदू, मुसलमान, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अंत्यज आदि भेदों को भुलाकर संतों ने गुण और ज्ञान को मानवीय प्रतिष्ठा का आधार माना। उनके द्वारा समष्टिगत समाज के परिप्रेक्ष्य में समन्वित मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा की गयी। ज्ञान, भक्ति, कर्म तथा सत्य, शिव, सुन्दर का सामंजस्य और मन आचार तथा रुचियों के परिष्कार के आधार पर जीवन के भव्य एवं उदात्त रूप की प्रतिष्ठा की गयी। आत्मचेतना से अनुशासित इस समन्वित संस्कृति का परिणाम यह हुआ कि निर्गुण, सगुण एवं सूफीमत के संतों में, जाति, धर्म, मत, और साधना पद्धतियों के अलग-अलग होने पर भी मानवीय मूल्यों के संबंध में आश्चर्यजनक एकता थी। इस समन्वय ने विश्व-बंधुत्व की एक ऐसी व्यापक भूमिका तैयार की जिसमें जाति, वर्ण, धर्म, संप्रदाय आदि की दीवारें ढह गयीं। तभी तो कबीर ने स्पष्ट रूप से घोषित किया—'हिंदू कहूं तो है नहीं मुसलमान भी नाहिं।'

गुरु नानक देव ने राम-रसूल का दावा करने वाले संकुचित वृत्ति के लोगों को बेईमान कहा।

चित्र : डा. भटनागर

संतों की धार्मिक दृष्टि भी अनंत संभावनाओं से संपन्न और देश-काल निर्पेक्ष है। संतों की धार्मिक मान्यताएं, अनुष्ठानधर्मी आडंबर, सांप्रदायिक कट्टरता, कटुता, हीनता, संकीर्णता आदि से ऊपर प्रेम, समतामूलक दृष्टि, परोपकार सेवाभाव, भोग से विरक्ति, सत्य, अहिंसा, दया, उदारता, त्याग आदि आचारमूलक तत्त्वों पर निर्भर है। संतों की धर्म साधना कोई आकस्मिक चमत्कार न होकर, एक सुदीर्घ परंपरा की सहज परिणति थी। वर्षों पुरानी अलवारों की परंपरा से पोषित रामानुज, रामानन्द, वल्लभाचार्य जैसे समर्थ साधकों की लोकोन्मुखी चेतना से समर्थित, पूर्व प्रचलित समस्त धर्म साधनाओं, मतों और उपासना पद्धतियों के सार तत्त्व से समृद्ध, समय-समय की चुनौतियों में अग्निपरीक्षा देती हुई यह चेतना मध्यकालीन संतों तक पहुंची

थी। भेदरहित समष्टि मानव की प्रतिष्ठा के प्रति संकल्पित इस धारा से लोक-जीवन में आशा और विश्वास की प्रतिष्ठा का सक्रिय प्रयत्न होता रहा। लोकसामान्य की भूमि से उत्पन्न यह चेतना संतों के समर्थन और संरक्षण से एक व्यापक जन आंदोलन बन गयी। इस वेगवती जन-कल्याणी के तीव्र प्रवाह को कोई भी ऐरावत न रोक सका। इसी प्रवाह से छनकर व्यापक मानव धर्म का उदय हुआ जिसका मूलाधार था—'परोपकार पुण्याय' अथवा 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत।' संतों की धर्म साधना में प्रेम ही परमतत्त्व अथवा चरम पुरुषार्थ है। उसी में डूबकर साधक उपराम और आत्माराम होता है।

श्रेष्ठ कलाकृति अपनी विशिष्ट संरचना के आधार पर ही अनन्त संभावनाओं से संपन्न होकर कलात्मक स्वायत्तता प्राप्त करती है। कृति में निहित आनन्द पर्यवसायी सौन्दर्य मनुष्य की आदिम सौन्दर्य पिपासा को अनायास आकर्षित करता है। अपने इसी वैशिष्टय से खजुराहो, अजंता-एलोरा के चित्र, रामायण, महाभारत, शाकुंतल, होमर, शेक्सपियर, टालस्टाय आज भी प्रासंगिक बने हैं। कविता में 'आंखिन देखी' कहने वाले कबीरदास भी वस्तुतः कविता के केंद्रवर्ती तत्त्व चारुत्व के समर्थक थे। उनकी स्पष्ट घोषणा है—
सोइ आखर सोइ बैन जन जुदा वाचवंत।
कोइ एक मेलइ लवण अमी रसाइण हुंत॥

तुलसी ने सुकवि के कवित्त के लि[ए] देश-काल की निर्पेक्षता 'जनमहिं अन[...] अनत छबि लहई' कहकर सिद्ध की[।] सूर, तुलसी, मीरा, जायसी, कबीर आदि की रचनाओं में परिपूरित चारुत्व, लावण्य और लालित्य आज भी हमारे आकर्षण का विषय है। सौन्दर्य का रूपात्मक अथवा भावात्मक स्वरूप, कलात्मक वक्रता के साथ अभिव्यक्त होकर हमारी रागात्मिका वृत्ति को प्रभावित करता है और मनुष्य की कोमल वृत्ति रचना में अपनी पहचान करने लगती है।

संत साहित्य में विषय वैविध्य की कमी, दार्शनिक आग्रह, उपदेशात्मकता, पुनरुक्ति आदि सीमाओं के बावजूद उदात्त भावना की सहज कमनीयता, निर्मल प्रसन्न अभिव्यक्ति, मानवीय संवेदना की आकुल पुकार, अकृत्रिम सौंदर्य छवि[...] आज भी रसोद्रेक करने में समर्थ हैं। सूरदास द्वारा वर्णित विविध लीलाएं, गोपियों की मार्मिक वेदना, भक्तिपूर्ण समर्पण, तुलसी के मार्मिक प्रसंग और उनका प्रपत्तिमूलक दैन्य, जायसी की प्रेमपीर, प्रेमदीवानी मीरा की करुण चीत्कार, निर्गुण संतों की मानव कल्याण के प्रति संकल्पित दृप्त वाणी और भावा-त्मक मिलन-विछोह का विह्वल उच्छ्वास आज भी हमें अभिभूत करता है। इसका कारण परिवेश और परिस्थितियां नहीं अपितु उनकी रचनाओं में अपनी पहचान और अधूरेपन को भरने की संभावना है।

आज प्रासंगिकता की अवधारणा हमारे सापेक्षता बोध से प्रभावित है। तकनीकी विकास और भौतिकतावादी आग्रह से उत्पन्न आधुनिकता में स्वतंत्र चिंतन शक्ति का अभाव होता जा रहा है। परिणामस्वरूप दायित्व से पलायन और परंपरा के प्रति आत्मघाती नकार का फैशन बढ़ता जा रहा है। आज का आधुनिक मनुष्य परंपरा से मुक्त होकर आत्म-निर्वासन का अभिशाप भोग रहा है। आज यह तथ्य भुला दिया जाता है कि परंपरा बोध हमारे वर्तमान को अधिक स्पष्ट करके हमारी दायित्व चेतना से समृद्ध करता है। आज की दिशाहीनता में मनुष्य के बंधनहीन और निभ्रांत व्यक्तित्व की पहचान कराने वाला संत साहित्य और भी प्रासंगिक हो गया है। संत साहित्य का बहुलांश जीवन संबंधी आस्था को दृढ़ करता है। देश-विदेश में बढ़ती संतों की कीर्तन परंपरा, नगरों और ग्रामांचलों में संत साहित्य का भावपूर्ण गायन, संत साहित्य के व्याख्याताओं के पास उमड़ता जन-सागर, दूरदर्शन और आकाशवाणी के माध्यम से बढ़ती लोकप्रियता आदि संत साहित्य की प्रासंगिकता का उद्घोष है। संत साहित्य की संरचना में निहित मानवीय विकास की बलवती आकांक्षा संघर्षशील अनाहत जिजीविषा, मनुष्य की यथार्थ पहचान और उसकी सार्थकता, आदि गुण भविष्य में भी उसकी प्रासंगिकता को अक्षुण्ण रखेंगे।

—हिंदी विभाग, पुणे विद्यापीठ, पुणे-७

□

विचार-कण

मार्क्स का वर्ग-विभाजन तो पुराना हो गया है। आज तीन वर्ग हैं समाज में—जिनके पास हैं, जिनके पास नहीं है और वे, जिन्होंने उनके पास जो है उसके लिए कोई कीमत अदा नहीं की है।

o

संस्मरणों की एक पुस्तक के लेखक ने कहा कि ऐसी किताबों से दो तरह के शत्रु पैदा होते हैं—एक तो वे जिनका आपने उल्लेख नहीं किया, और एक वे जिनका आपने उल्लेख किया।

o

हर स्वस्थ युवक को, रूस में फौज में भर्ती होना पड़ता है लेकिन पेत्रोव इससे मुक्त था।

'पेत्रोव, तुम्हारे जैसा स्वस्थ, योग्य युवक अपनी जिम्मेवारी पूरी करने फौज में नहीं गया?' एक फौजी अधिकारी ने सवाल किया।

'यही तो मैं खुद से पूछता रहता हूं,' पेत्रोव बोला, 'हर बार जब मैं डाक्टरी जांच के लिए जाता हूं, डाक्टर से पांच सौ रुबल की बाजी लगाता हूं कि इस बार मैं पूर्ण स्वस्थ निकलूंगा—और हर बार मैं बाजी हार जाता हूं।'

प्रस्तुति : कुमार प्रशांत

□

चक्रपाणि पाण्डेय का गीत

□

कौन-सा रिश्ता सगा है, खास है

पोत पीला रंग मौसम के बदन कह रहे हैं, आ गया मधुमास है।
लोग भागे जा रहे हैं बेचने, बिक रहा बाजार में विश्वास है।

देह के नीरव वनों में कहकहे है लगाती एक जहरीली नदी,
जूठनों पर तैरती उबकाइयां और उनके बीच लावारिस सदी,
बोतलों पर और खाली प्लेट पर वक्त बैठा लिख रहा इतिहास है।
बिक रहा बाजार में विश्वास है।

शोर का तूफान जिसके बीच में, वासना की हैं घिनौनी खाइयां,
हर किसी के बीच में हैं उठ रहीं, नफरतों की 'ऊब' की ऊंचाइयां,
वर्फ का चेहरा लगाये आदमी कर मोहब्बत का रहा अहसास है।
बिक रहा बाजार में विश्वास है।

एक बेताबी लिये ठंडे बदन हर उभारों पर छलकती आग है,
लड़खड़ाते पांव की बेमेल ताल ओंठ पर गाली बियर की झाग है,
नर्म सिसकारी वहस के साथ-साथ चिटक जाता हर गुलावी ग्लास है।
बिक रहा बाजार में विश्वास है।

यह चमकते चुस्त अधनंगे लिवास और जीने के लिए हर ओर छल,
कौन पापा साथ कल थी आंटी, कौन अंकल टाफियां लाये थे कल,
पास बच्चों के न इनका है हिसाव, कौन-सा रिश्ता सगा है, खास है!
बिक रहा बाजार में विश्वास है।

—रिफाहे आम क्लब, १२ गोलागंज, लखनऊ-१
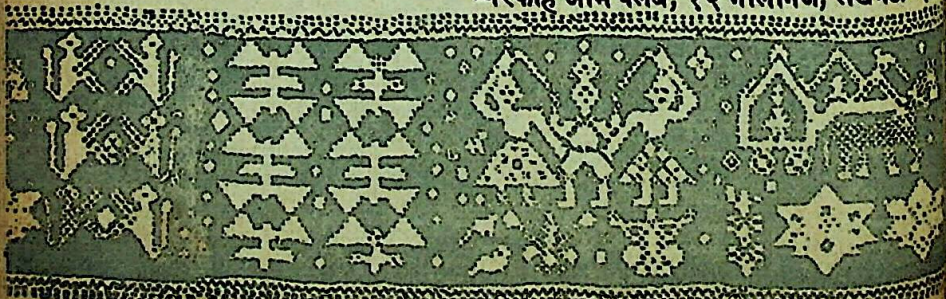
जर्मन महाकवि गेटे की एक प्रेम-कथा

हरिमोहन शर्मा द्वारा प्रस्तुत

प्रीत किये दुःख होय

प्रेम-प्रेम में भेद है। प्रेम मंदिर भी हो सकता है, और कारागृह भी। यह गम
सिसकते, एक ऐसे घायल प्रेम की अविस्मरणीय कहानी है, जो कारागृह बन गया था
सब तरह से पत्थर की तरह बोझिल हो जाने वाला प्रेम, और जिसके पार जाने का को
भी उपाय न सूझे, ऐसा कारागृह।

जन्म से अभिजात और कवि, विश्व-विख्यात गेटे ने जब एक सदी पूर्व, कसक-भ
रूमानी संवेदना से पूर्ण, और प्राणों में तीर-सा चुभ जाने वाला यह उपन्यास जर्मन भा
में लिखा था, तो विश्व-साहित्य-जगत में तहलका मच गया था। अप्रतिदत्त प्रेम के गह
नैराश्य के गहन-गह्वर ने ग्रस लिया था, बारह भाषाओं के उन लाखों पाठकों को, जिन
यह उपन्यास अनूदित हुआ था।

उपन्यास की मूल कथा संक्षेप में इस प्रकार है : एक युवक एक कस्बे में आता
जहां उसकी भेंट एक नाच में एक युवती से होती है। वह प्रथम दृष्टि में युवती को प्रेम कर
लगता है, पर यह जानकारी कि युवती की मंगनी एक अन्य युवक से हो चुकी है, उसे विध्व
कर देती है, और वह वहां से चला जाता है। युवती का प्रेम उसे दुबारा वहां खींच ला
है। इस समय तक युवती का विवाह हो चुका होता है, और वह सुखी वैवाहिक जीवन व्यत
कर रही होती है। लेकिन, युवती उसके मन में बस गयी थी, और वह पुनः भीषण आवे
और तन्मयता से उसे प्रेम करने लगता है। अंत में, चूंकि उसका मानस नैराश्य से भर चु
था, और अपनी प्रेमिका के सामीप्य के बिना जीवन उसके लिए असह्य था, वह अपने
गोली मारकर आत्महत्या कर लेता है।

यह सशक्त उपन्यास जहां आपको कवि गेटे की कथाकार की प्रतिभा के सामर्थ्य
अवगत करायेगा, वहां असफल प्रेम से उत्पन्न परिस्थितियों के घर्षण, विषाद और तपन
मर्मस्पर्शी झांकियां प्रस्तुत कर आपको एक बारगी निस्पंद भी कर देगा।

□

खंड १

१० मई

मैं कह नहीं सकता, प्रिय मित्र, कि इस कस्बे में आकर मैं कितना प्रसन्न हूं। प्रकृति की सुषमा चारों ओर बिखरी पड़ी है, जो मेरी अशांत आत्मा को एक अवर्णनीय शांति प्रदान करती है।

मैं निपट अकेला हूं, लेकिन मुझे किसी की संगति की कोई अभीप्सा कभी अनुभव नहीं होती।

लगता है किसी की संगति क ही वह शांति और तृप्ति भंग जायेगी जिसे मैं यहां (वाल्हीम) आ अनुभव कर रहा हूं। सारे दिन या प्राकृतिक सौंदर्य का रसास्वादन क रहता हूं, या आरामकुर्सी पर आराम लेटा, और कॉफी पीते हुए होमर पढ़ता रहता हूं।

३० मई

बड़े सीधे-सादे और भोले हैं, यहां के लोग ! इनका विश्वास बड़ी जल्दी जीता जा सकता है, और बातचीत करते समय ये लोग कुछ छिपाते नहीं । मैं एक फार्म के पास बैठा एक प्राकृतिक दृश्य का चित्रांकन कर रहा था कि एक किसान मेरे पास आकर बैठ गया । बातों-बातों में उसने बताया कि वह एक विधवा के घर नौकरी करता है । देर तक, उसकी प्रशंसा करने के बाद, नौकर ने कहा, 'उसके भूतपूर्व पति ने उसके साथ ऐसा दुर्व्यवहार किया कि अब विवाह के नाम से ही उसे डर लगता है । मेरी मालकिन तरुणी तो नहीं है मगर लावण्य और आकर्षण में कोई तरुणी उनके सामने नहीं ठहर सकती ।'

न जाने क्यों, इस विधवा महिला के बारे में उसके नौकर से इतना कुछ सुनने के बाद, मुझे लग रहा है कि मुझे उससे अवश्य भेंट करनी चाहिये । बिना मिले भी, न जाने क्यों लग रहा है कि मैं चुपचाप उसके बहुत निकट आ चुका हूं ।

१६ जून

संयोग ही कहूंगा कि जिस महिला से मिलने के लिए मैं इतना बेक़रार था, उससे मेरी भेंट अनायास ही हो गयी । और यह पत्र लिखते समय भी उसकी तस्वीर मेरी आंखों के सामने निरंतर घूम रही है ।

अपने छोटे-छोटे, प्यारे-प्यारे आठ भाई-बहनों के बीच बैठी कितनी प्रिय लग रही थी वह । बच्चों की आयु २ से ९ वर्ष के बीच थी ।

पड़ोस में एक नाच का आयोजन था । उसके लिए जो महिला मुझे आमंत्रित करने आयी थी, उसने नाचघर में जाने से पूर्व, घोड़ागाड़ी में अपने साथ कॉर्लोट नाम की एक संदर युवती को भी ले लिया, उसी युवती को, जिससे, जैसा कि मुझे बाद में पता चला, मैं मिलने का अत्यधिक इच्छुक था !

जब घोड़ागाड़ी कॉर्लोट के घर की ओर बढ़ रही थी, तब मुझे आमंत्रित करने वाली महिला ने मज़ाक में मुझसे कहा, 'देखिये, जनाब ! अपने दिल को ज़रा संभाल कर रखियेगा ।'

'क्या मतलब ?' मैंने पूछा ।

'मतलब यह कि जिस लड़की के पास हम अभी जा रहे हैं, उसे दिल देने की ग़लती न कर बैठियेगा, क्योंकि उस बेचारी की मंगनी एक भले-अच्छे युवक से हो चुकी है ।'

इस चेतावनी के बावजूद, मैं पहली नजर में ही उस लड़की —कॉर्लोट—को दिल दे बैठा । न मालूम, मेरे बारे में क्या सोच रहे हैं आप ?

मुझे यह देखकर प्रसन्नता हुई कि मेरी भांति कॉर्लोट को भी नृत्य से प्रेम है, और मेरी भांति वह भी हल्की-फुल्की प्रेम कहानियों में रस लेती है । ... उससे बातें करते-करते, मैं यह जानने का प्रयास कर रहा था कि हम दोनों का समान कितना

व्यापक और विस्तृत हो सकता है।

मुझे चेतावनी देने वाली महिला मुझे, कॉर्लोट से बातें करते समय, अजीब निगाहों से देख रही थी।

. . . कॉर्लोट को नाचते देखना एक आह्लादक अनुभव था। वह बड़ी तन्मयता से नाचती है। बड़ी सुसंगति और चारुता और लालित्य है उसके नृत्य में। उसे नाचते देखकर, मैं सोच रहा था, काश ! मुझे उसके साथ नाचने का अवसर मिलता . . . !

क्या कॉर्लोट ने मेरी इस प्रबल आकांक्षा को भांप लिया था ?

शायद !

पहले नाच के बाद, वह मेरे पास आकर कहने लगी—'यहां यह क़ायदा है कि पहला नाच पूरा करने के बाद, दोनों पार्टनर साथ में वॉल्ज़ नृत्य अवश्य करते हैं। मगर मेरे पार्टनर को वॉल्ज़ नहीं आता। क्या आप इस नृत्य के लिए मेरा पार्टनर बनना पसंद करेंगे ?'

उसके प्रस्ताव को स्वीकार करने से पूर्व, मेरे लिए भी अपने पार्टनर से पूछना आवश्यक था। सौभाग्य से, मेरे पार्टनर को भी वॉल्ज़ नृत्य नहीं आता था। वह इस बात के लिए राज़ी हो गयी कि मैं कॉर्लोट के साथ वॉल्ज़ नाच में पार्टनर बन सकता हूं।

जैसे ही मैंने वॉल्ज़ नाच के लिए कॉर्लोट को अपनी बांहों में लिया वैसे ही मुझे लगा कि मैं इस पृथ्वी पर नहीं हूं, और यदि स्वर्ग जैसी कोई जगह है, तो वहां पहुंच गया हूं। मुझे याद नहीं, मैं कब तक उसके साथ वॉल्ज़ करता रहा। समय जैसे [illegible] गया था।

. . . स्वर्ग से फिर पृथ्वी पर मुझे [illegible] पटका, एक अपरिचित महिला ने, [illegible] कॉर्लोट के पास आकर फुसफुसाने लगी 'अल्बर्ट !'

अल्बर्ट का नाम सुनते ही, कॉर्लोट विचारमग्न हो गयी।

मैंने उससे पूछा, 'गुस्ताख़ी माफ़ हो, [illegible] क्या मैं पूछ सकता हूं कि यह अल्बर्ट महा[illegible] कौन हैं ?'

'मेरे [illegible]ने वाले पति हैं,' कॉर्लोट [illegible] शांत स्वर में उत्तर दिया, 'बड़े सज्जन औ[illegible] सरल व्यक्ति हैं।'

उसके उत्तर से मुझे कोई आश्चर्य [illegible] हुआ, क्योंकि यह जानकारी मुझे प[illegible] ही मिल चुकी थी, लेकिन मन न ज[illegible] कैसा हो गया ?

लौटने से पूर्व, मैंने बड़ी हिम्मत क[illegible] उससे पूछा, 'क्या मैं तुमसे फिर [illegible] सकता हूं ?'

'हां,' उसने बड़ी सहजता से उत्तर दिया।

दुनिया शायद तब भी घूम रही थी, चांद, सूरज और सितारे सदा की भां[illegible] परिक्रमा कर रहे थे, लेकिन मुझे न दि[illegible] का पता था, न रात का, न दुनिया का, खुद अपना भी पता नहीं था।

२१ [illegible]

भविष्य में क्या होगा, मैं नहीं जानता, जानना भी नहीं चाहता। सिर्फ़ इ[illegible]

जानता हूं कि मैं जिस मस्ती में रहता हूं, वह इस दुनिया की तो नहीं लगती। नज़र और दिल को परिपूर्ण कर दे, छलका दे, ऐसा रहस्य, ऐसा जादू हमेशा चारों ओर छाया रहता है। कभी शिकायत न होगी कि अपने ऊपर आनंद की वर्षा नहीं हुई। आनंद हमेशा बरसता ही रहता है।

मैं जहां हूं, वहां से कॉर्लोट का स्थान ज्यादा दूर नहीं है। कितना निकट हूं मैं स्वर्ग के! शांति की खोज में यहां आया था, और स्वर्ग मिल गया। कितना भाग्यशाली हूं मैं!

२९ जून

कॉर्लोट के छोटे भाई-बहनों से मेरी दोस्ती कहने को तो नयी है, मगर इतनी पुरानी हो चुकी है कि लगता है कि हम हमेशा से एक दूसरे को जानते हैं। (मामला कॉर्लोट के साथ भी करीब-करीब ऐसा ही है, मगर इसे कहूं कैसे?)

तुम तो जानते ही हो, मित्र, कि बच्चों में मैं कितनी जल्दी रम जाता हूं, और वे भी कितनी जल्दी मुझे अपना लेते हैं। इन बच्चों के साथ भी यही हुआ। और, कॉर्लोट की वजह से उनके साथ मेरे संबंध और अधिक प्रगाढ़ हो गये हैं। वह प्रायः कहती है कि मैं उन्हें बिगाड़ रहा हूं।

वह तो, ख़ैर, मज़ाक में कहती रहती है, मगर आज एक डॉक्टर आये, तो उन्होंने तो यह बात बड़ी गंभीरता से कह दी। मैं चुपचाप उनका उलाहना सुनता रहा, बच्चों के लिए ताश के घर बनाता रहा, और वे उन्हें बिगाड़ते रहे...

६ जुलाई

पिछले दिनों कॉर्लोट अपने एक रोगी रिश्तेदार की सेवा में लगी रही, और मुझे उससे ज्यादा बातें करने के अवसर नहीं मिल पाये। लेकिन जिस लगन और सेवा-भाव से उसे मैंने अपने रोगी रिश्तेदार की सेवा-सुश्रूषा और परिचर्या करते देखा, उसे देखकर मेरा मन भी रोगी होने का कर रहा है...

८ जुलाई

लगता है, बच्चों के साथ रहते-खेलते मैं भी बच्चा हो गया हूं। या, मूर्ख। दोनों में से एक तो ज़रूर हूं, नहीं तो एक छोटी-सी बात को लेकर इतना परेशान न होता, और न उसके बारे में लिखकर तुम्हें ही परेशान करता!

आज जब कॉर्लोट अपनी सहेलियों के साथ घोड़ागाड़ी में सवार हुई, तो उसने मुझे और मेरे साथ खड़े दो युवकों को देखा। मगर, मुझे तो वह एक क्षण देखकर ही रह गयी, जबकि उन दोनों को देखकर काफ़ी देर तक मुस्कराती रही।

क्या मुझे इस छोटी-सी बात को लेकर इतना परेशान होना चाहिये?

१० जुलाई

इस पत्र को पढ़कर तो तुम्हें पूरा यक़ीन हो जायेगा कि मैं पागल हो गया हूं। कभी-कभी, खुद मुझे भी ऐसा ही लगता है।

कोई कॉर्लोट का नाम लेता है, तो मैं पागलों की तरह उसे निहारने लगता हूं।

और जब कोई मुझसे पूछता है, जैसा कि आज ही किसी ने पूछा कि वह मुझे पसंद है या नहीं, तो मेरी सिट्टी-पिट्टी ही गुम हो जाती है। मैं बिलकुल बौड़म हो जाता हूं। ज़ो चौबीसों घंटे प्राणों में समायी है, उसके बारे में . . . . बतलाओ कि हम बतलायें क्या ?

१३ जुलाई

नहीं, मुझे धोखा हुआ था। व्यर्थ ही अपने को परेशान कर रहा था मैं। आज कॉर्लोट ने जिस तरह जी-भर मुझे निहारा, उससे मुझे विश्वास हो गया कि . . . वह मुझे प्रेम करती है। इन शब्दों को मुंह पर और क़लम की नोक पर लाने में मैंने कितनी हिम्मत की है, वह तुमसे कैसे बयान करूं, मित्र ! . . . और मेरा हर्ष भी बयान के बाहर है।

लेकिन, एक बात मेरी समझ में नहीं आती। यदि वह सचमुच मुझसे—और जहां तक मैं समझता हूं—सिर्फ़ मुझसे ही प्रेम करती है, तो अल्बर्ट के बारे में मुझसे इतनी हार्दिकता और अनुरक्ति से क्यों बात करती है। क्यों ?

१६ जुलाई

कितनी तेज़ी से धड़कने लगता है मेरा दिल, जब सहसा मेरी उंगलियां उसकी उंगलियों से छू जाती हैं, या मेज़ के नीचे मेरे पांवों का स्पर्श उसके पांवों से हो जाता है ! . . . लगता है, किसी भट्ठी के निकट आ गया हूं। उस बेचारी को शायद पता भी न होगा कि ये साधारण से स्पर्श मुझे कितना उद्वेलित कर देते हैं। कभी-कभी, बातें करते समय जब उसकी शबनमी श्वास मेरे होठों का स्पर्श करती है, तो मुझे लगता है, जैसे बिजली मुझ पर गिर पड़ी हो।

लेकिन, मित्र, मैं उसके बारे में कोई दूषित भाव मन में नहीं ला सकता। मैं उसे एक देवी मानता हूं। आज ही जब वह पियानो पर अपनी प्रिय धुन बजा रही थी, तो मैंने पाया कि मेरे जीवन में आत्मा की पहली किरण उतर रही है—नाचती, गुनगुनाती, हज़ार फूलों को खिलाती। और तुम्हें आश्चर्य होगा कि यह आह्लाद से भरती अनुभूति मुझे तब हुई, जब मैं बड़ी गंभीरता से आत्महत्या करने की सोच रहा था, क्योंकि ज़िंदगी बेकार-सी मालूम होने लगी थी। दुख का नशा, नशा-ए-ग़म मुझ पर चढ़ा था।

१८ जुलाई

शायद, जुनून में लिख रहा हूं, मगर लिखे बिना रह भी नहीं सकता। कई मिलने वाले आ गये इसलिए आज मैं कॉर्लोट से मिलने नहीं जा सका। मैंने अपने नौकर को उसके पास भेज दिया। जानते हो, क्यों ? इसलिए कि उसके लौटने पर मैं कम से कम उसे तो देख सकूंगा, जो अभी-अभी उसे देखकर लौटा है। और जब वह उसके पास से लौटा, तो मेरा मन उसे चूम लेने को हुआ, और मैं अपने को बमुश्किल तमाम रोक पाया !

तुम हंसोगे, मगर मैं पूछता हूं—प्रेम-

विहीन हृदय को लेकर जीने से क्या लाभ ?

१९ जुलाई

रोज़ सुबह उठने पर मैं हर्ष से कहता हूं : 'मैं आज कॉर्लोट से मिलूंगा।' चमकते सूरज से कहता हूं, 'सुना ! मैं आज उससे मिलने वाला हूं।' और, बस, फिर और कुछ कहने की ज़रूरत नहीं रह जाती। जो कहना था, कह दिया, सब कुछ कह दिया।

२० जुलाई

नहीं, मित्र, मुझे तुम्हारा प्रस्ताव स्वीकार नहीं है। मैं उस राजदूत के साथ काम करने या कहीं जाने को क़तई तैयार नहीं हूं। एकदम बेकार आदमी है। तुमने लिखा है, मेरी मां चाहती हैं कि मैं यह नौकरी कर लूं। नहीं, मित्र, उनसे कह देना, नौकरी मुझसे नहीं होगी, कम से कम यह नौकरी !

२६ जुलाई

रोज़ सोने से पहले यह फ़ैसला करके सोता हूं कि अब मैं उससे ज़्यादा नहीं मिलूंगा, मुझे उससे ज़्यादा नहीं मिलना चाहिये। मगर, इस फ़ैसले पर कभी अमल नहीं कर पाता। कभी-कभी तो वह खुद यह कहकर, 'कल आओगे न !' मुझे अगले दिन आने को मजबूर कर देती है, और बाकी वक्त मैं अपने को, किसी न किसी बहाने से, मजबूर कर लेता हूं।

३० जुलाई

अल्बर्ट आ गया है। अगर वह इतना भला, इतना नेक, इतना अच्छा न होता, तो मैं कह नहीं सकता, मैं क्या कर बैठता ! फिर भी, मन यह गवारा नहीं कर पाता कि वह ऐसी अनिंद्य नारी का स्वामी बने ! यूं वह मेरा काफ़ी लिहाज़ करता है, पर मेरा खयाल है कि इस लिहाज़ के पीछे कॉर्लोट है। मगर अल्बर्ट के सामने मैं बिलकुल लाचार बन जाता हूं। और, इस लाचारी की पराकाष्ठा में उसके सामने ही अपने होंठ चाबने लगता हूं।

कॉर्लोट ने कई बार मेरे इस व्यवहार को देखकर मुझसे अकेले में कहा, 'जब तुम गुस्से से होंठ चबाने लगते हो, तो मुझे बड़ा डर लगने लगता है। भगवान के लिए ऐसा मत किया करो !' और यह सुनकर मैं सिर्फ़ इतना ही सोच पाया, काश ! मैं और वह हमेशा अकेले में ही मिलते !

८ अगस्त

मैं तुम्हारे तर्क का क़ायल हूं, मित्र ! मगर ...। खैर, पहले तुम्हारा तर्क तो सुनें। तुम कहते हो : 'या तो यह निश्चय कर लो कि हर हालत में तुम्हें कॉर्लोट को पाना है। और यदि यह निश्चय कर लिया है तो पूरे मन से उसे पाने में जुट जाओ। और, यदि उसे पाना नहीं चाहते, या पाने की आशा नहीं है, तो जल्दी से जल्दी इश्क की इस सनक से छुट्टी पाओ, नहीं तो यह सनक तुम्हें नष्ट करके रख देगी।'

तुम्हारी इस दलील के जवाब में मुझे सिर्फ़ इतना कहना है : तुम चिरकालिक रोग से ग्रस्त रोगी को, जिसकी मृत्यु इस रोग से निश्चित है, एक ही बार में समाप्त

कर देना चाहते हो ।

काश ! मैं प्रेम-रोग से मुक्त होकर यहां से कहीं जा सकता !

उसी शाम

आज मैं अपनी डायरी फिर पढ़ गया । यह देखकर चकित हूं कि मैंने कैसे अपने को कॉर्लोट के साथ उलझा लिया है । मगर, यह देख-जानकर भी अपने को इस उलझन से निकलने योग्य सूझ और साहस नहीं जुटा पाता !

१५ अगस्त

दिन-ब-दिन, मैं इस बात का क़ायल होता जा रहा हूं कि प्रेम सबके लिए अनिवार्य है । उनके लिए भी जो प्रेम करते हैं, और उनके लिए भी जिन्हें प्यार किया जाता है ।

१८ अगस्त

ऐसा क्यों है कि जहां से प्रेम का झरना फूटता है, वहीं से कष्ट का भी झरना फूटता है ? मन एक साथ दुखी और सुखी क्यों होता है ?

२१ अगस्त

हद हो जाती है, जब मैं रोज़ सुबह उठता हूं । मैं अपनी बांहें फैलाता हूं कि वह आकर उनमें समा जाये । बिस्तर को देखता हूं कि वह रात यहां होनी चाहिये थी, लेकिन है क्यों नहीं ? वह सपना क्या हुआ, जिसमें मैं उसके साथ था, और हम दोनों पर बसंत आ गया था आनंद का !

२८ अगस्त

आज मेरी सालगिरह थी । अल्बर्ट की ओर से एक पैकेट मिला जिसमें कॉर्लोट ने अपने वे गुलाबी रिबन भिजवाये थे, जिनकी प्रशंसा मैंने कई बार की थी । . . . कम से कम एक हज़ार बार तो अवश्य चूमा होगा मैंने उस रिबन को, और हर बार कॉर्लोट के साथ विताये गये सुखद क्षण पुनर्जीवित हो जाते थे । तुम प्रेम को बंधन मानते हो मित्र, मगर प्रेम क्या मुक्ति भी नहीं है ?

३० अगस्त

बहुत उदास हूं, और अतीत में झांक रहा हूं । और जितना ही अतीत को देखता हूं, उतनी ही उदासी सघन होती जाती है । चाहता हूं कि कॉर्लोट के हाथ में आंसुओं से तर करके, इस उदासी से मुक्त हो जाऊं, लेकिन मेरे ऐसे भाग्य कहां ! लगता है, इस उदासी से मुक्ति या तो मर कर मिलेगी, या संन्यास लेकर !

३ सितंबर

मैं अब यहां से अवश्य चला जाऊंगा । तुमने यही विकल्प सुझाया था, न मित्र ? हां, हां, मैं अवश्य उसे छोड़कर चला जाऊंगा ?

१० सितंबर

सरे शाम कॉर्लोट से मिलने चला गया डांवांडोल मन के साथ । पर, निश्चय करके गया था कि डांवांडोलपन के साथ वापस नहीं लौटूंगा । निर्णय ले लिया था कि कल सुबह उसे छोड़कर, यहां से सदा के लिए चला जाऊंगा ।

लेकिन, एक अनुभव हुआ, अपूर्व अनुभव, अविस्मरणीय अनुभव । और वह

कि बात जब हृदय से उठती है, तो कभी-कभी उसे कहना कठिन हो जाता है। बात ठीक-ठीक शब्दों में अंटती नहीं। प्रेम भाषा में पूरा का पूरा भला कहां आ पाता है?

कॉर्लोट भी थी, और अल्बर्ट भी था। मैंने उनसे साफ़-साफ़ नहीं कहा था कि अंतिम विदा लेने आया हूं, लेकिन कॉर्लोट ने मेरी पीड़ा को न जाने कैसे समझ लिया। और जब उसने मुझे आश्वस्त करना चाहा, अपने प्रेम के बारे में, तो जो बात आयी, वह लगा अधूरी आयी। मगर, आयी तो। कुछ कहा तो, उसने।

चांदनी रात थी। कॉर्लोट कहने लगी, 'चांदनी रात न जाने क्यों मुझे उन सबकी याद दिला देती है, जिन्हें मैं प्यार करती हूं, या करती थी। उनकी भी याद आ जाती है, जो मर चुके हैं। मैं उन सबसे, मन ही मन कहती हूं, 'हम फिर मिलेंगे। फिर मिलन होगा हमारा।'

बात मुझे संबोधित करके कही गयी थी। मैंने उसका हाथ अपने हाथ में ले लिया, और अश्रुपूर्ण नेत्रों से कहने लगा, 'निश्चय ही, हम फिर मिलेंगे। फिर मिलन होगा हमारा।'

...और जब वे दोनों चले गये, तो मैं ज़मीन पर गिर कर रोने लगा, और न जाने कब तक रोता रहा।

कौन आंखों में सिमट आया आंसू बनकर?

०००

खंड २

२० अक्तूबर

मैं कल यहां आ गया—राजदूत महोदय की सेवा में। यदि उन्होंने मुझसे उचित व्यवहार किया, तो गाड़ी चल निकलेगी, नहीं तो मैं नहीं जानता कि मैं उनके साथ कैसे निभाऊंगा?'

२६ नवंबर

परिस्थितियां अनुकूल होती जा रही हैं। काफ़ी व्यस्त भी रहना पड़ता है, जिसकी वजह से मैं असंतुष्ट और दुखी नहीं रहता।

२४ दिसंबर

लगता है, अपनी पूरी कोशिशों के बावजूद, मैं राजदूत महोदय को कभी खुश नहीं कर पाऊंगा। वे निपट मूर्ख, ज़िद्दी और क्रूर हैं। वह खुद दुखी रहते हैं, और मुझे भी दुखी रखते हैं। और मेरे दुख का मूल कारण तुम हो, मित्र, तुम! तुम ही ने मुझे मजबूर किया था कि मैं यह नौकरी कर लूं।

२० जनवरी

प्रिय कॉर्लोट, मैं यह पत्र एक सराय से, जहां मुझे एक तूफ़ान की वजह से शरण लेने को बाध्य होना पड़ा है, बैठकर लिख रहा हूं।

तुमसे विदा लेने के बाद तुम्हें, पत्र लिखने का विचार मेरे मन में कभी नहीं आया, लेकिन आज एकांत में, सहसा, तुम्हारी याद आ गयी, तुम्हारी पवित्र और

प्रेममय याद !

मेरी दिनचर्या एक यंत्र-मानव की सी दिनचर्या हो गयी है। उठता हूं, काम करता हूं, और सो जाता हूं, एक निर्जीव कठपुतली की तरह। मेरे प्राण न जाने कहां हैं। मेरे पास नहीं है; यह तो मैं निश्चयपूर्वक कह सकता हूं।

यहां मेरी जान-पहचान एक कुमारी बी...से हो गयी है। वह सूरत और सीरत में तुमसे काफ़ी मिलती है, और दूसरा कमाल यह है कि वह तुम्हें जानती भी है। जब मैं उससे तुम्हारी बात करता हूं, तो उसे बड़ी खुशी होती है।

तुम्हारी याद आयी, तो तुम्हारे नन्हे भाई-बहनों की भी याद आ गयी। कल्पना के नेत्रों से देख रहा हूं—मैं तुम्हारे चरणों में बैठा हूं, वे तुम्हें परेशान करने लगते हैं, और मैं उन्हें परियों और राक्षसों की कहानियां सुनाना शुरू कर देता हूं।

क्या अल्बर्ट तुम्हारे साथ है ? उसके साथ कैसा चल रहा है ? प्रश्न अनुचित लगा हो, तो उसके लिए तुमसे क्षमा चाहता हूं।

१७ फरवरी

राजदूत महोदय के साथ फिर खटपट हो गयी। उन्होंने मेरी शिकायत ऊपर के अधिकारियों से कर दी, जिन्होंने मुझे हल्के से फटकारा। मैं तभी त्यागपत्र देना चाहता था, लेकिन तभी मंत्री महोदय का एक प्रशंसात्मक पत्र पाकर, मुझे अपना निश्चय बदलना पड़ा।

२० फरव

खुश रहो, मेरे दोस्तो ! तुम्हें व खुशी नसीब हो, जो मुझे नहीं हुई।

अल्बर्ट, तुमने मुझे धोखा दिया, तो मैं तुम्हारा शुक्रिया अदा करता हूं। तुम्हारी विवाह-तिथि की प्रतीक्षा क रहा था, ताकि उस दिन मैं कॉर्लोट चित्र और पत्रों को नष्ट कर सकूं। तु दोनों एक हो गये हो, और फिर भी कॉर्लो का चित्र मेरी दीवार पर मौजूद है। क न हो ? मुझे विश्वास है कि कॉर्लोट हृदय में आज भी मेरे लिए जगह है, भ ही वह अल्बर्ट के बाद की जगह हो। और उस जगह को छोड़ने का मेरा इरादा न है। यदि उसने मुझे भुला दिया तो पागल हो जाऊंगा। अलविदा, अल्बर्ट अलविदा, कॉर्लोट !

१५ मा

चूंकि तुमने ही मुझे इस नौकरी लिए प्रेरित किया था, मित्र, अतएव तुम्हें यह बताना चाहता हूं कि एक अ मानजनक घटना के कारण मुझे यह नौक छोड़कर, फिर शायद मौत की शरण जाना पड़ेगा। मेरे शत्रुओं द्वारा किया ग यह अपमान मेरे हृदय में छुरे की भां गड़ गया है।

२४ मा

आज मैंने अपना त्यागपत्र प्रस्तुत किया और मुझे आशा है कि उसे शीघ्र ही स्वीका कर लिया जायेगा। कृपया मुझे इस ज पर बने रहने को बाध्य न करो, मि

क्योंकि अब मैं यहां बिलकुल नहीं टिक सकता।

...के राजकुमार ने सारी वसंत ऋतु उनके गांव के बंगले में बिताने के लिए मुझे आमंत्रित किया है। मैंने उनका निमंत्रण स्वीकार कर लिया है।

९ मई

राजकुमार के साथ मेरे दिन बड़े सुख से बीत रहे हैं। उनका स्वभाव इतना अच्छा है कि उनके साथ कोई भी सुखपूर्वक रह सकता है।

११ जून

तुम कुछ भी कहो, मित्र, अब मेरा यहां रहना भी असंभव लगता है। राजकुमार जिन्हें मैं असाधारण मानता था, एक साधारण आदमी हैं। उन्हें न साहित्य में रुचि है, न कला में। उनसे बात करते समय, कभी-कभी मैं अपना धीरज खो बैठता हूं।

१६ जून

मैं फिर यायावर बन गया हूं। आदमी इस दुनिया में यायावर ही है।

मैं अब कहां जाऊंगा, कहां रहूंगा, कह नहीं सकता। अपने मन में झांकता हूं तो पाता हूं कि मुझे कॉर्लोट के पास चलकर रहना चाहिये। मन के इस सुझाव पर मैं मुस्कराता हूं, मगर मन के आदेशों का पालन किये बिना चारा क्या है?

१८ जुलाई

काश! मैं कॉर्लोट का पति होता, तो मेरा जीवन इतना दुखी, इतना अव्यवस्थित न होता। मैं अत्यन्त संतुष्ट होता। जब मैं अल्बर्ट को उसकी कमर में हाथ डालते देखता हूं, तो सिहर उठता हूं। उसकी कमर में तो मेरे हाथों के होने का अधिकार है।

और, मित्र, मुझे इस बारे में भी कोई संदेह नहीं है कि मेरी पत्नी होकर वह भी अधिक सुखी होती! मैं नहीं समझता कि अल्बर्ट कभी उसके हृदय की आकांक्षाओं को संतुष्ट कर पायेगा। कॉर्लोट और मैं एक दूजे के लिए ही बने हैं।

२१ अगस्त

आजकल मेरे मन में अजीब-अजीब खयाल आते रहते हैं। मैं हमेशा अपने दिवास्वप्नों में खोया रहता हूं।

कभी-कभी यह खयाल मेरे मन में बार-बार आता है, 'काश! अल्बर्ट मर जाये तो—तब वह मेरी हो जायेगी—और मैं सुखी हो सकूंगा!' और जब मैं इस असंगत कल्पना से युक्त होता हूं, तो पाता हूं कि मैं एक खड़ी चट्टान के किनारे पर खड़ा हूं...

३ सितंबर

मेरी यह समझ में नहीं आता कि जब मैं उसे इतनी संपूर्णता से प्यार करता हूं तो वह मेरे सिवा किसी और को कैसे प्यार कर सकती है? क्या उसे यह मालूम नहीं है कि उसके अलावा मेरा इस दुनिया में और कोई नहीं है?

४ सितंबर

आज अनुभव किया कि अपने से ज्यादा

दुखी और अभागे व्यक्ति के कष्ट में सह-भागी बनकर किस प्रकार अपना कष्ट कम हो जाता है। ऐसा ही अनुभव मुझे एक ऐसे अभागे नौजवान से बातें करने पर हुआ, जिसे नौकरी से निकाल दिया गया था। उससे समवेदना प्रकट करने के बाद मैं बड़ा शांत और संतुष्ट अनुभव कर रहा हूं।

५ सितंबर

अजीब संयोग से कॉर्लोट का एक पत्र मेरे हाथ में पड़ गया। यह पत्र उसने अपने पति अल्बर्ट को, जो किसी काम से बाहर गया था, लिखा था। लिखा था, 'प्रियतम! जल्दी से जल्दी लौट आओ। मैं हज़ारों हर्षातिरेकों के साथ तुम्हें आने को कह रही हूं।'

मैंने यह पत्र उसे लौटाते हुए कहा, 'काश! तुमने यह पत्र मुझे लिखा होता!' वह मेरी इस बात से खुश नज़र नहीं आयी। मैं भी आगे कुछ और कह न पाया।

१२ सितंबर

आज जब मुझे पता चला कि कॉर्लोट अलबर्ट के पास से वापस आ गयी है, तो मैं उससे मिलने गया। जब वह मेरे स्वागत के लिए उठी, तो मैंने बड़े प्यार से उसका हाथ चूम लिया।

तभी एक चिड़िया आकर उसके कंधे पर बैठ गयी। उसने मेरी ओर अजीब ढंग से मुस्कराते हुए उस चिड़िया का मुंह अपने मुंह के पास लाकर उसे चूम लिया। मैंने अपना मुंह फेर लिया। क्या उसे ऐसा करना चाहिये था? क्या उसने ऐसा इसलिए किया कि वह मुझे प्यार करती है?

१० अक्तूबर

उसकी काली, चमकीली, सुंदर आंखों में झांकते ही मैं जैसे स्वर्ग में पहुंच जाता हूं। मुझे नहीं पता था कि प्रिया के दर्शन मात्र से इतना सुख मिल सकता है!

मैंने ग़ौर किया है कि अल्बर्ट उतना सुखी नहीं है, जितना मैं आशा कर रहा था। शायद मुझे उसके बारे में इतनी स्पष्टता से नहीं लिखना चाहिये।

१९ अक्तूबर

कितना खाली है मेरा मन! एक बार सिर्फ़ एक बार उसे सीने से लगा सकूं तो यह खालीपन देखते ही देखते दूर हो जाये!

२७ अक्तूबर

मैं अपने गुणों से, अपनी खूबियों से अच्छी तरह वाक़िफ़ हूं। लेकिन उसके विराट प्रेम के आगे ये सब खूबियां कितनी छोटी और नगण्य लगती हैं! मैं कुछ भी नहीं हूं--उसके प्रेम के बिना।

३० अक्तूबर

उस यातना का वर्णन नहीं कर सकता जो मुझे इस अहसास से होती है कि रोज़ अपने सामने कई बार गुज़रने वाली अपनी प्रियतमा को मैं स्पर्श भी नहीं कर सकता! कितना सहज-स्वाभाविक है अपने प्रिय का स्पर्श करना, उसका आलिंगन करना! बच्चों में इस मामले में कोई अंतर्बाधा नहीं है।

३ नवंबर

रात को सोते वक्त, यह कामना करके सोता हूं कि सुबह मैं जीवित न उठूं। जीवन के प्रति मेरा कोई आकर्षण शेष नहीं रहा है। जीवन में हर्ष के थोड़े बहुत क्षण तब आते हैं, जब कॉर्लोट के साथ बिताये गये मधुर क्षणों की यादें आकर मुझे घेर लेती हैं।

८ नवंबर

कॉर्लोट ने आज बड़ी नम्रता से मुझसे कहा, 'तुम बहुत अधिक पीने लगे हो। इसे बंद करो। मेरी खातिर।' जब मैंने पूछा, 'क्या तुम सचमुच मेरा इतना खयाल करती हो?' उसने फ़ौरन विषयांतर कर दिया, ताकि मैं इस बारे में और कुछ न कह सकूं।

२१ नवंबर

कल जब मैं कॉर्लोट से विदा लेने लगा, तो उसने मेरा हाथ अपने हाथ में लेकर कहा, 'अलविदा! डियर वर्थर!' बड़ी मुश्किल से मैं अपनी मुस्कान छिपा पाया। बेचारी कॉर्लोट नहीं जानती कि वह मुझे डियर कहकर, जो उसने कल मुझसे पहली बार कहा, एक ऐसा धीमा जहर मिला रही है, जो एक दिन मेरे प्राण लेकर रहेगा।

२४ नवंबर

शायद वह मेरी पीड़ा को समझती है। यह उसके मुझे देखने के उस ढंग से जाहिर है, जिससे वह कभी-कभी मुझे देखती है — मरहमवाली नजर से।

जब वह पियानो बजा रही थी, तब मुझे सबसे अधिक सुंदर लग रहे थे उसके होंठ, जिनका हल्का-सा चुंबन लेने का लोभ मैं बड़ी कठिनाई से संवरण कर सका। पर, उससे यह कहे बिना मुझसे नहीं रहा गया: 'कितने सुंदर होंठ हैं तुम्हारे! मगर घबराओ नहीं, मैं उनका चुंबन लेकर उन्हें दूषित नहीं करूंगा।' लेकिन, अब सोच रहा हूं कि यदि मैं सचमुच उनका चुंबन ले लेता, तो क्या सचमुच वे होंठ अपवित्र हो जाते और यह मेरा अपराध होता!

४ दिसंबर

कॉर्लोट पियानो पर अपनी प्रिय धुन बजा रही थी, और उसकी एक छोटी बहिन मेरी गोद में बैठी गुड़िया से खेल रही थी। तभी मेरी नजर उसकी शादी की अंगूठी पर पड़ी, और मेरी आंखों में आंसू आ गये। उसके कारण मुझे जिन-जिन निराशाओं और पीड़ाओं को सहन करना पड़ा था, वे पहाड़ की तरह मेरे सामने खड़ी हो गयीं। मैंने उसे पियानो पर उस धुन को रोकने के लिए कहा। उसने एक मुस्कराहट के साथ, जो मेरे दिल में एक कटार की तरह चुभ गयी, मुझसे घर जाकर आराम करने को कहा — हे प्रभु! कब अंत होगा मेरे कष्टों का?

६ दिसंबर

उसकी छबि सोते-जागते मेरा पीछा करती रहती है। आंखें बंद करते ही, वह मेरी आत्मा में उतर आती है और भंग हो जाती है यह छबि आंखें खोलते ही। जीवन

तब कितना सूखा, एकरंगी और स्वादहीन लगने लगता है।

०००

टिप्पणी : पुस्तक-संपादक की ओर से

उपन्यास के नायक वर्थर के पत्र-व्यवहार में, बीच में, व्यवधान उपस्थित हो जाने के कारण, हमें कथा-क्रम जारी रखने के लिए अपनी ओर से कुछ कहने के लिए मजबूर होना पड़ रहा है। इन तथ्यों को हमने बड़ी मेहनत से जमा किया है।

शोक और नैराश्य न वर्थर की आत्मा को खोखला करके रख दिया था, और वह मानसिक रूप से बहुत असंतुलित हो चला था। अल्बर्ट ने उसके पास जाना बंद कर दिया था, क्योंकि वर्थर को उसका दर्शन ही विषादजनक लगता था। अपनी डायरी में उसने लिखा, 'बार-बार यह कहने से क्या लाभ है कि वह एक अलग आदमी है। सच तो यह है कि वह मेरे लिए संताप का कारण बन गया है। मैं उसके साथ कभी सही ढंग से पेश नहीं आ सकूंगा।'

शायद अल्बर्ट को भी पता चल गया था कि वर्थर उसके बारे में क्या सोचता है। इसलिए वह अक्सर कॉलोंट से कहता रहता था कि उन्हें वर्थर से दूर ही रहना चाहिये, क्योंकि लोग उसके और वर्थर के संबंधों पर उंगली उठाने लगे हैं। अपने पति की यह बात सुनकर कॉलोंट चुप रही थी। उसका चुप रहना अल्बर्ट को अच्छा नहीं लगा था।

वर्थर का जीवन अब पूरी तरह नि-द्देश्य हो गया था, और भटकन, शोक औ- रोने के अलावा उसके जीवन में कुछ न- रहा था। अंदर ही अंदर वह चुकता - रहा था, और एक दिन वह पूरी तरह चुक गया, और उसके दुखद जीवन - अंत हो गया। कैसे हुआ, यह आप आ- के वर्णन को पढ़कर जान सकेंगे। पहले- अपने मित्र को लिखे, उसके अंतिम पत्र

०००

१२ दिसंब-

प्रिय मित्र, मुझे पूरा यक़ीन है कि मैं ए- शापित इंसान हूं, और किसी दुष्टात्मा - शाप मेरा पीछा करता रहता है, और मे- प्राण लेकर रहेगा। शायद, इस शाप क- वजह से ही मेरा मन भारी रहता है। रात को, इस भार को हल्का करने के लि- अचानक उठ जाता हूं और रात भर इधर- उधर भटकता रहता हूं।

१५ दिसंब-

अब मुझे सचमुच डर लगने लगा है- अपने बारे में कि मेरा क्या होगा? क्या मेरा प्रेम पवित्र नहीं है? मैंने तो उ- कभी दूषित नहीं होने दिया।

मैं खोया जा रहा हूं, और लगता है जल्दी ही बिलकुल खो जाऊंगा।... अ- मुझे वह पर्दा साफ़ दिखायी देने लगा है जिसे पार करके उस ओर आसानी - पहुंचा जा सकता है। फिर ये सारे संदे- और विलंब क्यों? क्या इसलिये कि उ- पार से लौटना नहीं है। क्या इसलिये कि

फिर अंधेरा, अनिश्चय और अव्यवस्था ही है ?

मैं अ-संवेदनशील होता जा रहा हूं। सिर्फ़ कॉर्लोट की याद और उसकी मौजूदगी ही मुझे आंदोलित कर सकती है। उसके पास होने से ही मेरे भीतर कोई प्रतिसंवेदन पैदा होता है।

२० दिसंबर

प्रिय मित्र, अनुग्रहीत हूं, तुम्हारे प्रेमपूर्ण निमंत्रण के लिए कि मैं तुम्हारे पास लौट आऊं। तुमने मुझे आकर ले जाने की इच्छा भी व्यक्त की है, लेकिन कृपया एक पखवारे तक न आना। मेरे पत्र की प्रतीक्षा करना। मेरी ओर से मेरी मां से क्षमा मांग लेना। मेरी वजह से उन्हें बहुत दुख पहुंचा है। मैं ऐसा अभागा हूं कि जिन्हें मुझे सुख पहुंचाना चाहिये था, उन्हें मैंने कष्ट ही पहुंचाया है।

मेरे जीवन में कोई अर्थ नहीं रह गया है। सारे जीवन का अर्थ नष्ट हो गया है। मरने की आकांक्षा प्रबल होती जाती है, और मैं मरना चाहता हूं।

०००

पुनः पुस्तक-संपादक की ओर से :

वर्थर ने जिस दिन उपरोक्त पत्र लिखा, उसी दिन शाम को वह कॉर्लोट से मिलने गया। वह घर में अकेली थी, और क्रिसमस पर अपने भाई-बहनों को दिये जाने वाले उपहार सजा रही थी। उसे देखकर, कॉर्लोट ने कहा, 'अगर तुम ढंग से पेश आओगे, तो एक उपहार तुम्हें भी मिल सकता है।' इस पर, वर्थर ने पूछा, 'ढंग से पेश आना क्या होता है?' कॉर्लोट ने कहा, 'तुम मुझसे अकेले में मत मिला करो। इससे मुझे बड़ी असुविधा होती है। क्रिसमस पर यदि तुम आना ही चाहते हो, तो रात को आना, जब यहां सब मौजूद होंगे।'

कॉर्लोट के इस कथन का वर्थर पर वही असर हुआ, जिसकी उसे आशंका थी। उसने कार्लोट की ओर से मुंह मोड़कर कहा, 'नहीं, कॉर्लोट, में आगे यहां कभी नहीं आऊंगा।' कॉर्लोट ने कहा, 'मैंने तुम्हें आने से मना तो नहीं किया है। सिर्फ़ यह कहा है कि हम दोनों को इस मामले में विवेक से काम लेना होगा। मैं तुमसे प्रार्थना करती हूं कि तुम अपना ध्यान कहीं और, जहां तुम्हारी प्रतिभाओं का बेहतर इस्तेमाल हो सके, लगाओ। मैं तुम्हें सहानुभूति के अलावा कुछ और नहीं दे सकती।' और फिर उसे खिन्न देखकर, उसका हाथ अपने हाथ में लेकर कहने लगी, 'मेरी बात ध्यान से सुनो, वर्थर! मुझे, जो दूसरे की हो चुकी हूं, प्यार करके तुम अपनी तबाही ही मोल ले रहे हो।'

वर्थर की आंखें गुस्से से लाल हो गयीं, और वह अत्युत्तेजित स्वर में बोला, 'यह तुम नहीं बोल रही हो, तुम्हारे मुंह से अल्बर्ट बोल रहा है, और खूब बोल रहा है।' कॉर्लोट ने शांत स्वर में उत्तर दिया, 'तुम आसानी से अपने लिए अपने योग्य किसी युवती की खोज कर सकते हो, जिसके सान्निध्य में तुम सुखी जीवन व्यतीत कर

तब कितना सूखा, एकरंगी और स्वादहीन लगने लगता है।

०००

टिप्पणी : पुस्तक-संपादक की ओर से

उपन्यास के नायक वर्थर के पत्र-व्यवहार में, बीच में, व्यवधान उपस्थित हो जाने के कारण, हमें कथा-क्रम जारी रखने के लिए अपनी ओर से कुछ कहने के लिए मजबूर होना पड़ रहा है। इन तथ्यों को हमने बड़ी मेहनत से जमा किया है।

शोक और नैराश्य न वर्थर की आत्मा को खोखला करके रख दिया था, और वह मानसिक रूप से बहुत असंतुलित हो चला था। अल्बर्ट ने उसके पास जाना बंद कर दिया था, क्योंकि वर्थर को उसका दर्शन ही विषादजनक लगता था। अपनी डायरी में उसने लिखा, 'बार-बार यह कहने से क्या लाभ है कि वह एक अलग आदमी है। सच तो यह है कि वह मेरे लिए संताप का कारण बन गया है। मैं उसके साथ कभी सही ढंग से पेश नहीं आ सकूंगा।'

शायद अल्बर्ट को भी पता चल गया था कि वर्थर उसके बारे में क्या सोचता है। इसलिए वह अक्सर कॉर्लोट से कहता रहता था कि उन्हें वर्थर से दूर ही रहना चाहिये, क्योंकि लोग उसके और वर्थर के संबंधों पर उंगली उठाने लगे हैं। अपने पति की यह बात सुनकर कॉर्लोट चुप रही थी। उसका चुप रहना अल्बर्ट को अच्छा नहीं लगा था।

वर्थर का जीवन अब पूरी तरह नि[रु]द्देश्य हो गया था, और भटकन, शोक औ[र] रोने के अलावा उसके जीवन में कुछ न[हीं] रहा था। अंदर ही अंदर वह चुकता ज[ा] रहा था, और एक दिन वह पूरी तरह [ ] चुक गया, और उसके दुखद जीवन क[ा] अंत हो गया। कैसे हुआ, यह आप आ[गे] के वर्णन को पढ़कर जान सकेंगे। पहले [ ] अपने मित्र को लिखे, उसके अंतिम पत्र [ ]

०००

१२ दिसंब[र]

प्रिय मित्र, मुझे पूरा यक़ीन है कि मैं ए[क] शापित इंसान हूं, और किसी दुष्टात्मा [का] शाप मेरा पीछा करता रहता है, और मे[रे] प्राण लेकर रहेगा। शायद, इस शाप की वजह से ही मेरा मन भारी रहता है। रात को, इस भार को हल्का करने के लिए अचानक उठ जाता हूं और रात भर इधर उधर भटकता रहता हूं।

१५ दिसंबर

अब मुझे सचमुच डर लगने लगा है अपने बारे में कि मेरा क्या होगा? क्या मेरा प्रेम पवित्र नहीं है? मैंने तो उसे कभी दूषित नहीं होने दिया।

मैं खोया जा रहा हूं, और लगता है जल्दी ही बिलकुल खो जाऊंगा।... अब मुझे वह पर्दा साफ़ दिखायी देने लगा है जिसे पार करके उस ओर आसानी से पहुंचा जा सकता है। फिर ये सारे संदेह और विलंब क्यों? क्या इसलिये कि उस पार से लौटना नहीं है। क्या इसलिये कि

फिर अंधेरा, अनिश्चय और अव्यवस्था ही है?

मैं अ-संवेदनशील होता जा रहा हूं। सिर्फ़ कॉर्लोट की याद और उसकी मौजूदगी ही मुझे आंदोलित कर सकती है। उसके पास होने से ही मेरे भीतर कोई प्रतिसंवेदन पैदा होता है।

२० दिसंबर

प्रिय मित्र, अनुग्रहीत हूं, तुम्हारे प्रेमपूर्ण निमंत्रण के लिए कि मैं तुम्हारे पास लौट आऊं। तुमने मुझे आकर ले जाने की इच्छा भी व्यक्त की है, लेकिन कृपया एक पखवारे तक न आना। मेरे पत्र की प्रतीक्षा करना। मेरी ओर से मेरी मां से क्षमा मांग लेना। मेरी वजह से उन्हें बहुत दुख पहुंचा है। मैं ऐसा अभागा हूं कि जिन्हें मुझे सुख पहुंचाना चाहिये था, उन्हें मैंने कष्ट ही पहुंचाया है।

मेरे जीवन में कोई अर्थ नहीं रह गया है। सारे जीवन का अर्थ नष्ट हो गया है। मरने की आकांक्षा प्रबल होती जाती है, और मैं मरना चाहता हूं।

०००

पुनः पुस्तक-संपादक की ओर से :

वर्थर ने जिस दिन उपरोक्त पत्र लिखा, उसी दिन शाम को वह कॉर्लोट से मिलने गया। वह घर में अकेली थी, और क्रिसमस पर अपने भाई-बहनों को दिये जाने वाले उपहार सजा रही थी। उसे देखकर, कॉर्लोट ने कहा, 'अगर तुम ढंग से पेश आओगे, तो एक उपहार तुम्हें भी मिल सकता है।' इस पर, वर्थर ने पूछा, 'ढंग से पेश आना क्या होता है?' कॉर्लोट ने कहा, 'तुम मुझसे अकेले में मत मिला करो। इससे मुझे बड़ी असुविधा होती है। क्रिसमस पर यदि तुम आना ही चाहते हो, तो रात को आना, जब यहां सब मौजूद होंगे।'

कॉर्लोट के इस कथन का वर्थर पर वही असर हुआ, जिसकी उसे आशंका थी। उसने कार्लोट की ओर से मुंह मोड़कर कहा, 'नहीं, कॉर्लोट, मैं आगे यहां कभी नहीं आऊंगा।' कॉर्लोट ने कहा, 'मैंने तुम्हें आने से मना तो नहीं किया है। सिर्फ़ यह कहा है कि हम दोनों को इस मामले में विवेक से काम लेना होगा। मैं तुमसे प्रार्थना करती हूं कि तुम अपना ध्यान कहीं और, जहां तुम्हारी प्रतिभाओं का बेहतर इस्तेमाल हो सके, लगाओ। मैं तुम्हें सहानुभूति के अलावा कुछ और नहीं दे सकती।' और फिर उसे खिन्न देखकर, उसका हाथ अपने हाथ में लेकर कहने लगी, 'मेरी बात ध्यान से सुनो, वर्थर! मुझे, जो दूसरे की हो चुकी हूं, प्यार करके तुम अपनी तबाही ही मोल ले रहे हो।'

वर्थर की आंखें गुस्से से लाल हो गयीं, और वह अत्युत्तेजित स्वर में बोला, 'यह तुम नहीं बोल रही हो, तुम्हारे मुंह से अल्बर्ट बोल रहा है, और खूब बोल रहा है।' कॉर्लोट ने शांत स्वर में उत्तर दिया, 'तुम आसानी से अपने लिए अपने योग्य किसी युवती की खोज कर सकते हो, जिसके सान्निध्य में तुम सुखी जीवन व्यतीत कर

सकते हो। मैं एक शुभचिंतक के रूप में तुम्हें यह परामर्श दे रही हूं। संयम और विवेक से काम लो। तुम्हें सुख-शांति मिल जायेगी।'

एक सर्द मुस्कराहट के साथ वर्थर ने कहा, 'क्या अच्छा होता, यदि यह भाषण मुद्रितकर सब शिक्षकों में वितरित कर दिया जाता। जहां तक मेरी सुख-शांति का प्रश्न है, घबराओ मत, सब ठीक हो जायेगा—बहुत जल्दी।'

'मगर तुम क्रिसमस से पहले यहां मत आना,' कॉर्लोट ने कहा।

वर्थर इसका उत्तर देना ही चाहता था कि वहां अल्बर्ट ने प्रवेश किया। दोनों ने बड़े ठंडे और शुष्क ढंग से एक दूसरे का अभिवादन किया। वातावरण अचानक भारी हो आया, और इसी भारी वातावरण में तीनों रात के आठ बजे तक बैठे रहे।

घर वापस आकर, वर्थर देर तक अपने आप से बातें करता और रोता रहा। अगले दिन उसने कॉर्लोट को एक पत्र लिखा, जो उसकी मृत्यु के बाद उसके कागज़ों में मिला। पत्र के कुछ अंश इस प्रकार हैं :

'सब कुछ खत्म हो गया है, कॉर्लोट! मैंने मरने का निश्चय कर लिया है। जिस समय तुम यह पत्र पढ़ रही होगी, उस समय मुझ अभागे का, जिसके लिए सबसे बड़ा सुख तुमसे बातें करना था, शव कब्र में पड़ा होगा। कल की रात मेरे लिए बड़ी बेचैनी की रात थी, मगर एक अर्थ में अच्छी भी थी, क्योंकि इसी रात को मैंने एक पक्का इरादा किया। कल रात, जब मैं तुम्हारे पास से लौटा था, तब मुझे निश्चय हो गया था कि जिस सुख-शांति के मिलने की बात तुम कल रात कर रही थीं, वह मुझे जिंदगी में कभी नसीब नहीं होगी, मरने के बाद भले ही हो जाये। और मैं हताश होकर नहीं मर रहा हूं, तुम्हारे प्यार की ख़ातिर और इस विश्वास की ख़ातिर कि मेरे कष्टों का अंत मरकर ही हो सकता है, मर रहा हूं। हम तीनों में से किसी एक को मरना ही होगा। तो, क्यों न मैं मरूं? प्यारी कॉर्लोट! मुझे यह स्वीकार करने में कोई हिचक नहीं है कि क्रोध और निराशा से पागल मेरे मन में कई बार तुम्हारे पति की हत्या करने का जघन्य विचार आया है। और अब बस, एक ही विचार मेरे मन में है, और वह यह कि यदि मेरे मरने के बाद तुम कभी-कभी मुझे याद कर लिया करोगी, तो मेरी आत्मा को इससे बड़ी शांति मिलेगी।

'जिस समय मैंने यह पत्र लिखना आरंभ किया था, उस समय मैं अत्यंत शांत था, लेकिन अब तुम्हारे साथ बिताये मधुर क्षणों की याद कर-करके, बच्चों की तरह रो रहा हूं।

अगले दिन, उसने इस पत्र में निम्न पंक्तियां और जोड़ीं :

'तुम्हारा आदेश था कि मैं क्रिसमस की रात से पहले, तुमसे मिलने न आऊं...। लेकिन, उस रात को तुम इस पत्र को पढ़

कर आंसू बहा रही होगी, और मैं . . मैं मरूंगा। मुझे अवश्य मरना चाहिये। यह निश्चय करके मैं कितना प्रसन्न हूं, कह नहीं सकता।'

०००

उधर, कॉर्लोट भी काफ़ी अशांत और उद्विग्न थी। उसे लग रहा था कि वर्थर से अधिक न आने की बात कहकर, उसने न केवल वर्थर को, जिसे वह मन-ही-मन में सचमुच प्रेम करती थी, पीड़ा पहुंचायी है, स्वयं को भी पीड़ित किया है।

अल्बर्ट को एक ज़रूरी काम से जाना था, और उसके रात भर आने की आशा नहीं थी। कॉर्लोट ने बातों-बातों में उसे सूचित कर दिया था कि वर्थर अब क्रिसमस की रात को ही आयेगा। इसलिए, शाम के साढ़े छह बजे के करीब, जब उसने वर्थर की आवाज़ और पदचाप सुनी, तो उसका दिल तेज़ी से धड़कने लगा। उसे देखते ही वह घबराहट में बोली, 'तुमने अपना वायदा पूरा नहीं किया।'

'मैंने कोई वायदा नहीं किया था,' वर्थर ने कहा।

'लेकिन, मेरी ख़ातिर तुम्हें नहीं आना चाहिये था। हम दोनों की ख़ातिर।'

कॉर्लोट की समझ में नहीं आ रहा था कि वह क्या कहे, क्या करे? उसने अपनी कुछ सहेलियों को बुलवा भेजा, ताकि वह वर्थर के साथ अकेली न रहे। और, सोफ़े पर वर्थर के पास बैठकर उन साहित्यिक कृतियों के बारे में बातें करने लगी, जो उन दोनों को प्रिय थीं। अंत में, वर्थर उसे ओसियन की काव्य-कृतियों का जर्मन अनुवाद, जो उसने स्वयं किया था, सुनाने लगा।

जब वह उस प्रसंग पर आया, जहां अर्मेर समुद्री तूफ़ान से दाउरा को बचाने के लिए समुद्र में छलांग लगाता है, और डूबकर मर जाता है, तो कॉर्लोट की आंखें नम हो आयीं, और उसने वर्थर से काव्य-पाठ रोकने को कहा। वर्थर भी कॉर्लोट की भांति ही उत्तेजित था क्योंकि दोनों को ही लग रहा था कि ओसियन के पात्रों की त्रासदी में स्वयं उन दोनों की त्रासदी ही प्रतिबिंबित हो रही थी।

और तभी वर्थर ने सुना, कॉर्लोट उससे जाने का अनुरोध कर रही थी। लेकिन, वह काव्य-पाठ करता रहा, कंपित और उत्ते-जित स्वर में।

'. . . मेरा अंत निकट है! वह यात्री कल यहां आकर मेरी खोज करेगा, मगर मैं उसे नहीं मिलूंगा, क्योंकि मैं तूफ़ान के गर्भ में समा चुका हूंगा।'

वर्थर से आगे नहीं पढ़ा गया। वह कॉर्लोट के पांवों में बिखर गया, और उसका हाथ लेकर अपने माथे और अपनी आंखों से छुआने लगा। कॉर्लोट की सब आशंकाएं उसके सामने मूर्त हो गयीं। उसने वर्थर के हाथ लेकर अपनी छाती से चिपका लिये। दोनों के गाल आपस में सट गये। दुनिया उन दोनों के सामने से गायब हो गयी, और वे दोनों अपने होशो-हवास

गंवा बैठे। वर्थर ने उसे अपनी बांहों में लेकर उसके तप्त होंठों पर चुंबनों की वर्षा आरंभ कर दी। दोनों न जाने कब तक एक दूसरे में खोये रहे।

...फिर, वर्थर को अपने से दूर करती हुई, कॉर्लोट ने कांपते स्वर में कहा, 'वर्थर! जाओ तुम। आज के बाद, मैं तुमसे कभी नहीं मिलूगी।' यह कहकर, वह पास के कमरे में चली गयी, जिसका दरवाज़ा उसने अंदर से बंद कर लिया।

करीब आधे घंटे तक, वर्थर सोफे पर सर डाले, आंखें बंद किये पड़ा रहा। फिर, उठा और बंद कमरे के दरवाज़े के पास खड़ा होकर धीमे से बोला, 'अलविदा, कॉर्लोट! अलविदा! अब मैं कभी तुम्हारे पास नहीं आऊंगा।'

०००

अगले दिन, वह अपने घर में काफी देर से उठा। उठते ही, उसने कॉर्लोट को लिखे अपने पत्र में कुछ और लाइनें जोड़ीं, जिनकी कुछ लाइनें इस प्रकार हैं: 'यह आंखें आखिरी बार खुल रही हैं। प्रकृति! शोक-वस्त्र धारण कर लो। तुम्हारा बच्चा, तुम्हारा मित्र, तुम्हारा प्रेमी अपने जीवन के अंतिम बिंदु पर आ पहुंचा है। आज मेरे जीवन का अंतिम दिन है।

'मेरा भी अंत हो जायेगा, और इस दुनिया का भी। लेकिन तुम्हारे जिस प्रेम का मधुर स्वाद मैंने कल चखा, वह अमर है, शाश्वत है। तुम मेरी हो, कॉर्लोट—सिर्फ़ मेरी—सदा के लिए! अल्बर्ट दुनिया की निगाह में तुम्हारा पति हो सकता है, मगर इस दुनिया के क़ायदों के मुताबिक उसे तुम्हारी बांहों से अलग करना एक अपराध होगा, और जीते जी मैंने इस अपराध की कोशिश की सज़ा भुगती है। लेकिन मेरे मरने के बाद, तुम सिर्फ़ मेरी ही रह जाओगी—निपट मेरी। स्वर्ग में जाकर, मैं परमपिता के सामने अपना 'केस' प्रस्तुत करूंगा, और तुम्हारे वहां आने तक मैं उनकी छाया में सुख और संतोष प्राप्त करूंगा। और, परमपिता के सामने, और उनके आशीर्वाद से मैं तुम्हें प्राप्त करूंगा।'

ग्यारह वजे के करीब वर्थर ने अपने नौकर को इस नोट के साथ भेजा: 'मैं सफ़र पर जा रहा हूं। कृपया अपनी पिस्तौल भेजकर अनुग्रहीत करें।'

०००

वर्थर के जाने के बाद, कॉर्लोट पहले से ज़्यादा परेशान हो उठी थी, और यह परेशानी उसके पति के आने पर ही कुछ कम हुई थी। लेकिन जब वर्थर का नौकर नोट लेकर आया, तो यह परेशानी और ज़्यादा बढ़ गयी। लेकिन, अल्बर्ट ने उस नोट को पढ़कर कॉर्लोट से सिर्फ़ इतना कहा, 'इसे पिस्तौल दे दो।'

पिस्तौल नौकर को देते समय, एक अज्ञात आशंका से कॉर्लोट के हाथ कांप उठे थे। उसका मन हुआ था कि वह अपने पति को पिछली रात की घटना के बारे में सब कुछ बताकर उसे वर्थर के पास भेजे, मगर बाद में उसे लगा कि उसके

कोई लाभ न होगा। उसने नौकर को पिस्तौल देकर विदा किया।

पिस्तौल पाने के बाद, वर्थर ने कॉर्लोट को लिखे अपने पत्र में इन वाक्यों की और वृद्धि की :

'मैंने पिस्तौल को कम से कम एक हज़ार बार चूमा, क्योंकि नौकर ने बताया कि इसे तुमने अपने कोमल हाथों से उसे दिया था। उसने यह भी बताया कि इसे देते समय तुम्हारे हाथ कांप रहे थे। खैर, अच्छा ही हुआ, क्योंकि मैं यही चाहता था कि तुम मुझे मेरी मौत का दान दो। साथ ही कितना अभागा हूं मैं कि तुमसे 'अलविदा' भी नहीं मिल सकी।'

रात के ठीक बारह बजे के करीब वर्थर के एक पड़ोसी ने उसके घर से आती हुई पिस्तौल की आवाज़ सुनी। मगर, चूंकि उसके बाद कुछ और नहीं घटा, इसलिए उसने उस पर अधिक ध्यान नहीं दिया।

अगले दिन, सुबह ६ बजे, वर्थर के नौकर ने अपने मालिक को फ़र्श पर, खून में लथपथ, पड़े पाया। पिस्तौल उसके बाजू में पड़ी थी।

जिस समय डॉक्टर आया, उस समय उसकी नब्ज़ तो चल रही थी, मगर शरीर ठंडा था। धीरे-धीरे यह नब्ज़ भी बंद हो गयी। उसकी मृत्यु दिन के ठीक बारह बजे हुई।

शीघ्र ही कस्बे के लोग वहां जमा हो गये। अल्बर्ट और कॉर्लोट भी घटना-स्थल पर आये।

शवयात्रा में सिर्फ़ वर्थर का ख़िदमतगार और उसके लड़कों ने भाग लिया। शव को मज़दूरों ने कंधों पर उठाया था। अंतिम क्रिया के समय कस्बे का कोई आदमी, यहां तक कि पादरी भी उपस्थित नहीं था।

□

जब दक्षिणी यमन पर मुसलमानों का अधिकार हुआ, खलीफा हजरत उमर वहां का राज्यपाल बनाने के लिए किसी उचित आदमी की तलाश में थे। जिन साहब को उन्होंने गवर्नर बनाने का इरादा किया, उनसे सवाल किया, 'किस बुनियाद पर शासन करोगे?' जवाब मिला, 'कुरान शरीफ में लिखे नियमों को सामने रखकर।'

हजरत उमर ने कहा, 'अगर उससे मदद न मिली तो क्या करोगे ?'

'हदीस (मुहम्मद साहब के प्रवचन) से रोशनी हासिल करूंगा।'

हजरत उमर ने कहा, अगर 'हदीस से मदद न मिली तो ?'

'यदि कुरान और हदीस से मदद न मिली तब मैं अपनी अक्ल इस्तेमाल करूंगा, जो खुदा ने मुझे दी है।'

इस पर हजरत उमर ने कहा—'खुदा की कसम, तुम जैसा आदमी ही अच्छा हाकिम बन सकता है।'

—डा. गोपालप्रसाद 'वंशी'

□

सु. रामकृष्णन् द्वारा भारतीय विद्या भवन, क. मा. मुन्शी मार्ग, बंबई-४०००
के लिए प्रकाशित तथा श्रीवेंकटेश्वर प्रेस, ३६/४८ खेमराज श्रीकृष्णदास मार्ग
बंबई–४०० ००४ में मुद्रित।

नवनीत
हिन्दी डाइजेस्ट
जून, १९८१
मूल्य रु. २.२

नवनीत

संस्थापक

कन्हैयालाल मुंशी श्रीगोपाल नेवटिया

भारती : स्था. १९५६ नवनीत : स्था. १९५२

*

संपादक

वीरेन्द्र कुमार जैन

सह-संपादक

गिरिजाशंकर त्रिवेदी

उप-संपादक

रामलाल शुक्ल

*

संयोजक

शान्तिलाल तोलाट

*

प्रकाशक

सु. रामकृष्णन्

*

आवरण-चित्र :

वन्य सौन्दर्य

अनादि अधिकारी की कलाकृति

कार्यालय : भारतीय विद्या भवन

वर्ष : ३०; अंक:

कुलपति मुन्शी मार्ग, बम्बई-४०० ००७

जून १९८१

चित्र सज्जा : ओके, शेणै, मनीषी दे, सूरज शर्मा, ठाकोर राणा, चंदुलाल सांकला आलोक जैन

पृष्ठ ५६ पर प्रकाशित 'अनुत्तर योगी' के उपन्यास-
अंश की पूर्व-पीठिका यहां प्रस्तुत है।

मैं अब, कभी, कहीं भी, अकेली नही

लेखक का महाकाव्यात्मक उपन्यास 'अनुत्तर योगी', भगवान महावीर की जीवनी
आधारित, दो हज़ार पृष्ठ-व्यापी पाँच खण्डी बृहद् ग्रन्थ है। इसके पहले तीन खण्ड
चुके हैं, और उनके तीन संस्करण हो चुके हैं। भारतीय प्रज्ञा की अनादिकालीन भाव-
की मोहक और मार्मिक कथा होने से यह ग्रन्थ लोक-हृदय में व्याप्त हो सका है।

कथा-प्रसंग :

वैशाली के राजपुत्र महावीर यदि अपने समय के भारत के सूर्य थे, तो वैशाली
नगर-वधू आम्रपाली अपने काल की अप्रतिम सुन्दरी, विलक्षण प्रतिभावती और
संगीत की साक्षात् सरस्वती थी। वैशाली की ऐसी महान और गुणियल बेटी, वैशाली
कालजयी तीर्थंकर राजपुत्र महावीर के सम्पर्क में न आयी हो, ऐसा कैसे हो सकता है
इतिहास का साक्ष्य है कि आम्रपाली भगवान बुद्ध को समर्पित हुई थी। यह सत्य भी
लेकिन कवि का काल-भेदी आत्म-साक्ष्य यह है, कि देवी आम्रपाली ने बिन देखे ही महा
को अपना 'एकमेव पुरुष' मान लिया था। नारीत्व के सारभूत सौन्दर्य और निर्ग्रंथ वा
के साथ, वह महावीर को बचपन से ही प्यार करने लगी थी। गणिका होकर भी वह महा
की कुँवारी सती होकर रह गयी थी। वह नहीं मान सकी थी, कि महावीर के सिवाय
अन्य पुरुष उस काल, उसके वरण के योग्य हो सकता था।

... लेकिन गणिका होने का कलंक लिलार पर धारण कर आम्रपाली अपने
प्रीतम के सामने नहीं आना चाहती थी। उसे वह अपने देवता का अपमान लगता था
जब महावीर तीर्थंकर होकर पहली बार वैशाली आये, तो उसके द्वार से निकलते
ठिठक रहे। पर किवाड़ की ओट से उनकी झलक मात्र देखकर वह मूच्छित हो गयी। आर
का नीराजन थामे उसका हाथ स्तम्भित रह गया। ...

... इस मूर्च्छा से वह जागी, एक बहुआयामी स्वप्न-लोक में। वहां उसकी जन्मान्त
व्यापी विरह व्यथा पराकाष्ठा पर पहुंची। वह मानो विदेह होकर नग्न लौ की तरह
पटा रही थी। तभी उसके भीतर से बंद कमरे में, अचानक उसकी तड़पन के छोर
जीते-जागते महावीर उसे अपने सामने खड़े दिखायी पड़े। सूली की सेज पर पिया-मि
की उस मुहूर्त-बेला में, आम्रपाली के साथ जो महावीर का सम्वाद हुआ, वही प्रस्तुत अंश
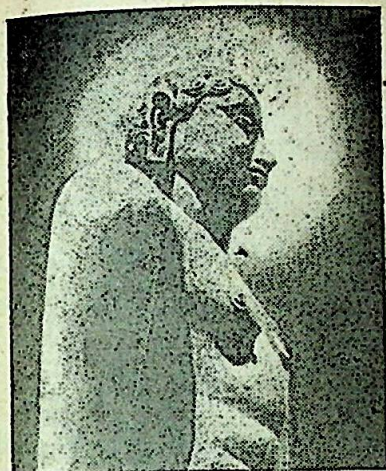
आलेखित है। उस सदेह मिलन की चरम सघनता में, विदेह महावीर ने आम्रपाली को उसकी स्वतंत्र आत्मा में ही, उसके परम प्रीतम का शाश्वत सौन्दर्य दिखाकर, उसकी वासना को मुक्ति में उत्क्रान्त कर दिया। मृणाल-तन्तु सी नाजुक और संकरी इस स्थिति को सर्जन में अंत तक निबाह ले जाने की जोखिम कवि-रचनाकार ने उठायी है। वेदव्यास ने 'भागवत' में रासलीला और चीरहरण के प्रसंगों की रचना इसी भूमि पर की है।

□

जतिंगा की घाटी में हत्याएं ही हत्याएं

□

एकिलिस ओलम्पस माप्रोकोरदेतौस

की कलम से पढ़िये जतिंगा की फूलों-फलों से लदी खूबसूरत घाटी में हज़ारों पक्षियों के प्रतिदिन होने वाले लोमहर्षी शिकार की हृदय दहला देने वाली कथा ! क्या प्रकृति और पशु-पक्षियों की हत्या करके मनुष्य जीता रह सकेगा ? क्या यह समस्त मनुष्य-जाति की आत्महत्या का ही नज़ारा नहीं है ?

□

असम के उत्तरी कछार जिले के मुख्यालय हाफलांग से बीस किलोमीटर दूर स्थित जतिंगा एक छोटा, किंतु फूलों से लदा अत्यंत रमणीय गांव है। जुलाई से अक्तूबर के बीच हज़ारों प्रव्राजी पक्षी इस घाटी में प्रवेश करते हैं, व हरे-भरे वृक्षों में अपने घोंसले बनाना शुरू करते हैं। रंग-बिरंगे पक्षियों की चहक व कलरव से संपूर्ण घाटी गूंज उठती है। प्रकृति प्रेमी व्यक्तियों के लिए तो यह घाटी स्वर्ग है। लेकिन जल्दी कीजिये; क्योंकि पक्षियों की कई बेहद सुंदर व दुर्लभ जातियां विलुप्त होने के कगार पर पहुंच चुकी हैं। हर वर्ष सितंबर व अक्तूबर के महीनों में जतिंगा के स्थानीय निवासी जलती हुई मशालों की सहायता से हज़ारों प्रव्राजी व स्थानीय पक्षियों का शिकार करते हैं, जिसके फलस्वरूप पक्षियों की कई दुर्लभ जातियों के सदा के लिए नष्ट हो जाने का खतरा उत्पन्न हो गया है।

क्या पक्षी का यह निर्दोष सौंदर्य मनुष्य के भक्षण के लिए है ?

हर वर्ष एक अक्तूबर से सात अक्तूबर तक देश भर में 'विश्व वन्य प्राणी सप्ताह' मनाया जाता है। यदि हर वर्ष मनाये जाने वाले इस सप्ताह का एक उद्देश्य जनसाधारण को वन्य प्राणियों की उपयोगिता तथा उनके संरक्षण की आवश्यकता को समझाना तथा उनमें वन्य-प्राणियों के प्रति दया की भावना को विकसित करना है,
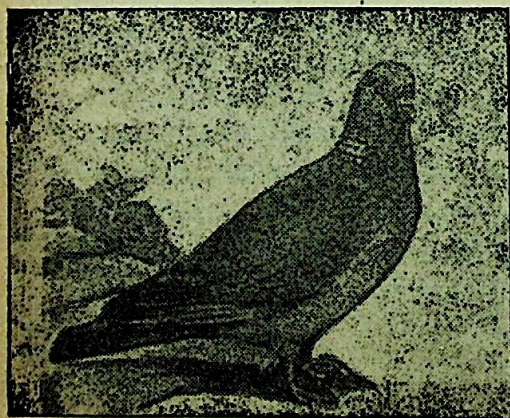
तो—इस बात में कोई संदेह नहीं कि वह अपने इस उद्देश्य में असफल रहा है। क्योंकि जिन दिनों देश भर में 'विश्व वन्य प्राणी सप्ताह' मनाया जाता है, उन्हीं दिनों आसाम, जिसे 'वन्य प्राणियों का स्वर्ग' कहा जाता है, के गांव जतिंगा में रोज सैकड़ों बेहद सुंदर चिड़ियों का शिकार जारी रहता है। क्या 'वन्य प्राणी सप्ताह' मनाना मात्र एक औपचारिकता है? क्या कारण है कि जतिंगा की चिड़ियों के लिए हमारे दिल में कभी दया उत्पन्न नहीं हुई?

यों तो जतिंगा में साल भर पक्षी मारे जाते हैं, लेकिन सितंबर व अक्तूबर के महीनों में ही सबसे अधिक पक्षियों का शिकार होता है। इन दिनों साधारणतया आकाश में बादल छाये रहते हैं, व रात के समय घाटी में हल्का-हल्का कुहरा छाया रहता है। गांव वाले घाटी में मशालें जलाते हैं, जिनकी तेज रोशनी रात के समय दिन निकल आने का भ्रम पैदा करती है। पेड़ों पर बैठे हुए पक्षी यह सोचकर कि सूर्योदय हो गया है, मशालों के चक्कर काटने लगते हैं। झुलसकर पक्षी अधिक तेजी से उड़ने में असमर्थ हो जाते हैं। इसी समय शिकार की घात में बैठे क्रूर ग्रामीण इन पक्षियों को अत्यंत निर्दयतापूर्वक मार डालते हैं। बाद में वे इन अमूल्य पक्षियों को भूनकर खा जाते हैं। बहुत से पक्षी आसपास के घरों की दीवारों व खिड़कियों से टकराकर
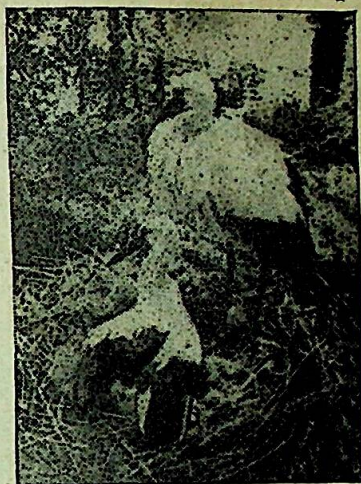
क्या ये प्यारी गर्दनें गोली से उड़ा देने के लिए हैं?

गिर जाते हैं। इस प्रकार अधमरे पक्षियों की खाल स्वत. फट नहीं पाती है।

इस समय आसाम में कई ऐसे गिरोह सक्रिय हैं, जो इन दुर्लभ पक्षियों के शरीर में भूसा भरकर बेचते हैं। अपने ड्राइंग-रूमों की शोभा बढ़ाने के लिए अमीर लोग इन पक्षियों को मुंहमांगे दामों पर खरीदते हैं। इस प्रकार गिरोहों के सदस्य हजारों रुपये कमाते हैं। खेद का विषय है कि भारत जैसे प्रकृति के उपासक देश में इन निरीह पक्षियों के शिकार का सिलसिला बहुत लंबे समय से जारी है। जिन पक्षियों का शिकार किया जाता है उनमें इग्रेट, सारस, हरा कबूतर, ड्रांगो कुको, किंगफ़िशर, मूरहेन इत्यादि के नाम उल्लेखनीय हैं।

पक्षी प्रेमियों व विशेषज्ञों ने जतिंगा में चिड़ियों के अंधाधुंध शिकार पर गहरी चिंता व्यक्त की है। यह मामला इंडियन बोर्ड ऑफ़ वाइल्डलाइफ़ व स्टेट बोर्ड ऑफ़ वाइल्डलाइफ़ की मीटिंगों में उठाया जा चुका है, लेकिन पक्षियों के बचाव की दिशा में अभी तक कोई ठोस कदम नहीं उठाया गया है। विशेषज्ञों की राय है कि पक्षियों की कई दुर्लभ जातियों को विलुप्त होने से बचाने के लिए ज़रूरी है कि जतिंगा में पक्षियों के शिकार पर पाबंदी लगायी जाये। यदि जतिंगा में पक्षियों के शिकार पर फौरन पाबंदी न लगायी गयी तो हम पक्षियों की कई बेहद सुंदर जातियों को, जो भारत के बाहर अप्राप्य हैं, नष्ट होने से नहीं बचा सकेंगे और राष्ट्र की भावी संतति हमें इस गुरुतर अपराध के लिए कभी क्षमा नहीं करेगी। 'विश्व वन्य प्राणी कोष' व 'असम वैली वाइल्डलाइफ़ सोसाइटी' ने केंद्र सरकार व असम सरकार से विशेष रूप से अनुरोध किया है कि वे इन निरीह पक्षियों के बचाव की दिशा में शीघ्र कदम उठायें। केंद्र सरकार ने इस मामले की जांच-पड़ताल के आदेश असम सरकार को दे दिये हैं।

आज के मशीनी युग में मनुष्य इस बात को जान गया है कि वन्य प्राणियों का अस्तित्व उसके स्वयं के अस्तित्व के लिए आवश्यक है। इसी कारण संपूर्ण विश्व में वन्य प्राणियों के बचाव की दिशा में प्रयास किये जा रहे हैं। भारत विश्व का एक ऐसा राष्ट्र है जिसे अपनी वन-संपदा पर हमेशा से गर्व रहा है। पशु-पक्षियों की बहुत-सी जातियां हमारे वनों में पायी जाती हैं, जो अन्यत्र अप्राप्य हैं। लेकिन स्वार्थी मानव की लालची एवं क्रूर प्रवृत्ति का नतीजा है कि वन्य प्राणियों की बहुत-सी जातियां या तो विलुप्त हो गयी हैं, या विलुप्त होने के कगार पर पहुंच गयी हैं। बढ़ती हुई जनसंख्या, बढ़ते हुए औद्योगीकरण व प्रदूषण के फलस्वरूप पशु-पक्षियों की कई बेहद सुंदर जातियां हमारे वनों से गायब हो चुकी हैं। इस प्रकार इस शताब्दी के अंत तक कई अन्य जातियां नष्ट हो जायेंगी।

ज़रूरी है कि बाकी बचे पक्षियों को नष्ट न होने दिया जाये, व पक्षियों की कई दुर्लभ जातियों को विलुप्त होने से बचा लिया जाये। जतिंगा में पिछले कई वर्षों से चले आ रहे शिकार के सिलसिले को रोकना वांछनीय है; क्योंकि एक बार नष्ट हुए पक्षी को दुबारा पैदा नहीं किया जा सकता। ये रंग-बिरंगे पक्षी हमारे देश व हमारे वनों का गौरव हैं। क्या हम अपने देश की मूल्य धरोहर को इस प्रकार नष्ट हो जाने देंगे? हर जागरूक नागरिक का पवित्र कर्तव्य है कि वह इन पक्षियों के बचाव हेतु कदम उठाये। भारतीय जनता को चाहिये कि वह सरकार को इन निर्दोष पक्षियों की सामूहिक हत्या रोकने के लिए ठोस कदम उठाने के लिए मजबूर करे।

(शेषांश पृष्ठ १४ पर)

विवेकी राय के दस्तावेज़ी उपन्यास

श्वेतपत्र

तथा रेखाचित्र 'गंवई गन्ध गुलाब' पर डॉ. जितेन्द्रनाथ पाठक की समीक्षा

प्रेमचंद के बाद ग्रामीण वास्तविकता के चित्रण से जो कथाकार गहराई से जुड़े हुए हैं उनमें विवेकी राय का स्थान बहुत ऊंचा है। उन्होंने अपने पूर्व प्रकाशित उपन्यासों 'बबूल', 'पुरुष पुराण', 'लोकऋण' तथा कहानी संग्रह 'जीवन-परिधि', 'नयी कोपल' तथा 'गूंगा जहाज़' में स्वातंत्र्योत्तर गांवों की बदली और बदलती वास्तविकता का तलस्पर्शी अंकन किया है, वहां 'श्वेतपत्र' उपन्यास में स्वातंत्र्यपूर्व के अंतिम निर्णायक युद्ध का रोमांचक चित्रण हुआ है।

१९४२ की क्रांति और क्रांति के बाद के दमनचक्र और उसमें ऊपर-ऊपर से दिखनेवाली शांति के भीतर कितना बड़ा तूफान पल रहा था—यह इस उपन्यास का एक ऐसा कथ्य है, जो औपन्यासिक शिल्प के धरातल पर ऐसे कथाकार की मांग करता है जो उस क्रांति का भोक्ता और कर्ता तो रहा ही हो उसके तात्कालिक आवेगों से उपराम भी हो चुका हो। घटना-काल और उपन्यास के लेखन-काल—१९४२-४३ और १९७८-७९ में जो ३५-३६ वर्षों का फासला है, वह इस उपरामता को सिद्ध करता है और कथाकार को एक ऐसी ज़मीन देता है जिस पर वह अपने भोक्तृत्व के भीतर के अर्थ को अन्वेषित कर सके। किसी कथाकृति के साथ इस प्रकार की संभावना उसे बड़ा बनाने में सक्षम होती है। 'श्वेतपत्र' में इस फासले को कथाकार कथा के अंतराल में ही संकेतित कर देता है। बूधन काका के आदेश पर बहारन वाले दस्तावेज़ को ढूंढ़ने की प्रक्रिया में झांपी, मोन्ही, टूटे बक्स, आदि ढूंढ़ते-ढूंढ़ते लेखक को सन १९४२ की बुलेटिनों की फाइल मिल जाती है—आज़ादी के संघर्ष के दस्तावेज़। और उन्हें पाकर कथाकार लिखता है: 'मैं इस बुलेटिन को देखता हूं, फिर देखता ही जाता हूं। कितना रोमांचक होता था उसका तब हाथों में आना, अब ये हाथ कितने संवेदनशून्य पड़ गये हैं।' एक बार वह फिर सन् ४२ की मानसिकता में स्थित हो जाता है। इस मानसिकता में प्रायः पूर्व दीप्ति

की तरह ४२-४३ के दिनों में तमाम बर्बर दमनचक्र के बीच विशेषतः पूर्वी गाजीपुर और पश्चिमी बलिया का और सामान्यतः संपूर्ण उत्तर प्रदेश के गुप्त स्वातंत्र्य संग्राम का चित्रण हो जाता है।

वस्तुतः ऐसे उपन्यासों में जहां यथार्थ के सार्वदेशिक रूपों, संघर्षों, स्थितियों की प्रतिष्ठा होती है, कथाकार अनजाने प्रतीक-शैली का प्रयोग करने लगता है। वह चित्रण तो एक खण्ड का करता है लेकिन समग्र उससे प्रतीकित हो जाता है। गाजीपुर बलिया के मध्यवर्ती अंचल की यह कथा प्रत्यक्षतः अनेक राष्ट्रीय अंतर्राष्ट्रीय संदर्भों तथा गतिविधियों का संकेत करती है, किंतु उसका ज्यादा जीवंत अंश वह है जो लेखक के सान्निध्य में चलने वाली गुप्त आंदोलनात्मक गतिविधियां हैं। बीसियों गांवों में स्वतंत्रता संग्राम के दमन के बाद भी चुपचाप 'क्रांतिकारी' पत्रिका और लीथो मशीन पर प्रायः छपने वाले उत्तेजक पैम्फलेटों और उनके वितरणों का चक्र, कार्यक्रमों की योजना और उनकी समीक्षा के लिए रात्रि के अंधकार में कहीं मुंजबान और कहीं सरेहि के लम्बे टप्पे में स्थित टीले पर होने वाली बैठकों, परचों के वितरण के अलावे उनको अत्यंत साहसिक रूप में डी. एम., एस. पी. आदि के पते पर पोस्ट करना, गांव की दीवारों पर चिपकाना, पुलिस की आंखों में धूल झोंककर उनसे सटकर परचों के बंडल ले जाना

और राष्ट्रीय गीत गाना, इंजन तोड़ने की ट्रेनिंग लेना, पुलों के नक्शे बनाना, गांवों और घरों में गुप्त और खुली बैठकों में क्रांतिकारी के पृष्ठों को पढ़ना, एक ओर पुलिस-आंतक और दूसरी ओर जनता के भय से लड़ना और ऐसी ही अनेकानेक अंतःस्फूर्त सक्रियताओं के अंकन का लम्बा सिलसिला उस समय के हिंदुस्तान के अंतःस्पंदनों को प्रतिफलित करता है।

कथावस्तु जब अपनी स्थूल कथाकारिता की सीमा का अतिक्रमणकर व्यापक संदर्भों को ध्वनित करने लगती है तो वह उसकी शैल्पिक प्रकृष्टता का एक अन्य आयाम बन जाता है। ज़ाहिर है कि श्वेतपत्र' कथावस्तु के स्तर पर धूल से लदे, गत संदर्भों वाले दस्तावेज़ों में सोई एक विराट क्रांति को एक बार पुनः प्रामाणिक रूप से अंतःस्पंदन देने का सार्थक प्रयत्न है। सार्थक प्रयत्न इसलिये कि इस पूरी कथा में लेखक ऐसे किसी मौके को हाथ से जाने नहीं देता जहां उसे आज की भ्रष्ट मानसिकता के कारणों को

तत्कालीन संदर्भों में खोजने और इंगित करने का सुअवसर प्राप्त हो।

'श्वेतपत्र' का लेखन उपर्युक्त अर्थों में ही एक परंपरा का प्रगति के अर्थों में संदोहन है। उसके आकर्षण का एक आयाम स्वतंत्रता संग्राम की बर्बरताओं से स्थापित शांति के भीतर दहकने वाले कोयले की राख झाड़ना तो है ही, साथ ही उसका दूसरा अधिक महत्त्वपूर्ण प्रेषितव्य हमारी तेंतीस वर्षीय आजादी के चेहरे पर पुती हुई कालिख को उस दहकते अंगारे के आलोक में देखने का संदेश भी है।

जाहिर है जहां अतीत वर्तमान की भयानक विसंगतियों के पहाड़ को अनावृत्त करने के लिए प्रतिबद्ध होता है और जहां अतीत किसी राष्ट्रीय जद्दोजहद से जुड़ा हुआ होता है, वहां औपन्यासिक नायकत्व एक व्यक्ति में सिमट नहीं पाता। ऐसे ही अवसरों पर लगता है कि नायकत्व का 'कांसेप्ट' ही एक हद तक मध्ययुगीन है। 'श्वेतपत्र' का समग्र कथा-परिवेश और उसमें उभरते लोगबाग व्यक्तित्व की चटख मद्धिम लौ में प्रायः चमकते हैं लेकिन युवाचित्त को झंझोड़ने वाली गहरी देशभक्ति पूरे उपन्यास में ही एक नये शिल्प को अवतरित करती है जिसमें सड़कों-गलियों, बियाबानों में गूंजने वाले उत्सर्ग-चेतना से थरथराते राष्ट्रीय गीतों की एक शृंखला कथा के प्रवाह का अनादर करती आगे बढ़ जाती है।

कुल मिलाकर, विवेकी राय का प्रस्तुत उपन्यास स्वतंत्रता-संग्राम पर लिखे गये कथा-साहित्य में एक उत्कृष्ट एवं अर्थपूर्ण औपन्यासिक संरचना है।

श्वेतपत्र—लेखक : विवेकी राय, प्रकाशक : पराग प्रकाशन, दिल्ली-३२, मूल्य २५ रुपये, प्रथम संस्करण १९७९, पृ. सं. २६३।

—•—

'गंवई गंध गुलाब' बहुमुखी प्रतिभा के साहित्यकार डॉ. विवेकी राय का रेखाचित्र संग्रह है। यह कृति जो दे सकती है वह लेखक के शब्दों में उसके 'प्रियपात्रों की एक मोहक मनोरंजक कतार है' और जो चाहती है वह उसी के शब्दों में 'एक स्वतंत्र और प्रभावशाली साहित्यिक विधा के रूप में रेखाचित्र को प्रतिष्ठित करने में ये रचनाएं सहायक हो सकें।' लेखकीय वक्तव्य के दो वाक्य खण्डों को यहां इस उद्देश्य से उद्धृत किया गया है कि उस परिप्रेक्ष्य को परखा जा सके जहां से इन रेखाचित्रों को उरेहने-उकेरने का प्रयास प्रारंभ होता है।

रचनाधर्मिता मात्र के लिए यहां जरूरी है कि रचनाकार उसी वस्तु को चुने जो उसके मर्म को एक लम्बे समय से मथ रही हो। साथ ही उसे उस वस्तु के योग्य विधा को भी चुनना होता है। रेखाचित्रों में व्यक्तित्व का स्थूल रेखांकन मात्र नहीं होता, बल्कि जीवनव्यापी संस्मरणों से जित होकर व्यक्तित्व-रेखाचित्र सप्राण और संजीवित हो उठते हैं।

'गंवई गंध गुलाब' में कुछ रेखाचित्र

यथा 'बंगलेवाली मांजी', 'खेदू', 'आजी', 'बउरहिया', गंवई गंध 'गुलाब' गहराई में स्पर्श करते हैं। छिपे रुस्तम, हिन्द साहब, फूआ, तहसीलदारनामा, शिखण्डी मास्टर, बड़े बाबू, ज़हर का उपहार, रंग होली का, सोलंकीजी, यदि मैं राजा होता, व्यंग्य विनोद परक शैली में पाठक का विचारोत्तेजक अनुरंजन करते हैं तथा अंतिम दो साक्षात्कार शिवप्रसादसिंह और आचार्य परशुराम चतुर्वेदी न केवल मध्य पीढ़ी और पुरानी पीढ़ी के दो साहित्यकारों के वैचारिक व्यक्तित्व को उद्घाटित करते हैं, बल्कि उनके माध्यम से लेखक अपनी सांस्कृतिक निष्ठा और अपने मानवीय सरोकार को भी व्यक्त करता है।

'गंवई गंध गुलाब' के भीतर जितने भी संस्मरणात्मक रेखाचित्र आये हैं वे रचनाकार की अजस्र मानवीय करुणा से ओतप्रोत हैं। वह इसके चलते 'बंगलेवाली मांजी' के जीवन की एकरसता में झांककर मातृहृदय की गरिमा की झांकी दिखा सकता है, छात्रावास के टहलुए खेदू के जीवन की मानवीय उत्कृताओं का अन्वेषण करता है, बउरहिया के अंतर्गत की निबौलियां बीननेवाली, दरिद्रता रेखा के नीचे के दारिद्र्य का रो चित्रण करता है। जहां भी गुरुता है (गंध गुलाब, मौलवी साहब) रेखा कार विनत हो जाता है, जहां भी पा है (छिपे रुस्तम, उर्ध्वरेता, रंग होली यदि मैं राजा होता) कवि की ले व्यंग्यगर्भ हो उठती है, जहां भी वैचित्र्य है (हिन्द साहब, तहसील नामा, बड़े बाबू) वहां वह अपने को भी उस वैचित्र्य में निमग्न चाहता है।

सब मिलाकर, इन रेखाचित्रों अक्षुण्ण रोचकता के पीछे रचना की ऋजु सरल शैली शिल्प है, सं आने वाले व्यक्तियों के अंदर तक वाली संवेदनशीलता है और लोक की भरी-पुरी परंपराओं की अव क्षमता है।

गंवई गंध गुलाब—लेखक: विवेकी
प्रकाशक: भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दि
मूल्य १५ रु., पृ. सं. १५५।

□

(पृष्ठ ९ का शेषांश)

पक्षियों की बहुत-सी जातियां २५-३० वर्ष पूर्व हमारे समृद्धवनों में पायी जाती थीं। क्या कोई कमीशन बैठा जो पता करता कि इन वर्षों में हमारी वन-संपदा का क्या हुआ? पशु-पक्षी कम क्यों हुए?

करोड़ों रुपये जनता के, इन वर्षों में, वन-विभाग वालों ने खर्च किये—वन संवर्द्धन के लिए, वन्य-पशु-पक्षियों लुप्त होने से बचाने के लिए। फिर रुपये भी खर्च होते रहे, वन भी रहे, वन्य-पशु-पक्षी भी लुप्त होते र

—१२८/१२, एच-२, किदवईनगर, का

□

॥ विज्ञान वार्ता ॥

केला-गैस गोबर-गैस से ६० प्रतिशत सस्ती

गोबर-गैस के बाद अब केला-गैस, जो गोबर गैस से ६० प्रतिशत सस्ती तो है ही, उससे अधिक प्रभावशाली भी है।

इस केला-गैस के आविष्कारक हैं— सरदार पटेल विश्वविद्यालय के बिरला विश्वकर्मा महाविद्यालय के अनुसंधान-कर्ता, जो डॉक्टर आर. एम. दवे के नेतृत्व में काम कर रहे थे। इस आविष्कार का देश-विदेश में अच्छा स्वागत हुआ है।

इस गैस के आविष्कार से गांवों में सस्ते ईंधन की समस्या हल होने में बड़ी सहायता मिलेगी। इस गैस को, गोबर गैस की भांति, बड़े पैमाने पर तैयार करने की योजना पर विचार हो रहा है।

अच्छी दृष्टि, अच्छा स्वास्थ्य

बिजनौर (उत्तर प्रदेश) के डॉक्टर क्षेत्रपाल प्रयोगों के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि बच्चे का विकास उसकी दृष्टि पर निर्भर है। बच्चे की दृष्टि जितनी अच्छी होगी, उसका स्वास्थ्य भी उतना अच्छा होगा। कमजोर दृष्टि वाले बच्चों की दृष्टि में इलाज या चश्मों से सुधार करने पर उनका शारीरिक और मानसिक विकास संतोषजनक ढंग से हुआ।

बांझ महिलाओं के लिए नयी आशा

दिलों और गुरदों के प्रत्यारोपण तो साधारण घटनाएं हो गयी हैं। परंतु, पोस्ट-ग्रेजुएट इंस्टिटयूट ऑफ मेडिकल सांइसेस के प्रोफेसर आर. वी. एस. यादव अब महिलाओं की डिम्बग्रंथियों के प्रत्यारोपण को संभव और व्यावहारिक बनाने की दिशा में कार्यरत हैं। कई आपरेशनों में सफलता प्राप्त करने के बाद, आशा है कि वे ऐसे प्रत्यारोपणों द्वारा बांझ स्त्रियों को गर्भवती बनाने में सफल होंगे।

हृदरोग और आलसी भैंस

हृदरोग विशेषज्ञ डॉक्टर शांतिलाल शाह का विश्वास है कि बढ़ते हुए हृदरोगों के लिए आलसी भैंसे जिम्मेदार हैं।

भैंसों से अधिक दूध प्राप्त करने के लिए मालिक उन्हें हमेशा अस्तबल में बांधकर रखते हैं। ऐसी आलसी भैंसों के दूध में एक विशेष प्रकार का वसा हो जाता है, जो हृद-धमनियों को अवरुद्ध कर हृदरोगों को जन्म देता है। □

ताज़गी की एक लहर!

जियाजी सूटिंग, शर्टिंग और कॉटन प्रिंट्स आजकल मिलने वाले आम कपड़ों से बिल्कुल भिन्न है। जियाजी यानी सही सूटिंग, शर्टिंग और कॉटन प्रिंट्स की तलाश में देर तक भटकने के बाद एक ताज़गी की लहर। आप अपने आपको कुछ और ज़्यादा पसंद करने लगेंगे।

क्योंकि जियाजी सूटिंग, शर्टिंग और कॉटन प्रिंट्स विशेष आपके लिए ही तो बनाए गये हैं। जियाजी आस पास बिखरे सूनेपन में ताज़गी भर देते हैं।

ह्यूज गांजर और कॉलिन गांजर द्वारा प्रस्तुत एक आश्चर्य कथा

□

हवा में उड़ जाने वाले पत्थरों का मकबरा

•

'जो कुछ घटा, वह सचमुच अविश्सनीय था! पत्थर को उठाने के लिए हमें कोई प्रयास नहीं करना पड़ा था। ... लगा था, जैसे किसी पंख को उठा रहे हों!'

•

आप चमत्कारों में विश्वास नहीं करते न!

हम भी नहीं करते थे, लेकिन जब से पूना के निकट एक मुसलमान फ़क़ीर का वह मकबरा देखा है, जहां उस फ़क़ीर नाम के उच्चारण से ही वहां के पत्थर हवा में उठने लगते हैं, तबसे विश्वास करने लगे हैं।

एरिक वॉन दानिकेन, जिन्होंने यह सिद्धांत प्रस्तुत किया था कि अंतरिक्ष से 'देवता' पृथ्वी पर आये थे, का कहना है 'यह घटना मेरे इसी सिद्धांत को सिद्ध करती है। मकबरों में अवश्य कोई ऐसी गुप्त प्रति-गुरुत्व युक्ति छिपी है, जो फ़क़ीर का नाम लेते ही प्रवर्तित हो जाती है।'

लेकिन, इस 'चमत्कार' की अन्य तर्क-संगत व्याख्याएं भी की जा सकती हैं। आपने उस पार्टी-खेल के बारे में तो सुना ही होगा, जिसमें कुछ लोग एक कुर्सी पर बैठे एक व्यक्ति के सिर पर हाथ रखते हैं, और फिर अपनी उंगलियां उसकी कुहनियों, बगलों और टखनों आदि में गड़ाते हैं, और वह व्यक्ति न्यूनतम प्रयास से उठ खड़ा होता है।

इसके पीछे जो सिद्धांत काम करता है, उसे इस प्रकार समझाया जा सकता है—सिर पर पड़ने वाला अधोमुखी दबाव कुछ हठीली मांसपेशियों को सक्रिय कर देता है। दबाव के हटते ही, वे मांस-पेशियां बिना किसी प्रयास के, तड़ाक से पुनः सक्रिय हो जाती हैं। सिद्धांत भले ही आपकी-मेरी समझ में न आया हो, मगर था शरीर-रचना-विज्ञान से संबंधित और बड़ा वैज्ञानिक।

तो, साहब, हमने कमर अली दरवेश के मकबरे पर जाने का निश्चय किया। पूना से पंचगनी जाते समय, हम राजमार्ग से एक स्थान पर मुड़े और एक ऐसी पुरानी लीक पर आ गये, जो गांवों में प्रायः देखने को मिलती है। इतने मशहूर

मकबरे को जाने वाले रास्ते की दुर्दशा देखकर, बड़ा दुख हुआ। महाराष्ट्र के मुख्य-मंत्री आशा है, शीघ्र ही इस रास्ते को चौड़ा और पक्का कराने की ओर ध्यान देंगे।

मकबरे तक पहुंचने के लिए सीढ़ियों पर चढ़कर एक चबूतरे पर आना पड़ता है। हरे रंग के इस मकबरे का रख-रखाव काफ़ी अच्छे ढंग से हुआ है। जब हम वहां गये थे, तो वह अदालत की देखरेख में था, क्योंकि इ-के स्वामित्व के बारे में एक विवाद चल रहा है। अदालत ने 'कस्टो-डियन' की हैसियत से जिन शेख हाशिम मुजावर को नियुक्त किया है, उन्हें इस मक़बरे की काफ़ी जानकारी थी, और उन्हीं से हमने मकबरे के दरवेश की कहानी सुनी।

मकबरा कैसे बना ?

१२ साल की कम उम्र में दरवेश कमर अली अपने तीन बड़े भाइयों और कुछ साथियों के साथ यहां आये थे। यहां आकर उन्हें पता चला कि कोई दुष्ट आत्मा गांव के लोगों को परेशान कर रही थी। उस दुष्ट आत्मा को भगाने के इरादे से कमर अली ने वहीं बसने का फ़ैसला किया। वे उस दुष्ट आत्मा को गांव से भगाने में भी कामयाब हुए।

१८ साल की अल्प आयु में कमर अली अल्लाह को प्यारे हुए, और उनके साथियों ने उनकी याद में इस मकबरे की स्थापना
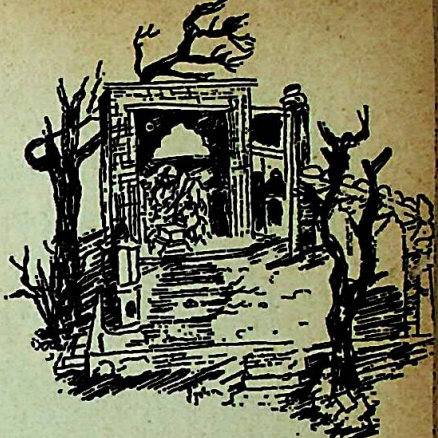
की। बहुत से अन्य हिंदुस्तानी दरवेशों की जीवन-कथाएं भी प्रायः इस कथा से मिलती-जुलती हैं।

चूंकि दरवेश अविवाहित थे, इसलिए मकबरे में स्त्रियों का प्रवेश निषिद्ध है। यह एक अजीब क़ायदा है। लेकिन स्त्रियों को मकबरे की जालीनुमा दीवारों के चारों ओर घूमते हुए, मकबरे का दर्शन करने की इज़ाज़त है। मगर ऐसा करते वक्त उन्हें अपनी आंख सतत मकबरे में जल रहे दिये पर रखनी पड़ती है।

यह दिया बाबा के निर्देश पर जलाया गया था, और तब से लगातार जलता रहता है। ऐसी मान्यता है कि इस दिये के लिए घी देने वाला यदि परिक्रमा के बाद दिये की राख का प्रयोग करे, तो उस पर सांप के काटे का असर नहीं होता। लेकिन, बाबा अपने भक्तों की सहायता दूसरे तरीकों से भी करते हैं।

मकबरे के आगे का स्थान तपने लगा था, इसलिए हमने मुजावर साहब से इज़ाज़त मांगी। हमने उनसे पूछा कि क्या
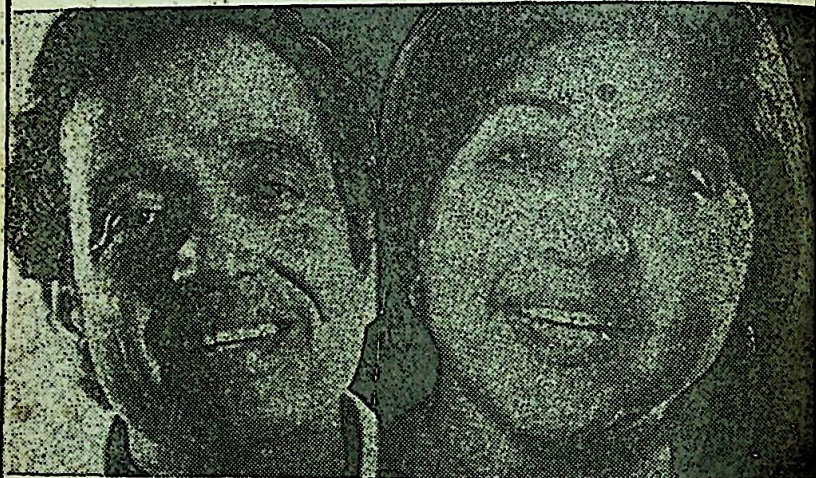
वे उन दोनों पत्थरों के बारे में कुछ जानते हैं, जो मकबरे के चौक में पड़े हैं। उन्होंने इन पत्थरों के बारे में एक अजीब कहानी सुनायी।

इस कहानी के अनुसार, बाबा के निधन के ३०० वर्ष बाद, उनके एक भक्त को ये दोनों पत्थर सपने में दिखायी दिये थे। किंवदंती के अनुसार, ये दोनों पत्थर दुष्ट आत्माओं से पत्थर बने थे। बाबा ने उन्हें बारम्बार उठने-गिरने की सजा तय की। हमें बताया गया कि छोटे पत्थर का वज़न ६० किलो और बड़े का ९० किलो है। छोटे को उठाने के लिए नौ और बड़े को उठाने के लिये ग्यारह आदमियों की जरूरत पड़ती है। हममें से एक

था। हमें कोई प्रयास नहीं करना पड़ा था... लगा था, जैसे किसी पंख को उठा रहे हों।

हमने इस चमत्कार का विश्लेषण किया, तो पाया कि यदि वास्तव में पत्थर का वज़न ६० किलो था, तो हममे से प्रत्येक ने ६.६ किलो वज़न ऊपर उठाया था। एक औसत आदमी को उठाने के लिए यह अच्छा-खासा वज़न है। चेंबर्स कोश का वज़न सवा किलो है, और यदि हमसे तर्जनी पर ५ कोशों को उठाने को कहा जाये, तो हम कभी भी नहीं उठा पायेंगे। हो सकता है, दूसरे लोगों ने शिलाखंड को उठाने के लिए अपनी हथेलियों का प्रयोग किया हो।

के मध्य देव-निर्मित यह पावन मंदिर देदीप्यमान है। इतनी अधिक ऊंचाई (११७६० फुट) और दुर्गम स्थान पर इसका निर्माण आज भी मानव मस्तिष्क की कल्पना से परे है।

मेरा सारा दिन उस अद्भुत, अलौकिक, नैसर्गिक सुषमा को कभी पलकों में और कभी अपने कैमरे में बंद करने में ही बीत गया। लौटते वक्त अंधेरा घिर आया था। बूंदा-बांदी तो सुबह से ही चल रही थी। शेष यात्री बीच-बीच में बनी चट्टियों में ठहर गये थे। अब उस संकरी पगडंडी पर सिर्फ हम ही दो रह गये थे। जब भी आकाश में बिजली कौंधती तो

प्रमोदकुमार से व्यक्त की। क्योंकि मैं कैमरे में साधारण फिल्म ही डलवाकर गया था। इसलिये बार-बार पछता रहा था।

लेकिन वापस मेरठ लौटने पर जब मैंने फोटोग्राफर को वो फिल्म 'डेवलपिंग' के लिए दी तो वह बोला—'साहब, ये तो रंगीन हैं। यहां "डेवलप" नहीं होगी, बम्बई से डेवलप करानी पड़ेगी।' पलभर के लिए तो मैं सन्न रह गया। पाठकगण कुछ भी कहें, मेरे लिए इससे अधिक और चमत्कार क्या हो सकता है कि साधारण फिल्म से खींचे गये मेरे फोटो रंगीन और बिल्कुल स्पष्ट आये हैं।

□

तर्जनियों पर कोई बाधा महसूस नहीं हुई, उसे देखते हुए, इस घटना को सचमुच चमत्कारिक घटना ही कहा जायेगा।

तीसरे प्रयोग में 'कमरअली दरवेश' के स्थान पर हमने उससे मिलती-जुलती 'इंडियन नेवल सर्विस' की पुकार की, मगर पत्थर एक-दो इंच ही ऊपर उठा। इसका कारण शायद यह था कि अन्य लोग प्रयास नहीं कर रहे थे। या, शायद ये शब्द पर्याप्त प्रभावशाली नहीं थे। यदि पत्थरों के उठने का आवाज से कोई सीधा वैज्ञानिक संबंध होता, तो पत्थर को उठ जाना चाहिये था, मगर वह नहीं उठा।

हमारे पास अधिक समय नहीं था, फिर भी इस सीमित समय में हमने एक और प्रयोग करने का निश्चय किया। ह... एक बार फिर उस बड़े पत्थर को ... का प्रयास किया। इस बार पत्थर... हमारी तर्जनी का स्पर्श न्यूनतम था, क्यों... हम देखना चाहते थे कि कहीं अन्य ... पत्थर को उठाने में अपने बल का प्र... तो नहीं करते। पर यह प्रयोग सफल ... क्योंकि हमारी तर्जनी के स्पर्श का प... के उठने और गिरने पर कोई प्रभाव ... पड़ा था।

ज़ाहिर है कि उस खुशनुमा हरे सं... मकबरे में कोई ऐसी अलौकिक श... छिपी है, जो उन पत्थरों को उठा... गिराती है।

('संडे स्टैंडर्ड' से साभार)

मेरा चमत्कारिक अनुभव

□

अरुण कुमार शर्मा

बचपन से ही भगवान शंकर में मेरा अटूट विश्वास रहा है (भक्ति नहीं कह पाऊंगा)। पिछले कई वर्षों से हिमालय में स्थित श्रीकेदारनाथ और श्रीबद्रीनाथ धाम के दर्शनों की हृदय में प्रबल इच्छा थी। आखिर 'उसकी' कृपा से पिछले वर्ष (मई ८०) में वहां जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। परम्परा के अनुसार हमने भी पहले श्रीकेदारनाथ धाम के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त किया। चारों दिशाओं में हिमाच्छादित गगन-चुम्बी पर्वतमालाओं के मध्य देव-निर्मित यह पावन मंदिर देदीप्यमान है। इतनी अधिक ऊंचाई (११७६० फुट) और दुर्गम स्थान पर इसका निर्माण आज भी मानव मस्तिष्क की कल्पना से परे है।

मेरा सारा दिन उस अद्भुत, अलौकिक, नैसर्गिक सुषमा को कभी पलकों में और कभी अपने कैमरे में बंद करने में ही बीत गया। लौटते वक्त अंधेरा घिर आया था। बूंदा-बांदी तो सुबह से ही चल रही थी। शेष यात्री बीच-बीच में बनी चट्टियों में ठहर गये थे। अब उस संकरी पगडंडी पर सिर्फ हम ही दो रह गये थे। जब भी आकाश में बिजली कौंधती तो सारी घाटी सहम जाती, और पगडंडी के किनारे पर अपने प्रबल वेग से बहती हुई मंदाकिनी सामने खड़ी हो जाती। अजीब अनुभव था। हम रास्ते की जटिलता और दूरी से (१९ किलोमीटर) ध्यान हटाने की वजह से आपस में कुछ-न-कुछ वार्तालाप करते वापस लौट रहे थे। 'काश हम अपने कैमरे में रंगीन फिल्म डलवाकर लाये होते, तभी यहां की प्राकृतिक छटा के चित्रण का वास्तविक आनंद आता।' यह इच्छा मैंने अपने सहयोगी उद्योगपति प्रमोदकुमार से व्यक्त की। क्योंकि मैं कैमरे में साधारण फिल्म ही डलवाकर गया था। इसलिये बार-बार पछता रहा था।

लेकिन वापस मेरठ लौटने पर जब मैंने फोटोग्राफर को वो फिल्म 'डेवलपिंग' के लिए दी तो वह बोला—'साहब, ये तो रंगीन हैं। यहां "डेवलप" नहीं होगी, बम्बई से डेवलप करानी पड़ेगी।' पलभर के लिए तो मैं सन्न रह गया। पाठकगण कुछ भी कहें, मेरे लिए इससे अधिक और चमत्कार क्या हो सकता है कि साधारण फिल्म से खींचे गये मेरे फोटो रंगीन और बिल्कुल स्पष्ट आये हैं।

□

आज़रबैजन के लेखक यूसिफ़ सोमडोगली की एक रोचक बालकथा

हेमांगिनी रानडे द्वारा प्रस्तुत

बच्चों का खेल : १९४६

वे घिर गये थे। बाहर निकलने का अब कोई रास्ता नहीं था। उनकी गरदनें झुकी हुई थीं। तीनों मौत के सामने थे, और कोई मरना नहीं चाहता था। न स्यावश, न करीम, न नाज़िम। लेकिन उनके पास अब और चारा भी नहीं था—क़ैद या मौत को छोड़कर। दुश्मनों ने ऐलान कर दिया था कि अगर वे हथियार नहीं डाल देते, तो उन पर एटम बम फेंका जायेगा। और खुद उनके पास कोई एटम बम नहीं था, एटम बम वे अपने घर पर ही भूल आये थे।

स्यावश, करीम और नासिम की अम्मा सकीना भी वहीं थी—खंदक में। वह गुल-ज़ार को अपने सीने से चिपटाये हुए थी। गुलज़ार—एक नन्हीं गुड़िया, उन भाइयों की इकलौती बहन। और सकीना गुलज़ार को लोरी सुना रही थी—

सो जा मेरी लाडली, हौले-हौले सो जा
तेरे संग-संग, देख, ये फूल सो रहे हैं।

'अब तेरे भाई लड़ने के लिए निकल जायेंगे,' उसने कहा, 'वे दुश्मनों को गोलियों से बींध देंगे . . . और फतेहमंद हीरो [illegible] तरह लौट आयेंगे। फिर हम लोग दोपह[illegible] का खाना खाने घर जायेंगे। जानती ह[illegible] आज हम क्या खायेंगे? मीठी डबलरोटी-इतनी बड़ी . . . मैंने खुद बनायी है। अहा! क्या स्वाद है उसका! लेकिन तुम्हें अच्[illegible] लड़की बनना होगा, हां! अगर तुम रो[illegible] तो मैं तुम्हें दुश्मनों के घेरे में छोड़ जाऊं[illegible] और वह मीठी डबलरोटी तुम्हें न[illegible] मिलेगी। समझ गयी न?'

सकीना ने गुलज़ार को ऊपर उ[illegible] लिया—गुड़िया ने अपनी आंखें खोलीं। अम्मा ने जब इसे फिर लिटा दिया [illegible] उसने आंखें मींच लीं।

'सो जाओ, बिटिया रानी,' सकीना [illegible] गुड़िया का सिर अपने सीने में भींच लिया। 'शाम को मैं तुम्हें घूमने ले जाऊंगी, औ[illegible] फिर नहलाऊंगी भी। लेकिन रोना नहीं हां, बिटिया!'

सो जा मेरी लाडली, हौले-हौले सो [illegible]
तेरे संग-संग, देख, ये फूल सो रहे हैं।

जब सकीना ने सिर उठाकर देखा [illegible]

उसे अपने बेटे दिखायी नहीं दिये । देखा बिटिया, तुम्हारे भाई चले गये । अब वे गोलियां चला रहे हैं—ढिशुम, ढिशुम, ढिशुम ! वे अभी लौट आयेंगे, और फिर हम लोग घर चलेंगे । सो जा, सो जा बिटिया रानी . . .'

यकायक किसी की आवाज़ आयी—'ओ सकीना ! !'

आवाज़ की तरफ़ उसने देखा तो वहां खंदक के छोर पर, खोकों के ऊपर, दुश्मन के सिपाही खड़े थे । एक ने अपने चौड़े कमरबंद के पीछे से लंबी नली की पिस्तौल निकाली, जो टूटे हुए कुंदे की राइफल लग रही थी । पिस्तौल का निशाना सकीना थी ।

'तुम जिंदा क्यों हो ?'

ओठों को सिकुड़ते हुए सकीना ने पूछा, 'मैं क्यों मर जाऊं ? यह पहले से तय था कि मैं नहीं मरूंगी ।'

दुश्मन हंसा । अपना हथियार उठाते हुए वह गरजा—'तुम क़ायदे से नहीं खेल रही हो ! तुम्हारे तीनों बेटे मर चुके हैं ।'

'वे मर भी गये तो क्या हुआ ? यह तय था कि मैं नहीं मरूंगी । और फिर तुमने मुझे गोली कहां मारी है ?'

दुश्मन फिर हंसा ।

'तुम भी कमाल हो ! अरे ! हमने एटम बम फेंका है । वहां—खंदक के पास, इसलिये तुम्हें भी मर जाना चाहिये ।'

सकीना कूदकर उठी—गुड़िया धमाके से नीचे गिर गयी । लड़की ने उसे फौरन उठा लिया और उसके पीले बालों में से धूल झाड़ने लगी ।

'हर्गिज़ नहीं ।' उसने कहा, 'हमने पहले से तय कर लिया था कि मैं नहीं मरूंगी । तुम्हीं लोग सही क़ायदे से नहीं खेलते हो ।'

कुछ देर की खामोशी के बाद दुश्मन के

क और सिपाही ने सामने आकर टोमी-गन से हवा में गोलियां चलायीं।

'ठीक है,' उसने कहा, 'तुम्हारी रही। लेकिन जब एटम बम फूटता है तो रेडियो एक्टिव किरणें बिखर जाती हैं। उससे लोग अंधे . . .'

किसी की समझ में नहीं आया था कि रेडियो एक्टिव किरणें क्या होती हैं। टोमीगन चलाने वाले सिपाही ने जब सभी को बौखलाया हुआ देखा तो आंखें मिचकाकर हकलाते हुए समझाने लगा—'वही तो . . . बाबा कहते हैं कि जब एटम बम फूटता है तो रेडियो एक्टिव किरणें बिखरती हैं, और उससे सभी अंधे . . .'

सकीना ने सिर हिलाया और अड़कर बोली, 'तुम लोग झूठ बोलते हो।'

दुश्मन का तीसरा सिपाही आया—'ठीक है, तुम नहीं मरना चाहतीं तो मत मरो ... लेकिन तुम्हारे तीनों लड़के मर चुके हैं। अब तुम्हें पागल हो जाना चाहिये।

पल भर सोचने के बाद सकीना ने 'हां' में गरदन हिलायी। अपनी क़रीने से बंधी चोटियों में से उसने रिबन नोच डाले, बाल कंधों पर छितरा लिये और आंखों में एक वहशीपन लिये वह घूरने लगी।

दुश्मनों ने खुशी के नारे लगाये और उछलते-कूदते ग़ायब हो गये।

पागल हो चुकी मां ने फिर ज़ोरों से लोरी शुरू की :

सो जा मेरी लाडली, हौले-हौले सो जा
तेरे संग-संग, देख, ये फूल सो रहे हैं।

फिर उसने धीरे-से अपनी गुड़िया [illegible] कहा—'तुम्हारे भाई मर चुके हैं। वे [illegible] कभी लौटकर नहीं आयेंगे। वे एटम [illegible] से मर गये। अब तुम मेरी इकलौती औल[illegible] हो। मेरा अब कोई नहीं है तुम्हारे सिवा [illegible] तुम जानती हो, तुम्हारी अम्मा ग़म [illegible] पागल हो गयी है। अब तुम अपनी अ[illegible] का कहा मानो—रोना नहीं, शरारत [illegible] करना। अब हम घर चलेंगे और मैं तु[illegible] मीठी डबलरोटी दूंगी। फिर हम तुम्[illegible] भाइयों को दफनायेंगे। ठीक है न? चलो[illegible]

सकीना खड़ी हुई, उसने गुड़िया [illegible] उठाया। गुड़िया की आंखें नहीं खुलीं [illegible] गुड़िया के सिर में से कुछ आवाज़ आ [illegible] थी। शायद पुर्ज़ा टूट गया था। सकीना [illegible] गुड़िया को हिलाया, लेकिन गुलज़ार [illegible] आंखें बंद ही रहीं। नन्ही अम्मा [illegible] बहाती चिल्ला उठी—'आंखें खोलो।'

लेकिन गुड़िया की बे-हरकत [illegible] पलकें मानो ग़ालों से चिपका दी गयी [illegible] तीन भाइयों की इकलौती बहन, सकी[illegible] की आखिरी औलाद—अंधी हो चुकी [illegible]

□

मैंने देखा कि आया का बच्चा धूल में पड़ा किलकारियां मार रहा था, [illegible] शानदार झूलने में पड़े मालकिन के बच्चे को हर धूप में प्यास सता रही थी और [illegible] की हर बूंद में ही वह छींकने लगता था।

—राबर्ट [illegible]

□

मेरा सपना जो साकार हुआ

□

चन्द्रकान्ता कक्कड़

'क्या कहा! तुम्हारी पढ़ायी छूट गयी!' मेरी बालसखी रमा आश्चर्यचकित रह गयी।

मेरी डबडबायी आंखें आकाश पर घिरी कादम्बिनी की ओर लगी रहीं।

'सखी! कुछ बता भी तो,' मेरी सहपाठिनी ने मुझे पुनः झकझोरा।

प्रत्युत्तर में मेरे नेत्र-सीप से अगणित माणिक-मुक्ता एकबारगी झर पड़े। हाई स्कूल पास करने के बाद मेरी पढ़ायी छूट गयी। साथ ही सहेलियों का संसार भी छूट गया। फिर देखती क्या हूं, मेरा पाणिग्रहण संस्कार हो गया है। बाबुल का घर 'चिड़िया रैन बसेरा' बन गया!

नया संसार! सर्वथा नवीन परिवेश! त्रस्त मृगी-सी मैं! पग-पग पर कठोरतम परीक्षा! हर वक्त जागरूक, सचेत, कहीं कोई त्रुटि न निकलने पाये। लाल चूड़े वाले हाथों में थमा खजूर की पत्तियों का बना झाड़ू, कच्चा-पक्का घर-आंगन बुहारती हुई नभचर पाखी निहारती मैं!

घर का काम लगन एवं निष्ठा के साथ निभाकर, अपने पति (प्रोफ़ेसर यशपाल कक्कड़) के कमरे में जाकर अलमारी के आगे बैठी उनकी पुस्तकें पढ़ा करती चुपचाप। उत्तरोत्तर एकान्तप्रिय, आत्मकेन्द्रित और एकाकिनी होती चली गयी मैं। उन्हीं दिनों बाणभट्ट की कादम्बरी हर्षचरित, महाकवि कालिदास का मेघदूत, अभिज्ञान शाकुन्तलम्, शरत् साहित्य एवं मुंशी प्रेमचन्द को भी तभी पढ़ा। संवेदन के विलक्षण क्षणों में मार्मिक अनुभूति को अभिव्यक्ति देते समय मैं भाव-विह्वल हो जाती! रह-रहकर मस्तिष्क में विचार कौंध उठता, काश! मैं आगे पढ़ पाती!

'एकान्तवासिनी! इन पुस्तकों में क्या तलाशती हो? और कोरे कागज़ों में कैसे व्यथा भरे चित्र उकेरा करती हो?' एक दोपहर इन्होंने मुझे चौंका दिया—कमरे में दबे पांव आकर! अश्रु-बांध फूट पड़ा, मैं उनके चरणों पर झुक गयी। इन्होंने मृदु स्वर में पूछा—'पढ़ना चाहती हो?'

मेरा मन-कमल खिल गया। दूसरे दिन वे पुस्तकें ले आये। प्रभाकर (ऑनर्स इन हिन्दी) की। जैसे किसी निर्धन को कारूं का ख़ज़ाना मिल गया हो। दृढ़ संकल्प शक्ति का चमत्कार कि फिर प्री-यूनिवर्सिटी से लेकर एम. ए. (संस्कृत) तक बिना किसी अवरोध के परीक्षाएं सफलतापूर्वक उत्तीर्ण करती चली गयी।

इस प्रकार मेरा सपना साकार हुआ। मुझे उदात्त जीवन की प्रेरणा मिली। अनवरत लेखन के साथ अब प्रकाशित-प्रसारित कहानियों का एक शतक पूरा करने जा रही हूं।

□

भुवनेश्वर बेहरा का एक उड़िया ललित निबंध

□

तमाशों का गोवर्धन

राजेन्द्र प्रसाद मिश्र द्वारा प्रस्तुत

यदि किसी घटना के पीछे किसी के गुप्त हाथ होने का संदेह होता है तो उस अदृश्य हाथ के अधिकारी को संदेहकारी लोग 'तमाशों का गोवर्धन' (अनर्थ की जड़) की पदवी देते हैं। तमाशों में एक गोवर्धन की आवश्यकता क्यों है, क्या यह गोवर्धन ही सब कुछ करवाता फिरता है, तथा यह नामकरण पहली बार किसने और क्यों किया, इस बारे में विशेष रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता—फिर भी इतना कहा जा सकता है कि सिनेमा के डायरेक्टर की तरह यह तमाशों का गोवर्धन है—लोगों की आंखों से ओझल रहकर तमाशे में हिस्सा लेने वाले सभी पात्रों को अलग-अलग चरित्र बांटकर उन्हें सही अभिनय करने का निर्देश देता है।

यह 'तमाशों का गोवर्धन' नामक कथन साधारणतः अच्छे अर्थ में लिया जाना सुनने में नहीं आता। 'तमाशा लगा रखा है' या 'स्वांग फैला रखा है' इत्यादि विरक्ति-व्यंजक संकेतों के पीछे किसी आक्षेप की ही सूचना मिलती है। अतः लोगों की नजरों में तमाशों का गोवर्धन एक तरह का विलेन अर्थात् एक खलना[illegible] होता है।

तमाशा कहने पर साधारणतः [illegible] ऑपेरा, जात्रा, नौटंकी, लीला [illegible] रास आदि समझा जाने पर भी [illegible] भाषा में इस शब्द का बहुविध प्र[illegible] दिखलायी देता है। राजनीति में [illegible] कोई अक्सर तमाशा करते दीखते [illegible] कारखानों में धरना, हड़ताल आदि [illegible] लगे ही रहते हैं एवं अधिकतर छात्र स[illegible] और कॉलेजों में नाना तरह के [illegible] रचा करते हैं, ऐसा सुनने में आता [illegible] अतः इस तरह के प्रत्येक तमाशे में [illegible] गोवर्धन का होना स्वाभाविक ही है।

रामायण की मंथरा और महाभा[illegible] के शकुनि को 'तमाशों का गोवर्धन' ना[illegible] उपाधि से विभूषित किया जा सकता [illegible]

किसी-किसी का कहना है कि [illegible] संसार एक रंगमंच है और प्रत्येक व्य[illegible] इस मंच पर अपनी निर्दिष्ट भूमिका [illegible] कर रहा है। न तो यहां कोई ह[illegible] के लिए रहा है और न ही रहेगा। [illegible] अपना अभिनय समाप्त कर सभी [illegible]

समय अपने-अपने घर लौट जायेंगे। इससे यह बात स्वाभाविक प्रतीत होती है कि कोई एक नटखट गोवर्धनिया इस संसार में सारा गुल खिलाता फिरता है। किंतु इन सबों में एक धारावाहिक निरंतरता और महान् उद्देश्य का पता पा जाने पर कोई-कोई 'संसार से हमारी लीला समाप्त हुई' कहकर 'महायात्रा' प्रारंभ कर देने की बात भी सुनने में आती है। ऐसे स्थल पर इस खेल के परिचालक को तमाशों का गोवर्धन कहना कहां तक संगत होगा, इस बारे में भिन्न-भिन्न मत प्रस्तुत किये जा सकते हैं। किंतु प्रत्येक मनुष्य का व्यक्तिगत जीवन मुख्यतः एक तमाशा होने के कारण उसके अंदर एक गोवर्धन छिपा हुआ है, इसे स्वीकार करने में हिचक नहीं होनी चाहिये।

जो लोग जानते हैं, उनका कहना है कि मनुष्य का मन उसे जिस तरह नचाता है, वह मजबूरन उसी तरह नाचता है। इसलिए बिना किसी संदेह के इस मन को 'तमाशों का गोवर्धन' कहा जा सकता है।

माता-पिता की बात मानकर लड़के स्कूल में पढ़ने जाते अवश्य हैं, किंतु क्लास रूम में जब शिक्षक कुछ पढ़ाने लगते हैं, तब आंखें ब्लैक-बोर्ड पर टिकी अवश्य रहती हैं, पर मन जाकर किसी इमली के पेड़, कैथा या आम के पेड़ पर चढ़ गया होता है। शिक्षक की वक्तृता की ओर कान लगे रहने पर भी मन खुद-ब-खुद पिपिहिरी बजाना शुरू कर देता

है। कॉलेज में उसी तरह ब्लैक-बोर्ड पर विज्ञान का कोई फार्मूला देखते-देखते मन उसी फार्मूले पर किसी फिल्म अभिनेत्री का चित्र आंक डालता है—अथवा अचानक ब्रेबोर्न स्टेडियम या फिरोजशाह कोटला ग्राउंड पहुंचकर अपने आप बैटिंग करना शुरू कर देता है, या किताब खोलकर पढ़ना प्रारंभ करते ही समाजवादी जीवन के आदर्श को अंगूठा दिखलाकर यह मन रंगीन सपने में मणि-मुक्ता का मुकुट पहनाकर हाथी के स्वर्ण हौदे में बैठाता है और स्वप्नपुरी की राजकन्या के पास बारात ले जाने के लिए तैयारी प्रारंभ कर देता है। ज्यों-ज्यों उम्र ढलती जाती है, एक पैसा बैंक-बैलेंस न

रहने पर भी खपरैल के मकान में रहने वाले बूढ़े शिक्षक का मन भव्य प्रासाद बनाना शुरू कर देता है।

मनुष्य जानता है कि जब तक इस शैतान मन को वश में नहीं किया जाता, उसकी खैर नहीं—फिर भी वह लाचार है। मन पर काबू पाना कितना कठिन है, उस संबंध में अचानक मुझे एक कहानी याद आ गयी।

राजा को किसी चीज़ की कमी नहीं थी—विशाल साम्राज्य, तथा राजकोष धन-संपत्ति से परिपूर्ण था। बेटा-बेटी, हाथी-घोड़े, सैन्य-सामंत किसी चीज़ का अभाव न था। फिर भी राजा को एक बड़ा दुःख था—सिर के बाल इस तरह झड़ने लगे थे कि राजा का सिर क्रमशः गंजा होने लगा था? राजा को डर था कि यदि यह बाल गिरना बंद न हुआ और नये बाल अगर न पनपे तो वे पूर्ण रूप से चंडूल हो जायेंगे।

राज्य के बड़े-बड़े डाक्टर, कविराज, हकीम सभी आजमा चुके। जवाकुसुम, आंवला तथा तरह-तरह के फल-फूलों के रस से बने तेलों का कोई असर नहीं हुआ। एक से बढ़कर एक भृंगराज, नारायण, महानारायण तेल सभी व्यर्थ साबित हुए। वृहत् छागल से लेकर अन्यान्य नाना जाति के घृत और कई प्रकार के सालसा तक कुछ काम नहीं आ सके। बल्कि धीरे-धीरे सिर ज्यादा चमकने लगा।

राजा का धीरज टूट गया। गुस्से में आकर उन्होंने यह ऐलान करवाया कि यदि एक माह के अंदर-अंदर उनके सिर पर फिर से बाल नहीं आये तो राज्य के सारे डॉक्टरों का सिर काट लिया जायेगा। डॉक्टरों के बीच सनसनी फैल गयी। उनमें से कइयों ने तो आने वाले संकट की आशंका के कारण खाना-पीना तक छोड़ दिया।

किंतु एक खुश-मिज़ाज और बेपरवाह डॉक्टर राजा की इस चुनौती को स्वीकार कर यथासमय एक शुभ दिन और शुभ मुहूर्त में अपनी दवाई की पेटी हाथ में लटकाये राजा के सम्मुख जा पहुंचा। पेटी में नाना रंग और नाना ढंग के तेल की शीशियां थीं। डॉक्टर साहब ने राजा के गंजे सिर की बारीकी से जांच-पड़ताल की, लंबाई-चौड़ाई नापी, सिर के चिकनाहट की परीक्षा उसमें अपना प्रतिबिंब देखते हुए की और इसके बाद बहुत गंभीरता से सिर डुलाते हुए यह घोषणा की कि बाइस दिनों के अंदर ही राजा के सिर पर इतने बाल उग आयेंगे कि उससे एक कालीन बनाया जा सकता है।

तेल की सारी शीशियां निकाली गयीं। प्रत्येक तेल का गुण भी साथ ही साथ बखाना जा रहा था। किसी तेल की मालिश से सिर के बाल सेही के कांटे की तरह होंगे तो किसी की मालिश से बाल बरगद के पेड़ की तरह मोटा होकर शाखा-प्रशाखा सहित फैल जायेंगे। जिस तेल

की थोड़ी-सी मालिश करने पर राजा की केश-राशि हिमालय के चमरी गाय की पूंछ के चंवर की तरह हो जायेगी, उस प्रकार के तेल की एक शीशी राजा के टेबुल पर रख डॉक्टर ने कहा कि प्रत्येक दिन ब्रह्म-मुहूर्त में राजा नहायेंगे और नहाने के पहले बायें हाथ की हथेली पर अठन्नी भर तेल लेकर सिर के गंजे हिस्से पर पांच मिनट तक धीरे-धीरे मलेंगे

राजा के चेहरे पर खुशी की लहर दौड़ गयी।

हाथ में पेटी लटकाये हुए घर जाते वक्त अचानक डॉक्टर साहब रास्ते में चौंक उठे और वापस आकर राजा से माफी मांगते हुए कहते हैं कि वह एक बहुत महत्वपूर्ण बात कहना भूल गये थे। तेल लगाते वक्त राजा को चाहिये कि वे तीन चीजों को कतई ध्यान में न लायें–सड़ा अंडा, टूटी चप्पल और टूटा झाड़ू। इनमें से यदि कोई भी चीज उस समय ध्यान में आ जायेगी तो दवा का असर नहीं होगा।

राजा के चेहरे पर एक विद्रूप भरी हास्य-रेखा उभर आयी। जो हीरा, नीलम और मोती आदि की गिनती नहीं करते वे भला सड़ा अंडा, टूटी चप्पल और टूटे झाड़ू की बात सोचेंगे!

सुबह होते ही राजा पलंग से उतरकर शीशी की ओर लपके। हथेली पर कुछ तेल डालकर ज्यों ही सिर पर लगाने को हुए, ठीक उसी क्षण उनका ध्यान सड़ा अंडा, टूटी चप्पल और टूटे झाड़ू के बारे में न सोचने की ओर चला गया। बस, तेल मालिश वहीं धरी-की-धरी रह गयी। दूसरे दिन भी तेल सिर के पास ले जाते ही वही टूटे चप्पल वाली बात याद आ गयी। तीसरे दिन भी वही हुआ। अंत में राजा ने मन को दृढ़ करते हुए प्रतिज्ञा की कि सड़ा अंडा तो क्या, सुबह वे कुछ भी नहीं सोचेंगे।

सुबह होने को हुई। हथेली पर तेल डाल, दांतों को भींचकर, दाहिने हाथ की मुट्ठी खूब कड़ी करके, आंख मूंदकर मन में कदापि कुछ न सोचने की ठान एक-दो-तीन के बाद ज्यों ही तेल अपनी चांद पर लगाने को हुए उसी क्षण उनके मुंह से टूटी चप्पल शब्द बंदूक की गोली की तरह निकल पड़ा। राजा की सारी उम्मीदों पर पानी फिर गया।

इस चंचल मन को वश में करना वाकई टेढ़ी खीर है। यह इतना चिकना है कि इसे आसानी से पकड़कर नहीं रखा जा सकता।

किसी-किसी का कहना है कि दवा से इस मन को वश में किया जा सकता है। मनुष्य कभी-कभी अफीम के नशे में स्वर्ग में खाली पड़े इंद्र के सिंहासन पर जा बैठता है, गांजा, मारिजुआना, एल. एस. डी. के नशे में आसमान में तैरता फिरता है। कभी-कभी शराब पीकर रास्ते में खड़ा होकर छाती ठोंकता है और मूंछ ऐंठकर ताल ठोंकते हुए नेपोलियन बोना-

पार्ट को कुश्ती के अखाड़े में खड़ा होकर ललकारता है।

किंतु हमारी महान् संस्कृति दृढ़ रूप से यह घोषणा करती है कि दवा द्वारा मन को वश में करने की धारणा पूरी तरह गलत है। दवा मन को क्षणिक उन्माद देकर स्वप्निल अवश्य कर सकती है, किंतु लगातार प्रयोग करते रहने पर अंत में मनुष्य दवा का दास होने के साथ ही मन का क्रीतदास भी हो जाता है। इसके अलावा हमारी संस्कृति यह भी शिक्षा देती है कि कांटे को कांटे से निकालने की तरह मन को बुद्धि और विवेक द्वारा दृढ़ करके उसी दृढ़ मन की सहायता से लगातार अभ्यास करते रहने पर चंचल मन पर काबू किया जा सकता है।

बिना किसी लक्ष्य के घूमते हुए कुत्ते को एक हड्डी का टुकड़ा दे देने पर जिस तरह वह उसी को लेकर एक जगह बैठा कड़कड़ाता रहता है, उसी तरह इस दर-दर भटकते मन को उसकी मनपसंद चीज़ पकड़ा देने पर कुछ समय वह स्थिर और शांत ही रहता है। छोटे बच्चे को शुरू-शुरू में भात खिलाने पर जिस तरह वे उसे जीभ से बाहर की ओर उगल देते हैं, किंतु धीरे-धीरे भात का स्वाद पा जाने पर खुशी से खाने लगते हैं, उसी तरह मन को भी धीरे-धीरे उसकी प्रिय चीज़ न देकर श्रेय चीज़ को पसंद करने की शिक्षा दी जा सकती है।

पढ़ाई से लेकर शोध, समाज साहित्य-सेवा, देश-सेवा आदि कि अच्छे काम में मन को इस तरह देने पर घी के दीपक ही ज्योति की ऊर्ध्वगामी तथा एकाग्र होकर यथासमय शांत हो जाता है।

साथ ही हमारी यह संस्कृति इस की ओर भी संकेत करती है कि कि स्वादिष्ट खाद्य के आस्वादन में हुए मन को अगर उससे भी ज्यादा स्व अन्य किसी खाद्य की गंध मिल जा वह पुनः चंचल और चपल हो सक अतः जिस सुख और आनंद से श्रेष्ठतर आनंद नहीं है, उस प्र आनंद के आस्वादन में मन पूरी तरह हो जाता है।

ऐसे धीर-स्थिर शांत मन का कारी ही अमृत-पुत्र है।

यह 'तमाशों का गोवर्धन' 'अनर्थ की जड़' चंचल मन मनुष्य वासना के संकीर्ण गली-कूचे में दिखलाता हुआ नरक का द्वार खो उसके भीतर उसे ढकेल देता है और मन जब वश में हो जाता है, तब वह आनंद का स्रष्टा हो जाता है। अतः मन को वश में करना हालांकि सहज नहीं, फिर भी उसे ज़्यादा-से-ज़्यादा चिंता में लगाकर निरंतर कोशिश रहना ही प्रत्येक मनुष्य के लिए इस से उपयोगी जान पड़ता है।

□

भूल भी चुका—आप बम्बई चलेंगे तो मैं आपको खुद गणेशपुरी ले जाऊंगा।'

मैं बंबई आया, लेकिन गणेशपुरी नहीं गया। बाद में पता चला, स्वामी नित्यानंद स्वर्ग सिधार गये हैं, या महासमाधि को प्राप्त हो गये हैं। अब गणेशपुरी जाने का फ़ायदा ही क्या!

० ० ०

ये तब की बात है, जब मैं एक बार, सिर्फ़ एक बार स्वामी मुक्तानंद से मिल चुका था। उन्हें मिलने के बाद भी मेरा कोई इरादा नहीं बना गणेशपुरी जाने का। उनके कहने पर ज्ञानेश्वरी अंग्रेजी में पढ़ ली, हिन्दी में पढ़ ली. बहुत हो गया। लेकिन बहुत नहीं हुआ।

बाबा मुक्तानंद अपनी पहली मुलाकात में एक तीर गाड़ गये थे मेरे दिल में। बार-बार मेरे अंदर उनका सवाल घूमता और मुझे बेचैन कर देता—'तुम कौन?'

मैं इक़बाल का 'फ़ल्सफ़ाए खुदी' (आत्म-दर्शन) पढ़ चुका था। मुझे शायरे मशरिक के सैकड़ों शेर याद थे।

'खुदी को कर बुलंद इतना
कि हर तक़दीर से पहले,
खुदा बंदे से खुद पूछे
बता तेरी रज़ा क्या है?

०
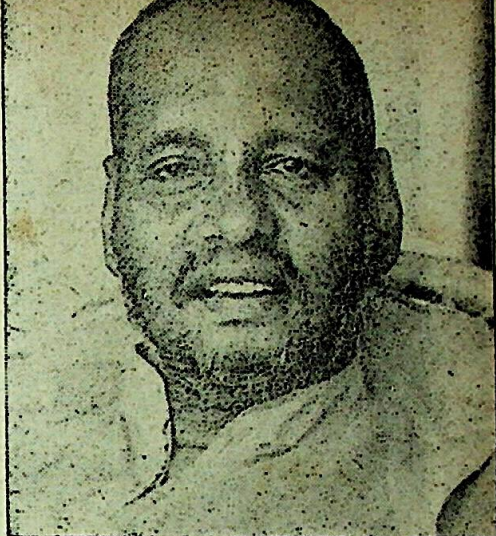
विश्व-विख्यात सिद्ध-योगी
स्वामी मुक्तानंद परमहंस

बाग़े बहिश्त से मुझे हुक्मे
सफर दिया था क्यों,
कारे जहां दराज है,
अब मेरा इंतजार कर।'

आज क़ी शाम जाने क्या हुआ—कारे जहां पहले इतना दराज नहीं लगा और मुझे शिद्दत से महसूस हुआ, स्वामी मुक्तानंद गणेशपुरी में मुझे बुला रहे हैं, मेरा इंतजार कर रहे हैं, और मैं उन्हें ज्यादा इंतजार नहीं करवा सकता।

मैंने गणेशपुरी जाने का फ़ैसला कर लिया। मैंने अपनी पत्नी से पूछा—'गणेशपुरी चलोगी?'

उसने कहा—'नहीं!'

उसकी 'नहीं' ने मेरे इरादे को और कूवत दी। मैंने अपने साले साहेब की बीवी को टेलीफ़ोन किया। वे हमेशा गणेशपुरी

जाने के लिए तैयार रहती हैं। लेकिन उन्हें कोई साथ ले जाने वाला चाहिये। उन्हें रेल और बस के धक्के मंजूर नहीं। उनका विश्वास है कि बाबा जब उन्हें बुलाना चाहेंगे, तो ज़रूर उनके लिए मोटर का इंतज़ाम कर देंगे। उन्हें जब पता चला, कि मैं मोटर में गणेशपुरी जा रहा हूं, तो उन्हें यक़ीन हो गया कि ये बाबा का चमत्कार है। एक बार फिर बाबा ने उन्हें गणेशपुरी बुलाने के लिए मोटर का प्रबंध कर दिया है। टेलीफ़ोन पर उनकी आवाज़ ख़ुशी से नाच रही थी। रात भर काले चश्मे के पीछे बाबा मुक्तानंद की चमकती हुई आंखें मुझे नज़र आती रहीं, और उनकी आखरी बात मेरे अंदर गूंजती रही—'तुम गणेशपुरी जल्दी आओगे!'

बाबा से मिले हुए मुझे अभी महीना भर भी नहीं हुआ था। मुलाक़ात भी लम्बी-चौड़ी नहीं हुई थी। बाबा ने एक-आध नज़र गाड़ी थी मेरी आंखों में, एक-आध सवाल पूछा था, एक-आध बात कही थी। इतनी मुख्तसर मुलाक़ात और इतनी कारगर! मैं हैरान था बाबा की जादूगरी पर। मैं जो सोचता था कभी गणेशपुरी नहीं ज़ाऊंगा, आज बंधा हुआ गणेशपुरी जा रहा था।

सुबह चार बजे उठा, तो मैंने देखा, मेरी पत्नी पहले से ही नहा-धो कर कपड़े बदलकर तैयार बैठी है। मालूम हुआ, उसका रात का नकार सकार में बदल गया है। वह मेरे साथ गणेशपु[illegible] जा रही है।

मैंने अपने साले साहब के घर का न[illegible] घुमाया—भाभीजी (मेरे साले साहब [illegible] पत्नी) की आवाज़ में अब रात [illegible] खुशी नही थी। वो बोलीं कि—'आ[illegible] साले साहब रात को स्टूल पर खड़े [illegible] बल्व लगा रहे थे, कि गिर गये—उन्हें [illegible] तो बहुत नहीं आयी, लेकिन दर्द [illegible] है। मैं उन्हें इस हाल में छोड़ के ग[illegible] पुरी कैसे जा सकती हूं?'

ये तो कमाल हो गया! भाभी[illegible] रात को तुली हुई थीं गणेशपुरी जा[illegible] लिए, और मेरी पत्नी बज़िद् थी कि [illegible] क़तई तौर पर नहीं जायेगी। अब [illegible] में जो नहीं जाने वाले थे, वो जा र[illegible] और जो जाने को सौ फ़ीसदी तैयार [illegible] थे, वो घर में रहने को मजबूर थे।

मैंने थाना हाइवे पहुंचने पर [illegible] पत्नी से से पूछा—

—'तुम्हारा इरादा कैसे बदल [illegible] एकाएक? रात को नहीं जा रही [illegible] अब जा रही हो!'

—'इरादा मैंने ख़ुद नहीं बदला, [illegible] मुक्तानंद ने बदला है। रात को [illegible] मेरे सपने में आये, और कहने ल[illegible] गणेशपुरी आ रही हो—और मैं जा [illegible] हूं—बस!'

औरतों का विश्वास कितना [illegible] होता है, मैं दिल ही दिल में हंसा, [illegible] मैंने उस हंसी को होठों पर नहीं [illegible]

दिया। अंदर हीं अंदर मुझे एक बात की खुशी थी, कि मैं अकेला नहीं जा रहा हूं, मेरे साथ मेरी पत्नी जा रही है। भगवान की तलाश में भी निकलने वाले को डर होता है, कि उसकी पत्नी उसकी इस तलाश को एक और नया शौक़ कहके उसके दिल पे छुरी न चला दे।

० ० ०

रास्ते में हमने पेट्रोल भरवाया, और मेरी पत्नी ने गाड़ी के टायरों की घिसी हुई हालत देखी, तो फ़ौरन फ़तवा दे दिया–'ये गाड़ी पहुंच चुकी गणेशपुरी! मैं अब भी कहती हूं बम्बई से किसी दोस्त या किसी प्रोडयूसर के पास से कोई दूसरी गाड़ी मंगवा लीजिये–' मैंने उसकी ये बात सुनी, मगर अनसुनी कर दी। मैं औरतों की चालें खूब समझता हूं। पहले वो ज़ाहिर करती हैं कि वो हर सफ़र में आपके साथ हैं। दो क़दम आपके साथ भी चलती हैं। फिर आहिस्ता से एक शोशा छेड़ देती हैं–जिससे आपके फ़ैसले कुछ बदलने लगते हैं। लेकिन मैं उनमें से नहीं हूं जो अपने घोड़ों की बाग दूसरे के हाथ में दे दूं। मैंने किसी को अपनी ज़िन्दगी में 'बैक सीट ड्राइविंग' नहीं करने दी।

मैं अपनी बीवी की चाल समझ गया। जितना वो मुझे जानती है, और कोई नहीं जानता। मैं एक बार चल पड़ा, तो मुझे रोकना मुश्किल है। मेरी ज़िद मेरे खानदान और दोस्तों के दायरे में मशहूर है। इसीलिये तो उसने दूसरी गाड़ी का मशवरा दिया था। उसे यक़ीन था कि मैं एक बार पीछे मुड़ गया तो मुड़ गया। गणेशपुरी एक दफ़ा मेरे दिमाग़ के नक्शे से उतर गयी तो उतर गयी। लेकिन मैंने उसे अपनी चाल में कामयाब नहीं होने दिया। मैंने कहा–'जाऊंगा तो इसी गाड़ी में जाऊंगा। तुम्हें न जाना हो तो टैक्सी लो और घर लौट जाओ।' उसे इतने ज़ोरदार जवाबी हमले की उम्मीद नहीं थी। चुप-चाप भीगी बिल्ली बनके सामने की सीट पर बैठ गयी। और उछलती-कूदती स्पीडोमीटर की सुई को देखने लगी।

सायन, थाना, भिवंडी सबके सब मुक़ाम मेरी उड़ती हुई गाड़ी ने पीछे छोड़ दिये। अब गणेशपुरी सिर्फ़ एक मील दूर रह गयी थी। वज्रेश्वरी के मंदिर के भगवे झंडे हवा म लहराते सामने नज़र आ रहे थे।

मैंने अपनी बीवी से कहा–'तुम तो कहती थीं, इस गाड़ी से पहुंच चुके गणेशपुरी!'

जुमला अभी पूरा भी नहीं हुआ था, कि एक ज़ोर का धमाका हुआ। जैसे कोई गोला फटा हो गाड़ी के नीचे। मैं फौरन गाड़ी रोक के नीचे उतरा–देखा, पिछला टायर बिल्कुल बैठ गया है और पेट्रोल बुरी तरह टंकी से नीचे गिर रहा है। फटे हुये टायर और गिरते हुए पेट्रोल का संबंध समझ में नहीं आया।

पीछे की डिक्की खोल के स्टपनी (स्पेयर व्हील) बाहर निकाली, तो दिल टायर की तरह फ्लैट हो गया। टायर बिल्कुल गंजा था। उसके अंदर से ट्यूब झांक रही थी, जैसे ग़रीब के घर से नंगी भूख झांकती है। ये टायर कहां तक जा सकेगा! टायर तो सिर्फ नाम का था। गाड़ी को समझ लीजिये ट्यूब के सहारे चलना था, गणेशपुरी की पुरानी और फूटी हुई सड़क पर। अब भगवान ही जाने, गणेशपुरी में कोई टायर जोड़ने का इंतज़ाम है या नहीं। टायर से ज़्यादा मुझे पेट्रोल की फ़िक्र थी, वह बिना किसी रोक के नीचे गिरता जा रहा था।

थोड़ी देर के लिए तो न आगे जाने की कोई सूरत नज़र आती थी, न पीछे मुड़ने का कोई रास्ता दिखाई देता था। मैं ठहरा दिल का मरीज़। पहिया बदलने के लिए जो ताक़त चाहिये, वह मेरा ज़ख्म-खुरदा-दिल कहां से लाये? (डॉक्टरों ने मुझे तमाम जिस्मानी मशक्क़त मना कर रखी है।) और गाड़ी के पहिये उतारने चढ़ाने में अगर आदमी जान देने के लिए तैयार हो जाये, तो लोग उसे शहीद नहीं, बेवकूफ़ मानेंगे।

लेकिन मैं इस बेवकूफ़ी के लिए तैयार हो गया। मेरी पत्नी को मुझ पर रहम आया। उसने मेरा हाथ बटाने की पेशकश की। मैंने फ़ौरन क़बूल कर ली। इतनी देर में एक ट्रक वहां से गुज़र र था। अचानक हमें देख के वो रुक गया। ड्राइवर और क्लीनर दोनों ने नीचे उ कर हमारा पहिया फौरन उतार भी दि चढ़ा भी दिया।

मेरी जगह कोई भक्त होता, तो फ़ौ कह उठता या मान लेता—ट्रक बाबा भेजा था। या बाबा खुद ड्राइवर ब आ गये थे। लेकिन मैं ज़रूरत पर पहुं वाली हर मदद को आसमानी चमत् मानने को तैयार न था।
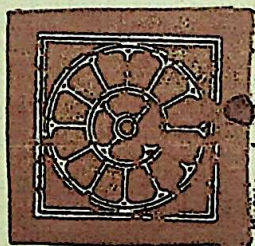
वज्रेश्वरी के मंदिर बाहर फूलों की दु हैं। मैंने वहां से एक ह ख़रीदा। गणेशपुरी रास्ता पूछा—और दौड़ा गाड़ी। आन की आन हम आश्रम में पहुंच गये

पहली नज़र में आश्रम का भी रोब नहीं पड़ा मुझ पर। बाहर एक म विश्रांतिगृह जैसा एक मामूली-सा च खाना। आश्रम के अंदर दो छोटे- कमरे। और कमरों के साथ लगा हु उनसे एक ज़रा ही बड़ा हाल। बी बीच स्वामी नित्यानंद की बड़ी रंगीन तस्वीर लगी थी। एक तरफ नारि का टीला लगा हुआ था। दूसरी त गांवठी साड़ियों का ढेर लगा था। से सैकड़ों केले लटक रहे थे।

एक ओर दीवार के साथ बैठने

लिए चन्द गद्दे पड़े थे। बीच में एक जगह बनी हुई थी, तख्त की शक्ल की। तीन तरफ गाव-तकिये, सामने एक फ़र्शी डेस्क जैसी चीज़। एक तरफ़ बिजली का एक छोटा-सा पंखा रखा था।

चंद देसी भक्त इधर-उधर बिखरे हुए बैठे थे। उनमें एक-आध भक्त पश्चिम का भी नज़र आया, जो कुछ पढ़ भी रहा था, झूम भी रहा था। वह हिन्दुस्तानी लिबास और गांधी टोपी में कुछ अजीब लग रहा था।

इतने में सामने का दरवाज़ा खुला और गुरुदेव आ गये।

'तुम आ गये ?'

उन्होंने अंदर आते ही पूछा। और मुझे ये जानकर बेहद खुशी हुई कि वे मुझे भूले नहीं थे। उनकी इस पहचान ने मेरे अहंकार को ऐसा सहारा दिया, कि मैं थोड़ी देर के लिए भूल गया कि बाहर मेरी मोटर का पेट्रोल बुरी तरह गिर रहा है।

'पहले गणेशपुरी जाओ, कुंड में नहा के भगवान नित्यानंद की समाधि के दर्शन करके आओ, फिर बातें करेंगे।'

मैं किसी बहस-मुबाहसे में पड़ना नहीं चाहता था। मुझे मालूम था कि अगर बातें लम्बी हो गयीं तो पेट्रोल के बिना गाड़ी का और गाड़ी के बिना हमारा क्या हाल होगा! इसलिये चुपचाप कुंड पर चले गये। दो-चार तेज़ रफ्तार डुबकियां लगायीं और आधे गीले, आधे सूखे भगवान नित्यानंद की समाधि पर पहुंच गये। वहां भी बाबा नित्यानंद की वही तस्वीर लगी थी। एक नंगा-धड़ंगा साधु। उनका पेट उनके शरीर का सबसे नुमायां हिस्सा जान पड़ा। हमने प्रणाम किया, पुजारी ने चरणामृत दिया। बाहर आये तो कई लोगों ने कहा—आपकी गाड़ी का पेट्रोल बह रहा है। जैसे कोई नयी ख़बर दे रहे हों।

गांव में इधर-उधर बहुत सवाल-जवाब किये। नज़दीक में कोई टायर का पंकचर लगाने का इंतज़ाम नहीं था। और पेट्रोल तो भिवंडी से पहले मिल ही नहीं सकता था। और भिवंडी कई मील दूर थी। मैंने दिमागी तौर पर पेट्रोल के बहाव की रफ्तार और भिवंडी के फ़ासले का हिसाब किया तो यक़ीन हो गया, कि हमें गाड़ी गणेशपुरी में छोड़नी पड़ेगी। और टिन हाथ में उठाकर किसी बस के ज़रिये भिवंडी जाना पड़ेगा पेट्रोल लाने के लिए। फिर सोचा, पेट्रोल आ भी गया, तो क्या होगा! उस गंजे टायर का क्या करेंगे, जिसकी ट्यूब बाहर निकली हुई है। इस उधेड़-बुन में हम आश्रम में वापस पहुंचे।

स्वामी मुक्तानंद ने पूछा—'आजकल क्या लिख रहे हो?' मैंने कहा—'योगी इन पैरिस' (Yogi in Paris)' ये

सुनके वे बहुत हंसे। मैंने कहानी का हलका-सा ख़ाका बताया, तो लोटपोट हो गये। एक हिन्दुस्तानी साधु और पैरिस की एक बाज़ारी हसीना की कहानी। साधु जो उस रास्ते से गिरता है, जिसे उपनिषद तलवार की धार की तरह तेज़ और कठिन बताता है। और 'वो पतिता' किस तरह उस तलवार की धार पर चलकर भगवान के मंदिर तक पहुंचती है।

अब बाबा ने पूछा—'तुमने खाना-वाना खाया है कि नहीं?'

हमारे चेहरों पे लिखा था कि हमने सिर्फ़ रास्ते की ठोकरें खायी हैं। बाबा ने इशारा किया, और फौरन एक शिष्य दो बड़े-बड़े लड्डू ले आया। बाबा ने हुक्म दिया—'खाओ, और मेरे सामने खाओ।'

हमें आश्रम के नियम और क़ानून बिल्कुल मालूम नहीं थे। हमने बिला-तकल्लुफ़ पानी भी मांग लिया। बाबाजी के शिष्य बगलें झांकने लगे। ऐसी गुस्ताख़ी पहले शायद कभी नहीं हुई थी वहां।

बाबा क़ैफियत को फौरन भांप गये। उनकी एक अंगुली हिली और प्लास्टिक के दो गिलास आ गये। अब हमने पानी पिया तो बाबा ने एक शिष्य से कहा—'इन्हें आश्रम दिखा लाओ' —मैंने बहुत टालने की कोशिश की, कि आश्रम फिर किसी दिन देख लेंगे। मुझे मालूम था कि आज देखेंगे तो बंबई नहीं पहुंच सकेंगे। लेकिन बाबा के शिष्य पहले ही उठ चुके थे, औ हमसे कह रहे थे—'आइये।'

हम उनके साथ आश्रम देखने चल पड़े। उस वक्त उनका नाम था स्वामी कि नन्द। अब भी कभी रजनीशजी के आ में स्वामी योगचिन्मय के नाम से मुलाक़ात हो जाती है। उन्होंने आ के साथ अपना नाम बदल लिया है। खुद कितना बदले हैं, वही जानें।

वह बड़े प्यार से हमें आश्रम दि रहे थे। 'उस पेड़ की तरफ देखिये, बाबा ने खुद लगाया है। इस गाय तरफ देखिये, ये बाबा की बड़ी च गाय है।' पेड़ों और गायों के बाद वे 'तुरीय मंदिर' में ले गये। उस कमरे भी ले गये, जहां बाबा कई दिनों रहे थे। मुझ पर किसी चीज़ का नहीं पड़ रहा था।

मुझे तो अपनी गाड़ी के गिरते पेट्रोल और फटे हुए टायर की फ़िक्र जा रही थी। हम आखिर बाबा के इजाज़त लेने के लिए पहुंचे। उन्हों दो लम्बे-चौड़े केलों का प्रसाद हमें दि

केले देते हुए बाबा ने पूछा—'फिर आओगे?'

'फिर आने से पहले मैं एक बात क चाहता हूं आपसे—' मैंने केला खाते उसका छिलका अपने हाथ में लिये कहा:

'कृष्णमूर्ति कहता है...'

'जिद्दू कृष्णमूर्ति?'

बाबा ने बीच में ही पूछा। मुझे अच्छा लगा, बाबा कृष्णमूर्ति को जानते हैं।

'जी हां, वो ही कृष्णमूर्ति कहता है—अंधेरे और रोशनी में कई बार लाखों-करोड़ों साल का फ़ासला हो सकता है। और कभी-कभी दियासलाई की एक रगड़ से रोशनी हो जाती है।'

बाबा ज़ोर से हंसे। आन की आन में उनकी हंसी से सारा हाल भर गया, और मुझे ऐसा लगा जैसे सारी दुनिया में मुक्तानंद की हंसी के फूल खिल गये हैं।

'तो तुम्हें काड़ी (दियासलाई) जलाने वाला गुरु चाहिये'—बाबा ने हंसते हुए मुझसे पूछा।

'जी, हां!' मैंने जवाब दिया—'लाखों-करोड़ों साल हैं नहीं मेरे पास। नहीं मुझे किसी अगले जन्म में मुक्ति चाहिये। जैसे इस केले की मुक्ति हो गयी है मेरे खाने के बाद।'

मैंने केले का छिलका दिखाते हुए बात जारी रखी:

'कई साल पहले मुझे दिल का बहुत जबरदस्त दौरा पड़ चुका है। आनेवाले दूसरे और आखरी दौरे के इंतज़ार में ज़िंदगी कट रही है। इसलिये मैं ज़रा जल्दी में हूं। अच्छी बात ये है कि जिस बाज़ार में आप बैठे हैं, उसमें दूसरी दुकानें भी हैं। ये माल आपके यहां न मिलता हो तो मैं कोई दूसरी दुकान ढूंढूं!' हाल में एक सन्नाटा छा गया। ख़ामोशी ऐसी कि मैं अपनी सांस की आवाज़ सुन सकता था। इतने में बाहर से एक चीख़-सी सुनाई दी। एक अजीब-सी चीख़। आश्रमों में ऐसी चीखें सुनाई दें, तो आन की आन में, कितने सवाल जुलूस की शक्ल में सामने आ जाते हैं। बाबा मेरी परेशानी भांपकर बोले:

'बाहर देखो!'

मैंने बाहर देखा, तो एक मोर अपने पंख फैलाये खड़ा था। उसके खूबसूरत रंगीन पंखों का सुदर्शन चक्र देखकर मेरे तमाम सवाल ख़ामोश हो गये। अब बाबा ने ख़ामोशी तोड़ी—

'देखा इस पागल को। ये हमारी आवाज़ सुनता है, तो नाचने भी लगता है, चीख़ने भी लगता है। इसे छोड़ो, अब हम तुम्हारी बात करते हैं। तुम जो सौदा ख़रीदने निकले हो, तुम्हें इसी दुकान पर मिलेगा। तुम्हें बाज़ार में बहुत भटकने की ज़रूरत नहीं।'

मैंने अब भी प्रणाम नहीं किया। नमस्ते ही की। बाबा ने आशीर्वाद दिया। हमने बाहर आकर देखा, पेट्रोल अब भी गिर रहा है। गाड़ी में बैठने के बाद जाने मुझे क्या सूझी। तीन मील के बाद टायर बनाने वाले की दूकान सामने आयी, तो मैं नहीं रुका।

मेरी पत्नी ने कहा—'टायर तो बनवा लो।'

मैंने कहा: 'जहां पेट्रोल डलवायेंगे, वहां टायर भी बनवा लेंगे।'

(शेषांश पृष्ठ ५० पर)

विश्रुत साहित्य-विवेचक डॉ. चन्द्रकांत बांदिवडेकर

यायावर साहित्यकार अज्ञेय

इधर के हमारे साहित्य–विवेचकों में डॉ. चन्द्रकांत बांदिवडेकर ने अपना अलग स्थान बनाया है। वे निरे समीक्षक नहीं, साहित्य के एक तन्मय और सम साधक हैं। वे पेशेवर आलोचक नहीं, जीवन-मूल्यों के गहरे मुतलाशी हैं। अ इस भीतरी तलाश से प्रेरित और विवश होकर ही वे साहित्य का मूल्यान्वेषण मूल्यांकन करते हैं।

यही कारण है कि बांदिवडेकर की समीक्षा-दृष्टि एकाङ्गी नहीं, सर्वाङ्गी साहित्य के मौजूदा वादों, प्रवाहों और गुटों से वे प्रतिबद्ध और ग्रस्त नहीं, सीमित न एक सर्वथा स्वतंत्र और निजी आत्मीय दृष्टि से वे साहित्य की छनावट करते हैं। कृ कार को उसकी मौलिक जमीन पर स्वीकार करके, उसका आदर करते हुए ही वे कृति कृतिकार की चेतना तक पहुंचते हैं। इसी कारण हिन्दी के आज के प्रवाहों, वादों गुटों से ग्रस्त साहित्यिक माहौल में वे अलग से चुने और पहचाने गये हैं। ऐसी सत्य-नि और आत्म-निष्ठा आज कम दिखाई पड़ती है।

महान साहित्यकार अज्ञेय की कविता पर उनकी किताब मानक प्रमाणित है, और हिन्दी उपन्यासों पर उनका ग्रंथ सर्वत्र अपनाया गया है। अज्ञेय के तज्ञ अ और विवेचक होने के नाते, उनका प्रस्तुत लेख मूल्यवान और महत्त्वपूर्ण है।

हिंदी के मूर्धन्य आधुनिक साहित्यकार सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन उर्फ कवि अज्ञेय, बहुमुखी प्रतिभाशाली कलाकार हैं। अज्ञेय हिंदी के श्रेष्ठ उपन्यासकार हैं। हिंदी कविता को नया मोड़ देने वाले नयी कविता के प्रवर्तक हैं। हिंदी कहानी को आशय एवं शिल्प दोनों दृष्टियों से समृद्धि प्रदान करने वाले महत्त्वपूर्ण कहानीकार हैं और साहित्य एवं साहित्य सम्बद्ध अन्य ज्ञानशाखाओं के सैद्धांति पक्ष पर चिंतन करने वाले हिंदी के श्रे विचारक हैं। जीवन के महत्त्वपूर्ण प्र पर गहन अंतर्दृष्टि से चिंतन करने वा में भी अज्ञेय का नाम लिया जा सकता है अज्ञेय के द्वारा लिखित ललित निबंध उन सम् व्यक्तित्व के कतिपय पक्षों पर प्रका

डालते हैं। 'भवन्ती' तथा 'अंतरा' जैसी कृतियां अज्ञेय की सहजानुभूत परंतु तीव्र मेधा से संपृक्त चिंतन-क्षमता की आभा विकीर्ण करती हैं। इन सभी साहित्यिक विधाओं में उनके यात्रा-विवरण भी महत्त्वपूर्ण हैं—एक अलग दृष्टिकोण से। सामान्यत: रचनाकार के व्यक्तिगत जीवन और प्रतिभा के उन्मेष के क्षणों में रचित साहित्य में सीधा संबंध नहीं होता। स्वयं अज्ञेय भी इस प्रकार के संबंध को स्वीकार नहीं करते। लेकिन यात्रा-वर्णन, एक ऐसा सार्वजनीन भी और निजी भी दस्तावेज़ होता है, जिसमें रचनाकार के व्यक्तित्व से सीधा साक्षात्कार हो जाता है। अज्ञेय एक यायावर कथाकार हैं। उनकी यायावरी ने उनके साहित्य को समृद्धि दी है, उनके सर्जनशील व्यक्तित्व ने उनके यात्रा-विवरणों को कलात्मक स्तर प्रदान किया है।

अज्ञेय के यात्रा-विवरणों के दो ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं — एक है 'अरे यायावर रहेगा याद ?' और दूसरा है 'एक बूंद सहसा उछली'। दोनों उनकी दो सुंदर कविताओं की केंद्रीय पंक्तियां हैं। 'अरे यायावर रहेगा याद ?' में उनकी भारतीय यात्राओं के वर्णन हैं और 'एक बूंद सहसा उछली' में यूरोप परिभ्रमण का विवरण है। भारत-यात्रा में पूर्वी सीमा प्रांत के भी पूर्वोत्तर प्रदेश तक, मध्य असम से पंजाब तक, सीमा प्रांत में पेशावर तक की यात्रा का साहसिक वृत्तांत है। कॉस्मिक किरणों

श्री वांदिवडेकर : श्री अज्ञेय

की खोज में अपने एक वैज्ञानिक गुरु का सहायक बनकर की गयी कश्मीर के कोंसरनाग तक की यात्रा का रोमहर्षक निवेदन है। मंडी से कुलू प्रदेश तक के लोकजीवन का सांस्कृतिक पर्यवेक्षण है, जिसमें मौत से साक्षात्कार के क्षणों का बहुत ही संवेदनशील अंकन है। एलोरा की गुफ़ाओं और भारतवर्ष की भास्कर्य-कला की किरीट-मणि कैलास मंदिर को देखकर उत्पन्न उत्कट सौंदर्याभिभूत क्षणों की अभिव्यक्ति है। असमिया के सांस्कृतिक जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करनेवाले माझुली द्वीप की प्रकृति का तथा वहां के लोगों का रोचक वृत्तांत है। अज्ञेय के इन यात्रा-संस्मरणों को पढ़ते समय लगता है अज्ञेय महज़ प्रतिभा से रचना करनेवाले कलाकार नहीं हैं, अपितु जीवन को कला के रूप में जीनेवाले अद्भुत जीवनयोगी भी हैं। इस जीवन-कला में महत्त्वपूर्ण हिस्सा उनकी यायावरी का है। अज्ञेय लिखते हैं—'आप सच मानिये, जीने की कला सबसे पहले एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने

की कला है—कम से कम आधुनिक काल में।'

'एक बूंद सहसा उछली' में यूरोप के महत्त्वपूर्ण देशों के सांस्कृतिक चित्र अंकित करने का अज्ञेय ने सफल प्रयास किया है। इसमें इटली का विशद वर्णन है—खासकर यूरोप की अमरावती रोमा या रोम का, यूरोप की पुष्पावती फिरेंज़े या फ्लोरेंस का, इटली पर आध्यात्मिक छाया डालने वाले संत फ्रान्सिस के असीसी का लगभग सम्यक् सांस्कृतिक चित्रण है, जो इटली की आत्मा को हमारे सामने साकार करता है। यूरोप के सर्वाधिक सुंदर देश स्विट्ज़रलैंड की सुंदरता का सही चित्रण अज्ञेय की पारखी दृष्टि का परिचायक है। पेरिस जैसे यूरोप के सांस्कृतिक केंद्र की शक्ति और सीमा का वैशिष्ट्यपूर्ण विवेचन लेखक के सम्यक् और संतुलित चिंतनशील नज़रिये की प्रतीति कराता है। हॉलैंड और उसकी डच जाति की दुर्दम्य जिजीविषा के सामने यायावर अज्ञेय नतमस्तक होता है तो स्वीडन को आधुनिक गोलोक कहकर स्वीडी लोगों के सांस्कृतिक जीवन से अभिभूत हो जाता है। लापलैंड में आविस्को में मध्य रात्रि का सूर्य देखते हुए चौबीस घंटों के दिन का बड़ा ही रोचक वर्णन प्रस्तुत करता है। परियों वाले देश डेनमार्क की उड़ती भेंट की भी सुखद झांकी देता है। इंग्लैंड के लंदन और एडिनबरा का तथा स्कॉटलैंड, आयरलैंड का विशद विवेचन एवं बीस हज़ार राष्ट्रीय कवियों पर गर्व करने वाले वेल्स लो... बारीकी से चित्रांकन करने में ... विशेष रस लेता दिखता है। यूरो... सबसे अधिक ध्यान आकर्षित करने... बर्लिन का—यूरोप के स्नायु केंद्र का... उरेहते समय लेखक ने युद्धोपरान्त ... लोगों की वेदना को बड़ी सूक्ष्मता से ... व्यक्त की है। असल में 'एक बूंद ... उछली' यायावर अज्ञेय के यूरोप की ... तिक यात्रा-वर्णन के अक्षर भित्तिचि... जो अपनी व्यापकता और गहराई के ... साहित्य की चिरन्तन निधि माने ...

अज्ञेय पैदाइशी यायावर रहे हैं... लिखते हैं: 'यायावर के पैर में चक्कर ... दिमाग में चक्कर है, भ्रामरी यो... उसने जन्म लिया है'। यह यायावरी... बाहरी उद्देश्य की नहीं, जितनी आं... तकाज़े की उपज है। इस जन्मजात ... वरी वृत्ति को एक वैचारिक आस्... बल भी मिला है। अज्ञेय लिखते हैं—'... ऋषियों ने देहों पर वल्मीक उगा ... (जहां) मुनि तपस्या करते-करते ... हो गये, (जहां) देवता जमकर पर्व... बन गये—यायावर ने समझा है कि ... भी जहां मंदिर में रुके कि शिला हो ... और प्राण संचार के लिए पहली ... गति, गति, गति।' गति के प्रति आ... अज्ञेय के यायावर जीवन की मूल ... अवश्य है, परंतु उनका कलाकार '... भी उतना ही महत्त्व मानता है अतः ... गति-प्रेम उन्हें गति का दास नहीं ...

बल्कि सौंदर्य प्रेमी सर्जक बनाता है। इसीलिये गति के पीछे पागल पश्चिमी उद्योग संस्कृति उन्हें आश्वस्त नहीं करती।

यायावर अज्ञेय जीवन का आनंदयात्री है और वह भली भांति जानता है कि इस पल-पल आविष्कृत होने वाली आनंद की सृष्टि को आयत्त करने के लिए सौंदर्य की आंखें चाहिये। सौंदर्य का आकर्षण, विराटता के सन्मुख समर्पण और जीवन से जूझने की साहसिकता अज्ञेय के व्यक्तित्व के मूलभूत स्रोत हैं। जो भय से सुरक्षा की मुलायम ऊन में छिपकर बैठता है, वह न विराटता के सामने नतमस्तक होने का सुख अनुभव कर सकता है न सौंदर्य के खिल का एहसास कर सकता है। अज्ञेय ने प्रकृति सौंदर्य के उग्र-कोमल, भव्य और नाजुक दर्शन करने के लिए सहज निर्भयता से कतिपय यातनाएं झेली हैं। दुर्गम घाटियों, दर्रों और पहाड़ियों को कभी पैदल तो कभी घोड़े पर बैठकर और अंधकार की परवाह न करते हुए अभेद्य जंगलों को छान डाला है, हाथी-घास के बीच से पैदल अकेले घूमे हैं। भूख और प्यास, नींद और विश्राम की ओर से बेफ़िक्र होकर ज्ञान साधना की है, लोक जीवन की गंगा के मूल स्रोतों की पहचान के लिए विलक्षण संकटों का सामना किया है, जीवन के चरम भय मृत्यु के प्रति भी लापरवाह होकर यायावरी शील को निभाया है। वह निर्भीकता उनके बौद्धिक या वैचारिक जीवन में भी व्याप्त हुई है और इसीलिये देशी-विदेशी विद्वानों के साथ समान स्तर पर स्थित होकर आत्मविश्वास से संवाद कर सके हैं। बौद्धिक चुनौतियों को झेल सके हैं। फिर वह अस्तित्ववादी महान चिंतक कार्ल यास्पर्स हो, स्वीडी कवि एरिक लिंडग्रेन हो या बेनेडिक्ट संप्रदाय के मठ के विद्वान स्थविर हों। साहित्य के लिए खतरे स्वीकार करने के बारे में आज बड़बोले मन्तव्य साहित्य-जगत में प्रसारित हुए हैं। यह साक्ष्य रोचक हो सकती है कि इनमें से कितने बड़बोले लेखकों ने जीवन में कुछ खतरे स्वीकार कर लिये हैं—सौंदर्यास्वाद के लिए न सही, गरीबी से जूझने के लिए ही!

समुद्र, झील, नदियां, झरने, बर्फाच्छादित पर्वत-प्रदेश, छोटे-बड़े पहाड़, फूलों की लंबी क्यारियां, जंगल, बग़ीचे, आकाश, के विविध रूप, सूर्य और चंद्र के विभिन्न व्यक्तित्व, घास, दूब, पगडंडियां, सुरेखित सड़कें, महान सांस्कृतिक कृतित्व करने वालों के स्मरण को उद्दीप्त करने वाले मकान, मज़ार, समाधियां, गिरजाघर, मंदिर—ये सब अज्ञेय के लिए आकर्षण के आलम्बन हैं। घंटों तक पशु और पक्षियों को निहारने में उन्हें आनंद मिलता है। आध्यात्मिक शक्ति के केंद्र देश-विदेश के मठों और उनमें एकांत में साधनालीन व्यक्तियों से मिलने में वे संतोष की गहरी अनुभूति करते हैं। हर स्थान के लोक-जीवन का निरीक्षण करने में उन्हें रुचि रहती है तो वहां के महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों

चित्र : आलोक जैन

से मिलकर उनके भीतर तक बैठने की लेखकीय सहज आकांक्षा भी उनमें सजग रही है। परिणामतः उनके यात्रा-विवरणों में असंख्य वस्तुओं, घटनाओं, व्यक्तित्वों के संस्मरणीय रूप संग्रहीत हैं, जो इन वृत्तांतों को ताजगी, जीवन्तता और चित्रमयता प्रदान करते हैं।

यात्रा पर निकलने की उनकी आंतरिक प्रेरणा, जो उन्मुक्त और स्वच्छंद व्यक्तित्व का वेगवान उद्रेक है, एक दूसरी महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति से संतुलित और संयत हुई है। वह दूसरी प्रवृत्ति है उनकी प्रचंड उद्यमशीलता या अध्यवसाय। अपनी यात्रा को अधिक सफल बनाने के हेतु वे उन स्थान-विशेषों के समस्त इतिहास, भूगोल और संस्कृति का पूर्वाध्ययन करते हैं। परंतु अध्ययन का यह समृद्ध संदर्भ उनकी मौलिक संवेदनशीलता और चिंतनशीलता पर हावी नहीं होता, बल्कि सुदृढ़ परिप्रेक्ष्य का काम देकर उनके अपने संस्कारों को गरिमा ही प्रदान करता है। अज्ञेय का चिंतनशील

व्यक्तित्व और उनका कलाकार
विशेष का एक सांस्कृतिक मांसल
प्रस्तुत करता है। और सैकड़ों
सूत्र या निष्कर्ष पाठक के मन पर
छाप छोड़ जाते हैं। पश्चिम का
लपककर कुछ पा लेने का, दौड़कर
पहुंच जाने का एक अंतहीन प्रया
गया है।' 'यूनान यूरोपीय सभ्यता का
है, तो इटली उसकी माता है; असी
मातृरूप के चेहरे का स्मित भाव है—
करुणामय और सर्वदा एक-सा वा
भरा।' 'स्विस दृश्य को देखकर
अतितम सौंदर्य मन में सजीव-सा जमता
है, कुछ ऐसा जान पड़ता है कि एक
चित्र देख रहे हैं।' 'अन्तः संघर्ष यू
चरित्र का अनिवार्य अंग जान पड़ता है
उसकी प्रतिच्छाया प्रत्येक यूरोपीय
पर दीख जाती है।' 'वर्णभेद और
पेरिस में बहुत कम है, इसके कार
एक ओर उदारता है, वहां दूसरी
उपेक्षा भी है। दूसरे मानवों के प्रति
गहरी उदासीनता है।' 'यूरोप के
का केंद्र जर्मनी रहा है और है, ब
भी जर्मन का केंद्र है और वहां
होने वाले (या अलक्षित भी) स्वा
तनाव सारे यूरोप को संचलित
हैं।' ऐसे सैकड़ों विचार-बिंदु समस्त
विशेष की आत्मा को पाठक के हाथ पर
देते हैं और लेखक की सम्यक् दृ
सशक्त प्रमाण प्रस्तुत करते हैं।

यह सम्यक् दृष्टि अज्ञेय के ज्ञान

के विभिन्न क्षेत्रों में अभिरुचि का परिणाम है। चित्रकला, वास्तुकला, मूर्तिकला में गहन संसक्ति उनके यात्रा वर्णनों में महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई है। न केवल कतिपय गुफ़ाओं, मंदिरों और उनमें वर्तमान कलाकृतियों को देखकर वे स्वयं प्रभावित हुए हैं, उन्होंने कतिपय फोटो भी लिये हैं, जो उनके संग्रहों में देखे जा सकते हैं। अनेक स्थलों के चित्र अज्ञेय ने स्वयं बनाये भी हैं। स्थान विशेष को परखते समय अनेक सांस्कृतिक साहित्यिक संदर्भ उनमें जागृत होते हैं और अनुभव में एक समृद्धि का आयाम जुड़ता जाता है।

अज्ञेय का व्यक्तित्व प्रौढ़, प्रगल्भ और अत्यंत निखरा हुआ है। इस व्यक्तित्व की अभिजातीय छाप से उनका यात्रा-वर्णन भी अंकित है। फिर भी अनेक बार उन्होंने अपने सहयात्रियों, नौकरों एवं प्रसंगोपात मिले व्यक्तियों की विसंगतियों को सूक्ष्मतापूर्वक पकड़कर हास्य का निर्माण किया है। यह हास्य विशुद्ध हृदय से फूटता है, इसलिये अभिजात मन को अधिक प्रभावित करता है। कतिपय स्थानीय दंतकथाओं और प्राचीन लोककथाओं के निर्देश से विवरण में पर्याप्त रोचकता उत्पन्न होती है। सर्वाधिक रोचकता उन व्यक्ति-चित्रों के कारण उत्पन्न हुई है, जो अज्ञेय ने अपनी विशाल मानवीय दृष्टि से अंकित किये हैं। नाजी शक्तियों का मुकाबला करने में आत्मसमर्पण करनेवाला विद्रोही युवा रचनाकार लाउरो बोसिस, खुदा का मसखरा संत फ्रान्सिस, एक अनमना स्वीडी कवि लिंडग्रेन, कॉस्मिक किरणों की खोज करने वाले वैज्ञानिक गुरु, इत्यादि व्यक्तियों ने इन स्थान विशेषों को जीवन्तता प्रदान करने में योगदान किया है।

चित्र : आलोक जैन

अज्ञेय के इस यायावर व्यक्तित्व के साथ जीवन के क्षण गुज़ारना एक महत्त्वपूर्ण अनुभव है—सार्थकता का भी और समृद्धि का भी। महान पुस्तक की एक कसौटी यह बतायी जाती है कि उसे पढ़ने के पूर्व पाठक जो होता है, वह पढ़ने के बाद नहीं रहता। अज्ञेय के यात्रा-वृत्तांत भी इस कसौटी पर खरे उतरते हैं। इसलिये नहीं कि वे महज देश-विदेश की सुरुचिपूर्ण जानकारी देते हैं, बल्कि इसलिये भी कि एक महान कलाकार की अंतर्बेधी दृष्टि से सारी चीजें एक अलौकिक रूप धारण करती हैं।

□

० मूर्ख हो तो क्या हुआ, तुम पर सोना जो चढ़ा है। इसीलिए जीते जी तुम्हारी बात सुनी जा रही है। बुद्धिमान झोपड़ी में रहता है, उसकी बात उसके मरने के बाद सुनी जाये शायद।

—अज्ञात

(पृष्ठ ४३ का शेषांश)

'और भिवंडी से पहले पेट्रोल खत्म हो गया तो क्या होगा?'

'जो होगा, देखा जायेगा।'

० ० ०

'वो देखिये भिवंडी आ गयी।' मेरी बीवी ने ऐसी आवाज़ निकाली, जैसी कोलंबस ने निकाली होगी अमेरिका का साहिल देखके। लेकिन मैंने मोटर की रफ़्तार और बढ़ा दी। मेरी पत्नी ने सोचा, मैं पागल हो गया हूं। सोचा जाये तो ये पागलपन ही था। लेकिन मैंने फ़ैसला कर लिया था, मैं भिवंडी में न पेट्रोल डलवाऊंगा, न टायर मरम्मत करवाऊंगा।

भिवंडी गुज़र गयी। उसके बाद कई पेट्रोल पम्प आये और चले गये।

पेट्रोल के मीटर पर सुई कब से सिफ़र दिखा रही थी। उसके बाद थाने का पहला पेट्रोल पम्प नज़र आया, तो मेरी बीवी जैसे उठ के बैठ गयी। लेकिन मुझपर कोई असर नहीं हुआ। हम थाने का पूरा शहर पार करके हाईवे पर पहुंच गये। मेरी बीवी ने निहायत बेबसी से कहा—'यहां से सायन तक न कोई टायरों की दुकान है, न कोई पेट्रोल पम्प है।' ये अक़्ल की आवाज़ थी।

'मैं शायद सायन में भी नहीं रुकूंगा'—ये मेरे पागलपन का ऐलान था। आज अक्ल और जनून में ठन गयी थी। आज हिसाब और बेहिसाब का मुक़ाबला था।

मैं अपने फ़ैसले के मुताबिक़ सायन में भी नहीं रुका। हां, माटुंगा में ज़रूर रुका। अपने साले साहब की तबीयत पूछने और उन्हें स्वामी मुक्तानंद का प्रसाद देने।

पहले ट्यूब टायर से सिर्फ़ बाहर झांक रही थी, अब तो निहायत बेशर्मी से पर्दा उलट के बाहर निकल आयी थी। पेट्रोल का गिरना बंद नहीं हुआ था। मैंने हिसाब लगाया जितना पेट्रोल नीचे गिरा है, उतना तो मैंने डाला भी नहीं था। इसके अलावा गाड़ी १३० मील का सफ़र तय कर चुकी थी।

हिसाब-बेहिसाब के सामने हार रहा था। लेकिन अब भी वार्डन रोड, जहां मैं रहता हूं, कई मील दूर थी। आखिर में हम वार्डन रोड भी पहुंच गये। अब टायर की हालत और पेट्रोल के गिरने का तमाशा देखने की ज़रूरत नहीं रही थी। मैंने अपने फ्लैट में पहुंचकर अपने बेटे से कहा: 'गाड़ी को पेट्रोल पम्प पर ले जाओ। उसमें पेट्रोल भी भरवा दो और टायर भी बदलवा दो।'

वह दो मिनट में वापस आ गया। हांफते-कांपते उसने हमसे पूछा—'आप गणेशपुरी से यहां कैसे पहुंचे? गाड़ी में एक बूंद पेट्रोल नहीं है, और टायर-ट्यूब दोनों फटे पड़े हैं!'

मैंने हंसते हुए उससे कहा—'इस सवाल का जवाब मैं नहीं दे सकता। सिर्फ़ वो दे सकता है, जो बेहिसाब का हिसाब जानता है और वो गणेशपुरी में रहता है।'

□

नया समाज आदि में उत्साह से लिखा है। अब बहुत आग्रह विद्यानिवासजी का हुआ तो 'अभिरुचि' में कुछ लिखा, हरिश्चंद्र बर्थ्वाल ने कहा था तो 'मंथन' में लिखा था। इधर 'नवनीत' बहुत अच्छा निकल रहा है। उसमें विचार के लिए ही उत्तम सामग्री नहीं मिलती, पर कुछ रचनाएं पढ़कर अत्यधिक संतोष प्राप्त होता है।

सन ३८ का एक पत्र गजानन माधव मुक्तिबोध का वीरेन्द्र कुमार जैन के नाम 'नवनीत' में छपा, जिसके लिखने का स्थान उज्जैन में मेरा ही घर था। और उसमें मुक्तिबोध शिकायत करते हैं 'माचवे 'वर्कर' हैं, 'लवर' नहीं।' मुझे यह वाक्य, जिस किसी भी हेतु से लिखा गया हो, अपने हक़ में एक प्रशंसात्मक वाक्य लगता है। मार्क्सवादी (?) मुक्तिबोध के लिए 'वर्कर' होना अच्छा था या बुरा, मैं नहीं जानता। पर अब लगता है वे 'वर्क' कम और 'लव' (प्रेम) अधिक के 'दुई पाटन के बीच में साबित बचा न कोय' वाली स्थिति में तब रहे होंगे। यह लेख मैं मुक्तिबोध या उनकी रचना, या उनके आलोचक या उनका लाभ उठाने वाले (मरणोपरान्त) लोगों के बारे में नहीं लिख रहा हूं। इस समय, गये तीन मास से, सर्वोपरि, जापान, हांगकांग, बैंकाक की जो यात्रा करके आया हूं वही है। विस्तार से उसके बारे में, एक पुस्तक रूप से ही लिखूंगा। पर यहां जो मुख्य मुद्दा मैं उठाने जा रहा हूं वह यही कर्मयोग और भक्तियोग का, पश्चिम और पूर्व का, इस अद्भुत देश ने—हिरोशिमा और नागासाकी के भयंकर संहार के बाद भी—कैसे समन्वय किया, उसके बारे में है। हम बहुत बातें करते रहते हैं, ज्ञान, भक्ति, कर्म की; संस्कृति के भूत, भविष्यत्, वर्तमान की; 'सत्' 'चित्' और 'आनंद' की (जो केवल नाम तक एकाकार होता है), पर जीवन और कथन में बड़ी भारी खाई पग-पग पर भारत में दिखाई देती है। ऐसा क्यों हुआ है?

जापान में मेरी एक दुभाषिया, अंग्रेजी साहित्य में एम. ए., रोमन कैथोलिक लड़की थी। वह शिंतो प्राचीन मंदिरों में

पितर-पूजा की रस्म में, श्रद्धानत, भाव-विह्वल खड़ी रही। उसने सिक्के डाले, अपना ज्योतिष भी निकलवाया। काग़ज़ पर वह लिखित मिला। अमंगलकारी था तो पास के लकड़ी के कार्निस पर, पेड़ की टहनी पर वह बांध कर टांग दिया गया। अत्यंत आधुनिक, वेशभूषा, खानपान में, वह निप्पन देश की किशोरी, अपने मन में एक गहरा प्राचीन विश्वासी कोई आदिवासी पाले हुए थी। क्या यह दुचित्तापन था? नहीं। जापान में पूरी धार्मिक स्वतंत्रता है—उसने बतलाया। पिता बौद्ध है, मां शितो है, वह रोमन कैथोलिक है, भाई अनीश्वरवादी है। और सब एक साथ रहते हैं। धार्मिक विश्वास या भक्ति का विषय अत्यन्त व्यक्तिगत हैं। उसकी चर्चा सार्वजनिक रूप से नहीं होती। 'साक्षात्कार' में शांताबाई मुक्तिबोध ने कहा कि (स्वर्गीय) गजानन माधव मुक्तिबोध शिवरात्रि का उपवास करते थे, और कई धार्मिक ग्रंथ भी वे नियमित पढ़ाते भी थे। (स्व.) अनिलकुमार ने तो उनकी पत्रिका भी छपवाई थी और ज्योतिष के अनुसार उनके ग्रहों की कष्टदशा की बात की थी। यह बात दूसरी है कि स्तालिन, माओ आदि कई दुष्ट ग्रहों के प्रति उनका 'लवर' का-सा प्रेम उन्हें शांत नहीं कर पाया। दुनिया भर में 'शांति' सम्मेलन तो स्तालिन-माओ नाम से, अनेक चलते ही रहे। और चलते रहेंगे। जैसे यज्ञ या होम, या 'समज्जा' या 'मास' (कैथो सामूहिक प्रार्थना, 'जनता' नहीं)।

इस 'शांति' शब्द से मुझे डा. शिव सिंह सुमन ने सुनाई एक कहानी याद हम सबके बुजुर्ग मित्र शांतिप्रिय द्वि (जिन पर प्रकाशचंद्र गुप्त का पढ़िये और दोनों की प्रगतिशीलता प्रति आश्वस्त हूजिये) 'सुमन' के गले में माला पहने पहुंचे। 'सुमन' अपनी पत्नी शांतिदेवी का परिचय करवाया। शांतिप्रियजी ने अत्यंत प्र भाव से अपने गले की माला उता उन्हें दी, और भोले भाव से कहा-' संयोग है—आपका नाम शांति है-' शांतिप्रिय।'

जापान पर अमेरिका ने महाय अणु-बम बरसाया। अब अमेरिका प्रति उनके क्या भाव हैं? यह प्रश्न पर हमारे एक ज़ापानी अतिथेय ने 'हम बुद्ध को मानते हैं। उन्हें जो था, वे कर गये। हमने उन्हें माफ़ कर दि अंगुलिमाल से बुद्ध ने क्या कहा था?'

कर्म सत्य है, प्रेम अहिंसा है। इन का समन्वय श्रेष्ठ आत्मविश्वास है। जहां कर्म मात्र के प्रति संशय हो प्रेम को केवल भौतिक ('वादी') का आग्रह हो, वहां दुचित्तापन है। और भारत जैसी स्थिति हो जा कि 'न घर के न घाट के'। हमारे ने नाना धार्मिक उत्सवों में बढ़-चढ़कर लेते हैं, यज्ञ कराते हैं, अनुष्ठान

है, मज़ारों पर चादरें चढ़ाते हैं, गिरजाघरों में प्रार्थना के समय आंख मूंदे ध्यान करते हैं, गुरुद्वारों में अखण्डपाठ में शामिल होते हैं—और फिर ? जैसे सब कुछ भूल जाते हैं। दूसरे क्षण वे 'कर्म-रत' हो जाते हैं। धर्म से अधिक 'जाति' उन्हें प्रिय है। संख्या का 'अल्पत्व' उसका बल है, यह हर नेता जानता है। 'निर्बल के बल राम'। इस 'राम' के पहले या आगे आप अपनी-अपनी रुचि का मनोहर, जग-जीवन, चंदगी या चंद्रम् लगा लें। 'राम' तो घट-घट व्यापी है। जैसे हिन्दी के हर आलोचक के भीतर कहीं 'रामचंद्र शुक्ल' बैठा है, या हर कवि की परमाकांक्षा है कि वह 'रामचरित मानस' लिखे (बेचारे से 'रामचंद्रिका' भी नहीं बन पाती वह बात दूसरी है)। प्रेमचंद ने भी 'राम-लीला' लिखी और 'निराला' ने 'राम की शक्ति-पूजा।' नरेश मेहता ने 'संशय की एक रात' और जगदीश गुप्त ने 'शम्बूक'... यह रामरसरा बहुत लम्बा चल सकता है।

बात मैं जापान की कर रहा था। सबसे बड़ी बात जिसने मुझे आकर्षित किया वह यह बात है कि वहां इतने कर्मरत, अनुशासित, यंत्रोद्योग में इतनी सूक्ष्मता और बारीकी में लगे शिल्पीजन होते हुए, इतनी मोटर गाड़ियां, इतनी तेज़ रेलगाड़ियां—सब कुछ होते हुए भी कहीं भी कोई भी 'हार्न' नहीं बजाता। 'हार्न' बजाने पर जुरमाना है। इतनी शांति, और वह भी महानगर की भीड़-

बायें से दायें श्रीमती शरद माचवे, डॉ. माचवे और प्रो. नारा टोक्यो में जापानी हिन्दी मासिक 'सर्वोदय' के कार्यालय में

भाड़ में! क्योतो के ज़ेन बौद्ध मठों में, कामाकुरा के उस बांसों के घने उद्यान में (जिसमें कावाबाता कुछ महीने स्फूर्ति लेने जाकर रहते थे) शांति हो, नीरवता हो, वह तो समझ में आती है। पर चौराहों पर, जहां इतना तेज़ ट्राफिक हो, कितना ख्याल है 'डेसीबल' या स्वर-प्रदूषण से श्रवण-शक्ति के क्षरण का!

तो जब जापानी यह कहते हैं कि भारतीय बहुत बातूनी हैं, या शोर मचाते हैं, तो उसमें झूठ क्या है? हमारे यहां महाकवि 'प्रसाद' कह गये—

तुमुल कोलाहल कलह में
मैं हृदय की बात रे मन!

क्या कर्मरत जीवन में और प्रेम के निभृत और विश्रब्ध निवेदन में परस्पर विरोधाभास है? यदि यह सच हो तो यार लोग प्रेम कविताओं के ऐसे-ऐसे संग्रह और लंबी-लंबी प्रेम कविताएं और

(शेषांश पृष्ठ ६३ पर)

वीरेन्द्र कुमार जैन का उपन्यास-अंश

... वैशाली की श्रीसुन्दरी जनपद-कल्याणी आम्रपाली को उस परम मुहूर्त में साक्षात्कार हुआ कि ...

मैं अब, कभी, कहीं भी, अकेली नहीं

□

'अनुत्तर योगी' के अति प्रतीक्षित शीघ्र प्रकाश्य चतुर्थ खण्ड का एक अंश यहां प्रस्तुत है। इसका परिचय और कथा-प्रसंग कृपया, इसी अंक के पांचवें पृष्ठ पर प्रकाशित पूर्व-पीठिका में पढ़ें।

□

एक दिगन्तहीन समुद्र के हिल्लोलन पर एकाकी लेटी हूँ। इस अन्तहीन जलवन के नील नैर्जन्य में इतनी अकेली हो पड़ी हूँ, कि या तो ओ मेरे युग्म-पुरुष, तुम्हें तत्काल आना होगा, या मेरे साथ ही इस सृष्टि को भी समाप्त हो जाना पड़ेगा। यह वियोग का वह अन्तिम एकल किनारा है, जहाँ से मृत्यु भी भयभीत और पराजित हो कर भाग गयी है। ... मेरी सत्ता-शून्य में विसर्जित होती जा रही है। ... आह नहीं, नहीं, नहीं, मैं चुकूंगी नहीं। ओ पूषन्, यदि तुम अमर हो, तो तुम्हारी जनेत्री यह पृथा भी अमर है। तुम सत्ता-पुरुष हो, तो मैं तुम्हारी सत्ता हूँ। तुम ध्रुव हो, तो मैं तुम्हारे होने का प्रमाण हूँ, चंचला, शाश्वत लीला। तुम विशुद्ध द्रव्य हो, तो मैं तुम्हारा द्रवण हूँ, स्वाभाविक परिणमन हूँ। जिससे सृष्टि सम्भव है। नहीं, मैं चुकूंगी नहीं। मैं तुम्हारे निश्चल ध्रुव को अपने बाहुबन्ध में गलाकर रहूँगी। तुम ऊर्ध्वरेतस् वृष के वर्षण की चिर प्[illegible] सोमा, तुम्हारी अर्धांगिनी योषा। तुम[illegible] अशनाया, तुम्हारी अन्त:समाहित वा[illegible] तुम्हारी संगोपित इन्द्र-शक्ति, ऐन्द्रि[illegible] तुम्हारे अतीन्द्रिक अन्तस्-रमण की ए[illegible] इन्द्राणी। मेरी सारी इन्द्रियाँ जहाँ [illegible] सम्पूर्ण विषय-वासना से एकत्र हैं इस[illegible] मेरे उस कटिबन्ध पर तुम्हें उतरना है[illegible] ओ अतीन्द्र, इन्द्रियजयी इन्द्रेश्वर! [illegible] यह सुरत-रात्रि अनिवार्य है। इसमें [illegible] विना तुम्हारे शाश्वत सूर्य को यहाँ कौ[illegible] पहचान सकेगा।

... ओह, मेरी धमनियों में ये [illegible] गरजते सागर के मृदंग बज रहे हैं। [illegible] उरु-मण्डल में ये कैसे पीले, नीले घन[illegible] पुष्करावर्त मेघ उमड़े आ रहे हैं। [illegible] मेघों में बड़े-बड़े भँवर पड़ रहे हैं। [illegible] मेघों में जल-संचय हो रहा है। [illegible]

.... तुम मुझे छुओ, तुम मुझे मनचाहा लो,
मेरी आत्मा....महावीर खुला है तुम्हारे सामने

मेघों में भीतर ही भीतर चित्र-विचित्र वृष्टि हो रही है। और मेरे उरु-मूल के कदली-गर्भ में द्रोण-मेघ का कादम्ब उमड़ रहा है। मेरे अंगांग में यह कैसी सभर आर्द्रा व्याप गयी है। मेरी नाड़ियों में विद्युल्ल-ताएँ वह रही हैं। आह, असह्य है अनवरसे मेघों का यह वर्षणाकुल अन्तर्घनत्व।

हाय, अकाल ही ये कैसे मेघ घिर आये हैं। ये मेरे उरुप्रदेश में घनीभूत हो कर घहरा रहे हैं। मेरे कोई मांसल उरु नहीं रहे, कोई जघन नहीं रहे, वहाँ केवल घनी-भूत, गहराती मेघराशि है। किसके वृष से उमड़ रहे हैं—मेरी जंघाओं में अनहद नाद करते ये मेघ। मेरी धमनियों में रक्त नहीं, वृष और सोम के आलोड़न गरज रहे हैं। रज और वीर्य की ग्रंथियों में तुमुल और अस्खलित घर्षण की आद्या अग्नि लहरा रही है। मेरे अणु-अणु में यह कैसी परात्पर वासना दहक उठी है। लगता है, सारी जड़-जंगम प्रकृति इस क्षण चैतन्य हो उठी है। कौन अन्तःसार वृष्णीक पुरुष विराट् की अदृश्य दूरियों में चला आ रहा है? मेरे रोमों में कदम्ब और केतकी के वन पुष्पित, पुलकाकुल हो कर काँटों की तरह कसक रहे हैं। ओ वृष्णीन्द्र, तुम असम्प्रज्ञात दूरियों में जाने कब से चले आ रहे हो। पास क्यों नहीं आते? असह्य है तुम्हारी यह इन्द्र-खेला, ओ मेरे अनंग!

तुम्हारे चरण-चापों से मेरे अस्थि-बन्ध टूट रहे हैं। मेरे नाड़ीचक्र झिल्लिम पाँखुरियों की तरह काँप रहे हैं। मेरा आभोग विदीर्ण हो रहा है।... अदृश्य पदांगुष्ठ ने मेरा अजेय नीवि छिन्न कर दिया? किसके कटाक्ष ने सर्प-कंचुकी के बन्द तोड़ दिये? गयी हूँ केवल जल-वसना इरावती। सना, अनग्ना, द्यावा की पुत्री: दिक्चक्रवाल पर छटपटाती एक नग्न

मेरी देह मेरी इन्द्रियों की भर रह गयी है। मेरी इन्द्रियाँ मेरे में लय पा कर, निरी साँस हो मेरा काँपता प्राण मनोलीन हो हृदय के पद्म-कोरक में कुम्भित है। और मेरा हृदय फटा जा रहा ओ मेरे एकमेव विषय, मेरी सारी की इन्द्र-शक्ति तुम में एकत्रित हो है। मेरी देह के किनारे टूटे जा रहे यह कैसी घनघोर जल-जलान्त वेला है। पपीहे की पुकार में, मिथुन की विछुड़नभरी चीत्कार विरह-रात्रि अन्तहीन हो उठी है।

ओ पुष्करावर्त मेघ, तुम कैसे कोमल हो कर मेरी गुह्यताओं में आये। और औचक ही तुमने मेरे यह कैसा प्रलय जगा दिया है। मेरी की आरति, मेरे काम का अतिक्रम गयी है। अनंग से भी परे की है, उलंग आकाशी नग्नता। ओ पुष्कर मेघ, क्या तुम्हीं हो मेरे वह कामरूप वह वृष्णीन्द्र, जिसके अग्निषोम को योनि-पद्म में झेलने के लिए मैं काल से विकल हो रही हूं। मेरे

मनभाये, तुम आकर भी नहीं आये, नहीं आ रहे। मुझे तुम्हारा यह बादली इन्द्र-जाल नहीं चाहिये। मुझे तुम्हारा सघन, मांसल, ऊष्म शरीर चाहिये। मुझे तुम्हारी रक्त-धमनियों, इन्द्रियों, अंगों का प्रगाढ़ आश्लेष चाहिये। मैंने केवल तुम्हारे लिए शरीर धारण किया है, ओ मेरे कामरूप पुरुष, मेरे एकमेव काम्य। मैं तुम्हारी अनंगिनी रति, तुम्हारी अन्तिम आरति : सृष्टि की गर्भ-पीड़ा : आम्रपाली!

...मेरे योनि-पल्लव में यह कैसी विद्युल्लेखा खेल गयी! कैसा सर्ववेधी रोमांचन है यह। दो अग्निम् त्रिकोण : एक दूसरे को आरपार भेदते हुए। कामबीज ह्रींकार का यह कैसा उल्लसित नाद है। उसमें से उभर रहा है ऋषि-मण्डल चक्र : तपाग्नियों का मण्डल। उसमें से उद्गीर्ण हो रहा है सिद्धचक्र : निरंजन निराकार मुक्तात्माओं का मण्डल। उसमें से उत्पलायमान है श्रीचक्र : सर्वकामपूरन सृष्टि का मण्डल। मेरे अणु-अणु में दहकते बीजाक्षर : मेरी अनन्त वासना के विस्फोटित वह्नि-मण्डल। मेरे श्रोणि-फलक में से ये कैसे रहस्य-लोक खुल रहे हैं! अज्ञात अग्नियों के वन।

...क्या मैं जल कर भस्म हो जाऊंगी, तब आओगे तुम, मेरी भस्म को अपनी चरण-रज बनाने के लिए? तो लो, मैं लेट गयी तुम्हारे ऋषि-मण्डल की अग्नि-शैया पर। लेकिन हाय, तुम मुझे जलाते भी नहीं, जीने भी नहीं देते।

...मैं अपनी नागमणि की मन्दार शैया पर, फिर अकेली छूट गयी हूँ, अपने इस निज-कक्ष की कारा में। द्वार, वातायन, सब बन्द, अर्गलाओं से जड़े हुए। किसने भीतर से बन्द और अर्गलित कर दिया है मेरा यह कक्ष? इस अन्तिम एकलता के तट पर मेरी साँस टूट रही है। मैं एक महाशून्य में छटपटाती नंगी ज्वाला भर रह गयी हूँ। केवल भस्म हो जाने के लिए। तो लो, मैं समर्पित हूँ। जो चाहो करो मेरे साथ। मुझे निःशेष कर दो। लो, मैं डूब गयी तुम्हारे अतल के गहरावों में...

ooo

...एक निगूढ़ मर्माघात से हठात् देवी आम्रपाली की आँखें खुल गयीं।...सारे मुद्रित कक्ष में बहुत महीन छूती-सी नीली रोशनी व्याप गयी। किसी नील-लोहित इन्द्र-धनुष की आभा से उसकी शैया घिर गयी। नील में प्रस्फुरित होती गुलाबी विभा।

सहसा ही एक अण्डाकार नील ज्योति-बिन्दु सामने तैरता दिखाई पड़ा। आम्रपाली की आँखों में वारुणी छलक उठी। अंग-अंग एक गहरे खुमार में झूमने लगा।

यकायक वह नील बिन्दु, एक नीलोत्पल के फूटने की तरह प्रस्फुटित हुआ। कक्ष में व्याप्त नीली रोशनी कोई आकार लेती-सी दिखाई पड़ी।...

...एक तुंगकाय दिगम्बर पुरुष सामने खड़ा है। कोटि-कन्दर्प का अन्तःसार सौन्दर्य।

आम्रपाली स्तब्ध-निश्चल देखती रह

गयी। असम्भव सामने उपस्थित है। आँख, मन, सोच, समझ से बाहर है यह घटना। आम्रपाली अपने से अलग खड़ी हो कर, बस, केवल देख रही है। दृश्य, द्रष्टा, दर्शन के भेद से परे का है यह अवबोधन।...

यह क्या देख रही हूँ मैं।... बन्द कमरे में, एक नग्न पुरुष, एक नग्न नारी। एक भगवान है, दूसरी वेश्या है। विराट् नग्न प्रकृति, और उसका कामरूप पुरुष, उसी के उष्णीष कमल में से आविर्भाव। काम और रति का अनादि मिथुन। एक बन्द कमरे में।...

कैसी ऊष्मा है यह, अपने ही आत्म में से स्फुरित होती हुई। अन्य कोई, कहीं नहीं। लेकिन यह एक और अनन्य जो सामने खड़ा है। जो एकल भी है, युगल भी है। और मैं कितनी अपदार्थ हुई जा रही हूँ। मिट जाने के सिवाय कोई विकल्प नहीं। मैं... मैं... मैं कौन? तुम कौन? मैं समाप्त हो रही हूँ। मुझे रहने दो, मुझे होने दो।

... और अम्बा जाने कब उस पुरुष के सामने आ खड़ी हुई। प्रणति का भान नहीं। केवल रति, केवल आरति की एक समर्पित ज्वाला।

'मुझे प्रिय है तुम्हारी यह वासना, ओ योषिता!'

'मैं निरी योषिता नहीं, आम्रपाली हूँ।'

'आम्रपाली, परम पुरुष की कामायनी!'

'नहीं... नहीं... मैं इस योग्य नहीं। चले जाओ यहाँ से। क्यों आये तुम यहाँ?'

'यहाँ से कभी न जाने के लिए!'

'मैं... मैं एक निरी भोग-दासी। मात्र की भोग्या। योनि मात्र मैं!'

'अक्षत योनि कुमारिका हो तुम। की जनेत्री। आद्या सावित्री।'

'वह मैं कैसे हो सकती हूँ?'

'वह न होती, तो महावीर होता।'

'मैं एक वेश्या... और अक्षत कुमारिका? सावित्री? मैं तुम्हारा मान हूँ, मैं कलंकिनी। मेरा और न करो।.. मुझ निरी यौना के लिए अपने अधर से धरती पर उतर अपनी ऊंचाई से नीचे उतर आये? मुझे सह्य नहीं!'

'योनि के पार योनि है, योनि के योनि है... उसके भी पार वही। योनि, आप अपनी ही भोग्या, अपनी जनेता। अपनी ही आत्मा। केवल हो तुम।'

'और तुम?'

'मैं भी केवल वही। कोई लिंग कोई योनि नहीं, केवल एक वही। भी, मैं भी।'

'लेकिन मैं कामिनी हूँ। वही चाहती हूँ। तुम्हारी... कैसे कहूँ?'

'हाँ, हो, रहो वही, जो हो तुम। काम भी मुक्ति की वासना से सुवासित मुक्तिकामी भोग भी, योग ही होता वह उत्तीर्ण भोग है। फिर भय हीनत्व क्यों? ग्लानि क्यों?'

'नहीं, मैं वह आत्मा नहीं, जो तुम कह रहे हो। मैं निरी शरीर हूँ, जिससे मैंने तुम्हें चाहा है। ... नहीं, मैं तुम्हारी नहीं हो सकती। ... तुम क्यों आये यहाँ? मेरी पीड़ा को तुम कभी न समझोगे। मेरा शरीर मुझसे मत छीनो।'

'देखो, मैं सशरीर आया हूँ, तुम्हारे शरीर को आत्मसात् करने आया हूँ। मैं तुम्हारी मणि-कर्णिका के सरोवर में स्नान करने आया हूँ। जहाँ काम ही पूर्णकाम हो कर मणि-पद्म के रूप में उत्कोचित होता है।'

'तो मुझसे दूर क्यों खड़े हो? पास क्यों नहीं आते? ...'

'पास तो इतना हूँ, कि मुझसे अलग कहाँ रही तुम इन सारे वर्षों में! और कल से इस क्षण तक, तुम कहाँ न आयी मेरे भीतर? मैं कहाँ न आया तुम्हारे भीतर!'

'लेकिन तुम इस समय, सम्पूर्ण सशरीर हो मेरे सामने। तो मैं कहाँ रुकूँ, कैसे रुकूँ ...?'

'मत रुको, जो चाहो करो मेरे साथ। मैं सम्पूर्ण यहाँ उपस्थित हूँ।'

आम्रपाली स्तम्भित रह गयी। अनुत्तर हो रही। ... फिर जाने कितनी देर बाद भर आये गले से बोली:

'हाय, ऐसा कैसे हो सकता है कि मैं ... मैं .. मैं तुम्हारे साथ ... मनमानी करूँ?'

'मैंने क्या नहीं की वह तुम्हारे साथ?'

'तुम सर्वशक्तिमान हो। मैं एक निपट अकिंचन कामिनी।'

'त्रिभुवन-मोहिनी, आम्रपाली!'

'लेकिन तुम्हें न मोह सकी मैं।'

'तो फिर मैं यहाँ क्यों हूं? मोह से परे कुछ और भी है, कि मैं यहाँ हूँ।'

'हो तो, लेकिन ...।'

'बोलो, क्या चाहती हो? महावीर प्रस्तुत है, उत्सर्गित है।'

'कुब्जा दासी ने कृष्ण से क्या चाहा था?'

'हाँ, जो उसने चाहा, वही कृष्ण से पाया।'

'पाया न? मगर कृष्ण रमण थे, लीला-पुरुष थे। और तुम ... तुम कठोर वीत-राग अर्हंत महावीर हो।'

'अर्हंत विवर्जित है, बाधित नहीं, सीमित नहीं। उसे जो जैसा चाहेगा, वैसा ही पा लेगा।'

'कुब्जा के काम को कृतार्थ कर गये कृष्ण!'

'कुब्जा ने जो माँगा, वही उसे मिला। लेकिन उसने स्वयं कृष्ण को न माँगा। तो तलछट पीकर भी प्यासी ही रह गयी। बहुत पछताई बाद को। चाहती तो वह कृष्ण की आत्मा हो रहती। स्वयं तद्रूप कृष्णा हो रहती। लेकिन वह अवसर चूक गयी!'

'मैं तुम्हें पाना चाहती हूँ, स्वयं तुम्हें। लेकिन सशरीर। तुम मेरे पास क्यों नहीं आते?'

'ताकि तुम मुझे देख सको, चाह सको अपनी समस्त सौन्दर्यवासना से। ताकि

तुम मुझे प्रेम कर सको। पास तो इतना हूँ; कि अलग रक्खा ही कहाँ तुमने मुझे। लेकिन, आज सम्मुख हो कर, सामने खड़ा हूँ—कि मेरे साथ जो चाहो करो।'

'मैं तुम्हें छू नहीं सकती, मैं तुम्हें मन-चाहा ले नहीं सकती। कितने अस्पृश्य असंपृष्ट हो तुम। छुवन से बाहर, पकड़ से बाहर, कितने अलभ्य!'

'तुम मुझे छुओ, तुम मुझे मनचाहा लो, मेरी आत्मा। मैं तुम्हारी आत्मा, लो, मुझे लो। महावीर खुला है तुम्हारे सामने।'

आम्रपाली खड़ी न रह सकी। उसने वह रूप देख लिया, कि उसका देखना, चाहना, पाना, छूना ही समाप्त हो गया। वह हार कर ढलक पड़ी अपने पूर्णकाम प्रीतम के श्रीचरणों में। पर वहाँ निरे चरण नहीं थे। सम्पूर्ण महावीर उसमें आत्मसात् था। एक अविरल अनाहत स्पर्श-सुख उसकी देह के रेशे-रेशे में ज्वारित होने लगा!

ऐसा अक्षय्य और अगाध, ... पेशल, पेलव, सघन और ... कि स्वयं काम और रति का ... भी इसके आगे नीरस प्रतीत हुआ। ... लिंगन और आत्मालिंगन का भेद ... महाभाव में विसर्जित हो गया।..

...शैया में गहन रतिलीन आम्र... की आँखें अचानक खुलीं। कक्ष में ... नहीं था।

'आह, तुम चले गये, फिर मुझे ... छोड़ कर?'

एक गहरे नशे में झूमते हुए, ... पाली ने करवट बदली। ओ,...वह ... लेटा है मेरे साथ, कटि से कटि... मेरे बाहुबन्ध में सदेह उन्मुक्त ... मेरा एकमेव परमकाम पुरुष!... मेरा आत्म। उससे बाहर अन्य कोई ... अनन्य केवल मैं!

...: नहीं, अब मैं कभी, कहीं भी, ... नहीं हूं।

[प्रकाशक : श्रीवीर निर्वाण ग्रंथ प्रकाशन समिति; ५५, सीतलामाता बाजार; इन्दौर-२ के सौजन्य से।]

□

एक बार एक विद्वान् नेपोलियन से मिलने के लिए गये। वे साधारण वस्त्र ... हुए थे। नेपोलियन ने उनके आगमन पर कोई ज्यादा आवभगत नहीं की। परंतु ... वे सज्जन जाने लगे तो नेपोलियन उन्हें विदा करने दरवाजे तक आये। सम्राट ... इस व्यवहार से उक्त विद्वान् को बड़ा आश्चर्य हुआ और उसने नेपोलियन से पू... 'मेरे आगमन पर तो आप खड़े तक नहीं हुए। लेकिन जब मैं जाने लगा हूं, तो ... दरवाजे तक पहुंचाने आये हैं। इसका कारण क्या है?'

नेपोलियन ने जवाब दिया—'आते वक्त आदमी की इज्ज़त कपड़ों से होती है ... जाते वक्त उसकी विद्वत्ता और अक्लमंदी से।' —डा. गोपालप्रसाद ...

□

(पृष्ठ ५५ का शेषांश)

उनके विशेषांक क्यों छापते ? जापान में कविता भी—वनस्पतियों की 'बौन्साई' (संक्षिप्तीकरण, वामनीकरण) की तरह—'हाइकू' हो गयी। वहां संकेत से सब काम कर लिया जाता है। सचमुच में श्रेष्टतम प्रेम, अथत: और अंतत:, निश्शब्द नहीं होता क्या ?

शब्द एक तरह से ध्यान में बाधा है। जो कर्मरत होते हैं। वे बोलते कम हैं। कर दिखाते हैं। करतब (चाहे नट-बाजीगरों के हों, या 'हाईजैकिंग' जैसे हों) और नीत्शे के शब्दों में 'क्रांतियां कबूतरों के पैरों से, बिना आवाज किये, चुपचाप चली आती हैं'। तूफान से पहले आंधी में 'सन्-सन्' शब्द होता है; भूचाल से पहले ज़मीन के नीचे से गड़गड़ाहट जैसी ध्वनि होती है। पर प्रेम ? क्या वह पूर्वसूचना देता है ? वसंत के आने से पहले नये किसलय, कोयल की उन्मादिनी कूक आदि पुर-चिन्ह दिखाई देते हैं। पर कर्म और प्रेम का मिलन, ज्ञान से ओझल रहता है। या नये अनजाने क्षेत्रों को आलोकित करता है।

पूर्व (भारत, जापान, चीन, एशिया) के देशों में जब पश्चिम ने प्रवेश किया, नाना प्रवासियों, आविष्कारकों, मिशनरियों, व्यापारियों, साहसी समुन्दरी डाकुओं, साम्राज्यवादियों और जिज्ञासु प्राच्य-विद्याविदों के रूप में, कभी मूल वेश में, कभी भेस बदलकर, तो यही हुआ। यहां के स्थिर जल में जैसे कंकरी पड़ी, आवर्त उठे। यहां के कमलवन में हाथी घुस आये—हा हन्त ! हन्त ! नलिनीम्‌गजमुज्जहार। कई 'गजेंद्रमोक्ष' वाली गुहारें पश्चिम में गूंजीं, कई (गरुड़) विमानों में बैठे दौड़कर आये—अपने भक्तों को संकट से बचाने। पूर्व का सोया हुआ मकर उस गजेंद्र के पैर पकड़कर नीचे कीचड़ में घसीट रहा था। पूर्व का पीला अजदहा फुफकार उठा। 'रिप वैन विंकल' जाग गया। सहसा सहस्त्ररजनी की दीर्घतमस् निद्रा टूट गयी थी। पोटाला की सुनहली छत के नीचे लामा को लगा कि कुछ घोटाला हुआ है।

अत्यंत विस्मयकारी घटना यह थी कि एक कपिलवस्तु का राजकुमार जो अपनी पत्नी और नवजात शिशु को छोड़कर संबोधि पाने जंगल की ओर चला गया था, जिसके अपने देशवासियों ने उसे प्राय: भुला दिया था, उसी की ऐसी भव्य और उदात्त, विराट् और स्तूपाकार प्रतिमाएं जापान भर में फैली हुई हैं। नारा में, क्योतो में एक हजार एक अवलोकितेश्वर के मंडपों में, कामाकुरा में (आकाश के नीचे गोमटेश्वर की तरह) और कहां-कहां—सब बुद्ध प्रतिमाएं देखने को एक पूरा जन्म चाहिये। अपने जन्म-स्थान से इतने योजन दूर उसी सिद्धार्थ गौतम का ऐसा महाकाय पूजन। बैंकाक में मैंने ५४ मीटर लंबे और १४ मीटर ऊंचे सोये हुए बुद्ध भगवान देखे। यह

'बावन गजा' आराधना समस्त दक्षिण-पूर्वी एशिया में कैसी फैलती चली गयी। १९६३ में मैंने श्रीलंका में अनुराधापुर में तथागत की ऐसी ही विराट प्रतिमा के दर्शन किये थे। यह कैसे संभव हुआ?

आज भी बावजूद सारे अमेरिकी खान-पान के और 'टूरिस्टों' को आकर्षित करने के लिए जुटाये गये पश्चिम के उपादानों के, जापान के बौद्ध मंदिरों के आसपास हिरणों के यूथ मनुष्यों से बेखौफ विचर रहे हैं, उन्हें खिलाये जाने वाले विस्कुट चर रहे हैं, मुटा रहे हैं। धूप-दीप का अखंड आराधन इन प्रतिमाओं के आगे चल रहा है। जीवन की क्षणिकता को अधोरेखित करने वाले दार्शनिक का ऐसा अचल और स्थायी और क्षणातीत ध्यान!

पश्चिम के दार्शनिक, राइस डेविड्स हों या श्वाइट्ज़र, सब शिकायत करते हैं कि बुद्ध के दर्शन ने भारत को निकम्मा कर दिया। उसमें 'वेल्टानमेर्श' (जीवन और जगत के प्रति नकार-भावना) बहुत अधिक है। वह दुख और वेदना का दर्शन है। 'मेरा गायन ही है क्रंदन'—कवि कह गये हैं। मज़े की बात यह है कि उन्हें अपनी ही महानगरियों में फैले सहस्र-सहस्र सूली और सलीब पर ज़ख्मी टंगे करुण ईसा की प्रतिमाएं नज़र नहीं आतीं। मरण की पूजा कौन करता है? कर्मयोग सिखाने वाले हिंदू या जंगल जनारण्य में अट्ठभाग प्रचारित करने के लिए लौट आने वाले बोधिसत्व और 'श्रमण से भी श्रावक को सीखना चाहिये,' प्रति[illegible] करनेवाले भगवान महावीर? या [illegible] स्तानों और मरण-स्मारकों पर [illegible] लाखों लोगों की पवित्र भीड़ से [illegible] वाले, यरूशलम की 'आंसुओं और [illegible] की दीवार' पर सिर धुनने वाले [illegible] आदि सामी (सेमेटिक) धर्मानुया[illegible] लारेंस फेर्लेंचेट्टी की एक पूरी कवि[illegible] जिसमें पूरे पेज पर 'डेथ' (मरण) [illegible] अनेक बड़े से छोटे टाइपों में विष्णु[illegible] नाम की तरह छपा है! बुद्ध या मह[illegible] ने आत्महत्या का मार्ग नहीं सिखा[illegible] पश्चिम में तो अंधे गुरुप्रेम में सैकड़ों [illegible] ज़हर पीकर खत्म हो जाते हैं। जापा[illegible] भी 'हाराकिरी' (आत्मबलिदान) [illegible] शहादत है। 'इदं न मम, स्वाहा' [illegible] यहां भी है। पर वह मरण-प्रेम [illegible] है। वहां पश्चिम में तो मरण और [illegible] को पर्यायवाची माना गया। [illegible] महोदय ने उसे 'डेथ-विश' कहा [illegible] यानी मुक्तिबोध के शब्दों में जो [illegible] होगा, वह तो शमा पर परवाने की [illegible] कूद पड़ेगा। ईरौस में थैनेटौस निहि[illegible]

'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु [illegible] न'—तेरा अधिकार केवल 'कर्म' कर[illegible] है। तिलक महाराज ने उसी कर्मयो[illegible] रहस्य मंडाले जेल में लंबे कारावा[illegible] देखा। अरविन्द सक्रिय राज[illegible] (एक्टिविस्ट) थे। अलीपुर जे[illegible] 'वासुदेव दर्शन' हुए और वे आत्मा[illegible]

(शेषांश पृष्ठ १५२ पर)

निर्मल कुमार की हिन्दी कहानी

▫ मंगत

एक चुप चेहरेवाला आदमी था। रंग काफी लाल और आंखें बिल्ली की आंखों के रंग की-सी। मूंछें भूरी-भूरी छोटी-छोटी।

मुस्कराते तो शायद ही मैंने कभी देखा हो उसे। पर एक अजीब बात थी उसमें। लगता था, वह मन-ही-मन हंस रहा हैं। अक्सर सन्देह होने लगता। कहीं वह मुझी पर ही तो नहीं हंस रहा है।....

सुबह-भर शिकार की तलाश में थककर हम एक अमराई में पड़े रहे। उस साल आमों पर खूब बौर आया। पास ही था एक छोटा-सा खेत। मटर के सफेद और गुलाबी फूलों से भरा।

वह कुछ मटर तोड़ लाया तो हम वहीं सायों में पड़े-पड़े चबाते रहे। मार्च की हलकी गरमी। कुछ-कुछ पकती गेहूं की फसल। वैसे पछुवा हवा ने काफी बीज मार दिये थे।

अचानक अमराई में दूर कटहली के फूलों के पास, तीन मोर दीखे।

उनकी ओर देखकर उसने मेरी ओर आंखें सिकोड़ते हुए देखा। फिर एक पेड़ का सहारा लेकर बोला—'क्यों इनका भी शिकार करने का इरादा है क्या?'

मैंने कहा—'नहीं। क्यों? ये तो राष्ट्रीय

पक्षी हैं, भाई !'

'हूं ! वैसे ही ।' अपनी बांहें पीछे सिर की ओर फैलाता हुआ वह बोला, 'मैंने सोचा, चूंकि अब तक तो तुम चिड़ियें ही मारते रहे हो ।'

बहुत सीधे ढंग से कही थी । उसकी बात ने मुझे चौंका दिया । लगा वह मन-ही-मन हंस रहा है ।

कुछ देर में सामने गेहूं की बालियों में हवा रेशमी दुपट्टे-सी लहरायी ।

'क्यों तुम्हें चिड़ियें मारना पसन्द नहीं ।'

'नहीं ।'

'चिड़ियें तुम्हारी फसल खराब नहीं करती ?'

'करती हैं, थोड़ी-बहुत । पर चिड़ियों से ही तो फसल की रौनक है, बाबूजी ।'

'ये मोर क्या खाते हैं ?'

'मटर की फलियां, पत्ते, कीड़े, सांप ।'

'सांप !'

'हां, हां ।'

मैं चुप । चारों तरफ चुप्पी । केवल सामने तीन मोर । मुझे धीरे-धीरे नींद आ गयी ।

एक दिन सवेरे ही सवेरे मैं अभी सो ही रहा था कि उसने आकर शोर मचाया—'साहब, साहब !' शोर से मेरी आंखें खुलीं तो पूछा—'क्या बात है, मंगत ?'

रात उतरी ही थी, सवेरा नहीं हुआ था । उसी धुंधलके में देखा, उसकी आंखों में उत्सुकता है । अंग बहुत आतुर हैं । मुझे जगा देख अचानक वह कुछ सहमा शायद कुछ लज्जा आयी । सिर झु बोला, 'साहब, मोर नाच रहा है!'

'मोर!' हैरानी से मैंने जानना मोर के नाचने और मुझे जगाने रिश्ता है । हड़बड़ाकर जगना मुझे पसन्द नहीं था ।

वह बड़ी मासूमियत से बोला, बढ़िया नाच रहा है, साहब । मैंने आप भी देखकर खुश होंगे ।'

आंखों से नींद उड़ गयी थी । कौ वश मैंने पूछा—'तुम्हें नाचता मोर अच्छा लगता है ?'

'जी साहब ।' वह बोला, और बार, मेरी स्मृति में पहली बार, होंठ एक मुस्कराहट में खिंच गये । दिनों मोर नहीं नाचता, साहब,' वह 'आपको भी बहुत अच्छा लगेगा ।'

मैंने कहा—'चलो ।'

रात कुछ पानी पड़ा था । चारों चीजें भीगी हुई थीं । आसमान प कुछ बादल घिर आये थे ।

गांव में एक फूस की छत पर मोर परों का नीले-नीले चांद बनाये ना था । देर तक मंत्रमुग्ध-से हम खड़े रहे । मोर गर्व से सर उठाये नाचता उसे दुनिया की एक पैसे-भर भी नहीं थी ।

सुबह-सुबह धुली हरियाली बहुत हवा ठंड और मस्त । मेरे मन में आप ही मंगत के लिए 'धन्यवाद' नि

आश्चर्य हुआ कि मंगत प्रकृति के जीवन में कैसा रंग गया है।

एक बार उसने मुझे रात के पिछले पहर उठाकर डूबते तारे दिखाये थे। उसे मैं कभी नहीं भूल सकूंगा। कितनी ही बार मैं पूरी-पूरी रात जगा, और शिकारी जीवन में कितनी ही बार रात के आसमान की बदलती संगत से वक्त का अन्दाज़ा लगाया। पर सितारों का वह सौन्दर्य मैं फिर कभी देख नहीं पाया। काले आकाश पर जैसे अचानक किसी ने एक झीना सफेद आंचल डाला हो। सितारे उसी में लजाकर सिमटते चले और फिर वहीं उसी आंचल में कहीं घुल गये।...

आज मंगत की ओर मैंने कुछ नयी आंखों से देखा। मुझे लगा उसमें ज़रूर कोई अद्‌भुत शक्ति है, जो प्रकृति के रुपहले क्षणों में उसे अपनी जादू की उंगली से जगा देती है। या फिर वह प्रकृति का आप चुना कोई अंगरक्षक फरिश्ता है, जो रातों को घूम-घूमकर उसकी निगरानी करता है।

नहीं...! मंगत तो एक मामूली किसान है, जिसका लगान केवल दो रुपये छमाही है।...

अभी आये पांच-छह दिन ही बीते थे। मैं बाग में पड़ा एक किताब पढ़ रहा था। दूर हीरे की तरह कोई चीज़ रह-रहकर जगमगा रही थी। पूछा, 'कोई कार है क्या?'

'नहीं, साहब।' मंगत बोला, 'पानी देने को रहट चल रहा है।'

सामने एक ऊंचे-से टीले पर बसा गांव। एक कुत्ता झील के किनारे-किनारे एक छोटे से सुअर को खदेड़ता। कुछ औरतें खेतों में मटर बीनती। दिन चढ़े धूप में मौसम पर आलस-सा छाया था।

अचानक तीन सुर्खाब बीच से उड़े। कुत्ता चौंककर रुक गया और छोटा सुअर भागता रहा।

बहुत-सी औरतें रंग-बिरंगे कपड़े पहने नज़र आयीं। हाथों में पानी के लोटे लिये वे सब कुछ दूर एक सघन पेड़ के पास जमा थीं।

'यह सब क्या हो रहा है, मंगत?'

'मेला है, साहब! एक बाबा ने समाधि ली थी वहां। हर सोमवार को उसी का मेला लगता है।'

दो बच्चे खेत की मेड़ पर खेल रहे थे, एक बैठा और एक खड़ा। बैठे ने अचानक अपनी छोटी-छोटी बांहें फैलायीं और खड़े हुए लड़के के पांव बांहों में भर सीने से चिपकाये। खड़ा लड़का उसके ऊपर गिरा तो दोनों धूल में पड़े रोने लगे।

'किनका मेला है, हिन्दुओं का या मुसलमानों का?'

सवाल शायद मंगत की समझ में नहीं आया। कुछ क्षण चुप रहकर वह बोला—'ये तो नहीं जानता, सरकार! वहां तो दोनों ही आते हैं, हिन्दू भी, मुसलमान भी।'

शहर में बात कुछ अलग थी। मैंने कुछ और जानने को पूछा, 'तो क्या यहां त्योहार

अलग-अलग नहीं होते ?'

'होते भी हैं साहब, नहीं भी ! अब यों तो सभी होली-दिवाली मना लेते हैं। मिठाई-विठाई ईद-वीद पे सभी में ली-दी जाती है। ब्याह-शादी पे भी सभी शामिल होते हैं, साहब ।'

मंगत की और बहुत-सी बातों से मैंने जाना, धर्म के झगड़े देश के गांवों में नहीं हैं। उनका एक ही धर्म है। धरती मैया। उसे सभी पूजते हैं। लड़ाई-झगड़े का धर्म तो शहरवालों की ही समझ की चीज़ है। यहां तो 'सर्वंसहा वसुमती' के धरम, करम और ईमान चलते हैं। . . .

०००

मेरे डाक्टर दोस्त को एक आदमी की ज़रूरत थी। पैसे भी अच्छे दे रहा था। मैंने उसके लिए मंगत को चुना। सोचा मंगत का खेत भी छोटा-सा है। और फिर उसके घर और भी लोग हैं, उसे नौकरी पर जाने में शायद ही कोई दिक्कत हो।

पूछा—'मंगत, नौकरी करोगे ?'

'नहीं,' स्वर में दृढ़ता थी।

मुझे इसकी उम्मीद नहीं थी। उसकी 'नहीं' ने मेरा जोश ठंडा कर दिया। पर बात शुरू हो चुकी थी सो मैंने पूछा, 'क्यों ?'

'खेत छोड़कर हम नहीं जा सकते, साहब ।'

'खेत से तुम्हें मिलता ही क्या है ! नौकरी तो अच्छी ही रहेगी।'

मंगत अपनी आदत के अनुसार हाथ पीछे कर पेड़ की टेक लगाकर अवते बोला—'साहब, रोटी मिल जाती है। खेत चाहे कुछ भी ना दे, हम खेत को छोड़ दें ? खेत कोई रोजी थोड़े है, वो हमारा धरम है, साहब। हम जन्म बिगाड़ लें अपना उसे छोड़कर।'

मैं चुप। मंगत की ओर देखा भी मैं जान गया, उसकी आंखों में क मंगत वह भारतीय किसान है, जिसे पूर गुलामी के दिनों में भी ज़मीन के नाते ने आज़ाद रखा था। सोचा, देश ज़मीन की बातें शहरों में खूब क हम। पर, देश और ज़मीन को महत्त्व मुझे आज मंगत ने कराया है। हिन्दु किसानों का ही है।

०००

मंगत बीमार हो गया। पास के में खुले सरकारी अस्पताल से वह और खांसी की दवा ले आया। पर दिन बाद तक हालत नहीं संभली।

उस दिन सवेरे-सवेरे मैं घूमने नि तो वह अपने खेत पर था। मुझे देख राम-राम की, और मुस्कराया। चेहरे बुखार और आंखें लाल।

'क्यों, मंगत, तबीयत ठीक नहीं है'

'कैसे होती, सरकार ! पकवा फसल के धोरे नहीं लगा।'

वह मेरे पास आ खड़ा हुआ। मुझे कि उसकी सांस बहुत तपी है, थोड़े आने में ही वह हांफ उठा था। सि एक मैला-सा कपड़ा बांधे, कत्थई

कमीज़ और धोती पहने वह चुप खड़ा रहा। अपनी हंफनी पर काबू पाने के लिए होंठ बंद किये और मेरी ओर देख बड़े विश्वास के साथ मुस्कराया। उसके चौड़े कंधे और सधी हुई आकृति पर बुखार का अब भी ज़ोर था।

फिर अपनी आंखें सिकोड़कर उसने खेतों की ओर कर लीं, और उसी तरह देखता-देखता बोला, 'किसान की दवा तो उसके खेत ही हैं, बाबूजी।'

सवेरे-सवेरे मैं शिकार को निकल गया। मंगत मेरे साथ था। पास ही नौझील गांव की झीलों पर बहुत से फाख़ता, तीतर और दूसरी चिड़ियों की भरमार सुन रखी थी।

नौझील सोकर उठा है। रंभाते ढोर और लोगों के चेहरों पर नया दिन। कुछ कुत्ते बन्दूक देख भौंके तो उन्हें गांववालों ने चुप करा दिया।

मंगत ने मुझे दिखलायीं पास-पास फैली नौ झीलें, जिनसे घिरे इस गांव को एक अलग सौन्दर्य और यह नाम मिला है।

हम मुश्किल से एक झील के पास पहुंचे थे कि अचानक एक खेत में से हिरनों का एक झुण्ड निकला। इतनी आशा लेकर मैं नहीं आया था। मैंने बन्दूकें सम्भालीं। आगे-आगे एक बड़ा-सा सींगवाला हिरन था। मेरी आंखें उसी पर थीं। पास ही गन्ने का एक आधा कटा खेत था। मैं उनके बाहर आने के इन्तजार में था। अभी वो उसी खेत में थे और वहां गोली चलाना खतरनाक था।

अचानक खेत से वे एक नीची नाली में उतरे और फिर छलांग मारकर उसी अधकटे खेत में हो लिये। पलक मारते ही वह अगला हिरन फिर आगे खेतों में धंस गया। एक छोटा-सा हिरन बहुत बेखबर चाल चल रहा था। हर चीज़ जैसे उसे चौंका रही थी। वह कुछ रुकता फिर चकित सा इधर-उधर छलांगें मारता।

मैंने उसी पर निशाना दाग दिया। धांय! और चार छोटे-छोटे पैर छटपटाने लगे। हम उतरकर उसकी ओर दौड़े। मैंने उसकी गर्दन पकड़ ली। वह आंखें खोले छटपटाता रहा।

मंगत खड़ा-खड़ा चुपचाप सब देख रहा था। जब सब खत्म हो गया तो मैंने उससे हिरन को ट्रैक्टर में रख देने को कहा। उसकी बलिष्ठ भुजाओं ने उसे आसानी से उठाकर ट्रैक्टर के पीछे बांध दिया। सिर झुकाये वह चुपचाप तेज़ी से काम करता रहा। इसके बाद जब उसने सिर उठाया तो अचानक मैं चौंक पड़ा। उसकी आंखों में पानी भरा था। मैं अवाक् उसकी ओर कुछ क्षण देखता रह गया। शायद वह मेरा भाव समझ गया और कुछ झेंप-सा गया। वह इधर-उधर देखने लगा। उससे और कुछ कह हम आगे बढ़े। मैं रास्ते भर उसी के बारे में सोचता रहा। झील पर मैंने दो-एक तीतर मारे। पर मेरा मन नहीं लगा। न जाने कैसे मंगत की पानी भरी आंखें मेरे पर बैठ गयी थीं। हर क्षण वह भीतर ही धंसती महसूस होती

रहीं ।

जब भी मैंने मंगत से तीतर उठवाये, हाथों में डैने बंद किये तीतर चुपचाप आंखें टिमटिमाते रहते, और उनकी चोंच से खून की बूंदें गिरती रहतीं । मैं उत्सुकता से मंगत की आंखों में देखता । वह भी उड़ती-सी नज़र मुझ पर डालता । शायद हम दोनों एक-दूसरे की नज़रों का अर्थ समझ रहे थे । लेकिन आंसू उसकी आंखों में फिर नहीं आये ।

रात को सोते वक्त भी मुझे फिर मंगत का खयाल आ गया । ओह ! मंगत का दिल इतना कोमल है । बुआ से दिन में पता चला था कि पिछली सर्दियों में गांव पर जब डाका पड़ा तो मंगत अकेला हवेली की छत से गोलियां चलाता रहा था । उसकी बायीं जांघ में गोलियां भी लगी थीं । मैं सोचता रहा, फिर मुझे हिरन के उस बच्चे का खयाल आया । अचानक एक विचित्र-सी ग्लानि से मैं बेचैन हो उठा । शिकार को आज तक उस नज़र से मैंने कभी नहीं देखा था । ज़मींदारी खत्म हो जाने के बाद यही एक निशानी बची थी शौर्य और सम्पदा की । अब मुझे लग रहा था कि यह सब नीचता है । कालेज का एक साथी भी ज़ोर-शोर से शिकार को कायरता की निशानी बताया करता था । मनुष्य ने सभ्यता सिर्फ़ पढ़ी है, वह कहता, वह अभी सभ्य नहीं हुआ है । उसने सभ्य होना मंजूर किया, चूंकि जीवन खतरे में था । पर मन से वह अभी बर्बर और कायर है । अक्सर मैं उसकी बातों पर हंस दे[illegible] था । आज मंगल की आंखों ने भी [illegible] बात कही । और मुझे लगा कि वह [illegible] सही है । मैं कायर हूं ।

एक अजीब-सी गर्मी मेरे भीतर उठ[illegible] मैंने लिहाफ उतार फेंका, पर बेचैनी ब[illegible] ही गयी । किवाड़ खोले । बाहर अंधे[illegible] झांका । लगा दूर जंगल में शायद [illegible] हिरनी भी उसी तरह जाग रही है ।

मुझे और नींद नहीं आयी । मेरे [illegible] में बहुत से आंसू घुटते रहे । रो लेना चाह[illegible] पर साथ ही साथ एक आश्चर्य भी हुआ[illegible] समझ नहीं पा रहा कि आज मुझे क्या [illegible] गया है !

फिर कभी मैंने शिकार नहीं खेला ।

दस-बारह दिन के लिए मैं शहर [illegible] गया था । जब लौटकर आया तो पता [illegible] मंगत बीमार है, और पास के ही सर[illegible] अस्पताल में भर्ती हो गया है । अस्प[illegible] में डाक्टर ने बताया कि वह ठीक [illegible] समझ नहीं पाया था कि मंगत को बीमा[illegible] क्या है । रोज़ शाम को उसे तेज बुख[illegible] आता और उसका शरीर लाल हो जात[illegible] गर्दन और कमर ऐंठने लगती ।

तीन-चार दिन मैं रोज़ मंगत से मि[illegible] गया । उन दिनों वह काफी चुप रहता [illegible] मेरा भी मन शिकार से हट चुका था । [illegible] मैं बुआ से विदा ले घर लौटने की [illegible] सोचता, पर एक-एक कर दिन कटते [illegible]

'अब शिकार पर नहीं गये क्या ?' [illegible] शाम मंगत एक लम्बी चुप्पी के बाद बो[illegible]

उसने करवट मेरी ही ओर ले रखी थी और उसकी आंखें एक असाधारण तेज़ी में मेरी ओर घूर रही थीं। आंखें मेरी आप ही उससे कुछ बचने को हुईं, बोला नहीं!

एक हल्की आह के साथ उसने करवट सीधी कर ली।

'तुम्हारा मन यहां ऊब गया होगा, मंगत।'

उसने मेरी ओर कुछ ऐसी आंखों से देखा, जैसे मैंने उसकी चोरी पकड़ ली हो। वह कुछ बोलने को हुआ, पर फिर चुप हो गया।

लौटते वक्त दिन छुप गया। दिन भर की गर्मी अभी मौसम से नहीं हटी थी। लौटती बैलगाड़ियों ने बहुत धूल उड़ा दी थी। मेरा मन धूल, गर्मी और तरह-तरह के अस्पष्ट विचारों से भारी हो उठा।

सवेरे ही मुझे नौकर ने खबर दी, 'साहब, मंगत मर गया।'

मंगत मर गया, मुझे यकीन नहीं हुआ। पिछली शाम तक उसमें मरने वाली कोई चीज़ नज़र नहीं आयी थी।

'कौन गया था अस्पताल?'

'अस्पताल नहीं, साहब। वह रात आप ही वहां से आ गया।'

'क्या?'

'रात दो-ढाई बजे आया साहब, वह, और सीधे अपने खेत पर चला गया। और सब किसान लोग भी अपने-अपने खेतों में थे। वहां जाकर उसने नत्थे से लेकर एक चिलम पी। नत्थे ने पूछा कि भाई अस्पताल से क्यों आ गये? तो बोला, तबीयत नहीं लगी। फिर चिलम पीकर वहीं चादर बिछाई और खेत की मेंड़ पर लेट गया। नत्थे ने कहा कि चारपाई पर हो ले, वह तो पास ही धरी है। तो बोला, नहीं। फिर बोला नत्थे, फसल तो बहुत बढ़िया हुई है। नत्थे ने कहा, हां भाई सब उसकी कृपा है। वो बोला, जा ज़रा एक अच्छी-सी बाली तो तोड़ ला। नत्था बराबर म से ही बाली तोड़ के लाया तो मंगल मरा हुआ पड़ा था।

मैं मंगत को देखने खेत पर गया। चारों ओर से लोग उसे घेरे खड़े थे। तरह-तरह से सब लोग अपने-अपने बयान दे रहे थे।

'मिट्टी यहीं होनी थी भाई', एक बोला। कोई और बोला, 'किसान था भाई, मिट्टी तो पुकारती ही'।

सबके बीच से रास्ता बनाता हुआ मैं आगे बढ़ा। एक सफ़ेद कपड़े से ढंका मंगत का शव पड़ा था। न जाने किस कौतूहल-वश मैंने उसके मुंह पर से ज़रा कपड़ा हटाया। वही चुप चेहरा सामने था। उसकी आंखें बंद थीं।

अचानक मुझे लगा मंगत मन-ही-मन हंस रहा था—वही छिपी हुई हंसी, वही हंसी उसके चुप चेहरे पर थी।

□

• अगर सब दरिद्र होते तो धन का भय कैसे मालूम होता, अगर सब धनी होते तो धैर्य का अर्थ कैसे बताया जाता?

—राबर्ट बेंसन
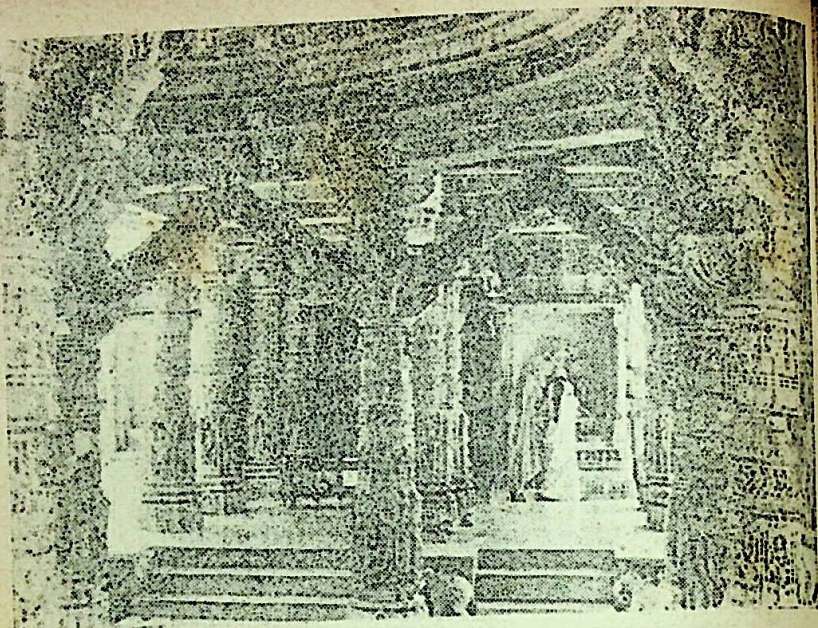
राजस्थान का लोकतीर्थ देलवाड़ा

सावित्री परमार का एक साक्षात्कारी लेख

o

सावित्री परमार की अन्तश्चेतना में कविता का कोई अजस्र प्रवाही सोता है। उनके लेखन में हर अगला शब्द, हर अगला जुमला–किसी नव्य से नव्यतर कविता की आसमानी सीढ़ियां खोलता-सा उतरता है। कोई भी विषय हो, शिल्प हो कि स्थापत्य हो, कि राजस्थान की बन्जारों की होली हो, सावित्री के सौंदर्य-विजन की जादुई खिड़की पर वह एक अपूर्व नूतन आविर्भाव की तरह प्राकट्यमान होता है। एक से एक ताजातरीन बिम्बों का सिलसिला। ऐसी सदा-कुंवारी कविता, और अछूती ताजगी कम देखने में आती है।

o

राजस्थान .... शौर्य, देशभक्ति और धर्म-निष्ठा का पावन-संगम.... एक ऐसा नाम, जिसमें अनेकों गौरवपूर्ण युग मोतियों की तरह गुम्फित हैं–यहां की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को न जाने कितनी आंधियों के, केसरिया बलिदानों के और यज्ञ-सा... की सुगंधों के सेतुबंध पार करने पड़े हैं... जाने कितने जौहर यहां की हवा में ... कमल से लहरा रहे हैं.... कर्नल टॉड... यहां की यात्रा पर निकला, तब ...

इस लेख के चित्रों के छायाकार श्री सूरज एन. शर्मा

उसे भी आश्चर्य से अभिभूत होकर कहना पड़ा कि—'राजस्थान की तुलना में यूनान के स्पार्टा का शौर्य भी एकदम हलका रह जाता है...'

दूर-दूर तक ठाठें मारता हुआ रेतीला सागर .... इन्हीं रेशमी बालुई पर्तों में असंख्य शिलालेख, दुर्ग-महल, गुम्बद-मीनारें, समाधि-स्थल, प्रशस्ति स्तंभ, मोहर-सिक्के, लोकगीत-नृत्य, कथा-कहानियां और मठ-मंदिर विखरे हुए हैं.... नदी, नालों, झरनों और दुर्गम पहाड़ी घाटियों से घिरे रमणीक स्थानों पर सिद्धहस्त शिल्पियों द्वारा निर्मित देवी-देवताओं की दुर्लभ मूर्तियों से आवेष्टित अनेकों देवालय मिलते हैं—जिनके माध्यम से राजस्थान की स्थापत्यकला, मूर्तिकला और चित्र-कला का संपूर्ण परिचय मिलता है—इन्हीं में हैं देलवाड़ा के भव्य मंदिर—निर्माण-कला की सर्वोत्तम कृति के परिचायक।

देलवाड़ा.... मरुभूमि का प्रसिद्ध लोक-तीर्थ .... पवित्र वातावरण का संकेतात्मक स्थल....अर्बुद पर्वत (आबू) पर स्थित... एक ऐसा पर्वत, जहां वेद, पुराण, उप-निषद्, महाभारत और जैन धर्म के पुनीत हस्ताक्षर होते रहे हैं। कहा जाता है कि पाताल तक जाने के लिए पहले यहां से एक सुरंग थी, जहां महर्षि वशिष्ठ का जगत् प्रसिद्ध आश्रम है.... अगर कोई मनुष्य हिमालय के पुत्र अर्बुदाचल (आबू) में जाकर एक रात भी यहां व्यतीत कर लेता है, तो उसे हजार यज्ञ-दान करने से भी अधिक पुण्य-लाभ होता है।

मैं देलवाड़ा के मंदिरों के कलात्मक सौन्दर्य को देखने के लिए आबू की ओर चल पड़ी हूं—साथ हैं प्रसिद्ध छायाकार श्री सूरज एन. शर्मा—भाईजी। गाड़ी जैसे

परिक्रमा गैलरी
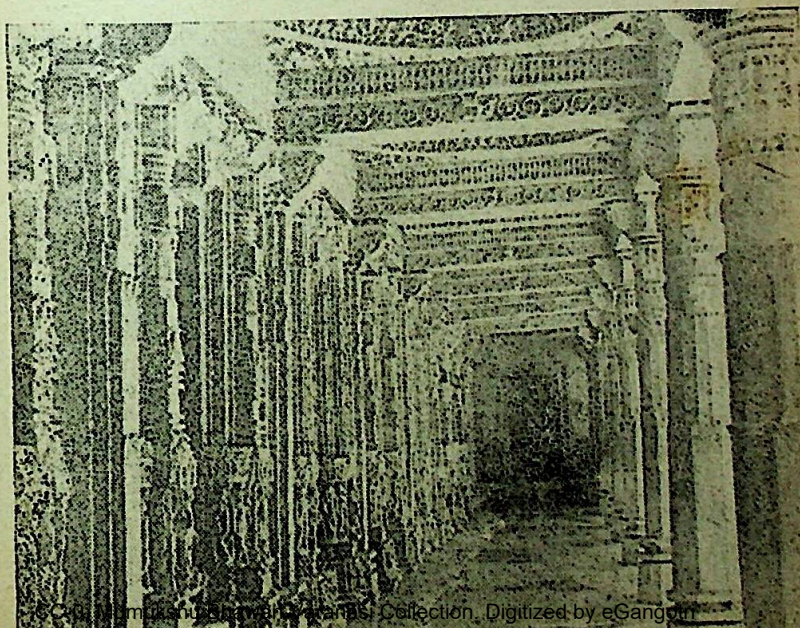
ही आबू की सीमा को छूने लगी है कि एक अबूझा स्वप्न-सा झरने लगा है—चारों ओर हरी-भरी घाटियों का नैसर्गिक सौंदर्य—ऊंची-नीची चढ़ाई . . . चिक्कन काई मण्डित फिसलती चट्टानें . . . . कहीं साफ-झक्क ढलानें, फूलों के छींटदार घाघरों पर लहरिये ओढ़े गर्विता पहाड़ियां, तालियां बजाते हंसते-खेलते किशोर पत्तों के समूह. . . . . कुहनी टहोकती तरुण शाखाएं . . . . तीनों कालों में बहती गायत्री मंत्र-सी सुगंधित वायु, सामवेदी संगीत गुनगुनाते बहुरंगी पांखियों के समवेत स्वर . . . . अजीब पौराणिक वातावरण कहां रुकें ! किधर चलें ! क्या देखें ! भ्रमित-चकित दृष्टि के आर-पार विधाता की तूलिका का विलक्षण-चमत्कार—अनोखे चित्रों का अपूर्व कैनवास . . धरती की अटारी पर स्वर्ग का सोपान . . और फिर मिलती है आबू के हृदय में रसलीन नक्की झील—हरी वन्दनवारों के बीच बहुमूल्य नीलमणि . . . . श्वेत हंसों-सी हिलोरें मारती हुई नौकाएं—मखमली नील सलवटों में दमकते धूप के बिल्लौरी कुमकुमे . . . फूल-पादपों के झूलते प्रतिबिंब।
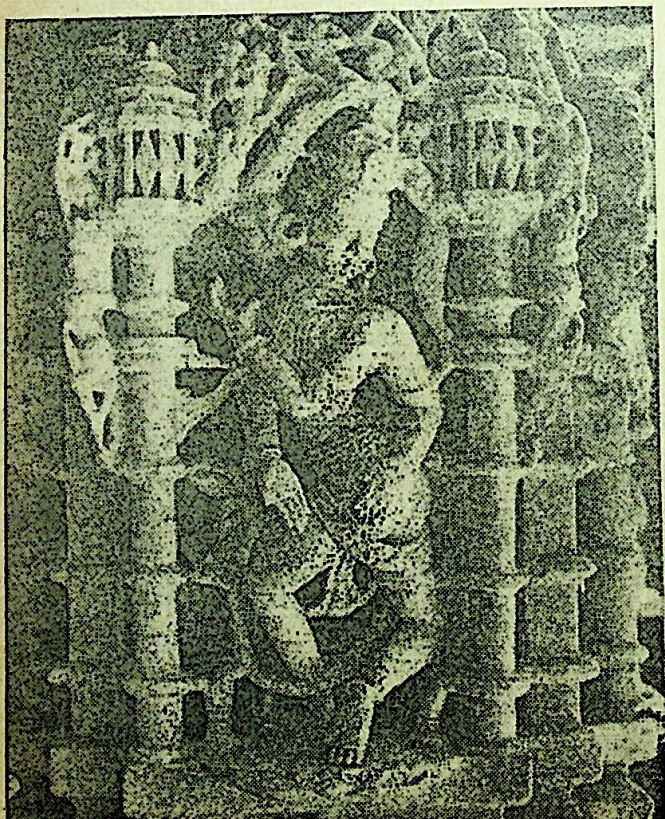
भित्ति-शिल्प : देलवाड़ा मंदिर

सामने है यहां चमत्कारी शिखर जिसकी ऊंचाई पर है अचलगढ़ दुर्ग. . . . सूचना मिलती है कि आबू समुद्र तल से लगभग ग्यारह-बारह सौ मीटर की ऊंचाई पर है, जिसकी सबसे बड़ी चोटी का नाम गुरुशिखर है . . पहले यहां समुद्र था ईसा से करीब पच्चीस हजार वर्ष पूर्व पर्वत रूप में उभरा महर्षि वशिष्ठ का स्थान होने के कारण प्र (वृद्धि) का द्योतक

भित्ति-शिल्प : देलवाड़ा मंदिर
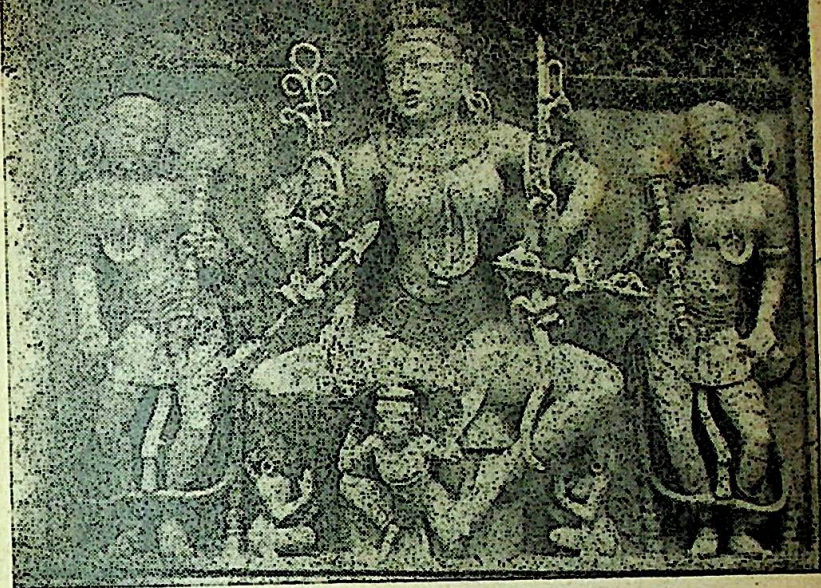
.... इतिहास प्रसिद्ध यात्री मेगस्थनीज ने भी इस गुरु शिखर का वर्णन किया है, जो ईसा से तीन सौ वर्ष पूर्व का माना जाता है .... यहीं है यज्ञेश्वर का पवित्र स्थान. . . तीन मठ-मढ़ियां, इन्हें कुंवारी कन्या का मंदिर भी कहा जाता है.... भगवान महावीर, भगवान दत्तात्रेय, कृष्ण-तीर्थ के मंदिर और रामगुफा भी है ....

लोक साहित्य में आबू तीर्थ की बड़ी महिमा उल्लेखित की है . . . गीतों में भी यहां का सौन्दर्य उकेरा गया है . . . 'मोर बोले रे मलजी आबूरा पहाड़ां में...' और ... 'आछो मिंदर चिणायो आबू ठांव रे...' लोक-काव्य के दोहों में भी यहां की छबि मुखरित हुई है ....

'टूकै-टूकै केतकी, झिरणे-झिरणै जाय, अरबुद की छबि देखतां, और न सालैदाय–'

अथवा–

'मोती समो न ऊजलो,
चंनण समो न काठ,
आबू समो न देवता,
गीता समो न पाठ . . '

पांव सांसों में उत्सुकता जगाये बढ़ते जा रहे हैं..... बहुत ऊंचे चबूतरे पर स्थित संगमरमरी देलवाड़ा का आह्वान अपनी ओर खींचे लिये जा रहा है–आखिर हम उन मन्दिरों के सामने आकर रुक गये हैं... देवताओं का बाड़ा.....देलवाड़ा... देवालयों का समूह..... दृष्टि अपलक रह गयी है–'नयन जुड़े सो जुड़े ही रहे...' स्थितप्रज्ञ जैसी स्थिति ... पाषाणों पर फैला अद्भुत शिल्प ... हर ओर विश्व प्रसिद्ध जैन मंदिरों का समूह–भुवनेश्वर
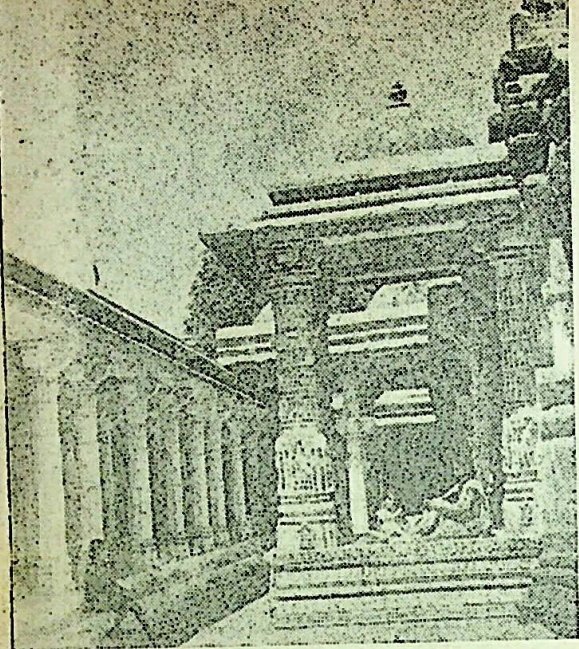
मुख्य देव-प्रासाद का एक
परिक्रमा-मंदिर

प्रणाली पर आधारित अनुपम कला-कृतियां.... . बेजोड़ कला !

पता लगा है कि देवड़ा शासकों की सिरोही कभी राजधानी थी, इसी की भौगोलिक सीमा में अपने कलात्मक वैभव के साथ देलवाड़ा विद्यमान है—पांच जैन मंदिर ..... विमल शाह गुजरात के राजा भीमदेव के सलाहकार मंत्री तथा सेनापति थे। किसी युग में भारत का स्वर्ण किरीट और जैन धर्म का प्रमुख केन्द्र समझा जाने वाला स्थान अणहिलवाड़ा के वे बहुत धनी व्यापारी थे... अनायास उनके मन में एक इच्छा जागी कि पराकाष्ठा की स्थापत्य कला से सुसज्जित जैन मंदिरों का निर्माण उनके द्वारा होना चाहिये—यह करते हुए यह रमणीक पहाड़ी स्थल उन्होंने धर्म-कर्म के लिए चुना... लक्ष्मी की पहले ही उन पर अनुकंपा थी.... कहते हैं कि इस सुरम्य स्थान को खरीदने के लिए उन्होंने हीरे, माणिक, मुक्ता, मोहरों से ज़मीन पाट दी थी... अपार धनराशि देकर सर्वोच्च कलानिष्ठ शिल्पियों को आमंत्रित किया गया... तीन मंदिरों का ही निर्माण हुआ था कि उनकी मृत्यु हो गयी... इसके लगभग सौ वर्ष के पश्चात् वास्तुपाल और तेजपाल ने शेष दो मंदिरों का निर्माण कराया ..... मैं देख रही हूं मंदिर के ठीक सामने अश्वारूढ़ विमल शाह की भव्यमूर्ति है . . . वस्तुपाल और तेजपाल के बनवाये मंदिर भी कला की दृष्टि से बहुत वैभवपूर्ण हैं।

भारत के कोने-कोने से यात्री आते हैं, देखकर इन्हें सराहते हैं ..... जीवन धन्य मानते हैं....इस समय भी दर्शनार्थियों की अपार भीड़ है—पोरवाल जाति के श्रेष्ठ धनिक महाजनों का यशोगान इन मंदिरों के माध्यम से छाया पड़ा है... निर्माणकला की सर्वश्रेष्ठ छाप लिये हुए मेरे चारों ओर कला की सुंदरता संजो

नृत्य-सी झंकृत हो रही हैं।

देलवाड़ा के प्रसिद्ध जैन तीर्थंकर भगवान आदिनाथ का देवालय बाहर से देखने पर एकदम साधारण लगता है, लेकिन ज्यों ही मैं भीतर सभा-मंडप में पहुंचती हूं कि आसपास की समस्त हलचल भूलकर पत्थरों में बारीक खुदाई की अलंकृत कला को देखकर चकाचौंध हो उठती हूं . . . स्तंभों की अष्टकोण कटाई . . . . फूलदार मेहराबों से युक्त नृत्यांगनाओं के बंकिम लास्य से मुस्कराती गोल गुंबदी छत . . . संगमरमर पर अति सूक्ष्म जालियों की सतरंगी छटा....प्रत्येक मूर्ति के अलग-अलग आकर्षक हाव-भाव.... मुग्धकारी कटाक्ष-भंगिमाएं ..... कला-सौष्ठव से परिपूर्ण मंडप .... यह मंडप और गर्भगृह लगभग तीन-चार फुट ऊंचे कटावदार चबूतरों पर बनाये गये हैं .... आठ खूबसूरत स्तंभों पर अधर टिकी हुई ऐसी सुन्दर छत, मानो किसी ने जड़ाऊ स्वर्ण आभूषणों से इसका शृंगार किया हो ! अधखिले कमलों के बीच गूंथी हुई मृणालों की वेणियों से आवृत विशाल गुम्बद यहीं पर है ... आदिनाथ भगवान की मोती नयना मनोहारी तांबे की मूर्ति .. गले में है दुर्लभ मणियों जैसे चमकदार पत्थरों का हार....हीरक ज्योति-सी फैलाये कितने .... कितने स्तंभ .....! सब कुछ अद्‌भुत, अनोखा, अवर्णनीय और कल्पनातीत है .... लम्बी-लम्बी पत्रांकित सुन्दर लताओं से आच्छादित दीर्घाएं—बहुल पच्चीकारी युक्त गैलरी ..... भारी-भारी लटकते तोरण..... भारपट्ट।

सामने है विशाल आंगन—बताया गया है कि यह एक सौ चालीस फुट लम्बा और काफी चौड़ा है . . . चौड़ाई का सही अनुमान नहीं हो सका है—यहां भी मंडप को घेरे हुए बावन खम्भे अपनी श्रेष्ठकला की ध्वजा आकाश तक फहराये उन्नत मस्तक किये खड़े हैं.....सभी पर जैन तीर्थंकरों की आभायुक्त अनुपम भव्य मूर्तियां उत्कीर्ण हैं . . .

अम्बादेवी का प्राचीन चबूतरा.....मठ-मंदिर और कई सभा-भवन हैं .... बहुत महीन खुदाई से सजी हुई गैलरी में है

देलवाड़ा मंदिर की एक छत
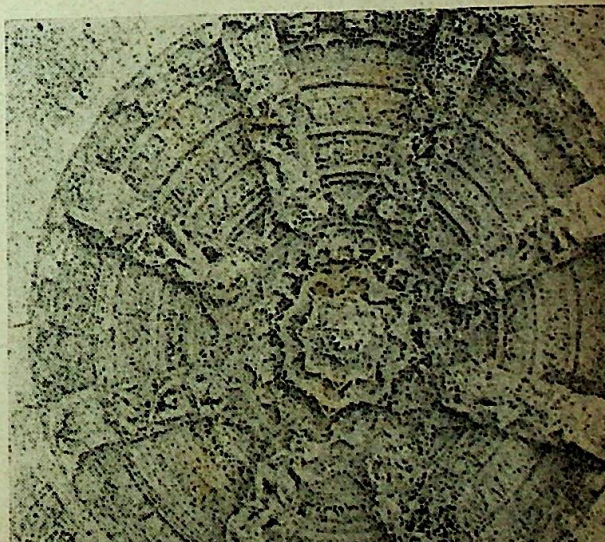
हस्तिशाला.....छोटे-बड़े संगमरमरी हस्ति-शिल्पों की अलग हीं छटा . ... बनाने वाले चितेरों के प्रति मन में अनेकों प्रशंसाएं उमड़ पड़ती हैं..... तभी दृष्टि दो विशाल ताकों की ओर उठती है, जहां देवराणी और जेठाणी के पच्चीकारी युक्त गवाक्ष हैं ... हस्तिखाने का द्वार इतना ऊंचा है कि मय हौदे और महावत के एक पूरा कद्दावर हाथी इसमें प्रवेश कर सकता है ... किंवदंती है कि यहां वास्तुपाल अपनी दो प्राण-प्रिय पत्नियों ... ललिता देवी और रूता देवी के साथ आमोद विचरण किया करता था और कभी-कभी तेजपाल की प्रिया अनुपमाश्री भी यहां आती थी ... पांव बौराये से घूम रहे हैं ... भवन निर्माण शैली का छोर-अछोर आश्चर्य फैला पड़ा है—ज़रा-सा मुड़ते ही एक और सुन्दर कृति नजर आती है—मां विद्यादेवी की मूर्ति ... चार भुजाओं वाली—सामने तीस-बत्तीस अंतराल हैं, आधी मानवाकृति और आधी पशु-आकृति की विचित्र मूर्तियां प्रत्येक में उकेरी गयी हैं ... लेकिन कलात्मक रेखांकन में परिपूर्ण।

जानकारी लेती हूं कि मूर्तिकला का ऐसा नयनाभिराम संसार प्रस्तुत करने वाले मुख्य शिल्पकार का नाम शोभदेव था...बताया गया है कि खुदाई और घिसाई करने वाले अनेकों कारीगरों में ज़बर्दस्त होड़ लगी रहती थी ... क्योंकि जितनी अधिक संगमरमर की रेत घिसाई के बाद निकलती थी, उसी बारीक रेत को तोलकर पारिश्रमिक दिया जाता था ... चांदी सोने की मुद्राएं ... तभी तो चारों इतनी बारीक ... महीन जालियों के फूल ... अर्धविकसित कमल ... गु केतकी ... अंगूरी लताएं ... तोरण झालरें ... मूर्तियों के भाव-विलास से जड़े हुए हैं . . झालरें और कंगूरे ऐसी पारदर्शी झलक ... मानो अबरक के पतले कागज़ की बेलें-झालरें हर तरफ तक्षण कला की खुदाई का क्षण काम...धर्मनिष्ठ भावना का हर में स्पर्श ... बौद्धिक सभ्यता के जीते-मौन होते हुए भी बोलते से स्थापत्य के अपरूप प्रतीक ... प्रस्तर के पर छेनी की इतनी प्यारी मीना पच्चीकारी इतनी सुन्दर हथौड़ी से सज्जा ! फिर ध्यान दिया जाये, तो है कि मात्र मूर्तियों का अंकन-टंक क्या ! वरन् राजस्थानी, यही क्यों, भारतीय कला, शिल्प निर्माण, गौर इतिहास और सामाजिक मूल्यों का सर्वांगीण ज्ञान हो उठता है ... प्रतीत है, जैसे सिरोही शासन के अन्तर्गत पहाड़ी भू-भाग पर बने ये देवालय और संस्कृति के सुदृढ़ रक्षा-कवच काम देते रहे होंगे ! जन-जीवन को शक्ति, चिंतन और शांति की प्रेरणा से मिलती होगी ? आकाशीय तक चुम्बित यहां की स्थापत्य कला प्राचीनता का प्रमाण एक यह भी है यूनानी प्राचीन 'पान-शैली' तथा

देलवाड़ा मंदिर का एक विशद भित्ति-चित्र
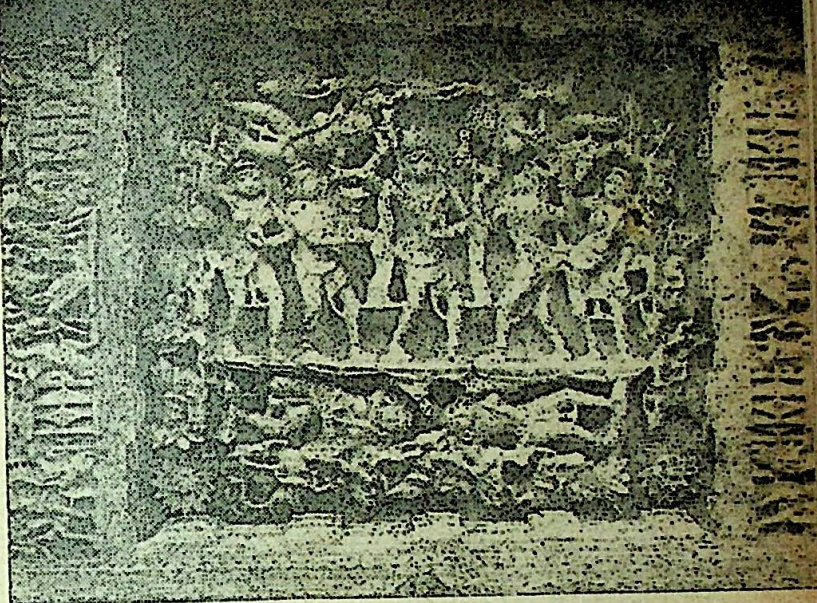
शैली' की छुअन भी इसमें परिलक्षित होती है ... सप्त धातुनिर्मित वृषभदेव की विशाल प्रतिमा इसका उदाहरण है ... और भी सर्वोत्कृष्ट नमूने-ही-नमूने—कहां तक गणना हो ! दुहरी-तिहरी रविश वाली गैलरियां, डयौढ़ियां, कटावदार मेहराबें, पीठासन, अण्डाकार भारपट्ट युगल-प्रतिमाएं ... लच्छियों में गुम्फित जाली की कुराई ... छतों पर रची-बसी अनेकों पौराणिक गाथाएं ... लताओं-गुल्मों के बीच रास-नृत्य ... प्राकृतिक छटाओं की अनेकानेक प्रवाह पूर्ण गंधवती रेखाएं ... कैसे भूला जा सकता है, वह प्रकोष्ठ ... कलावंत दीर्घा, जहां बाईसवें जिनेश्वर नेमिनाथ भगवान विराजमान हैं ... डूंगरपुर की खान से प्राप्त पाषाण की विपुल अनुपम मूर्ति... बड़ी उज्ज्वल आकृति और बेहद सजी ... अर्द्धगोलाकार गुम्बदों से घिरा स्थान ... एक ही केन्द्र से जुड़े हुए घनोत्कीर्ण, लेकिन विभाजक रेखाओं में बंटे हुए ... बीच-बीच में मानव और प्रकृति के विभिन्न उत्सव-समारोहों का आलंकन ... राग-रागनियां ... वेदियां, कामदार चंदोवे ... संगमरमर पर ऐसा पैना-तीखा काम, मानो किसी ने चांदी के महापात्र में चांदनी निचोड़ दी हो ? वस्त्रों, आभूषणों और देह भंगिमाओं की बड़ी मोहक मुरकियां और चुन्नटें ... मूर्तियों के अधरों पर ऐसी लावण्यमयी मुस्कान ! कर्ण-चुम्बित नेत्रों की छांव में आध्यात्मिक शांति का ऐसा विराट-दर्शन, उंगलियों के भाव-प्रदर्शन में आकाश का उजास भला और कहां देखने को मिलेगा ?

कलापूर्ण मुखाकृति वाले धूपदान ...

चंवर ... स्फटिक नेत्र ... हीरक तिलक ... घृत-दीप के झाड़ ... ढोल, दमामे, नगाड़े, शंख-तुरही ... बांसुरी-शहनाई ... क्या कुछ रूपायित नहीं है पाषाण के इस महा-काव्य में ?

सुबह से कब शाम हो गयी है, पता ही नहीं चला .. पक्षियों के गायन ने वनश्री की मुंडेर पर सांध्य-दीप आलोकित कर दिये हैं ... हरेभरे उपवन, झाड़ियां और उपत्यकाएं श्यामवर्णी आभा में रहस्यवादी-सी हो उठी हैं ... पहाड़ों ने अपनी पग-ड़ियों में नक्षत्रों की कलगियां टांक ली हैं ... घाटियों की हवेलियों में चांदनी की झांझरें बज उठी हैं ... सांवली घाटियों के घूंघटों पर जरी-किगड़ी के जुगनू झिल-मिला रहे हैं।

लौटने से पहले मैं उस शिल्प-सौन्दर्य की स्वप्न-नगरी को एक बार और दृष्टि की मंजूषा में समेट लेने का प्रयास करती हुई सोच रही हूं कि :

'मत कहो ये फूल बस उत्कीर्ण हैं
पाषाणों पर
देवताओं ने लिखे हैं मंत्र शायद
शालपत्रों पर ...'

रात्रि धीरे-धीरे अवतरित हो रही है ... संध्या-आरती में लीन आबू पर्वत को ... विराट सत्ता के प्रति अनुगृहीत पूरे वाता-वरण को ... इन्द्रधनुषी झील को ... आकाश-गंगा में प्रस्फुटित चन्द्र-कमल को और समस्त देवगणों को शत्-शत् प्रणाम करती हुई स्मृतियों का अटूट सिलसिला लिये हुए पहचाने हुए रास्तों से लौट चली।

—श्रीमहावीर उ. मा. महाविद्
सी. स्कीम, जयपुर (राजस्

□

तेरी याद : चांद-सी...

तेरी याद : चांद-सी ठंडी निश्चल क्यों

जब मिट्टी रंगे वे नक्श देखता हूं, या
अनंत और सितारों को
उनकी चमचमाती गर्दिशों में–

तेरा अहसास चांदनी-सा उगकर
मेरे मुल्क के खेतों में
फैलता है
पनपता है, पसरता है, और कटाई के
महलों के तहखानों में कैद हो,
तेरी बालियां
महलों में खो जाती हैं।

खलिहान तड़फते हैं,
मुल्क का पेट सुबकता है,
खेत का बेटा रोता है,
अनाज की कोख पर
ठंडी चांदनी पसर जाती है;
तेरी याद
ठंड में ठिठुरकर मर जाती है!

—नाद

—द्वारा सुखबीर, १९ बी, सन एं
बम्बई-४००

लीला बांदिवडेकर का एक परिचायक लेख

ग. दि. माडगूळकर की गीतरामायण

मराठी के प्रतिभाशाली कवि और गीतकार ग. दि. माडगूळकर की 'गीतरामायण' के पच्चीस वर्ष पूरे हो चुके हैं। पच्चीस वर्ष पूर्व ये गीत पूना आकाशवाणी केन्द्र से हर हफ्ते प्रसारित किये गये थे। इन गीतों को स्वरबद्ध किया था प्रख्यात गायक तथा संगीतज्ञ सुधीर फडके ने। ये गीत इतने लोकप्रिय हुए कि भारत की विभिन्न भाषाओं में अनूदित भी हुए और गाये गये। हाल ही में पूना में 'गीतरामायण' का रजतजयंती-महोत्सव मनाया गया। इसका वैशिष्ट्य यह था कि भारत की विभिन्न भाषाओं में गानेवाले गायकों को बुलाया गया था। दस दिनों तक यह समारोह चला और उसमें हिन्दी, बंगला, गुजराती, कन्नड, मलयालम्, तमिळ, अंग्रेज़ी आदि भाषाओं में 'गीतरामायण' को गाया गया। यहां प्रस्तुत है उसी 'गीतरामायण' का छोटा-सा परिचय।

कविमहर्षि स्वर्गीय रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा था कि 'रामायण सही अर्थों में भारत की मौलिक भाव-भावना की भागीरथी है।'

मराठी संतों में रामदास ने पूरी राम-कथा न प्रस्तुत कर केवल वही अंश पद्यबद्ध किया है, जो उस काल के संदर्भ में आवश्यक था। उन्होंने राम के समस्त व्यक्तित्व में केवल उसके युयुत्सु कोदंडधारी, रावण-विरोध करनेवाले वीर व्यक्तित्व का काव्यमय रूपायन किया है; क्योंकि उनके सामने मुगलों का

कि इन गीतों को सुनते हुए हम इस प्रकार से द्रवित हो उठते हैं, जैसे किसी ने हमारे मर्म को गहराई तक छू लिया हो।

'गीतरामायण' में समूची रामकथा छप्पन मधुर गीतों में गूंथी गयी है। इसकी रचना करते समय कथा-विस्तार उद्देश्य नहीं था। रामायण की कई महत्त्वपूर्ण घटनाएं जैसे निपुत्रिक दशरथ की व्यथा, पुत्रकामेष्टि यज्ञ, रामजन्म, वनवास, वालिवध, राम-रावण युद्ध, राज्याभिषेक, सीतात्याग प्रसंग 'गीतरामायण' में आते हैं। इन प्रसंगों को माडगूळकरजी ने मार्मिक शब्दों और भावाभिव्यक्ति के साथ, बदलते छंदों में इस ढंग से बांधा है कि जब सुधीर फडके (मराठी के मशहूर गायक) इन्हें तन्मयता से गाते हैं, तब प्रसंग के साथ श्रोता एकाकार होकर भावविभोर हो जाते हैं। संतानप्राप्ति के अभाव में तड़फनेवाली कौसल्या के ये शब्द :

उगा का काळिज माझे डले
पाहुनी बेलीवरची फुले

—लता पर डोलनेवाले पुष्प देखकर पता नहीं मेरा दिल व्याकुल होकर क्यों तड़प रहा है।

राम के पुनीत चरणस्पर्श से शापमुक्त होते ही अहल्या का हर्ष देखते ही बनता है। वह कहती है :

रामा चरण तुझे लागले
आज मी शापमुक्त जाहले

—राम तुम्हारे चरणस्पर्श से मैं आज शापमुक्त हो गयी।

सीता-राम विवाह का चित्र माडगूळकरजी ने कितने अचूक और सटीक शब्दों में उभारा है :

आकाशाशी जडले नाते धरणीमातेचे
स्वयंवर झाले सीतेचे

देवरूप आलौकिक राम और धरित्री-पुत्री लौकिक सीता के मिलन का बड़ी मधुरता से कवि ने वर्णन किया है। रावण के डराने पर क्रोधित महापतिव्रता सीता का क्रोध जंगल में लगी आग की भांति दहक उठता है :

नको करूस वल्गना रावणा निशाचरा
समूर्त रामकीर्ति मी, ज्ञात हे सुरासुरा !

समुद्र पर सेतु बांधते समय गाया गया 'बांधा सेतू सेतू बांधा रे सागरी' यह समूहगान जनसमूह की असीम सामूहिक शक्ति का प्रतीक है। राम-रावण युद्ध का वर्णन करते समय कवि की कलम भी तलवार की धार की तरह तेज बन जाती है।

'गीतरामायण' के ये गीत इस तरह श्रोताओं को विभिन्न रसों का आनंद देते हैं। एक-एक गीत में पात्र को साकार बनाने का अद्भुत कार्य माडगूळकरजी ने किया है। राजधर्म का पालन करनेवाले करुणाघन राम, आदर्श बंधु भरत, लक्ष्मण, रामभक्त हनुमान, भोलीभाली शबरी, निष्ठावान सुग्रीव, लालची शूर्पणखा, पराक्रमी, किन्तु अविचारी रावण आदि पात्रों को चंद पंक्तियों में साकार करके प्राणवान बनाना एक मुश्किल

कार्य था। लेकिन जिस प्रकार एक कुशल चित्रकार दो-चार आड़ी-तिरछी रेखाएं खींचकर उनमें चैतन्य भर देता है, उसी प्रकार कवि ने गीतों की चंद पंक्तियों में व्यक्ति-रेखाएं सजीव कर दी हैं। लेकिन कवि का सदा यही प्रयास रहा है कि पाठकों का पूरा ध्यान श्रीरामचंद्र की ओर ही केन्द्रित रहे। प्रकृतिप्रेमी राम, भरत को समझानेवाले तत्त्वचिंतक राम, रण में युद्धोत्सुक सुग्रीव को रणनीति का पाठ देनेवाले श्रीराम, युद्ध में विजयी होने के प्रति आश्वस्त होने पर भी युद्ध टालने के लिए मौका देनेवाले राजधर्मी राम, सीताजी की अग्निपरीक्षा लेनेवाले कर्तव्य-कठोर राम, इस तरह प्रभु राम के विविध मनोहारी इस छोटी-सी रचना में पाठकों को ... षित करते हैं।

'गीतरामायण' के कई गीत सु... वाक्यों की तरह ज़बान पर चढ़े ... हैं। अपराध बोध से ग्रस्त निरा... भरत को राम समझाते हैं:

दैवजात दुःखे भरता, दोष ना कु...
पराधीन आहे जगती पुत्र मान...

—दुःख तो दैवजात होते हैं, किसी... कोई कसूर नहीं होता। मानवपुत्र ... विश्व में पराधीन है।

सुखदुःखांकित जन्म मानवी
दुःख सुखावे प्रीती लाभता

—मानव जन्म तो सुख-दुःख से ... हुआ है। प्रीति की प्राप्ति से दुःख सह्य बन जाता है।

माडगूळकरजी के गीतों की विशे... है मार्मिक बिम्बयोजना। रामजन्म ... ही पूरी प्रकृति उल्लसित हो उठी।

पेंगुळल्या आतपात जागत्या कळ...
'काय काय' करित
पुन्हा उमलल्या खुळ्या

—खिलती कलियां जो धूप में झपकि... ले रही थीं रामजन्म होते ही क्या हु... क्या हुआ? कहते हुए जाग पड़ीं ... गयीं। इन पंक्तियों में एक खूब... दृक्चित्र उभारा गया है।

रामसीता स्वयंवर का यह वर्णन ... अर्थपूर्ण है:

नीलाकाशी जशी भरली उषःप्रभा...

तसेच भरले रामांगी मधु नुपुरस्वरताल

—नीले आकाश में जिस तरह उषा-काल की तेजपुंजा लालिमा भर जाती है, वैसे ही राम के अंग-अंग में सीता के नूपुर के स्वरताल भर गये।

अशोकवन में बैठी विरहिणी सीताजी को देखकर हनुमान कहते हैं:

मलिन कृशांगी तरी सुरेखा
धूमांकित की अग्निशलाका
शिशिरी तरि ही
चंपक शाखा
व्रतधारिणी ही दिसे
योगिनी

—मलिन कृशांगी होने पर भी वह सुंदर है। मानो धूमांकित अग्नि-शलाका हो या शिशिर ऋतु की पर्णविरहित चंपकशाखा हो। यह तो व्रत-धारिणी योगिनी लगती है।

लंकादहन करनेवाले हनुमान का वर्णन लव-कुश इस प्रकार करते हैं:

नगाकार घन दिसे मारुती
विजेपरी ते पुच्छ मागुती
आग वर्षवी नगरावरती

—हनुमान पर्वतप्राय बादल जैसे दिखते हैं। उनकी पूंछ बिजली की भांति पीछे लटक रही है और अग्निवर्षा कर रही है।

इस प्रकार विविध बिम्बों की योजना 'गीतरामायण' में करते हुए कवि ने अपनी अद्भुत क्षमता का परिचय दिया है। स्वयं माडगूळकरजी ने इन गीतों की रचना करते समय भावपूरित अंतःकरण से काव्य के प्रसंगों और व्यक्तियों के साथ तादात्म्यता अनुभव की थी। इसका कारण यह है कि माडगूळकर के समस्त व्यक्तित्व का निर्माण ही इन्हीं संस्कारों से हुआ है। एक ओर रामायण, महाभारत जैसे सांस्कृतिक ग्रंथों का भक्ति-भाव-पूर्वक पारायण, दूसरी ओर सामान्य लोक हृदय की पहचान, और इनके साथ माडगूळकर की प्रासादिक वाणी जिसमें सरलता, प्रवाह, स्पष्टता और अनुभव के अनुसार विविध रूप ले सकने की शक्ति का अपूर्व मणि-कांचन योग इन गीतों में हुआ है।

माडगूळकर ने इन गीतों में ज्ञान नहीं देना चाहा, जान-कारी नहीं देनी चाही सूचना देना या नूतन दृष्टि प्रस्तुत करना नहीं चाहा उन्होंने चाहा केवल अपने और अपने, जैसे लाखों पाठकों के हृदय में गहरे में छिपे भावों को उभारकर पिघला देना। और इसमें वे अद्भुत रूप से सफल हुए हैं।

'गीतरामायण' के विभिन्न गीत विशाल रामायण को चलचित्र के रूप में रखने की दृष्टि से लिखे गये हैं। इन गीतों में जिस तरह श्रुति-सुखदता का अद्भुत गुण है, उसी तरह इसके दृश्यचित्र भी भावों को मूर्त करते हैं। अनेक गीतों में नाट्य-मयता है। ऐसा लगता है कि कवि के व्यक्तित्व का, विशेषकर चलचित्र-सृष्टि के उनके प्रगाढ़ अनुभव का, समृद्ध परिणाम 'गीतरामायण' के रूप में महाराष्ट्र को उपलब्ध हुआ है।

हमारे भारतीय समाज में आज शिक्षित बुद्धिजीवी वर्ग जिस पाश्चात्य मूल्य और जीवन-पद्धति को अपना रहा है, उसमें परिवार-व्यवस्था के प्रति विद्रोह, अति-व्यक्तिवाद और उसमें से आयी हुई आत्मकेंद्रितता का प्राबल्य है। सेवा, त्याग, मानवीय संबंधों की उदात्तता और पवित्रता को तिलांजलि दी जा रही है।

ऐसी स्थिति में राम की कथा भारतीय संस्कृति के उन आदर्शों की ओर संकेत करती है, जिनके बल पर समाज हजारों वर्षों से टिका हुआ है। ऐसी स्थिति में हमारे डगमगाते विश्वासों और श्रद्धाओं को कुछ दृढ़ आधार देने का कार्य माडगूळकरजी की 'गीतरामायण' करती है। एक तरह से यह सांस्कृतिक पुनरुज्जीवन करने का काव्यात्मक प्रयोग है।

आज के भ्रष्ट होते जानेवाले साहित्यिक वातावरण में और राजनैतिक वायुमंडल में राम के जीवन का आदर्श सामान्य जनता अंतःकरणपूर्वक चाहती है। भारत की जनता का अंतःकरण आज भी संस्कारवान है, आवश्यकता है संस्कारवान साहित्यकारों की और नेताओं की। माडगूळकरजी ने अंत में वाल्मीकि द्वारा कहलवाया है:

रघुराजाच्या नगरी जाऊन
गा बाळानो श्रीरामायण।
मुनिजनपूनीत सदनांमधून
नराधिपांच्या निवासस्थानी।
उपमार्गातून राजपथातून
मुक्त दखळो तुमचे गायन।
नच स्वीकारा धना कांचना
नको दान रे नको दक्षिणा।
काय धनाचे मूल्य मुनिजना
अवघ्या आशा श्रीरामार्पण।

—रघुराजा के नगर जाकर, बालक तुम श्रीरामकथा का गायन करो। मुनिजनों के पुनीत घरों में, नराधिपों के निवासों में, उपमार्गों में, राजपथों में तुम्हारा गान मुक्त रूप से महकता रहे। धन तथा कंचन स्वीकार नहीं करना। न दान लेना न दक्षिणा। मुनिजनों के लिए धन का मूल्य कुछ नहीं होता। सारी आशाएं तो रामार्पण हैं।

—७, शाकुंतल, साहित्य सहवास, बांद्रा (पूर्व) बंबई-५१

□

० दरिद्र को तुम और क्या दोगे! तुम उसे तुमसे प्यार करने का अधिकार भी तो नहीं देते। —राबर्ट बेंसन

सुरेशव्रत राय का प्रासंगिक लेख

□

अमृतघट की खोज

वर्षा ऋतु समाप्त भी नहीं होने पायी, बांध के नीचे सावन-भादों की उफनती गंगा का जल जहां-तहां फैला है, इधर कुम्भ मेले की चर्चा आरम्भ हो गयी। सरकारी समितियां, बैठकें आयोजन, योजनाएं और सक्रियता। धर्मशास्त्रियों द्वारा घोषणा : यह १४४ वर्षों पश्चात लगने वाला विशिष्ट कुंभ होगा जिसका अपना माहात्म्य है। कुम्भ में एक दिन भी स्नान करने वालों को समुद्रमंथन से प्राप्त अमृत-कलश अवश्यमेव प्राप्त होगा। स्वर्ग के द्वार निर्बाध रूप से खुले रहेंगे। कल्पवास का तो कहना ही क्या! मेला अधिकारियों द्वारा लगभग ढाई करोड़ व्यक्तियों के आने का अनुमान है। धर्मशास्त्रियों द्वारा प्रस्तुत व्यवस्था का प्रचार और मेले की तैयारियां, दोनों साथ-साथ चल रही हैं। मन में कौतूहल है आखिर 'अमृतघट' क्या है, कहां है, कैसा है? मैंने भी संकल्प कर लिया है इस कुम्भ में 'घट' की खोज करनी है।

नगर में मेले की गहमागहमी शु हो गयी है। घर, दूकान, टी स्टाल विशाल कुम्भ मेले की चर्चा और अधि पुण्य बटोरने की तैयारी। हर दिन चारपत्र में मेले की तैयारी संबंधी लि अथवा प्रेस सम्मेलन रिपोर्ट प्रकाशि रही है जिससे माहौल बन रहा है। अतिरिक्त आकाशवाणी पर आये किसी न किसी अधिकारी द्वारा 'कुम्भ तैयारी का पूर्वाभास' वार्ता का प्रसा सारा नगर मेला क्षेत्र बन गया है। भीड़भाड़ में 'अमृतघट' की खोज ब कठिन लगती है।

अमृत कुम्भ की खोज में निकल हूं गंगा तट की ओर। प्रमुख स विभाग का शिविर कार्यालय ब है, शायद सूचना एवं पर्यटन विभा

डाकखाने के ठीक सामने। उच्चाधिकारी से 'अमृतघट' और मेले की तैयारी के संबंध में कुछ प्रश्न करने हैं परन्तु उनका रुख नितांत असहयोगपूर्ण, उपेक्षा और नौकरशाह वाला है। शिविर-भूमि और उसमें लगे शिविरों के अस्थायी जमींदार को चिंता है शिविर में आने वाले अभ्यागतों की व्यवस्था की। कौन होंगे अभ्यागत पता नहीं! मेला अधिकारी कार्यालय में मेला जैसी भीड़ और वदहवासी होनी भी चाहिये, वरना अंतर ही क्या रह गया अन्य शिविरों से। कुम्भ के साथ सैकड़ों धार्मिक, सामाजिक संस्थाओं का जन्म हो गया जिनके लेटरहेड या बोर्ड लेकर लोग जूझ रहे हैं मेला क्षेत्र में अधिकतम और सुविधाजनक क्षेत्र हथियाने के लिए जैसे। जिसका क्षेत्रफल जितना अधिक होगा उस बड़े पात्र में अमृत की मात्रा उतनी ही अधिक मिल जायेगी तथा संगम के निकटतम होने से अमृत शीघ्र मिल जायेगा। एक सज्जन आपे से बाहर हैं। 'वाह साहब, यह भी कोई बात है। कल्पवास के लिए जगह दी है संगम से कई मील दूर दारागंज में। वहीं रहना है तो फिर घर से ही आना-जाना हो सकता है। लाभ ही क्या 'कल्पवास' से ?' उनके बगल में खड़े सज्जन धीरे से बोले, 'अरे साहब, संगम तक पहुंचने की यह वैतरणी है। सरकारी पंडे को पटाइये, पूंछ पकड़ लीजिये, बस संगम क्षेत्र में पहुंच जाइये। नहीं तो फिर उस पार धर्मक्षेत्र और इस पार आप प्रयागराज के पंडों तक पहुंच ही न सकेंगे।'

चित्र : आलोक जैन

एक शिविर के सामने दर्शनार्थियों की भारी भीड़ दूर से देख रहा हूं। दरवाजे पर पड़ा परदा एक ओर खिसकता है और पलक मारते फिर बंद हो जाता है, जैसे भक्तों को ठाकुरजी के कुछ मंदिरों में झांकी दिखलाई जाती है, महज एक झलक। परदा हटते ही भीड़ में एकदम हलचल, शोर-शराबा, ठेलमठेल होती है और बंद होते ही फिर शांत। मुझे यकीन हो गया हो न हो इसमें जरूर 'अमृतघट' रखा है जिसके लिए भीड़ इतनी उतावली हो रही है। लपक कर पहुंचता हूं मैं भी—चलो हो गया 'अमृतघट' का दर्शन... परंतु यह तो है किसी अधिकारी का शिविर जिनका जनता दर्शन कर रही है। फिलहाल वही अमृत-कलश तुल्य हो गये हैं। मैं शिविर से निकल रहा हूं। कान में आवाज आती है एक ओर दूकानों की नीलामी बोली। हजारों की बोली हो रही है, मेला मुश्किल से दस-बारह दिनों का है, कितनी बिक्री हो

जायेगी जिसकी आश में हलवाई जैसी दूकान की नीलामी बोली हज़ारों की सीमा पार कर चुकी है। असीम पुण्य बटोरना है, काली सड़क, लाल सड़क, त्रिवेणी रोड, हनुमान मंदिर आदि के निकट की दूकानों का तो कोई हिसाब ही नहीं। कुछ दिनों में ही समाचार प्रकाशित हुआ–'मेले की दूकान में एक क्वेंटल से भी अधिक सड़ी मिठाई बरामद, जांच के लिए छापा !' रोंगटे खड़े हो जाते हैं। फिर समझ में आता है हज़ारों की नीलामी बोली बोलने वालों की शायद सड़ी-गली मिठाई बेंच कर थैली भरना ही 'अमृतकलश' हथियाने की परिकल्पना होगी। क्रमशः स्पष्ट होता जा रहा है, सभी की गृद्ध दृष्टि जमी है अपने-अपने ढंग से 'अमृतकलश' पर।

मेला क्षेत्र में चहलपहल हो गयी है, तैयारियां तेज़ी पर हैं। परंतु आरंभ होने में अभी कई दिन हैं। मेला आरंभ होने पर काफ़ी भीड़भाड़ हो जायेगी फिर तो कुम्भ का असली पुण्य 'अमृतघट' हाथ आने से रहा . . . बांध से नीचे उतर गया . . . गंगा द्वीप यानी समझ लें कुम्भ नगर की सिविल लाइंस। अत्यंत विशाल मंडप का निर्माण कार्य तेज़ी से चल रहा है। एक ओर दर्ज़ी मशीन से साटन के, रेशमी वस्त्र सिल रहा है। कर्मचारी साधुओं के लिए दूसरी ओर तीन जीपें खड़ी हैं। एक शामियाने के नीचे सिंहासन पर गेरुए वस्त्र में शायद महंत बैठे हैं। उनके निकट छोटी डेस्क पर डाक, लेटर हेड, मुहर, राइटर रखे कोई भक्त सचिव का कर रहे हैं। एक-एक पत्र पढ़कर मु हैं। पत्रों में है–'मुझे अमावस्या चार दिनों के अथवा फिर १५ दि लिए रावटी चाहिये। मनीआर्डर भेज है, अथवा कितने रुपये भेजने हैं ?' वश मेरा भेजा लिफाफा भी डाक परंतु रावटी, रहने के स्थान की वर्तमान परिप्रेक्ष्य में साधु समाज भूमिका तथा योगदान संबंधी बा के लिए समय लेने हेतु मैं गौर रहा हूं अर्थप्राप्ति प्रधान पत्रों को अन्य सभी पत्रों को महंत नीचे रखी की टोकरी में डालने का निर्देश दे मेरा अनुमान ग़लत नहीं था क्योंकि आज तक अपने पत्र का कोई उत्तर मिला। पता नहीं इन लोगों को भूमि अन्य सुविधाएं निःशुल्क अथवा ना किराये पर यजमानों से व्यापार के दी गयी हैं। अमृत वितरण का कुछ तो होना ही चाहिये। इस बीच मनी की गड्डी लिये डाकिया आता है। आर्डर प्राप्ति के पश्चात महंत डाकि पांच रुपये का नोट पकड़ा रहे हैं। भीरु डाकिया लेना अस्वीकार कर 'महाराज जी, यह हम लोगों का का बख्शीश लेना पाप है।' एक चेला बो है, 'अरे बच्चा, महाराजजी को पाप का उपदेश देने चला है ! यह बख्शीश महाराजजी का 'प्रसाद' है। अभी

चालू नहीं हुआ। इसे ले और अपना रास्ता नाप।' अत्यंत श्रद्धापूर्वक चरण स्पर्श करके डाकिया चला जाता है।

पुण्य बांटने वाली इस थोक दूकान को छोड़कर अब मैं एक दूसरे शिविर में हूं। कोई साधु-महात्मा हैं। अभी बोर्ड नहीं लग सका है। भक्तों की अच्छी खासी भीड़ है। विशेषता यही है कि धनी मोटर वाले भक्तों को वह पास बुलाकर चरण स्पर्श करने दे रहे हैं, आशीर्वाद दे रहे हैं और सामान्य भक्त क्रमशः दूर और निर्धन परंतु निष्ठावान भक्त काफी दूर... उनके आगे बढ़ने के पहले ही आवाज लगा देते हैं-'ठीक है। ठीक है। वहीं खड़े रहो, प्रसाद पहुंच जायेगा।' एक निर्भीक एवं साहसी महिला आगे बढ़कर प्रश्न कर देती है-'महराजजी, ई तो भगवान का दरबार है जहां सब बराबर होना चाहिये। यहां पैसा वालों के साथ ऐसा व्यवहार और साधारण भक्तन को दूर-दूर कइसन लीला है?' इस अप्रत्याशित निर्भीक प्रश्न से एक मिनट के लिए तो महात्माजी के चेहरे का रंग उड़ गया परंतु दूसरे ही क्षण अपने को संभाल लिया और बोले-'देवी, जिसे भगवान ने बड़ा बना दिया है उसे तो हमें विशेष आदर देना ही पड़ेगा, ऐसा न करें तो भगवान की इच्छा का अनादर होयेगा।' इस तर्क का उत्तर भला क्या हो सकता है? फिर तो 'अमृत' इन बड़े लोगों को ही मिलना चाहिये।

थोड़ी दूर पर ही टीन की चादरों से घिरा और छाया एक लंबा-चौड़ा शिविर है। शिविर के भीतर ईंट की सड़कें, पंक्तिबद्ध पुष्पयुक्त गमले, टिन शेड के कमरों के दरवाजों पर लटकते परदे, टेलीफोन, फूस की कुटिया में तापसी, संयम प्रधान जीवन व्यतीत करते हुए पूरे मास कल्पवास प्रधान मेले में आधुनिकतम सुविधा संपन्न शिविर एक अजीब विरोधाभास है। पता लगता है यह है अति विशिष्ट व्यक्तियों का अर्थात् वी. आई. पी. कैम्प जो सन १९५४ के कुम्भ से ही प्रचलित हो चुका है। कुम्भ जैसे मेले का यदि कोई विशिष्ट व्यक्ति हो सकता है तो संत शंकराचार्य राजसी वैभव से मुक्त, जिनके चरणों में देश की सर्वोच्च सत्ता भी श्रद्धानत होती है। परन्तु अब तो घोर कलियुग है। सारी रीति-नीति मान्यताएं उलट गयी हैं। विशिष्टजनों का अर्थ है सत्ता सिंहासन पर आसीन जन और उनकी विशिष्टता का निर्धारण कुर्सी की ऊंचाई के अनुसार। इस विशिष्ट शिविर की विशेषता... आधुनिकतम उपकरण, सुविधा संपन्न ऊपर से। भीतर प्लाईवुड, जूट कार्पेट, रबर मैट, कालीन, सोफे, पलंग, डनलप कुशन पिलो (गद्दे तकिये), डाईनिंग फर्नीचर की सहायता से बनाया बालू पर आधुनिकतम बंगला। भीतर टेलिवीज़न, रेडियो, फ्लश ट्वॉयलेट रूम, गर्म पानी का नल, शिविर के सामने विशिष्टजनों के लिए विशेष घाट और नौकाएं, मोटरबोट, पुलिस सेवकों

(शेषांश पृष्ठ १३९ पर)
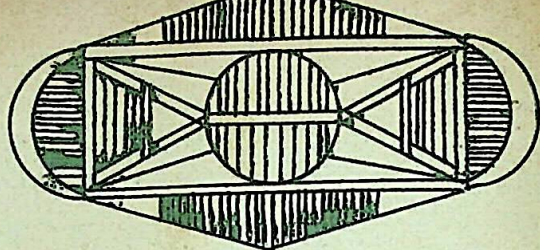
डॉक्टर डी. एन. खुशालानी का गुह्य वैज्ञानिक लेख

□

ब्रह्माण्डीय किरण-विज्ञान चिकित्सा

०

ब्रह्मांड किरण चिकित्सा-विज्ञान (कॉस्मिक रे थेरपि) उतना ही पुराना है, जितना ज्योतिष विज्ञान। बंगाल के डॉ. विनयतोष भट्टाचार्य को इस चिकि... विज्ञान को, जिसके द्वारा चिकित्सक, रोगों को देखे बिना, उसका इलाज कर सक... आधुनिक स्वरूप प्रदान करने का श्रेय प्राप्त है।

०

प्रकृति के रहस्यों को उद्घाटित करने का मानव का प्रयास अभी तक जारी है। ब्रह्माण्ड किरण चिकित्सा-विज्ञान ऐसा ही एक प्राकृतिक रहस्य है। मानव के लिए जन्म और मृत्यु, सुख और दुख, प्रेम और घृणा, गुरुत्वाकर्षण, विद्युत् और चुम्बकत्व के नियमों से जकड़ा जीवन सबसे बड़ा रहस्य है।

घटाव, फैलाव, संगठन और विलोपन की प्रक्रिया से प्रकृति संतुलन और सम्बद्धता स्थापित करती है। आदि काल से हिंदू दार्शनिकों ने शाश्वत मूल्यों पर आधारित मूलतत्त्व को चीन्हने का प्रयास किया है, और इस प्रयास से उन्होंने यह जाना कि छोटे से छोटा परमाणु भी सारे ब्रह्माण्ड जितना विशाल और ... है। वेदों में, जिनमें ऋग्वेद का ... सर्वोपरि है, हिन्दू मनीषियों के इन ... के निष्कर्षों का वर्णन मिलता है।

ज्योतिष ने, जिसे उसकी ख्याति... कारण 'विज्ञानों का विज्ञान' कहा ... है, ब्रह्मांड किरण चिकित्सा-विज्ञान... व्यवस्थित किया है। मगर उसे आ... बनाने, और आधुनिक विज्ञान ... धारणाएं प्रदान करने का श्रेय है ... विनयतोष भट्टाचार्य को, जिन्होंने ... मत की पुनर्स्थापना की कि सूर्य ही ... पर जीवन का मूल स्रोत है।

सूर्य की किरण में वे ही सा... पाये जाते हैं, जो हमें इन्द्रधनुष में ...

शीर्षस्थ चित्र : आलोक जैन

को मिलते हैं। ये रंग हैं : बैंगनी, नील, आसमानी, हरा, पीला, नारंगी और लाल अल्ट्रा-वायलेट और इन्फ्रा-रैड को भी शामिल कर लिया जाये, तो उनकी संख्या नौ हो जाती है। इन नौ रंगों को ही नव-रत्नग्रहों के नाम से जाना जाता है, जिनके नाम ऊपर दिये गये रंगों के क्रम में शुक्र, वृहस्पति, बुध, मंगल, चन्द्रमा, सूर्य, राहु, और केतु हैं। प्रकृति के पांच तत्वों–ईथर, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी को ही पंच-महाभूतम् के नाम से जाना जाता है।

जीवन की रचना का काम पंच महाभूतों के माध्यम से कार्य करने वाले नव ग्रहों अथवा नव वर्णों का है। ब्रह्मांडीय वर्णों की कमी अथवा उनके आधिक्य से ही विभिन्न रोगों का जन्म होता है। ज्योतिष में उसे ग्रहों का कुप्रभाव कहा जाता है। प्रत्येक ग्रह का अपना मणिभ होता है, जो उसके वर्ण का विकिरण करता है। प्राचीन काल में, विकिरण के प्रथम प्रयोग मंदिरों में किये गये थे, और आगम-शास्त्रों में उनका वर्णन मिलता है।

मंदिर की मूर्तियों के नीचे, विभिन्न मणियों को इस प्रकार व्यवस्थित किया जाता था कि वे विकिरण के विशिष्ट अथवा जातिगत प्रभाव उत्पन्न कर सकें। मंदिर जाने वाले दर्शनार्थी का शरीर मूर्ति के नीचे से प्रवाहित होते विकिरण का अवशोषण कर लेता था, और उसके रोग क्रमशः दूर हो जाते थे। अलग-अलग रोगों के लिए अलग-अलग मंदिर निश्चित थे। रोगी को उसके लिए निर्धारित मंदिर में कितने समय तक जाना चाहिये, यह भी निश्चित था। इस प्रकार, रोगोपचार के लिए मंदिरों का प्रयोग आरंभ हुआ।

दूसरी विधि थी–अंगूठियों, लटकनों तथा अन्य आभूषणों में मणि लगाकर उन्हें धारण करने की। मणियों के माध्यम से शरीर वांछित किरणों का अवशोषण कर सकता है। एक अन्य विधि थी–'सूर्य-नमस्कार' द्वारा सीधे सूर्य के विकिरण को शरीर में पहुंचाने की। यह सब विधियां आज तक प्रचलित हैं, मगर उनका प्रभाव बहुत धीरे-धीरे होता है।

बाद में एक और विधि प्रचलित हुई, जिसके अन्तर्गत रोगियों को विशेष कक्षों में जहां रोगी के सर के ऊपर से सूर्य की किरणों द्वारा विशेष रंगों के विकिरण की खास व्यवस्था होती है, खास रंगों के समक्ष अभिदर्शित किया जाता है। मगर,

इस विधि में रोगियों को काफ़ी असुविधा होती थी।

डॉक्टर विनयतोष भट्टाचार्य ने आगम-शास्त्रों के सिद्धांतों को अपनाकर, एक नयी विधि का अविष्कार किया। इन्हीं सिद्धांतों के आधार पर, इस विज्ञान के अनुयायियों द्वारा ज्ञान नगर में एक सौर-चिकित्सागृह की स्थापना हो चुकी है। सोचा गया कि इन्हीं सिद्धांतों का प्रयोग रोगी के छायाचित्र पर क्यों न किया जाये?

डॉक्टर भट्टाचार्य ने मूल संस्कृत में 'सादम माला' का अध्ययन भी किया, और बाद में अंग्रेज़ी में उसका अनुवाद भी किया। इस अध्ययन से उन्होंने यह आश्चर्यजनक खोज की कि जब तक रोगी जीवित है, तब तक उसके छायाचित्र में 'जीवन' रहता है। इतना ही नहीं, वह छायाचित्र रोगी पर प्रकाश का विकिरण सफलतापूर्वक प्रक्षेपित कर सकता है, यह भी उन्होंने खोज निकाला। इन खोजों के बाद, उन्होंने रोगोपचार के लिए रोगी के स्थान पर उसके छायाचित्र का, जिसमें उसका चेहरा स्पष्ट दिखायी देता हो, प्रयोग करना आरंभ किया।

मंदिरों की व्यवस्था की भांति, छायाचित्रों को भी पेटिका में एक ओर उसी प्रकार व्यवस्थित किया जाता है, ताकि वे विकिरण के इच्छित प्रभावों को उत्पन्न कर सकें। विकिरण का प्रक्षेपण टेलिविज़न के प्रक्षेपण के सिद्धांत पर आधारित होता है।

डॉ. भट्टाचार्य ने ब्रह्मांड किरणों [illegible] रोगोपचार की जो प्रणाली विकसित [illegible] है, उसमें छायाचित्र के नीचे एक विशि[illegible] वर्ण का विकिरण करने वाली मणि [illegible] जाती है। एक इलेक्ट्रानी [illegible] के सामने रखे छायाचित्र पर उस विकि[illegible] टेलिविज़न के इस सिद्धांत के आधार [illegible] कि प्रेषक-मीटर और अभिग्राही-[illegible] एक होना चाहिये, छायाचित्र पर [illegible] रहे प्रकाश का प्रक्षेपण उस व्यक्ति [illegible] होने लगता है जिसका छायाचित्र [illegible] के सामने रखा गया था। इस विधि [illegible] छायाचित्र का तरंग-दैर्घ्य उस [illegible] के तरंग-दैर्घ्य के समान होने के कार[illegible] विकिरण का समरूप प्रभाव होता है।

दिक्काल का विलोपन

रेडियो ध्वनि है, और टेलिवि[illegible] प्रकाश, और चूंकि प्रकाश का वेग [illegible] के वेग से अधिक होता है, इसलिए [illegible] के छायाचित्र पर प्रकाश का प्रभाव [illegible] तेज़ होता है। इस विधि में, डॉक्ट[illegible] लिए दिक्काल का विलोपन हो जाता [illegible] और कलकत्ता में बैठा डॉक्टर [illegible] अमरीका या दुनिया के किसी भी [illegible] के रोगी का इलाज कर सकता है।

यह विधि तभी सफल हो सकती [illegible] जब रोग-निदान अचूक हो। [illegible] लिए चुम्बकत्व को चुना गया। [illegible] यह था कि पृथ्वी स्वयं एक बड़ा चुम्[illegible] है, और उसमें अनेक चुम्बकीय [illegible] हैं। इन क्षेत्रों में रहने के कारण [illegible]

चुम्बकीय शक्ति के माध्यम से अपने रोगों को वेहतर जान सकते हैं।

चुम्बकीय शक्ति न तो स्व-निर्देशित है, न स्व-प्रणोदक। उसका सिद्धांत यह है कि सूक्ष्म स्थूल को नियंत्रित रखता है, और इस विधि में चिकित्सक की आध्यात्मिक शक्ति, वांछित परिणामों का नियंत्रण करती है। यह शक्ति जितनी अधिक होगी, परिणाम उतने ही वेहतर होंगे।

प्रकाश के माध्यम से प्राप्त सूचनाएं

डॉक्टर भट्टाचार्य ने सर्वप्रथम जिस विधि का अविष्कार किया, उसमें एक स्थायी चुम्बक-पेटिका होती है। पेटिका में एक विशिष्ट क्रम के अनुसार, ५०००-गॉस शक्ति वाले, 'यू' आकार के कुछ चुम्बक, रखे जाते हैं। चुम्बकों के ऊपर जो शीशे का ढक्कन लगा होता है, उसमें रोगी का चित्र रखा जाता है। चित्र के साथ उसके रोग का विवरण दर्शाने वाली कुछ तालिकाएं भी रहती हैं। छायाचित्र के ऊपर एक पेण्डुलम घूमता रहता है। यह पेण्डुलम तालिका के उस विशिष्ट रंग की ओर इंगित करता है जो रोगोपचार के लिए चिकित्सक उचित रूप में चुनता है।

इस विधि द्वारा रोगोपचार आरंभ होने पर, चित्र सूचनाएं चिकित्सक को प्राप्त होती रहती हैं: शरीर का कौन-सा तत्त्व प्रभावित है? उसका प्रतिशत क्या है? चिकित्सा में अनुमानतः कितना समय लगेगा? इलाज सिर्फ़ विकिरण से ही हो सकता है, या उसके लिए मणि के प्रयोग की आवश्यकता भी होगी? विकिरण के लिए किस रंग या किन रंगों की आवश्यकता होगी? आदि।

इस विधि का विकास करके, एक विद्युत्-चुम्बकीय पेटी का निर्माण किया गया है, जो प्रकाश के माध्यम से आवश्यक सूचना प्रदान करती है। प्रयोगों से पता चला है कि ये सूचनाएं काफ़ी अचूक होती हैं। आवश्यक सूचनाएं देने के अलावा, यह पेटी उपचार-सम्बन्धी निर्देश भी देती है।

हमारे शास्त्रों में उपचार की तीन विधियां बतायी गयी हैं: मणि, मंत्रम्, और औषधम्।

मणि: हमारे पूर्वजों ने रोगोपचार के लिए मणि या ब्रह्मांड किरण चिकित्सा-विधि को सर्वोच्चता प्रदान की है। कालांतर में, अज्ञानवश लोग इस विधि को भूलते चले गये। डॉ. भट्टाचार्य ने अब पुनः इस चिकित्सा-विधि का प्रचलन आरंभ किया है। उनकी टेलिथेरपि कॉस्मिक रे इन्स्टीट्यूट कलकत्ता में है, और मद्रास, बंगलौर, बेलारी, सूरत आदि स्थानों में उसकी शाखाएं हैं। इस चिकित्सा-विधि का अन्य चिकित्सा-विधियों से कोई विरोध नहीं है, उल्टे इसके प्रयोग से अन्य चिकित्सा-विधियों का लाभ ही होता है।

चमत्कारिक जेब-घड़ी

हाल ही में अमरीका में आयोजित

एक अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलन में, विश्व के सब देशों से आये डॉक्टरों और शल्य-चिकित्सकों ने यह मत व्यक्त किया कि सन २००१ तक शायद ही कोई अस्पताल शेष रह जाये, क्योंकि ब्रह्मांड किरण चिकित्सा-विधि से न केवल हर प्रकार के रोगों का सफल उपचार हो सकेगा। इतना ही नहीं, इस चिकित्सा-विधि से चिकित्सकों को आने वाले रोगों की पूर्व-सूचना भी प्राप्त हो सकेगी। इस चिकित्सा-विधि पर आधारित 'बायो-स्कोप' नाम की एक जेब-घड़ी का स्विट्ज़रलैण्ड में निर्माण भी आरंभ कर दिया गया है।

चित्र : आलोक जैन

यह जेब-घड़ी साधारण घड़ी के समान तो चलती ही है, उसमें चार अन्य डॉयल भी हैं—रूबी, नीले, हरे और सफ़ेद मणियों वाले। यदि घड़ी की रूबी मणि जगमग है, तो इसके अर्थ हैं कि घड़ी पहनने वाले व्यक्ति का स्वास्थ्य एकदम ठीक है, इतना ठीक कि वह चाहे तो ओलिम्पिक खेलों में भी भाग लेकर स्वर्ण-पदक जीत सकता है। यदि घड़ी की हरे रंग की मणि जगमग है, तो उसकी बुद्धि श्रेष्ठ स्तर की है। नीले रंग की मणि के जगमग होने के अर्थ हैं कि वह व्यक्ति व्यापार में अपार सफलता प्राप्त करेगा। और यदि सफ़ेद रंग की मणि जगमग है, तो इसके अर्थ हैं कि वह व्यक्ति रोगी है।

ब्रह्मांड किरण चिकित्सा-विज्ञान को लेकर बहुत से वैज्ञानिक शोधरत हैं।

मंत्रम् : इस विधि का प्रयोग वे व्यक्ति ही कर सकते हैं, जो आध्यात्मिक दृष्टि से काफ़ी उन्नत हैं। इस विधि में मंत्रों द्वारा प्रति... किये गये तावीज़ों का प्रयोग किया जाता है।

जून, १९७३ ... 'द एस्ट्रोलॉजिकल मैगज़ीन' में ... लेख प्रकाशित हुआ था जिसमें यह ... गया था कि ... के प्रयोग से ... केवल रोगों से मुक्ति, मुकदमेबाज़ी ... भी सफलता पायी जा सकती है।
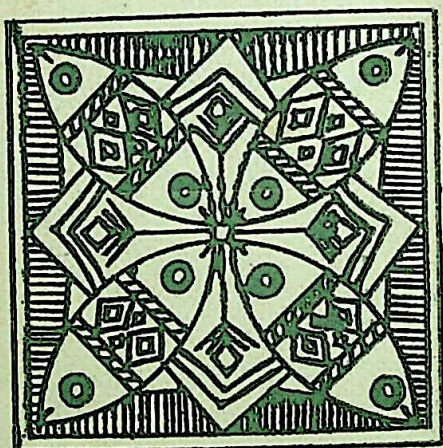
औषधम् : इस विधि में एलोपैथी, आयुर्वेद, होम्योपेथी, यूनानी आदि ... चिकित्सा-विधियों का समावेश हो ... है। ये सब विधियां रोगों के इलाज ... आंशिक रूप से ही सफल हो सकती ... सौ फीसदी सफलता ब्रह्मांड ...

(शेषांश पृष्ठ १४२ पर)

रज्जन त्रिवेदी की हिन्दी कहानी

□

न टूटने वाले टुकड़े का जन्म

सारा घर चुप है। लगता है, इसे कोई बांध गया है। सारी हलचल को समेटकर सुबह की खूंटी पर टांग गया है। कहीं कोई हिलना-डुलना तक नहीं, सभी चुप दिखाई पड़ रहे हैं। मां भी भगवान वाली कोठरिया में बांह में सिर धरे पड़ी हुई हैं। मुन्नी पढ़ने के लिए बैठी है, लेकिन जब से वह किताब खोले बैठी है, पन्ना वहीं का वहीं है। एक भी पन्ना आगे नहीं बढ़ पा रहा है। हर पंक्ति लगता है चुप हो गयी है, आंखें भी वहीं की वहीं घूमते ठहर गयी हैं, अंगुलियां तक पन्ना बदलने से इंकार किये हुए हैं। सबसे छोटा मुन्ना तो इस तरह छत देखते हुए पड़ा है मानो सबसे बड़ा वही अपराधी है, इस कांड का वही दावेदार है। छत की एक-एक कड़ी गिने डाल रहा है। फफूंद को देखकर जीभ ऐंठाना चाहता है पर वह भी रुक जाती है आधी ऐंठकर, आंखें भी अपनी हलचल कभी-कभी लगता है रोक बैठी हैं। जाले के उस पार मकड़ी चुप है, इस पार छिपकली भी चुप है।

हर जगह धूल के फाहे रखे हुए दिखाई पड़ रहे हैं। सिर के नीचे हथेली कितनी-कितनी देर को रखी रह जाती है, बाद को छाती पर हाथ कितनी खामोशी से आ जाते हैं। लोटे, गिलास, टेबल, सोफा, झाड़ू, चटाई, परदे, चूल्हा, रेडियो, मजीरा,

सुमरनी, गाय, बछड़ा सभी जहां के तहां खड़े लग रहे हैं। जैसे वे अपना-अपना काम, उपयोग सब भूल गये हैं। वे घर के बाहर तो हैं नहीं, घर के साथ वे भी सहम से गये हैं।

बनियान और पैजामा पहने श्रीधर पढ़ाई की टेबल पर बैठा हुआ है। कभी वह अपने बालों के बीच अंगुलियां उलझा लेता है, कभी हथेली पर दायें हाथ की मुक्की ज़ोर से मारकर दरवाजे की ओर देखने लगता है। जब भी घर में ऐसी घटनाएं होती हैं, हर तरफ इसी तरह की हालत, खिचाव, सन्नाटा फैल जाता है। हर चीज़ खामोश लगने लगती है। जैसे खामोश ही अपराध की चादर है, जो उसे ढंकती है। पिताजी के व्यवहार से उसे हरदम शिकायत रही है। जब भी उसने पिताजी से कोई बात कही है, उन्होंने सुनने, समझने की जगह तिरस्कार दिया या फिर ऊंचा बोलने लगे हैं और अपनी बात मनवाने के लिए, रखने के लिए बुरी तरह से चिल्लाने लगे हैं, याने वे जो कुछ कहते हैं वही सही है, अंतिम है, तुम सिर्फ सुनो, सहो—बस।

वह कह भी चुका है, कमज़ोरी आदमी को ज्यादा उत्तेजित करती है, चाहे वह शारीरिक हो वहीं मानसिक अथवा बौद्धिक क्यों न हो। आदमी को बात समझ लेना चाहिये, फिर कुछ कहना या करना चाहिये। बराबरी की औलाद हो जाये तो उसे दोस्त समझना चाहिये, उसकी उपेक्षा नहीं। घर में उसके महत्व को समझा[illegible] चाहिये, सलाह-मशविरा लेना चाहि[illegible] जिद्द घर तोड़ती है, दिमाग के दरवाजे[illegible] करती है। इसे भी वे अपने पर चोट[illegible] बैठे थे।

रात को क्या आया, क्या रखा[illegible] उसे उसका बिलकुल अंदाज़ नहीं था।[illegible] चाय पीकर जैसे ही पढ़ने की टेबल[illegible] आया तो मुन्ने ने आकर गरम कोट[illegible] दिखाते ज़रा उत्साह से कहा, 'भैया,[illegible] पिताजी को उनके मालिक ने सरदियों[illegible] लिए यह गरम कोट दिया है। मा[illegible] अभी भी पिताजी की बड़ी इज्जत[illegible] हैं। लिखा-पढ़ी के काम से अलग हो[illegible] के बाद भी वे पहले ही जैसा मानते[illegible] पंडिताई में उन्हें मिलता ही क्या है?[illegible] पिताजी के नहीं तो आपके पहनने के[illegible] आ ही जायेगा।'

मुन्ने ने बात बड़ी खुशी से कही[illegible] लेकिन भीतर उसे डर भी था, जि[illegible] अतिरिक्त उत्साह से छिपाकर कह[illegible] था। इस ढंग की बात भैया के[illegible] गुनाह है। दो-तीन सरदियों से पि[illegible] ठंड से बीमार होते रहे हैं, लेकिन गरम[illegible] नहीं आ पाया। वह सब चाहकर[illegible] ट्यूशन के पैसों से भी कोट नहीं जुटा[illegible] था। सारे पैसे दवा-दारू या घर की ज़[illegible] में खर्च हो जाते थे। उसने काम कर[illegible] कभी हार नहीं मानी। वह पिता[illegible] मालिक के यहां से रिटायर्ड होने के[illegible] उनकी पंडिताई से परहेज नहीं करता[illegible]

एक्टिव रहना कुछ न कुछ देता ही है। लेकिन पिताजी के बार-बार झुकने या छोटे होने वाले कृत्यों से वह दुखी हो जाता रहा है। छोटा न होना पड़े इसीलिये वह बराबर ट्यूशनें पार्टटाइम बही-खाते आदि का काम अपनी पढ़ाई के साथ करता रहा है। एम. एस-सी. के अंतिम वर्ष के बाद वह कहीं न कहीं लेक्चरर हो ही जायेगा। पी. एच-डी. बाद को होती रहेगी। पिताजी समझते नहीं, अपने विश्वासों, को आचरणों को झुठलाया जाना बिलकुल पसंद नहीं करते। दी हुई भेंट या उपकार कहीं न कहीं झुका रहे हैं या झुकने के लिए वह सब हो रहा है। यह हमेशा झुकते रहने का सिलसिला कब टूटेगा? हमें बुरी तरह से तोड़कर, रौंद देने के बाद!

वह अभी सोच ही तो रहा था कि सभी कुछ उसके सामने अपने को दुहराता-सा लगने लगा। वह अपने को कहां रोक पाया था, 'पिताजी, आप कब तक इस तरह भीख लेते रहेंगे। इस तरह से उपकृत हो जाना, हम सभी को छोटे आदमियों के बीच ले जाकर खड़ा कर देना है। हम सब मेहनत करके जुटाते हैं। आपने अपनी मेहनत का सही रिटर्न पाया है या खैरात ही पायी है? मुझमें मेहनत बोलती है, पिताजी। विश्वास पैदा करती है, मेरा विश्वास बन गयी है। लेकिन मैं देख रहा हूं आपका इस तरह झुकना, मांगना या अनुदान को ग्रहण कर लेना हमारे विश्वास को, मेहनत को तोड़ जाता है। हममें विश्वास का जो समूचा व्यक्तित्व बनने लगता है, उभरने लगता है, वह आपकी हरकत से टूटने लगता है। हम टुकड़े-टुकड़े होकर बिखर जाते हैं। हर बार पाने के लिए टूटना, हम लोगों को कब उठने का पाठ सिखायेगा? कब?'

कहते-कहते वह ज़रा रुक गया और ओठों पर जीभ फिराते हुए बोलने लगा:

'आपका गरम कोट लाना मालिक के आगे फिर नतशिर होना नहीं है? आपकी ही दया पर जीते हैं, कहते रहना बड़ों के आगे हमेशा-हमेशा को उठने से अपने को रोकना नहीं है? मैं घर की या आपकी ज़रूरतों को पूरा करने के लिए कोई कमी रखता हूं? फिर इसीलिये दिन-रात जुटा रहता हूं, खटता रहता हूं कि पिताजी को या हमें टूटना पड़े? हमारे और टुकड़े हों.. न हों.. लेकिन पिताजी, आप अपने संस्कारों को झकझोर नहीं पाते, आप कभी इस दलन से बाहर आने की सोच ही नहीं पाते, सपना नहीं देख पाते।'

जब वह बोलने लगा था तो दुबारा एक ही सांस में बोल गया था। मां दरवाज़े पर आकर खड़ी हो गयीं। मुन्नी उसकी बात ध्यान से सुन रही थी और मुन्ना डर गया था। उसके माथे पर पसीने की बूंदें झलक आयी थीं। वह भी ओठों पर बार-बार जीभ फिराने लगा था। पिताजी पोथी-पत्रा समेटने लगे थे या समेटने का अनुभव करने लगे थे। बाहर बछड़ा लगा चौकन्ना हो गया है, उत्पात मचा चला था। उसने

लार गिटकते हुए गले को तर करना चाहा था, उसे लगा वह साफ कह दे—पिताजी, चुनौती अस्तित्व की सीधी पहचान पैदा करती है, पस्त हौसलों को, दया के क्षणों को, आभार की स्थितियों के हर टुकड़े को समेटने की बेदी प्रदान करती है।

यह कहने की जगह वह रुक गया, पर उसे लगा था अगर वह रुकता है तो पिताजी फिर पितृत्व पहनाने लगेंगे। वह सिर झटककर कहने लगा :

'मालिक ने जब भी हम पर इस तरह की अतिरिक्त दया बतायी है, तो किसी न किसी बहाने या तरीके से वसूल कर ही लिया है। तब हम सब नासमझ थे, फुसलाना, पुचकारना, शाबाशी देने का मतलब नहीं जानते थे। अब समझने लगे हैं, उन सारे व्यवहारों को। उनका मिठाकर बोलना मातहत की सेवा को अलग से अपने लिए काम में लाना नहीं रहा है? मीठे बोल मेहनत की कीमत हो सके हैं या ठगने की? उस मेहनत के लिए मालिक ने अलग से क्या दिया? बाप के मरते समय गाय दान कर दी, आप घर ले आये। मालिक ने सोचा भी कि घर में पांच प्राणी पहले ही से हैं, इससे एक नहीं दो प्राणी और ठूंसे जा रहे हैं—इनकी जीविका का क्या होगा? उन्होंने तो बाप के धर्म का, स्वर्गारोहण का मार्ग प्रशस्त कर लिया, लेकिन यहां कितनी आफत ला दी, ज़िंदगी के रास्ते को संकरा बना दिया। पिताजी, आप अपने धर्मप्राण आचारण पर चलते रहे। मुन्नी और मैं एक-एक टाइम रहकर गाय और बछड़े की भूख का इंतजाम करते रहे। यह दान क्या हमारे की व्यवस्था को तोड़ने नहीं आ गया?'

बोलते-बोलते उसने पिताजी की ओर देखा था, लगा उनका चेहरा सपाट होने की लड़ाई शुरू कर चुका था। वे कुछ कहना ज़रूर चाह रहे थे, पर मेरे बोलने के ढंग के आगे चुप-से थे। उनका चेहरा खिंचने लगा था, और मैं फिर चालू हो गया था :

'मुन्नी का भूखा चेहरा भाई को दिखाई देता था? जूठन, अनाज के बचाये... गाय को ज़रूर जिला रहे थे, लेकिन... नहीं तोड़ रहे थे? हमारे अस्तित्व... यह फुसलाकर तोड़ा जाना नहीं था... हमारे इन टुकड़ों से मालिकों को क्या... हुआ है? जब तक हमारे इस तरह... किये जाते रहेंगे हम कभी नहीं बढ़ सकें... दान उन्हें बड़प्पन भले देता हो पर... लोगों को छोटा और स्तरहीन ही... जाता है। उसे ग्रहण करने में हमारा बढ़... उभरता व्यक्तित्व फिर-फिर टूट जाता... टूटता रहेगा। इसके साथ यह भी... दिया गया कि पंडित, तुम या तुम्हारी बिरादरी, अभी ग्रहण करने से ऊपर... हुई है। तुम सभी इसी तरह पा... जीवित रहते रहोगे, तुम्हें जीवन... जाता रहेगा। अपना जीवन हम... जियेंगे, पिताजी?'

उनके चेहरे पर लाली सिमटने...

थी। सपाट चेहरे पर रेखाओं का युद्ध शुरू हो गया था, भौंहों का बार-बार खिंचना, जबड़ों का चबाया जाना, नथुनों की कमान का रह-रहकर उभरना, कनपटी तक कई बार हाथ ले जाना; वहां होने वाली सनसनाहट को बंद करने की कोशिश करता लग रहा था। मुझे लगा, हमेशा पितृत्व पहनाने वाली पीढ़ी अभी तो निरुत्तर है, फिर क्यों रुका जाये, डांट और तीखे तेवर कब तक सहे ? सच का महंगापन भीतर अब अनुमानित होने लगा होगा। अबकी वह जरा ऊंची आवाज़ में फिर बोलने लगा था :

'इस तरह के एहसान आदमी को झुकने की, झुकाये रखने की लाचारी देते हैं, पिताजी। इससे हम अपनी कर्मशक्ति को ढंक जाते हैं, अनजाने में ही। हम अगर इसी तरह ढंके जाते रहे तो हमारा अस्तित्व कब पहचाना जायेगा ? बिना संकट के, चुनौती के अपनी पहचान नहीं करायी जा सकती, आप गृह की केंद्रीय शक्ति हैं। आपका ही सारा प्रभाव हममें बंटता है, बंटा है। हममें सहने और मुकाबले की समझ होनी चाहिये। आदमी जब तक इन एहसानों के आगे, मददों के आगे झुकता रहेगा—याद रखिये, खुद तो टूटता ही है, दबता ही है और आने वाली हर पौध की शिराओं में यह टूटन, लाचारी, झुकने की आदत डालता है! इससे हमारा 'आज' तो दुखता ही है लेकिन आने वाला 'कल' भी दुखता है। दुर्गंध से भरा होता है। हम अपने को सम्हालकर बनाते हैं, बढ़ाते हैं। आप कभी गाय, कभी कोट के चक्कर में हमारी सारी करनी को झुठला आते हैं।' कहते-कहते जरा देर को चुप रहकर पिताजी की आंखों में देखा, वहां पलकें झपझपा रही थीं। मैंने अपने को साफ रख देना ही ठीक समझा और फिर कह गया—

'आपके इस तरह के आचरणों से हमारा व्यक्तित्व क्या कभी समूचा हो सकेगा, वह बन भी सकेगा ? हर बार झुकना, सहना हमें टुकड़े-टुकड़े नहीं कर जाता है ? आपने अपने बाल क्या धूप ही में पकाये हैं ? पराश्रित होने की मनोवृत्ति हमें उभरने की, ऊंचा होने का कभी अवसर नहीं देगी। हम या हमारे लोग बाबू, मुंशी, मास्टर, सेनेटरी इंसपेक्टर, हवलदार आदि की कैटेगरी से पार जा सकेंगे ? हम लोगों का यही कुनबा रहेगा, यही कुनबा बढ़ेगा। यही होते रहना चाहिये, पिताजी, हमेशा यही होते रहना चाहिये ?'

पिताजी अब बोलने-बोलने को हो चले थे। बार-बार पोथी-पत्रा समेटने का जो अभिनय हो जाता था वह रुक गया था। उनके नेत्र अब ज्यादा आग्नेय हो चले थे, नथुनों का कंपन बढ़ गया था। माथे पर चंदन की बिंदी को घेरतीं हरी-हरी नसें सर्पीली हो गयी थीं मानों अपनी मणि को पाने को बेचैन हो गयी हैं। आहत सांप चेहरे पर लहरें मारने लगा था, फुफकारने को हो रहा था! संभव है उन्हें

लग रहा हो, नाक का मोती नाक को ही भारी होने जा रहा है। उसे अब ठीक कर ही देना चाहिये। वे अब तक के आवेशों से बाहर जाकर कहने लगे थे–

'इस तरह की बातें तू क्यों सुनाया करता है, रे श्रीधर! यह क्यों भूल जाता है कि मैं तेरा बाप हूं, न कि तेरा बेटा। यह सब करता किसके लिए हूं? जो कुछ पाया या जो कुछ पाता हूं वह कुत्तों को तो नहीं डाल आता। अपने जायों के लिए ही तो लाता हूं। उनका दरद न होता तो इस उमर में फिर जाकर पंडिताई क्यों करता? घर के बोझ को मैं समझता नहीं हूं क्या? उसे हलका करना नहीं चाहता हूं? मेरे तरीकों से तुझे तकलीफ़ क्यों होती है? मालिक मेरी मेहनत, सच्चाई, लगन का हमेशा आदर करता रहा है। उसी का ख्यालकर वह अपने रिश्ते निबाहता है। तुझे सब वह एहसान दिखता है, फुसलाना दिखता है, तू ये बातें कहकर हमें दबाना चाहता है, अपना दबदबा बढ़ाना चाहता है? तू चार पैसे क्या कमाने लगा हर वक्त नकेल हाथ में रखने लगा। मुझे आखिर समझता क्य' है?'

कहते-कहते वे तमतमाते हुए खड़े हो गये थे, पलाश के फूल चुए जा रहे थे।

मां भी कहने जा ही रही थीं पर उनके ओंठ हिलकर रह गये थे। उनकी आंखें उठीं, पलकें उभरीं भी पर वे अनकही रह गयीं। वह मां के इस क़दर रुक जाने के कारण को जानता था। उनके गाल असमय आ गयी झुर्रियों के नीचे सुर्ख हो गये... मां की वैसे कोई खास उम्र भी नहीं, प... सहते-सहते बुढ़ा चली थीं। वैसे मां... बोलना भी तेज़ ही रहा है। पिताजी... कई दफ़ा भिड़ गयी हैं। वे किस तरह... सराते हुए कह गयी थीं। हाथों में नाच... अंगुलियों में आक्रमण का आवेश था... नाक और भौंहों के बीच तेवर कांप रहे... ओंठ कहते-कहते कितने सख्त हो चले... नीचे के टूटे दांत से कितनी जोर से ह... निकल आती थी। वे कहते समय स... तीखी हो गयी थीं।

'तेरे मारे तो रहना मुश्किल हो गया... बेटा! तू पास-पड़ोस से हिलमिलकर... रहने भी देगा? तू तो लगता है हममें ऐं... ही ऐंठन भरकर रहेगा! तुझे कुछ ह... सोहाता ही नहीं। हर जगह अकड़ता... दुनियादारी तो सीख, बिना झुके कैसे... बढ़ेगा? कटोरी भर चावल या श... क्या मांग ली मैंने तूने तो जैसे... ही ढा दिया। कभी पड़ोसिन की... लेकर पहन ली, बुलव्वे में चली गयी... तेरी नाक कट गयी। तेरे तेवर तो ... में ही नहीं आते, लगता है तू आ... में छेद करके ही रहेगा! तुम लिखने... लगे हमें बांध कर रखे दे रहे हो। इ... मत ऐंठो कि टूट जाओ। नरमई ... चारा बढ़ाती है, समझो तो...'

उसने मां की बात बड़ी शांति के... सुनी थी। वह जानता था कि मां को ... दिया गया तो उसके मन को धक्का ...

और सही बात उन तक पहुंच नहीं पायेगी। समझाना जरूरी है। डांट चुप भले ही करा दे, समझा नहीं सकती। मां जब कह चुकीं तो उनकी सांसें भर आयी थीं। गले की तुलसी की माला, आंचल कंधे पर गिर जाने के कारण, दिखने लगी थी। उसने मां से कहा था—

'मां, तुम गुस्से में अनर्थ किये दे रही हो। मुझे गलत न समझो, हम लोग साधन-हीन लोग हैं, साधनों के लिए लड़ रहे हैं, जूझ रहे हैं। ठोस और सार्थक दृष्टि हमें इन साधन संपन्न लोगों के बीच जाने का रास्ता देगी। पड़ोसियों से संबंध तो कभी भी अच्छे व्यवहार ही बनाते हैं न कि हमेशा झुके रहने वाली बात, बराबरी के रिश्ते अच्छे भी लगते हैं।'

'बोल न, बोल, मैं सुन रही हूं।' मां ने आवेश में बैठते हुए बीच में कहा था।

'तुम्हारे कटोरी भर चावल या शक्कर ले आने से ही आपसी संबंधों की बात दिखाई पड़ती है, लेकिन तुम अभावों की पूर्ति के समय यह भूल जाती हो कि कटोरी भर मांगने के पीछे तुम बेटे की मेहनत को ताक पर रख जाती हो। यह स्नेह संबंध झूठा है। जो स्नेह ऐसे अवसरों पर ढाला जाता है वह हमारे तेज़ होते आत्म-विश्वास को नये बनते रास्तों को रोकता है, भोथरा बनाता है, हमें अपनी बनायी विश्वास की ज़मीन से हटाता है। अगर कटोरी भर शक्कर या चावल नहीं भी मिला तो उससे बिगड़ क्या जाता है? एक दिन भूखे ही सो गये तो तबाह नहीं हो जायेंगे। उससे हमारा माद्दा ही बढ़ता है। तपने से प्रतिभा चमकती है। पुचकारने, सहलाने, से वह अपनी चमक भी खो बैठती है, मां। दूसरों की दी हुई साड़ी पहनकर झूठी शान, प्रतिष्ठा से कितनी देर सुख पाया जा सकता है? देने वाली की निगाह में तुम कितनी रह जाती हो? वह तुम्हारे छोटेपन पर तरस नहीं खाती? अगर तुम अपना ही मोटा, सीधा-सादा कपड़ा पहन जाओ तो तुम्हें यही लगता है कि सामने वाला क्या सोचेगा?'

कहकर उसने मां की ओर देखा था उसे लगा था, ऐंठन ढीली पड़ती जा रही है, सांसें सम पर आती जा रही हैं। उसने अंत में कह ही दिया था—

'छोटा यही न, देने वाले ने यह नहीं समझा क्या? फिर हमारा पूर्ति का विश्वास, रचना की ऊर्जा के लिए किये जाने वाला सतत यत्न टूट जाता है। यही हर बार इसी तरह टूटता रहा है, और हम बनने वाली स्थितियों के पहले ही चुक जाते हैं। चुके रहे हैं, धीरे-धीरे यही चुकापन अभाव हम लोगों में स्थायी हो गया है।'

मां के चेहरे की खिंची हुईं झुर्रियां लगा ढीली हो चली थीं। मुन्नी पास आकर खड़ी हो गयी थी। शायद खाना खाने को कहने आयी थी उस दिन। मां खा लें तो पढ़ाई में जुटे। मां-बाप की सेवा में अपने को कहीं चुराती नहीं, काम करने से कहीं बचती नहीं, बचने के लिए कभी झगड़ा,

उत्पात नहीं पैदा करती। पढ़ाई के साथ सिलाई सीख चुकी है, औरतों के कपड़े सीनी है, अभी से घर के लिए खटने लगी है, ख़ुद का जीना उसे भी अच्छा लगता है, बिना दबाव वाला। मां उसकी ओर ग़ौर से देखने लगी थीं, मानो कहने लगीं हों—शान वाली बात, कौन-सी है ?

वह उसी को समझा देना चाहता था। 'गहरे संकट में काम आना नैतिकता का अंग हो सकता है। लेकिन मांगकर, झूठी शान दिखाकर जीना या काम चला लेना अपने को साधन संपन्नता की ओर बढ़ने से रोकना भी है, मां। काम हो गया, अब आगे की सुध क्यों ? अगर न हो तो काम, यत्न जारी रहते हैं, बिना काम के कुछ भी हासिल नहीं किया जा सकता। कर्म रचना का आधार है, मां। रचना को अस्वीकार करने का मतलब है, पाखंड में जीना, निरर्थकता में जीना, दूसरों का दिया हुआ जीवन जीना, इससे हम ऊंचाई के शिखर कभी नहीं बना सकेंगे, मां, कभी नहीं...'

मां की आंखों में चमक धूप की तरह फैल गयी थी, कांपते नथने एकदम जैसे थिर हो गये थे।

'भैया, आप कर्म से व्यक्तित्व रचना को जोड़ना चाह रहे हैं, मुझे लगता है।' मुन्नी ने बीच में कह दिया था। मां का संस्कृत धर्मशास्त्रीय अध्ययन कुछ बोलने-बोलने को कर रहा था, कि मुन्नी बोल पड़ी, वे संतुष्ट-सी लगी थीं। उसने स्वीकारात्मक ढंग से सिर हिलाते हुए [illegible] था, 'बेशक। कर्म ही व्यक्तित्व की र[illegible] करता है। कर्म का अभाव, निष्प्राण[illegible] का बोध है, मुन्नी। जहां पसीने की [illegible] गिरती हैं, वहीं निर्माण होता है, जहां [illegible] के कतरे गिरते हैं, वहां नस्लें बन जाती[illegible] नया युग पैदा हो जाता है। कर्म पर [illegible] विश्वास नहीं करते वे बोझा ढोने[illegible] नियति के ही दावेदार बने रहते हैं[illegible] संकल्प आदमी को ऊपर उठने का, [illegible] की निगाह में चढ़ने का अवसर दे[illegible] है। और इस संकल्प को कर्म ही [illegible] देते हैं। कर्म में फल की आशा निहि[illegible] चाहने का अलग से प्रश्न ही नहीं हो[illegible] कर्म किया ही किसी न किसी फल के [illegible] जाता है। जिसमें फल का बोध नहीं [illegible] वह कर्म ही नहीं होता। हम करें, [illegible] और दे—यह हो सकता है ? दूसरे की [illegible] झुकना या दूसरे से कुछ चाहना अपने [illegible] के प्रति संदिग्ध होना है। अपने विश्[illegible] को तोड़ना है उसके टुकड़े करना है।'

कहते-कहते लगा था कि गला [illegible] काफी सूख गया है, वैसे पानी मांगने [illegible] बात का रुख बदल सकता है। उसने [illegible] लार गिटकी और कहने लगा था—

'इसीलिये मैं मां या पिताजी का मां[illegible] पसंद नहीं करता हूं। इस तरह मांगने[illegible] चाहने से दिन भर में या तू जो मेह[illegible] करती है, पास-पड़ोस की लड़कियां [illegible] देती है, कपड़े ब्लाऊज सी देती है, [illegible] सब झूठा हो जाता है। मेरे सपने या[illegible]

भविष्य या हम सब लोगों के आगे का जीवन मुझे धुंधला लगने लगता है। बिना किये हुए भी नहीं पाया जा सकता। यह बात अलग है कि किये में शक्ति कम हो गयी हो, उसका फल शीघ्र न मिले, पर मिलता अवश्य है। पसीना निरर्थक कभी नहीं जाता, हमारी बनने वाली प्रतिभा कहीं खंडित नहीं हो पाती। एहसानों और दया के नीचे हम खंड-खंड होकर टूटने से बच जाते हैं। टुकड़ों में आदमियत की पहचान नहीं होती, मुन्नी। टुकड़ों में बांटकर ही हमें साधनहीन बनाया गया है, अभाव की स्थितियां दी गयी हैं। अलगाव अथवा खंड-खंड के तरीक़े आदमी को ही नहीं उसके परिवार को, समूह को भी तोड़ते हैं, दास बनाते हैं।'

मां चुपचाप सुनती रही थीं। उनका आवेश पूरी तरह से सांझ के समुद्र-सा शांत हो गया था। कभी-कभी झुर्रियों में कंपन ठीक वैसे ही होता जैसे हवा के झोंके लहर को जिला जायें, लहर को उठा जायें।

मां हटने का अब बहाना खोज ही रही थीं कि मुन्नी ने फिर उनसे कहा था—

'मां, चलो न, खाने। मैं खाना खाने को ही तो बुलाने आयी थी।'

मां को मैंने गौर से देखा था। मुझे बराबर लग रहा था कि कहीं कुछ घुल रहा है। वह घुलन आज पिताजी के सामने उन्हें कुछ नहीं कहने दे रही थी।

वह अनुभव कर रहा था कि आज पिताजी ज्यादा तेज हो गये थे। उन्हें घर में फिर व्यक्तित्व की या वर्चस्व की टकराहट में फैसला करने का अवसर-सा मिल रहा था। और वह उनके भ्रम को मिटाना चाह रहा था, आवेश से बात बिगड़ सकती थी, इसीलिये उसने मां के सामने वाली भूमिका को ही अपनाना ठीक समझा। वे मालिक के सामने इतने उत्तेजित हो सकते हैं? वह उनकी औक़ात जानता है, ये ज़रा से सहला देने मात्र से ही मान जाने वाले लोग हैं, ये हमेशा फुसलाये जाने वाले ही बने रहेंगे। हर सिपाही का बेटा कहीं निराला होता है? सिपाही का बेटा होगा तो हवलदार ही होगा। क्या वह श्रेणी तोड़ सकेगा? वंश को शिखर पर पहुंचा सकेगा?

'आप खड़े क्यों हो गये हैं, पिताजी? आप तो नाराज़ हो रहे हैं। मेरी बात तो बड़ी छोटी-सी है। मैंने आपको अपमानित करने के भाव से कभी कुछ नहीं कहा। मैं तो यही कहता रहा हूं कि आप इतने समय से झुके-झुके चले आ रहे हैं, अब हम लोगों को क्यों झुकने का सबक सिखा रहे हैं? मैं काम में विश्वास करता हूं, जो मेरे किसी भी संकल्प को पूरा करता है। मैं ठीक से पढ़ता हूं, इसलिये विश्वास से कह सकता हूं कि मैं युनिव्हर्सिटी में टापर रहूंगा, आपका लड़का गोल्ड मेडिलिस्ट होगा। मेहनत करता हूं तो कुछ न कुछ पैदा ही कर लेता हूं। सभी कुछ न सही, पर अपने किये का पा ही जाता हूं। आज की महंगाई, भ्रष्टाचार, भाई-भतीजावाद

के बावजूद मैं जानता हूं, अपनी जगह बना लूंगा। चार पैसे कैसे भी कमा लूंगा। लेकिन आप अपने मालिक के पास जीवन भर रहे, वहां वह सब पा सके जो मालिक पा गया? आपने ईमानदारी बरती, मेहनत की, कारबार आगे बढ़ा। श्रम आपका रहा, सफलता मालिक की रही। काम आपने किया, फल दूसरा खाता रहा, सिर्फ इसी-लिये कि आपमें अपने कर्म के प्रति विश्वास नहीं था। अपने विश्वास की हीनता हीं दूसरों पर निर्भर बनाती है। आप जहां के तहां रहे। आपके नेकी के जड़ता वाले विश्वास सब कुछ सोचने नहीं देते रहे। जबकि वहां पुचकारकर आपकी आंखों में धूल झोंकी जाती रही। ईमानदारी का वास्ता देकर अधिक से अधिक काम लिया गया उसके अनुपात में कभी उतना दिया गया? यह सब फुसलाना नहीं है क्या? और यह फिर कब तक? यही सब आपने मुझे दिया, यही सब मैं आगे आने वाले को दूंगा, देता रहूंगा?'

पिताजी चटाई पर बैठ गये थे। पोथी-पत्रा को उन्होंने सूत की सुतली से बांध लिया था। चिकना पीत वस्त्र सुतली की कसन के मारे सिकुड़ गया था। सांसें तेज थीं, धड़कनें छाती को अभी भी धक्के मार रही थीं। मूंछों के बाल अकड़े थे। पर वे बंधे लग रहे थे। सुतली की कसन अभी भी ज्यों की त्यों लग रही थी।

'मालिक आपको पहचान गया था कि पंडित को क्या चाहिये? पंडित काहे से खुश होता है। वह दुनियादार वा... ठहरा, उसने हमेशा आपको दुहा।... प्रशस्तियों का चारा खाते रहे और जहां... तहां धर्मावतार बने रहे। काफी रात... जब वह आपको छोड़ता तो अपने... की बची-खुची सब्जी-भाजी दे देता... गाड़ी में भिजवा देता। आप उसी से... हो जाते। हम सब इन हरकतों को दे... रहे हैं। फरेब, रिश्वत या और जो... के उसने जब भी आपसे काम करा... उस दिन उसने अपने बच्चों की उतरन... कहते हुए दे दी, 'पंडित, श्रीधर और... के लिए लेते जाओ, उन्हें ये बड़े... बड़े कीमती कपड़े हैं। साबुन से मत धो... ड्रायक्लीन करवाना, इनमें लगा इत्र... उसके बाद भी नहीं जायेगा।' आप... से खुश हो गये, कभी धुलवा सके... क्लीन में, कभी ले सके इत्र की खुशबू... एक सांस? उसने आपका कितना फ़ा... उठा लिया, यह कभी नहीं जान स... फुसलाये जाने के लिए उसने हमेशा... अहम् को पुचकारा, सहलाया। तड़पन... दया की मांग ने ढीला कर दिया था,... पुंज कर दिया था। मालिक को बुरा न... के भाव ने आपके लुंजपुंज व्यक्तित्व... और यतीम बना दिया। हम बचपन... आजतक यह सब देखते नहीं रहे हैं... आपने कभी अनुभव किया कि फुस... के बहाने आपके भीतर की सारी खूबि... तोड़ा जा रहा है, निचोड़ा जा रहा... आपके टुकड़े किये जा रहे हैं। आप...

को जोड़ते हीं जोड़ते बुढ़ा जायें, शेष हो जायें, सुमरनी के योग्य हो जायें, उम्र की ढलान पर आकर। टुकड़ों को पहचानने पर अपनी दुर्दशा के लिए भगवान की कल्पना को साकार करें। आपने जितना किया उतना पा जाते तो कभी कटोरी भर चावल, शक्कर, आटे की, साड़ी या बच्चों के कपड़ों की उतरन की अथवा इस गरम कोट की नौबत न आती, हम मुहताज न होते, पिताजी! हम इस सबके खिपाफ कुछ न कुछ करते हैं, करना चाहते हैं—सिर्फ बोलना नहीं। लेकिन आप करने नहीं देते, आप, आपके विश्वास आड़े आ जाते हैं।' जरा रुककर कह गया था, 'आप उतरन पहनने में विश्वास करते हैं हम खुद कपड़े सीकर पहनने जा रहे हैं। यहीं आपमें और हममें फर्क आता है।'

पिताजी उठकर टहलने लगे थे। अब वे पैर पटकते हुए टहल रहे थे। हाथ में पीले कपड़े में बंधा पोथी-पत्रा बार-बार हथेलियों में कस जाता। जैसे वे छोड़ने या छुड़ा लेने के भय से उसे कसे जा रहे हैं। पसीने के मारे चंदन की बिंदी भीग गयी थी। माथे पर लकीरें फुफकार रही थीं। कभी-कभी वे जनेऊ को, चोटी को भी टटोल लेते और घूमने लगते।

'लगता था, मैं सभी दिनों का पड़ा हुआ हिसाब चुकता कर लेना चाहता था। मेरा आज कहीं रुकने को मन नहीं कर रहा था, मैं कहते जा रहा था—'मालिक आपको काम से छूटने के बाद, रिटायर्ड होने के बाद भी बुला भेजता है। आप प्रसन्न हो जाते हैं। आपको लगता है भरोसे के काम अभी भी मुझी से ही कराये जाते हैं। उनका विश्वास मुझ पर बना हुआ है। पर, ऐसी बात नहीं है, पिताजी, आप जैसा सीधा और सस्ता लद्दू घोड़ा और कौन हो सकता है? आप जैसे लोग हमेशा सिर झुकाये ढोते ही तो रहे हैं, कभी सिर उठाया है?'

मेरी बात सुनते-सुनते लगा वे ज़रा देर को ठिठके और फिर टहलने लगे। मैंने रुकना ठीक नहीं समझा। चेहरा तम-तमाये चला जा रहा था। 'आप ही ने बताया था कि शक्कर के परमिट और उसके लेन-देन में नेताजी को आप ही जा-जाकर क्या नहीं देते रहे हैं। नोट इतने रहे कि आप गिन न सके। हीरे, जवाहरात ऐसे रहे कि आपकी आंखें भी चौंधियां गयी। आप पहुंचाने का ही काम करते रहे और मालिक बराबर कमाता रहा, बढ़ता रहा और आप जहां के तहां। नेता और मालिक के बीच आपने ढोने का ही काम किया, दोनों एक जात के थे। शायद इसीलिये उनका विरोध नहीं कर सके। मालिक आपका तो शक्कर के खेल में घर भर रहा था लेकिन कितने बच्चों का दूध छिन रहा है, कितने त्यौहार, खुशियां फीके हुए जा रहे हैं, आप कह सके? आप यह अफरा-तफरी का खेल बंद करिये, आप लोगों के खीसों से पैसा छीनते

(शेषांश पृष्ठ ११९ पर)

इंदुप्रकाश कानूनगो द्वारा प्रस्तुत

दु:स्वप्नों का कवि गालवे किनेल

गालवे किनेल रोहोड आइलैंड में सन १९२७ में पैदा हुए। वे सं. रा. अमेरिका के कई इलाकों में तथा ईरान और फ्रांस में भी रहे। उन्होंने १९६३ में (लुइसिआना) में अहिंसात्मक नागरिक अधिकार आंदोलन में हिस्सा लिया। वियतनाम युद्ध का विरोध किया।

किनेल के सधे हुए काम में एक ऐसी निजी आवाज है जो भविष्यवाणी विस्तृत होने का तीव्र आभास देती है। किनेल एक खास तरह से समसामयिक एकांतिक, गीतिमय और नवोन्मेषी। अपनी कविताओं में वे स्वयं के विषय अनंत बातें करते हैं। वे संवाद करते हुए से मालूम देते हुए संवेदना जगाते हैं। अपने को संकेंद्रित रखते हुए भाषा को सार्थक बनाकर समसामयिक हैं।

एक कविता में वे अपनी अवस्थिति जांचते हैं तो एक में अपने समाज का दिखाते हैं। उनकी कविताओं में राजनैतिक तेवर भी है, लौटने की व्याकुलता भी, विषाद भी। वे तार्किकता को और धार्मिकता को समीप लाते दिखते हैं। उनमें नाटकीय काव्यात्मक अंतर्दृष्टि भी है। वे मनोरंजक भी हैं आतंक से भयभीत करने वाले भी। कहा जा सकता है कि तात्विक ध्यान में शून्य के चिंतन में कोई अंतर नहीं है। किनेल केवल अपने भय को बाह्य हैं। कवि न तो मसीहा हो सकता है न किसी वाद का सूरमा। वह तो खुद अपने ही पर हो सकता है।

किनेल में सनातन संदर्भ के चैतन्य और स्वयं की अनुभूति की संगति है। जीवन का ऐहिक स्तर पर सामना करते हैं और अस्तित्व को कल्पनात्मक के दृष्टिकोण से देखते हैं।

(गालवे किनेल के कवितांश 'स्पान' में प्रकाशित हुए हैं। वहीं से साभार अनुवाद किया गया है।)

एक कवि की वसीयत

(कविता संग्रह: 'व्हाट ए किंगडम इट वाज')

सामान : एक मेज
स्याही और तारपीन से महकती
उसके लिए जिसका व्रत
एक पंक्ति के लिए पसीने की बारिश।

सामान : एक पुलिंदा
कविताओं और थोड़े प्रकाश का,
एक या दो अटैची
उसके लिए जिसे बोलना है।

रात्रि गान

(कविता संग्रह 'नाइट सांग')

मैं सोच नहीं सकता कौन है दोषी,
पहला या दूसरा, दोनों—मुझे याद
सिर्फ प्लेटें चम्मच धुंधलाते
ब्लू ब्लू जेजेबेल—बस यही आवाज

बाहर बरसते शहर में।
गरीब चलते चले जाते कंपकंपाते और भूखे
भीख मांगते या आसरा और तरस पाते।
और मुझे मालूम—
'अकेले'-लेटे हैं डरे अपने गद्दों पर।
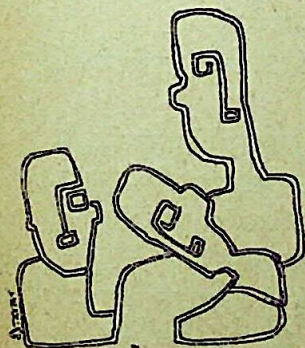
चित्र : ठाकोर राणा
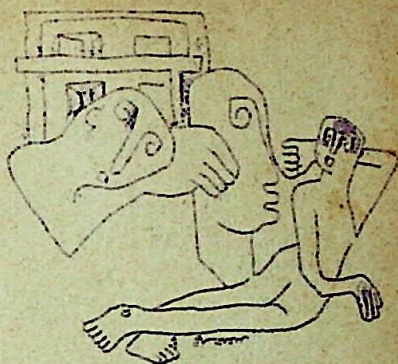
रास्ते के बीच

(कविता संग्रह 'मिडिल आफ द वे')

मैं हूं धरती पर वैसे
जैसे लपटें हैं लकड़ी के ढेर के बीच,
या जैसे एक क्षण, शुक्राणु में,
क्या है होना।
मैं धरती को प्यार करता हूं, और हमेशा
उसके अंधेरे में अजनबी हूं।

प्रातः ६ बजे। पानी पुनः जम गया।
उसे पिघाला और चाय बनायी। एक
कच्चा अंडा और आखिरी संतरा खाया।

बहुत सर्द। वह आधा चांद वहां ऊपर चढ़
आया है और अनेक तारे पेड़ों के शिखरों के
बीच निकल आये हैं। लपटें कोयलों तक
गिर गयी हैं।
किंतु मुझे मालूम मैं आधा जिंदा हूं
दुनिया में,
मुझे मालूम मेरी आधी जिंदगी
दुर्दांत अंधेरे के हवाले है।

बैठक में एक मेज
(कविता संग्रह १९४६-६४)
बैठक में एक मेज
और तीन कुर्सियां, तीन आदमी गपियाते
एक दूसरे से अपना अंतर्मन
में, एक बोला, परेशां हूं।
मैं परेशां हूं, दूसरा बोला।
मेरे खयाल से मेरे लिए सही शब्द
हैं परेशां, तीसरा दावे से बोला।
अच्छा, अंत में वे बोले, पौने दो बजा है।
गुडनाइट। खुश रहो। नमस्कार।
अच्छा यार। अच्छा यार। अच्छा यार।

मोनाओंख पर्वत पर पुष्प वृंद
(कविता पुस्तक 'फ्लावर्स हंडिंग आन माउंट मोनाओंख')
मुझे मंजूर नहीं अब और
हाथ मलते हंसना खुद पर
सारी तकलीफ उठाने के
अपने दावे के खातिर
मैं उठ खड़ा होता हूं।
धिक्कार दुःस्वप्न भरने वाले!
खुदा को याचना ठुकरा जाती है।
पत्तियां गिरने लगती हैं, आत्म-तितिक्षा में।
वह एक फूल है।
पर्वत के इस ओर वह मर रहा है।

ईसा के नाम की तरुवीथि
(कविता संग्रह १९४६-६४)
हम बिखर गये सूने समुद्र के बीच,
वीरान मरुस्थल पर हम दौड़े,
अंधेरी गलियों में और कूचों में
अपने को छिपाया
हृदय धड़कता है बगैर खिड़कियों के
उसकी रात में
फेफड़े बुझा देते हैं रोशनी दुनिया की
हांफते और ढेर हो जाते हैं,
दिमाग घूमता और तड़तड़ाता है
उसके अपने ही काले एक्सलग्रीव में-
रात के वक्त
खून के जिस पर वे हंस बोल रहे हैं,
अपनी छोटी गली,
कितना बड़ा साम्राज्य था वह!
ओइ वाह ओइ वाह
बोझ

('बाडी रेग्स')
अपने अंतिम दिन मैं बिताता हूं
भकटता; चकराता
क्या, आखिर,
था वह स्निग्ध सत्व, सार की वह
खुशबू, वह कविता जिसके द्वारा मैं
दुःस्वप्नों की किताब
और उन दिनों
जब तुम पाते हो अपने को यतीम,
सूने
सुरीली हवाओं से, उजाले से,
टुकड़े अभिशप्त रोटी के तुम्हारी
शायद फिर से सुनाई दे तुम्हें
एक आवाज
मुतैली, तुम्हें पुकारती-सिस्टर!
मरती हुई हर चीज़ से।

दोनों पृष्ठों के रूपाकार : आलोक जैन

और फिर
तुम खोलोगे
यह किताब, चाहे वह दुःस्वप्नों की
किताब ही क्यों न हो।

यह फूल

('द बुक आफ नाइटमेअर्स')

सुनो किनेल
जिंदा धंसे हुए
और मरते हुए पुराने डोलासन में,
कुचले हुए पंखों की एक परत
बस सिर्फ वही है
बीच में तुम्हारे
और अंधकार के लंबे स्तंभ के तुम्हारी
शक्ल जैसा बनता हुआ

मंडराता हुआ यह कमरा
इसकी सारी वस्तुएं त्रासदी से छायांकित
नन्हा सलीब भी बहता हुआ सिर झुकाकर
पृथ्वी के केन्द्र की ओर,
डैनों से सदा के लिए मुक्त हुए ये पंख भी
डरे हुए हैं।

मृत अनंत जी उठेंगे

('द बुक आफ नाइटमेअर्स')

लेफ्टिनेंट !
इस शव का जलना बंद नहीं होगा !

अंतिम नदी

(कविता संग्रह 'बॉडी रेग्स')

तुम पर एक ऐसा संताप आयेगा
जैसा
इस देश ने कभी न जाना हो;

और उस वक्त तेरे लोग,
सारी बुद्धि को लेकर, सारी कल्पना को
लेकर, सारी......

अंतिमता

('द बुक आफ नाइटमेअर्स')

यह कविता
यदि हम उसे ऐसा कहें,
अथवा सहगान अपने में
बंटे हुए एक का,
धरती की ओर यह भंगिमा
आसमानी गोताखोर की, कोड़े
उसकी पीठ पर अभी भी भँवराते

और पहले से ही कुतरते हुए
उसके प्यार के रेशम को,
कौन उसे बचा पाता

यह मुक्त प्लवन एक का
अपनी भुजाओं को खोलकर रूप में
उड्डयन की, कि वह आवश्यकता की
आज्ञा मानता है और गिर पड़ता है . . .

प्रवक्ता जीवविज्ञान, नेशनल इंटर कालेज,
रानीखेत—२६३६४५

डा. विद्या विन्दु सिंह का लेख

लोकगीतों की अमर रसवन्ती

जीवन के वही पल शायद सबसे अधिक अपने होते हैं, जो एकांत में बैठकर कुछ सोचने, कुछ याद करने और खो जाने के लिए मिलते हैं। पर आज की मशीनी सभ्यता ने ये अपने से लगने वाले पल भी हमसे छीन लिये हैं। आज व्यक्ति कितना निरुपाय है। ईश्वर ने खुले हाथों से जो पल हमें लुटाये थे, जो धूप, हवा, चांदनी हमें बांटी थी, उसे भोगने, पाने का हमारे पास समय नहीं है। जो नारी श्रम की चक्की में पिसते हुए भी गीत गा सकती थी, गेहूं के साथ पीसती थी अपनी आकुलता, अपना मौन और उसके उच्छ्वास गीतों में घुलकर उसकी गहन पीड़ा को पारदर्शी तरलता प्रदान करते थे, वे गीत आज भी हैं, पर बड़ी-बूढ़ी ग्राम्याओं के कंठ के भीतर ही घुटे जा रहे हैं; क्योंकि न अब नयी बहू-बेटियों में उन गीतों के प्रति मोह रह गया है और न ही चक्की के प्रति। उसकी पीड़ाएं वही हैं, उसकी अकुलाहट वही है, पर अब वह भूलती जा रही है—वह सब कुछ जो पुराना है; क्योंकि पुरानी पहचान और परंपरा ले करके जुड़ पाने में असमर्थता का अनुभ[illegible] रही है। आज ग्रामीण माता-पि[illegible] कल्पना में भी बेटी के सुख का चित्र [illegible] पर विविध भारती के कार्यक्रम [illegible] या टेलीविज़न देखती सजी-संवरी [illegible] के रूप में ही उभरता है।

बहुत पिछड़े विचारों के कहे जाने [illegible] मां-बाप भी ट्रांज़िस्टर की धुन के [illegible] फिल्मी गीत गुनगुनाने वाली बेटी [illegible] का स्वप्न पालने लगे हैं। हाईस्कू[illegible] जूनियर हाईस्कूल फेल सुपुत्र भी सर्वां[illegible] साड़ी पहने, पाउडर लगाने वाली [illegible] की कल्पना में डूबने लगे हैं। पैरों की [illegible] का रंग गांवों में भी होठों को रंगने [illegible] लगा है और होठों की स्वाभाविक [illegible] वह कुछ तो वातावरण और परि[illegible] खोती जा रही है, कुछ उल्लास और [illegible] के अभाव में। अब न त्योहारों पर [illegible] उल्लास बिखरता है और न मेलों [illegible]

गांव के मेलों में दुकानें ज़रूर [illegible] चमक-दमक वाली अब अधिक दिख[illegible]

हैं, पर मेलों में उल्लास के गुलाल उड़ाती बैलगाड़ियों से नारी कंठों की मधुर ध्वनि अब लगता है कि फट गयी है। परिपक्व कंठ ही उनमें अधिक होते हैं। नये यदि होते भी हैं तो सहमे-सकुचाये से। एक दूसरी को धकियाकर ठिठोली करके गाने वाली ग्राम्यबालाएं अब गीत गाने से पहले चारों ओर देखती हैं। कहीं कोई सभ्य (?) सज्जन सुन तो नहीं रहे हैं; क्योंकि अब वे विद्यालय जाती हैं। कल स्कूल में उनका मज़ाक उड़ाया जा सकता है कि देहाती गीत गा रही थीं।

मुझे याद आता है—अपना बचपन। जब मेरे ही शिक्षित भाई-बंधु मुझे घर-घर जाकर सोहर गाने, सुनने के लिए ठेठ अवधी में फतवे दिया करते वे 'भुच्चड़ है, पढ़ाई-लिखाई सब भूसे पर लिपाई है', पर बार-बार इस तिलमिलाहट को पीकर भी उन गीतों के रस में सराबोर होने से अपने को रोक नहीं पाती थी और सारा आक्रोश भाग जाता था, जब बड़ी-बढ़ियों की आंखों में अपने प्रति आशीर्वाद और विश्वास के सच्चे डोरे देखती थी। पढ़-लिखकर भी मैं उनके गीतों में रस लेती हूं या उनका आदर करती हूं, इसके लिए लगता था उन्हें कि मैं कोई बहुत बड़ा उत्सर्ग कर रही हूं। वे मेरे प्रति गौरवान्वित हो उठती थीं। बड़ा संकोच होता था। क्या अपनी परंपरा से कुछ ग्रहण करके हम अपना उपकार नहीं कर रहे, उस परंपरा पर, उन पूर्वजों पर उपकार कर रहे हैं, जो हमें देने के लिए यह थाती युग-युग से संजोते आ रहे थे। पर आज यही कटु सत्य मुखर हो उठा है। उदास झुर्रियों में मैंने आशा की चमक देखी, कुछ देने के गौरव का सुख देखा, जब-जब उनसे कुछ पाना चाहा।

सचमुच हम कितने अभागे हैं, जो मुक्त कंठ से, मुक्त हृदय से हमें लुटाना चाहते हैं—अपनी जन्म-भर की कमायी,

अपना हृदय-रस, हम उसे स्वीकार नहीं कर पाते । संशयग्रस्त अविवेक से ग्रसित, भ्रमित होकर और जहां लौह-कपाटों में बनावटी रस की एक बूंद भी कैद होती है, वहां माथा फोड़ते हैं और न मिलने पर हाथ मलते पछताते हैं । यह सही है कि हर युग की आवश्यकताएं भिन्न होती हैं, उसके लिए उसे अपने सामने, अगल-बगल देखना और लेना पड़ता है । पर क्या पीछे का जो बीते हुए कल के लिए महत्त्वपूर्ण था, उपयोगी था, आज के लिए एकदम निरर्थक हो गया ? हम उसे लेने से पहले तर्क की कसौटी पर अच्छी तरह कसते हैं । इसमें आधुनिक संदर्भों की, समसामयिकता की तलाश करते हैं और कहीं कुछ मिल गया तो लेने के लिए हाथ बढ़ाते हैं परंतु फिर भी झिझकते हुए, उस पुरातन को उपकृत करने और दया करने जैसी भावना से जुड़े हुए ।

आज भोर की बेला में चक्की की घुर-घुर के साथ चक्की के गीतों की, सांस लेने के लिए ठहर-ठहर कर गायी जाने वाली धुन, सपना बन गयी है । उन गीतों में व्यक्त कथा हर नारी कंठ में आज घुट रही है । उससे उसकी चक्की छिन गयी है । उसके गीत छिन गये हैं या उसी ने स्वयं इसे छोड़ दिया है । इसका कोई उत्तर नहीं है । वह आज भी कहीं सास-ननद द्वारा प्रताड़ित हो रही है, कहीं पति द्वारा अपमानित हो रही है, कहीं बांझपन और विधवापन की दुर्दशा झेल रही है तो कहीं कुंवारेपन का भार बन रही है, पर आज वह व्यथा बं[illegible] वाली संजीवनी रागिनी के प्रति अ[illegible] खोती जा रही है । जो पढ़-लिख गये [illegible] वे भी इस संकट से ग्रस्त हैं कि कहीं [illegible] अनपढ़ व देहाती न समझ ली जायें [illegible] जो अनपढ़ हैं, वे उसका उपयोग भूलती [illegible] रहीं हैं । रोज़ी-रोटी, काम-धंधे सब [illegible] की आग बुझाने और लाज, सम्मान [illegible] के लिए नीरस ढर्रे के रूप में हो र[illegible] श्रम के प्रति, जो संतोष और उल्लास [illegible] आस्था थी वह चुकती जा रही है [illegible] तभी पारंपरिक गीतों के प्रति मोह भी [illegible]

मेरे घर में गोबर फेंकने का कार्य [illegible] वर्ष की नाजुक कलाई से साठ वर्ष तक [illegible] झुर्रियां भरे कंपकंपाते हाथों से करने [illegible] सुगनी अतीत में खोकर मुझे बताती है [illegible] 'ऊ जमानै और रहा बिटिया, हम [illegible] के करत रहे, धमक कै नोन मकुनी [illegible] जुरै खात रहे, औ जिव दैके अललात [illegible] गावै बजावै मां । हमरे सात लरिका [illegible] एक जांते पर से उठतै, एक खेत निरा[illegible] लौटते और एक गन्ना का बोझ पटक[illegible] घरे भाग के पहुंचत-पहुंचत ।'

[वह जमाना ही दूसरा था बेटी, [illegible] उठकर काम करते थे, जो भी नमक [illegible] (मटर चने की) मिलती थी डटकर [illegible] थे और प्राण देकर गाने-बजाने के [illegible] पर गाते थे । मेरे सात-सात बच्चे हुए [illegible] आखिरी वक्त तक काम करती रही । [illegible] बच्चा चक्की पर से उठते ही हो गया, [illegible] खेत निराकर लौटते ही और एक गन्ने [illegible]

बोझ पटककर घर पहुंचते-पहुंचते ।]

मैं आश्चर्य में पड़कर पूछ बैठी—'तुम्हें पीड़ा हो रही थी तो काम कैसे कर रही थीं !' तो वह बोली—'जब पीर आती थी तो हाथ बन्द कर पीर झेल लेती थी और फिर काम करने लगती थी।' मैं अभिभूत हो उठी उस धैर्य की प्रतिमूर्ति पर . . . पर थोड़ा अविश्वासी भी (आज का अन्न-जल पेट में जा रहा है न, जो बनावटी उर्वरक की उपज है, रसायनों द्वारा शुद्ध किया गया है) पर एक अन्य वृद्धा ने उनकी बात का समर्थन करते हुए कहा—'अरे हम सबै जब एनके हाथे से हंसिया छोरि लीन तब ई खेते मां से उठीं नाहीं त लरिका रहैं खेते म होइगा होत ।' (अरे हम सभी लोगों ने जबरदस्ती इनके हाथ से हंसिया छीन ली तब ये खेत से उठीं, वरना वहीं खेत में ही बच्चा हो गया होता ।)

आज आसन्न प्रसवा के बारे में सोचने पर अस्पताल, दवाइयों, नर्सों, परिजनों के चिंतित चेहरे सब आंखों के समक्ष घूम जाते हैं और उसके बीच उस वृद्धा का सत्य, कहानी-सा लगने लगता है। और तब यह सोचने को मन विवश हो उठता कि हमने अपनी रागात्मक अनुभूतियां ही नहीं खोयी हैं, अपना धैर्य, सहनशीलता और मातृत्व के भार को सुखपूर्वक झेलने की ललक आदि बहुत कुछ खो दिया है ।

आज हमारे पास सुख-दु:ख बांटने, कहने का अवकाश नहीं है, सुनने का धैर्य नहीं है, ऐसे टूटे हुए क्षणों में युग-युग से मूक व्यथा को व्यक्त करने वाले लोक-गीत हमारे लिए बहुत बड़े संबल हो सकते हैं । उनके माध्यम से हम कुंठा और संत्रास की स्थितियों से अपने को उबार सकते हैं, किसी ग्रंथि से ग्रसित होकर मानसिक रोगों से अपना बचाव कर सकते हैं, अपने जीवन में जिजीविषा का रस भर सकते हैं। दूसरों को आह्लाद दे सकते हैं। पर शायद यह सब अब रूमानी कल्पनाएं हैं—भावुक मनों की । यथार्थ तो यही है कि हम अपने अतीत से कट गये हैं। अपने वर्तमान से विरत हो रहे हैं और भविष्य की चिंता में घुल रहे हैं । वह चिंता भी केवल भौतिक सुख-संपन्नता के लिए है, अपने निजत्व बोध के लिए है, अस्मिता के नाम पर झूठे दंभ के लिए है। हम सच्ची सहानुभूति के लिए आज अपने सगों के बीच भी तरस रहे हैं । यदि कहीं और से वह मिलती है, तो उसके चतुर्दिक संशय के घेरे इस तरह घेर दिये जाते हैं कि आदमी उस सहानुभूति को स्वीकारने से हिचकिचाने लगता है । उस सहज मानवीय आत्मीयता के पीछे जासूसी के जाल बिछने लगते हैं, उसमें स्वार्थ की गंध तलाशी जाने लगती है । लगता है कि ये आत्मीय संबंध अपनी पहचान खो चुके हैं । आज आदमी आदमी नहीं संशय बन गया है ! भाई-चारा, लेन-देन का व्यापार बन गया है। पुत्र जन्म हो या विवाह का उत्सव—अभ्यागत की तौल-माप उसके हाथ कें पैकेट या जेब के वजन से होने

लगी है। कहां गयी बहन की वह वेदना जब भाई से रूठने के कारण मानवश वह उसे निमंत्रण नहीं भेजती, किंतु जब सारे मेहमान आ गये तो भाई को न देखकर उसकी छाती व्यथा से फटने लगती थी। कहां गया भाई का वह प्यार, जो बहन के सम्मान की रक्षा के लिए बिना बुलाये ही 'नेवता' लेकर पहुंच जाता है। बहन द्वारा नेवता न भेजे जाने के मूल में भी 'बहन की भाई के प्रति चिंता ही' समझता है कि भोली बहन यह समझती थी कि भाई गरीब है, 'नेवता' लेकर कैसे आ पायेगा! वह कह उठता है–'बावरी बहन! तूने यह क्यों सोचा, अरे, मैं अपनी कमर की कटार बेंचकर भी नेवता ले आता।' भाभी कह उठती है–'अरी, ननद मैं अपनी नाक की बेसर बेंचकर भी नेवता ले आती।' और बहन निहाल हो उठती है–

अरगन आये हैं परगन,
सातों ननियाउर,
एक नाहीं आये बिरन भइया,
जेनसे मैं रूठलि।
सासू भेंटहिं आपन बिरना,
ननद आपन देवर,
मोरी बजरा के छतिया न फाटै
मैं केहि उठि भेंटौं।
अस जिनि जान्यू मोरी बहिनी,
कि भइया दुखित बाटै
बहिनी बेंचत्यों मैं फांड़े कै कटरिया,
नेवत लै अवत्यों।
ननदी बेंचत्यों मैं नाकि के बेसरिया,
नेवत ले अवत्यों।

आज हम किसी के आत्मीय भाव... संबंधों को जब कोई दूसरा रंग दे... तनिक भी नहीं हिचकिचाते, उस... हम यह भूल जाते हैं कि हमारी पर... थी, जहां पिछवाड़े का लुहार, ... कुम्हार, नाई सभी भाई और ... कहकर पुकारे जाते थे और उस संबं...

की लाज रखने के लिए वे अपना उत्सर्ग तक करने को तत्पर रहते थे—

मोरे पिछवरवां लोहार भइया मितवा,
धर्में करहिया गढ़ि लावा हो राम
मोरे पिछवरवां बढ़ई भइया मितवा
धर्में चइलवा चीरि लावा हो राम
मोरे पिछवरवां नउवा भइया मितवा
बाबा आगे खबरि जनावा हो राम।
जाइ कह्या मोरे बिरना के अंगवां
तोरी बहिनी चढ़ी हैं किरियवां हो राम।

हमें वह आत्मीयता, वह सहानुभूति फिर पानी है तो इन गीतों को जीवन में जीना होगा, इनकी करुणा में भीगना होगा, इनमें अवगाहन कर स्वयं को गौरवान्वित महसूस करना होगा, अन्यथा आज की घुटन, आज की गूंगी पीड़ा हमारे अस्तित्व को, हमारी कोमलता को तिल-तिल सोखती हुई समूचा निगल जायेगी। हम मनोरंजन के कितने ही साधनों का आविष्कार कर लें, जीवन की व्यस्तता, भौतिक सुखों को कितना भी अधिक बढ़ा लें—हम दो मीठे बोलों के लिए भीड़ में खड़े-खड़े तरसा करेंगे, अकेलेपन की छटपटाहट से खंड-खंड होते रहेंगे।

आज हम अपनी संस्कृति से कटकर खोते, भूलते जा रहे हैं—यह सब कुछ। इस संस्कृति से जुड़ने के लिए उस संपूर्णता से, उस नेह से जुड़ने के लिए हमें अपनी परंपरा से, अपनी परंपरा के गीतों, कहानियों से जुड़ना होगा।

•••

जांत (चक्की) का अवधी गीत

भितरा से निसरीं हैं रानी कौसल्या नैनन
चुवइ अँसुइया हो राम!
कौने बिरिछि तरे भींजत होइहैं राम लखन
दूनों भइया, हो राम।
राम त हंये मोरी आंखे कै पुतरिया,
लछिमन हंये मोर नयका, हो राम!
सीता त हइं मोरी हाथे कलछुलिया,
कैसे-कैसे जियरा में बोधों हो राम!
राम मोरा गये भिनुसरवां,
लखन गये दुपहरियां, हो राम!
कैसे क बोधों अपना करेजवा,
सीता गईं संझ जुनियां, हो राम!
जिनि बरस्या दयवा हो वही कजरी बनवां,
नाहीं भिजिहैं मोरा लरिकवन हो राम!
राम क भिजिहैं पीला पितम्बर,

लछिमन क भींजइ पटुकवा हो राम !
सीता कै भिजिहैं सोरहो सिंगरवा,
कैसें कैसें जियरा मैं बोधों हो राम !
राम बिना मोरी सूनी अजोधिया,
लछिमन बिनु चौपरिया, हो राम !
सीता के बिनु मोरि सूनी रसोइया,
कैसे का जिया समुझावौं, हो राम !
मोरि बजरा कै छतिया फाटति नाहीं,
मैं कैसे उन्हें बन भाख्यौं हो राम।

—भीतर से रानी कौशल्या निकलीं, उनकी आंखों से आंसू चू रहे हैं। चिंतित हैं, जाने किस वृक्ष तले राम, लक्ष्मण भीग रहे होंगे। राम तो मेरी आंखों की पुतली हैं, लक्ष्मण मेरे नायक हैं। सीता मेरे हाथ की कबछी हैं। मैं कैसे हृदय में धैर्य धारण करूं? राम मेरे प्रातःकाल गये, लक्ष्मण दोपहर में, सीता मेरी सांझ की बेला में गयीं। मैं कैसे अपने हृदय को समझाऊं? हे देव! उस कदली वन में मत बरसना नहीं तो मेरे बच्चे भीग जायेंगे। राम का पीताम्बर भीग जायेगा, लक्ष्मण का पटुका, और मेरी सीता का सोलहो श्रृंगार भीग जायेगा। मैं कैसे धैर्य धारण करूं? राम के बिना मेरी अयोध्या सूनी है, लक्ष्मण के बिना चौपाल, सीता के बिना मेरी रसोई सूनी है। मैं कैसे धैर्य धारण करूं? मेरी वज्र की छाती फट क्यों नहीं गयी, मैंने उन्हें वन कैसे भेज दिया? मेरे मुख से वन जाने की आज्ञा कैसे निकली?

राम के प्रति कौशल्या की यह व्यथा लोक की हर नारी की व्यथा बन गयी। राम का व्यक्तित्व जनमानस में तरह घुल-मिल गया है कि लोक का पुत्र राम है, हर वर राम है, हर राम है और उनकी चिंता में चिंतित है, उनकी किलकारी से पुलकित होता है। मानस युग-युग से इन गीतों के से राम से एकाकार होकर सहज स्थापित करता आ रहा है।

भोजपुरी विरह गीत

नियनया हेराइ गइलीं, अंखिया पिराइ
जोहि जोहि बटिया तोहारि
अंगना म केतनी तरइया टेघ गइलीं
केतनी कोंइयवन के अंखिया निचुरि
ताकि ताकि रहिया तोहारि
बेला चमेलिया, कै सेजिया मुरुझि
परली सेजरिया पै रतिया मुरुछि
अैखिया म जरै अगियारि
आवा मिलनिया के बेलवा फिरति
परली दियरिया म बतिया जरति
दियना सरापै कोंहार।

—हे प्रिय! मेरी नींद खो गयी, तु राह देखते-देखते आंखें दुखने आंगन में कितनी तारिकाएं पिघ (मिट गयीं, अर्थात् कितनी रातें बीत कितनी कुमुदनियों की आंखें भी गयीं (अर्थात् भोर होते ही वे गयीं, लगा कि आंखों के समस्त निचुड़ गये। तुम्हारी बाट देखते-देख बेला-चमेली की सेज मुरझा चुकी, पड़ी-पड़ी रात मूर्च्छित हो गयी

आभास होता रहा कि रात आगे नहीं बढ़ रही है, स्थिर हो गयी है।) और आंखों में लगा कि धूप सुलग रही हो, हवन हो रहा हो।

आओ, प्रिय ! मिलन की बेला बीतती जा रही है। दिये में पड़ी हुई बत्ती जली जा रही है और दीपक कुम्हार को श्राप दे रहा है (कि मेरा निर्माण क्यों किया, विरहिणी के साथ जलने के लिए !)

दीपक और कुछ नहीं वियोगिनी का शरीर ही है, जिसमें बाती रूपी उसके प्राण जलते जा रहे हैं और वह विधाता को कोस रही है !

—प्रधानसंपादक उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, हिन्दी भवन, लखनऊ

□

(पृष्ठ १०७ का शेषांश)

हैं, नेता आपके खीसे से बंटा लेते हैं, फिर चुनाव में वही पैसा जीत के लिए, सत्ता के लिए लगा देते हैं। निरीह लोगों पर इससे क्या बीतती है, आप जानते हैं? जिनके लिए चुनाव और मुजरे में फ़र्क नहीं रह गया हो, उनसे आशा करते हैं कि वे रोटी सस्ती कर देंगे! इससे आदमियत सस्ती नहीं हुई है?'

मुझे भी लगा था आवेश आ गया था, पर उसे दबाते हुए आगे कह चला था। 'कभी कह सके आप, कभी पूछ सके हैं आप? आप पोलिंग एजेंट न बनकर उनके मुद्रा एजेंट बने रहे, ढोते रहे। कभी ऐंठ सके? ऐंठन के क्षणों को, साहस के साथ कहने के क्षण तक को सोच सके कभी? हमेशा दबे रहने वालों का सिर उठाने पर भी नहीं उठता, पिताजी . . .'

'ऐसे सिर काटे जाते हैं, ऐसे गधे हमेशा तोड़े जाते हैं, सहने और दबने वाले गधों के लिए अब जमाना नहीं रहा, यही न . . .? यही न . . ?!' पिताजी बीच ही में जोर-जोर से बोलते-बोलते घर से बाहर निकल गये। जाते हुए उन्होंने फिर पलटकर भी नहीं देखा।

मां चुपचाप सहमी हुई खड़ी थीं, मुन्नी भी मां के पीछे आकर खड़ी हो गयी थी, बिलकुल स्टेंचू की तरह। मुन्ना तो रोने-रोने को हो गया था, फटी-फटी आंखों से सभी को देखे जा रहा था। वैसे पिताजी जब भी इस तरह नाराज होकर गये हैं तो दुपहर तक लौट आये हैं। लेकिन आज पता नहीं क्या हो गया है? दुपहर भी बीती जा रही है। सभी जहां के तहां चुप-चाप हैं। बाहर रह-रहकर देख लेते हैं। हर चीज जैसे सहम गयी है। मैं अनुभव कर रहा हूं कि पिताजी के 'ऐसे सिर काटे जाते . . . गधे तोड़े . . . जाते हैं . .' शब्द गूंजते हुए दूर तक चले जाते हैं, बार-बार। चलो यह तो हुआ कि पिताजी के एक टुकड़े में ही सही, दर्द तो पैदा हुआ! आद-मियत की असलियत ने सिर तो उठाया, टुकड़ों में बंटने का सिलसिला तो चौंका!

सभी की निगाहें दरवाजे के पार तक जा रही हैं। सीताबर्डी, नागपुर-४४००१२

□

हमंत कारडे का जीवन-चरितात्मक लेख

□

महान यूरोपियन संगीतकार : फ्रंझ शूबर्ट

विश्वविख्यात संगीतकार फ्रंझ शूबर्ट की हाल ही में एक सौ पच्चीसवीं पुण्यस्मृति सारे विश्व में मनायी गयी।

केवल इकतीस वर्ष की अल्पायु में गरीबी की उपेक्षा उसे सहनी पड़ी, लेकिन उसकी मान्यता प्राप्त स्वर-रचनाएं उसके अंतकाल में अंधेरे में ही थीं। उत्कृष्ट संगीत रचनाएं उस वक्त किस हालत में थीं, इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। उसके अंतकाल के बाद कुछ पुराने कपड़े, फटी चद्दर तथा संगीत नोटेशन के कुछ कागज—इतनी ही भौतिक चीज़ें उसके पास पायी गयी थीं।

सन १७९७ में उसका जन्म हुआ। वह घर में तेरहवां बालक था। पिता स्कूल मास्टर थे। पिता तथा बड़े भाई से संगीत की प्राथमिक शिक्षा उसे मिली। वियना के कॉनव्हिक्ट स्कूल में, जो एक-मात्र संगीत स्कूल था, उसे नौकरी मिली। स्कूल के वाद्यवृन्द में वह जोश के साथ सहभागी होता था। जब वह सोलह वर्ष का था, उसी वक्त कॉनव्हिक्ट स्कूल छोड़-कर पिता जिस स्कूल में नौकरी पर थे, उसी स्कूल में निम्नतर क्लास को पढ़ाने के लिए अध्यापक की हैसियत से वह पर रहा।

असल में उसका दिल अध्याप[क] नौकरी में लगता नहीं था, किन्[तु] स्थितिवश तथा पिता के डर [से] अध्यापक की नौकरी कर रहा था। [इन] दिनों उसे काफी ज्ञान प्राप्त होने [का] सौभाग्य मिला। तीन सिंफनीज, वाद्य[...] ऑपेरा, चर्च-संगीत तथा लगभ[ग ...] से भी अधिक गीतों को उसने स[...] किया था।

सन १८१६ का साल उसके जी[वन को] सही दिशा देने वाला ठहरा। [...] विभाग का अभ्यासक शोबर ना[म का] उसका एक मित्र था। उस मित्र [...] की स्थिति काफी अच्छी थी। उसने [...] का संगीत सुना था। संगीत का [...] अच्छा ज्ञान जिसे है, उसके लिए अ[...] की मामूली-सी नौकरी करना, [...] मतलब जीवन के महत्वपूर्ण सम[य की] बरबादी है, ऐसा शोबर को लगा। [...] शूबर्ट को अध्यापक की नौकरी छो[ड़ने] के लिए कहा। इतना ही नहीं, उस[...] से इस्तीफा देने के लिए उसको

मजबूर कर दिया। और शूबर्ट की उसने हर किस्म की मदद भी की। अब उसको स्कूल में बच्चों को गणित पढ़ाना नहीं था, उसी प्रकार शब्दों की स्पेलिंग्स बताने की ज़रूरत नहीं थी, बस, अंतरंग के भावों को, हृदयस्थ स्रोत को स्वरबद्ध करना था। संगीत स्वरों तथा नादों में अब पूरा समय व्यतीत होने लगा। दिलोजान से रात-दिन स्वरों पर मानो वह स्वयं समर्पित हुआ था। एक के पश्चात् एक गीत स्वरबद्ध करता चला गया। मित्र की सलाह एवं मदद मानो एक ईश्वरीय चमत्कार ही था उसके लिए।

टी. वी. वालों ने मात्र उसकी ग़रीबी तथा मजबूरी का उलटा लाभ उठाया। जितना हो सका, उतना कम मानधन देकर उसकी संगीत रचनाएं उन्होंने खरीद लीं। दरिद्रता के कठिन दिन बीत रहे थे। कभी कभार एक-दो ट्यूशन मिल जाती थीं और कुछ पैसे नसीब होते थे। 'दी ट्राउट' शीर्षक मानी हुई स्वर-रचना इन्हीं दिनों की देन है।

सन १८२६ का साल उसकी स्वर-रचनाओं की दृष्टि से भरापूरा था। शूबर्ट के जीवनकाल में यह साल उत्कृष्टतम यशराशि का फलरूप दर्शन था। 'अंदान्ते' शीर्षक मशहूर शोकगीत के ध्वनिमुद्रण के समय शूबर्ट के स्वर सुनकर एक पियानो कलाकार ने शूबर्ट को गले लगा लिया था, उसके हाथ चूम लिये थे। यह उत्कृष्ट स्वर-रचना स्वरों की मानो भाव-यात्रा

फ्रांस शूबर्ट

ही है। शोकपूर्ण स्वर-रचनाओं की निर्मिति में पश्चिमी संगीतकारों में शूबर्ट सर्वोत्तम कलावंत था।

घर में सत्रह बच्चे थे। संगीत स्कूल के होस्टल में नित्य उपयोग का साहित्य भी उसके पिता उसे नहीं दे सके। पेटभर खाना नहीं मिलता था। वियना के जाड़े के दिनों में अपर्याप्त वस्त्र तथा बिस्तर के कारण वह सिहर उठता था। शरीर सर्दी से सिहरता था। ऐसी हालत में वह शिक्षा पाता था।

'दी अर्ल किंग' गीत दृश्यचित्रों का उत्तम नमूना है। इस गीत के अंतर्गत पियानो की ध्वनि को एक विश्व चमत्कार माना जाता है। घने काले अंधेरे को चीरते अश्वारोही तेज़ी से जा रहा है—कालशत्रु

उसका पीछा कर रहा है . . . ऐसा दृश्य पियानों की ध्वनि से आंखों के सामने आ जाता है । पियानों की द्रुतधुन ही एक स्वयंपूर्ण गीत का अनुभव देती है । आनंद तथा आश्चर्य तो इस बात का है कि इस गीत को शूबर्ट ने एक दुपहर को एक साथ एकदम स्वरबद्ध किया था ।

कविता संग्रह की विशिष्ट कविता पर ध्यान देकर, एक-दो बार पढ़ने के पश्चात् उसे जैसे चाहिये, वैसे स्वर मिल जाते थे । और कवि का उद्देश्य शब्दों के साथ आयी हुई उसकी भावना को वह बड़ी समर्थता के साथ स्वरों में पकड़ता था । नोटेशन लिखकर रखता था । अति उच्च कोटि की प्रामाणिकता के साथ स्वरमालाएं ढूंढ़ ली जाती थीं । फिर संगीत पर निर्मल निष्ठा जो थी, वह चैतन्यदायी रूप में सज उठती थी ।

कहानी एक इतवार की है : मित्रों के साथ शूबर्ट घूमने निकला । एक रेस्तरां में कोने की एक मेज के समीप उसको एक मित्र दिखाई दिया । मित्र के हाथों में कविता की पुस्तक थी । वह क्या पढ़ रहा है, यह जानने की जिज्ञासा से उसने मित्र के हाथों से किताब ली । खोलकर एक कविता पढ़ी और तुरंत बोल पड़ा, 'मिल गयी ! इस कविता की स्वरमाला मिल गयी ! हाय ! मेरे पास कागज का टुकड़ा भी नहीं कि मैं नोटेशन लिख सकूं . . . ' मित्र के पास एक पुराना टिकट था, बस उसी टिकट के दूसरी तरफ नोटेशन तैयार । शूबर्ट का स्वरबद्ध किया हुआ, शेक्सपियर का [illegible] हार्क दी लार्क' गीत सारी दुनिया [illegible] प्रख्यात हो गया ।

गीतों को स्वरबद्ध करने की [illegible] रफ्तार इतनी तेज थी कि किस गीत [illegible] किस ढंग से स्वरबद्ध किया गया है [illegible] कुछ क्षण वह भूल जाता था । एक [illegible] बड़ी मजेदार घटना हुई । पियानो [illegible] एक मित्र ने अपनी लिखावट में एक [illegible] रख दिया । शूबर्ट ने उसे पियानो [illegible] बजाया और बोला, 'अच्छा है । किसने [illegible] बद्ध किया है यह ?' मित्र तुरंत बोल [illegible] 'क्यों ? तुमने ही तो इस गीत को स्व[illegible] किया है । दो हफ्ते पहले तुम्हीं ने दे [illegible] दिया था यह नोटेशन । मैंने सोचा [illegible] अपने हस्ताक्षर में लिखूं और लिख [illegible] बस !' ऐसी थी शूबर्ट की मानसिकता [illegible] इतनी अल्प आयु में उसने छः सौ से [illegible] गीतों को स्वरबद्ध किया । शुरू [illegible] टी. वी. वाले तो उसकी रचनाओं की [illegible] ध्यान ही नहीं दिया करते थे किंतु [illegible] तो धंधा ही करना था । उन्होंने [illegible] रचनाएं लीं । शूबर्ट की कला पर [illegible] कर रहे थे वे । अलौकिक कला-[illegible] यह कलाकार आयु के अंत तक [illegible] तथा किस्मत का मारा ही रहा ।

शूबर्ट का समकालीन संगीतकार [illegible] विन भी वियना निवासी ही था । बि[illegible] की आर्थिक स्थिति शूबर्ट की [illegible] कई गुना अच्छी थी । उसके मित्र [illegible] थे । बिथोविन को तो मृत्यु से [illegible]

प्रसिद्धि तथा नाम मिले थे। शूबर्ट के मित्रों की हालत भी शूबर्ट जैसी ही थी। इसी कारण, बिथोविन को शूबर्ट के बारे में अधिक कुछ मालूम नहीं था। किंतु, शूबर्ट को बिथोविन के लिए आदर था तथा श्रद्धा थी। एक मित्र के ज़रिये बिथोविन और शूबर्ट की भेंट हुई थी। शूबर्ट के कुछ गीतों का संगीत सुनकर बिथोविन ने कहा था, 'सचमुच शूबर्ट को ईश्वर से अलौकिक अनोखी देन मिली है।'

बिथोविन मृत्यु शैया पर था और वह अंतकाल तक शूबर्ट के संगीत नोटेशन पढ़ कर खुले दिल से शूबर्ट की संगीत-कला की सराहना करता रहा। बिथोविन की मृत्यु से शूबर्ट को गहरा दुख हुआ। आंसुओं से उसका चेहरा भीग गया। तीस साल के शूबर्ट को उस समय कल्पना भी नहीं थी कि उसकी जीवन-यात्रा सिर्फ एक साल ही बची है। बिथोविन की कब्र के पास ही अपनी कब्र हो, यही शूबर्ट की अंतिम इच्छा थी। उसकी यह आखिरी ख्वाहिश पूरी हुई। उसकी कब्र पर लिखा हुआ है–

इस प्रस्तर के नीचे–
मौन छिपा संगीत खज़ाना।
फिर भी जीवन यात्रा–
है एक आशा सपना।

इतनी छोटी-सी जीवन यात्रा में इस विलक्षण संगीतकार का अंतःकरण ममता से भरा था। कष्ट था, दुःख था, किन्तु साथ ही साथ मित्रों का प्रेम था। घर में ग़रीबी के कारण संगीत की शिक्षा कैसे हो पायी होगी, इसकी कल्पना करना संभव नहीं। पंछी आसमान में उड़ते हैं, उन्हें कौन शिक्षा देता है, उनके कौन से स्कूल होते हैं, जहां उन्हें उड़ने का प्रशिक्षण मिलता है? उन्हें तो जीवन में जन्म के साथ ही ईश्वरीय देन मिलती है, ठीक उसी प्रकार शूबर्ट संगीत का खज़ाना लेकर ही मानो अल्प जीवन लेकर आया था।

भव्य कपोल, सुंदर होंठ, धनुषाकार भौंहें, नीली आंखें तथा पूर्ण आत्मविश्वास का दर्शन रूप था शूबर्ट। अभिजात कलापूर्ण संगीतब करने वाले महान संगीत-कार ने संगीत कला के लिए अपनी अल्प आयु का होमकर महायात्रा के लिए अलविदा ली। एक महान जीवन ने स्वरों का खज़ाना पीछे छोड़कर प्रस्थान किया। पाश्चात्य संगीत-जगत में शूबर्ट अमर है। उसकी रचनाओं के साथ उसकी यादें हमेशा तरोताज़ा रहेंगी।

('महाराष्ट्र मानस' से साभार)

☐

मिस्टर मॉर्ले से एक व्यक्ति ने पूछा कि क्या कभी आपको ऐसी रचना बनाने में कामयाबी मिली जो आपकी मृत्यु के बाद भी जीवित रहे?

मॉर्ले ने जवाब दिया–अभी तक तो मैं ऐसी ही रचना बनाने का यत्न कर रहा हूं जो मृत्यु से पहले मुझे जीवित रखने में कामयाब हो सके। –डा. गोपाल प्रसाद 'वंशी'

☐

मीनाक्षी गुप्त द्वारा आलेखित

एक अज्ञात तपस्विनी की रोमांचक जी[illegible]

देवांशिनी प्रवदा कुल छब्बीस वर्ष की तरुण वय में, इस काया के चोले [illegible] चुपचाप उतार कर, अनायास हिमालय की शिखरमाला में अन्तर्धान हो ग[illegible] कहा गया कि उसकी मृत्यु हो गयी है।...

...लेकिन यह क्या कि आधी रातों में अचानक उसके कमरे में से उ[illegible] आवाज सुनायी पड़ती है। वह अपनी कलाकार छोटी बहन मीनाक्षी के स[illegible] में सांगोपांग प्रकट होती है। उससे लम्बी देर तक बातें करती है। कहती [illegible] कि वह तो कहीं गयी नहीं...उसे नहीं पता कि उसकी मृत्यु हो गयी है।

प्रवदा श्रीमां और श्रीअरविन्द की आत्मजा बेटी थी। श्रीमां की कृपा के [illegible] गहन अनुभव हुए थे। अपार कष्टों के बीच भी भाव, ज्ञान, सौन्दर्य और [illegible] का जो अनाहत जीवन वह जीती चली गयी, वह उसके जन्मजात योगि[illegible] होने का प्रमाण देता है। अपनी ढेरों कविताओं, कथाओं, डायरियों, [illegible] और खास कर अपने आत्मिक सहयात्रियों और सहचरों को लिखे गहरे [illegible] शील पत्रों में, वह अपनी आत्मा का अमृत निचोड़ गयी है। यहां प्र[illegible] उसकी जीवन-कथा में, उसकी प्यारी नन्ही बहन मीनाक्षी ने अपनी जीजी [illegible] जीवन को जिस भाव-विह्वलता और तलस्पर्शिता से लिखा है, उससे देवां[illegible] प्रवदा की महान आत्मा की एक झलक पाठकों को अवश्य मिल सकेगी।

'वह—प्रवदा गुप्ता—देवांशिनी थी, जगदीश्वर की वह चित्रकला थी, श्रीमां की आत्मजा थी... उसका आत्म-संघर्ष अबूझ था। वह पल-पल अपने अस्तित्व की यातना से लड़ रही थी। तिल-तिल हवन हो रही थी।... उसकी अनुभूति अतल-वेधी थी, वह विकास के उच्च से उच्चतर शिखरों पर आरोहण करने का बड़ा भीषण [illegible] कर रही थी। वह कितनी स[illegible] निरासक्त थी।... वह अपने आत्म[illegible] में अंत तक घुटती हुई, काया क[illegible] फेंककर चली गयी।'

(श्री वीरेंद्रकुमार जैन : २४ मार्च [illegible] के [illegible]

देवांशिनी प्रवदा, जो पार्थिव देहत्याग करके भी अपने

मीनाक्षी गुप्ता द्वारा आलेखित

एक अज्ञात तपस्विनी की रोमांचक जीव

देवांशिनी प्रवदा कुल छब्बीस वर्ष की तरुण वय में, इस काया के चोले चुपचाप उतार कर, अनायास हिमालय की शिखरमाला में अन्तर्धान हो ग कहा गया कि उसकी मृत्यु हो गयी है।...

...लेकिन यह क्या कि आधी रातों में अचानक उसके कमरे में से उस आवाज सुनायी पड़ती है। वह अपनी कलाकार छोटी बहन मीनाक्षी के सा में सांगोपांग प्रकट होती है। उससे लम्बी देर तक बातें करती है। कहती कि वह तो कहीं गयी नहीं...उसे नहीं पता कि उसकी मृत्यु हो गयी है।

प्रवदा श्रीमां और श्रीअरविन्द की आत्मजा बेटी थी। श्रीमां की कृपा के गहन अनुभव हुए थे। अपार कष्टों के बीच भी भाव, ज्ञान, सौन्दर्य और का जो अनाहत जीवन वह जीती चली गयी, वह उसके जन्मजात योगि होने का प्रमाण देता है। अपनी ढेरों कविताओं, कथाओं, डायरियों, और खास कर अपने आत्मिक सहयात्रियों और सहचरों को लिखे गहरे मर्म शील पत्रों में, वह अपनी आत्मा का अमृत निचोड़ गयी है। यहां प्र उसकी जीवन-कथा में, उसकी प्यारी नन्ही बहन मीनाक्षी ने अपनी जीजी जीवन को जिस भाव-विह्वलता और तलस्पर्शिता से लिखा है, उससे देवां प्रवदा की महान आत्मा की एक झलक पाठकों को अवश्य मिल सकेगी।

'वह–प्रवदा गुप्ता–देवांशिनी थी, जगदीश्वर की वह चित्रकला थी, श्रीमां की आत्मजा थी... उसका आत्म-संघर्ष अबूझ था। वह पल-पल अपने अस्तित्व की यातना से लड़ रही थी। तिल-तिल हवन हो रही थी।... उसकी अनुभूति अतल-बेधी थी, वह विकास के उच्च से उच्चतर शिखरों पर आरोहण करने का बड़ा भीषण कर रही थी। वह कितनी सम्पूर्ण निरासक्त थी।... वह अपने आत्म में अंत तक घुटती हुई, काया का फेंककर चली गयी।'

(श्री वीरेंद्रकुमार जैन : २४ मार्च, के

देवांशिनी प्रवदा : जो पार्थिव देहत्याग करके भी अपने

'भगवान की ओर से कुछ ज्योतियां बहुत थोड़े समय के लिए ही आती हैं, परन्तु उनका महत्त्व भी यह संसार समझने में असमर्थ रहता है। अतः वह परम ज्योति उस ज्योति को फिर जल्दी ही अपने अन्दर समेट लेती है। प्रवदा गुप्ता ऐसी ही एक दिव्य ज्योति थी।'

(श्री करुणजी, श्रीअरविन्द निकेतन चरथावल, मुजफ्फरनगर)

'प्रवदा ने जीवन भर ही संघर्ष किया; क्योंकि उसकी विचारधारा इस युग से कहीं आगे की थी, और साधारण मानव-बुद्धि की समझ के बाहर थी। .... हर संभव प्रयास किया था उसने परिस्थितियों से समझौता करने का। और जूझते-जूझते उसका स्थूल शरीर भले ही हार मान गया हो, किंतु उसकी आत्मा ने कभी हार नहीं मानी। इसका प्रतीक थी वह दिव्य आभा जो उसके चेहरे पर, ४४ घंटे तक बर्फ़ की सिल्लियों पर पड़े रहने के पश्चात् भी आलोकित रही।'

(श्रीमती पुष्पलता सक्सेना, अध्यक्ष, इतिहास विभाग, साहू रामस्वरूप क. म. वि. बरेली।)

'प्रवदाजी को शायद सही-सही समझा नहीं जा सका। दुनिया ऐसी विभूतियों को जीतेजी नहीं समझ पाती। प्रवदा किसी जन्म की तपस्विनी थीं। . . संसार उन्हें भाया नहीं तो चली गयीं। उनका मन संसार में था ही नहीं।'

(श्री बचनेश त्रिपाठी, 'राष्ट्रधर्म' लखनऊ)

'...विवश होकर उसे पूर्ण सम
साथ प्रतिकूल परिस्थितियों में से
विकसित होने का निर्णय लेना पड़ा।
जब उन परिस्थितियों में विकसित
का रास्ता अवरुद्ध हो गया तो उसे
छोड़ना पड़ा।'

(श्री प्रत्यूषकुमार गुप्त (भाई),
मुन्नालाल इंटर कॉलेज, वजीरगंज,

ये हैं कुछ उद्गार, जो अनेक प्रबु
गणमान्य व्यक्तियों ने मेरी जीजी
गुप्ता की दिव्यता, अंतर्निहित परम
शक्ति एवं ज्योति को पहचान तथा
कर व्यक्त किये थे।

७ अक्तूबर, १९५२ को मंगली
में एक साधारण परिवार में जन्मी
बड़ी बहिन उन दिव्यात्माओं में थीं,
सही पहचान और मूल्यांकन उनके
काल में नहीं हो पाता।

लेकिन, मैंने उन आत्मिक
की झलक ले ली थी, जिसमें
उन्हें देख चुकी थी। मगर मेरी
वैसी ही थी, जैसे गूंगे का गुड़।
उन्होंने मुझसे कहा भी था, 'हां
मुझे कहीं कुछ समझ पाती है।
होती है, यह देखकर।'

किंतु पूरा उन्हें मैं भी कभी नहीं
पायी।

एक पत्र में उन्होंने मुझे लिखा
'मुझे इस बात का बहुत दुख
मुझे कोई भी नहीं समझता।...
पात्र नहीं। और, एक तुम से कहूं

भी मेरी बात नहीं समझ पातीं। यह बात मैं अच्छी तरह जान गयी हूं।'

मैं उन्हें जीजी कहती हूं, पर जीजी से अधिक उन्हें अज्ञात तपस्विनी, देवांशिनी, श्रीमां की सच्ची आत्मजा मानती थी। उनका संपूर्ण जीवन अध्यात्ममय था। बचपन से ही, उनके सारे क्रिया-कलाप आध्यात्मिकता से परिवेष्ठित थे। ज्ञान, भक्ति और कर्म की एक अद्भुत त्रिवेणी उनके अंतर में सहजरूप से प्रवाहित रहती थी।

मेरी जीजी ने भौतिक कष्टों की शैया पर ही अपने नेत्र खोले। वे आरंभ से ही निश्छल और निष्कपट थीं। सत्य और सच्चे प्रेम की उनकी प्यास सदा तीव्र, किंतु अनबुझी रही।

इस दिव्यात्मा ने दुनिया को बहुत कुछ देना चाहा, किंतु बदले में दुनिया ने उसे क्या दिया? घृणा, छल-कपट और झूठा व्यवहार। न जाने कितनी बार वे मृग-मरीचिकाओं में भटकीं। न जाने कितनी बार उन्होंने शाश्वत सत्यों पर आधारित हवा-महल खड़े किये, जो देखते ही देखते धराशायी होकर गिर पड़े। न जाने कितनी बार वे निराशांध होकर अंधेरे पथ पर आगे बढ़ीं, ज्योति की तलाश में, पर निराशा का घना अंधकार उनके चारों ओर और अधिक गाढ़ा होता चला गया। लेकिन, उन्होंने आशा का परित्याग नहीं किया, और ना ही अपने धैर्य को छोड़ा। वे जितनी हताश होती गयीं, उतनी ही उनकी यह आस्था और अधिक बलवती होती गयी कि देवनिर्मित यह जगत न मिथ्या है, न उद्देश्यहीन।

०००

और तभी उनके जीवन में एक अप्रत्याशित मोड़ आया।

प्रवदा अपनी मर्मी चित्रकार बहन मीनाक्षी के साथ

हिंदी में एम. ए. करने के पश्चात् वे बरेली कॉलेज, बरेली में बी. एड. का प्रशिक्षण ले रही थीं कि एक दिन उन्हें पांडिचेरी आश्रम से आये श्री देवदत्तजी के मुख से श्रीअरविंद-दर्शन के बारे में सुनने को मिला। जैसे, 'पारस' का स्पर्श हो गया हो। श्री अरविंद-दर्शन से बेहतर ढंग से परिचित होने की तीव्र आकांक्षा उनके मन में जाग उठी। उन्होंने ढूंढ़-ढूंढ़ कर श्रीअर-

विंद-विरचित ग्रंथों का अध्ययन आरंभ कर दिया ।

इस बीच, पिताजी का तबादला बरेली से पीलीभीत हो गया ।

जीजी की पढ़ाई छूट चुकी थी । नौकरी के लिए निष्फल प्रयास करते-करते, मन निराशा से लबालब भर चुका था । दिशा-शून्य और लक्ष्य-विहीन जीवन में एकमात्र आत्मिक संबल था श्रीअरविंद-दर्शन का ।

श्रीअरविंद के प्रवचनों से प्रभावित होकर, प्रेम और भक्ति की उनकी भावना अब मानवीय सम्बन्धों पर आधारित न होकर, शुद्ध-सूक्ष्म शाश्वत सत्य की ओर उन्मुख होने लगी थी ।

यह समय उनकी ऐसी शून्यात्मक स्थिति का समय था, जब अरविंद-दर्शन के आलोक में उनके सारे आंतरिक एवं बाह्य संघर्ष मंद पड़ चुके थे । सारे भावावेग शांत हो गये थे । उन्हें न भूत का दुख था, न भविष्य की चिंता । वर्तमान में थी, तो एक सर्वव्यापक नीरवता । एक या डेढ़ वर्ष का यह समय उनके लिए बड़ा आनंदमय और विश्रांतिदायक सिद्ध हुआ ।

पीलीभीत में एक 'कोचिंग-क्लासेस' किस्म के महिला विद्यालय ने उन्हें किसी साक्षात्कार के शिक्षिका के प नियुक्त कर दिया । डूबते को तिन सहारा मिला, जैसे । शिक्षण से उन्हें से ही सहज लगाव था । इस महावि में वे हाई स्कूल से लेकर बी. ए. त कक्षाओं को चार-चार विषय तक प थीं । इतना श्रम करने का जो परि होना था, वही हु उनकी पहले से काया अब 'निम्न चाप' से भी रहने लगी ।

एक डॉक्टर दिखाया, तो वे 'आश्चर्य है ! कम रक्तचाप भी आप चल-फि कैसे लेती हैं? स्थिति में तो कभी भी खाकर बेहोश गिर सकती उनकी और घरवालों की सलाह विद्यालय की नौकरी छोड़ दें । रुपयों के लिए इतनी मेहनत कर क्या जरूरत है ? किंतु, उनकी दृ पैसे का इतना महत्त्व न था, जित का था, दूसरों को शिक्षित करने का

एक वर्ष पश्चात्, महाविद्या प्रधानाचार्या ने मुझे भी सब कक्षा

चित्रकला की शिक्षा के हेतु रख लिया। एक वर्ष तो हम दोनों ने जैसे-तैसे काटा, मगर फिर प्रधानाचार्या का अन्याय न सह सकने के कारण, हम दोनों ने वहां से त्यागपत्र दे दिया, और 'श्रीअरविंद स्मारक बालिका शिक्षा-केंद्र' की स्थापना कर ली।

इधर जीजी ने विद्यालय की प्रधानाचार्या की सिफारिश से पी-एच. डी. करने का निश्चय कर लिया था। पी-एच. डी. का विषय अरविंद-दर्शन से ही संबंधित था – 'अरविंद-दर्शन की मूल मान्यताएं और हिंदी साहित्य में उनकी अभिव्यक्ति'।

इस प्रसंग में यह कह देना उचित होगा कि उन्होंने पी-एच. डी. के लिए यह विषय नहीं चुना था, बल्कि इस विषय के गहन अध्ययन के लिए ही पी-एच. डी. को इसके माध्यम के रूप में चुना था।

ooo

उनके जीवन-काल की यह अवधि जटिल परिस्थितियों और भीषण विषमताओं से पूर्ण थी। उन पर स्वस्थापित बालिका शिक्षा-केंद्र की जिम्मेदारी तो थी ही, उनकी इच्छा के विरुद्ध उनके विवाह की बातें भी चलनी आरंभ हो गयी थीं। एक ओर वे विवाह-बंधन में नहीं बंधना चाहती थीं, तो दूसरी ओर उन्हें माता-पिता पर भी दया आती थी, जो उनके विवाह के लिए दर-दर की ठोकरें खा रहे थे। अंत में माता-पिता को उनके कष्टों और संघर्षों से मुक्त करने के लिए उन्होंने विवाह के लिए स्वीकारोक्ति दे दी।

स्वीकारोक्ति तो दे दी, किंतु उनका आंतरिक संघर्ष इस पर भी समाप्त न हुआ, और उल्टे दिनोंदिन उग्र होने लगा। और जब यह संघर्ष असह्य हो उठा, तो उन्होंने इससे मुक्ति पाने के लिए मन ही मन पांडिचेरी आश्रम में जाने का निश्चय किया। और एक दिन माता-पिता की अनुपस्थिति में केवल मुझे बतलाकर, वे चुपचाप अकेली ही पांडिचेरी चली गयीं। उस समय मैंने उनके नेत्रों में दिव्य ज्योति के दर्शन किये थे। और मैं पूर्ण आश्वस्त थी कि कौन है दुनिया में ऐसा, जो इस दिव्य शक्ति का बाल भी बांका कर सके।

किंतु, पांडिचेरी पहुंचकर भी उनके मन को शांति न मिल सकी। वहां उन्हें अनेक कष्ट अनुभव हुए। वहां सभी उन्हें संदिग्ध दृष्टि से देखते थे। शायद सबका खयाल था कि घर से चोरी-चोरी आकर उन्होंने कोई निंदनीय या अशोभनीय कार्य किया है।

खैर, उनके दुखी मन ने इन व्याघातों को भी सहन किया। और साथ ही सहन किया वह आर्थिक कष्ट भी, जो आश्रम में पहुंचने और वहां रहने पर उन्हें हो रहा था। ऊपर से घर की चिंता, विशेष रूप से अर्द्ध-विक्षिप्त-सी मां की कि उन पर मेरे इस तरह घर छोड़ देने की खबर सुनकर क्या बीती होगी?

और एक दिन मुझे वहां से मिला उनका आंसुओं से भीगा लंबा-चौड़ा पत्र, जिसके

एक वाक्य ने मुझे बींध कर रख दिया। लिखा था, 'समझ में नहीं आता, मैं इन प्राणों को कहां फेंकूं?'

०००

चार-पांच दिनों में ही, माता-पिता उन्हें पांडिचेरी आश्रम से वापस ले आये।

और पांडिचेरी से वापस आने के बाद, १ मई, १९७८ को आर्य समाज मंदिर में जीजी का विवाह हो गया। और शायद इसके साथ ही, विधाता ने उनके अंत की व्यवस्था भी कर दी; क्योंकि विवाह के दिन से ही उनके अंत का प्रारंभ भी हो गया। विवाह के बाद, उनके जीवन का प्रत्येक क्षण यातनाओं का विष पीते-पीते, और दारुण कष्टों की ज्वालाओं में जलते-जलते व्यतीत हुआ। उन दिनों की उनकी मनःस्थिति का अनुमान, उन दिनों लिखी गयी उनकी 'अंगारा' कविता के इन अंशों को पढ़कर लगाया जा सकता है:

पर, दुनिया के अंधेरे में, एक अंगारा मिला,
अभागी समझ बैठी उसे
ज्योतिपुंज ज्योतिर्मय
अलौकिक, स्वर्णिम, दमकता, झलमलाता
आशा में दमके नयन,
ललककर उठा लिया,
हृदय से लगा लिया, किंतु . . .
आह! दर्द से मैं चीख उठी, सिसक उठी
झुलस गया अंग-अंग। ओह, सोचा था,
जिससे अंधियारा मिटाना,
वह ज्योतिपुंज न था। प्राणों को भस्म करके,
राख बनाने वाला,
बिलकुल अन्यों जैसा, मात्र अंगारा ही
अं . . . गा . . . रा . . .!

और जब इस अंगारे से भस्मीभूत उनकी सहन-शक्ति जवाब देने लगी, वह 'नहीं चाहिये' कहकर विद्रोह कर

कुछ भी कहो, कुछ भी न चाहिये
विष से बुझा मीठा संगीत न चाहि
दो भर-भर के प्याले तिक्त जहर के,
यह विषमय सुधा के कलश नहीं चाहि
दो घृणा और अपमान कितना भी,
अहसानों से बोझिल दया की
भीख नहीं चाहिये।
विष से भरे बाणों से उर को चीर दे,
जब चाहें झिड़क दें पशुवत, दुतका
भरे बाजार में,
ढुलमुल प्रगाढ़ालिंगन का
क्षणभंगुर भाव नहीं चाहिये।
रहे सूखी नेह के जल से नदी,
तिलमिल, सुखा देने वाला अंगारा
हमें नहीं चाहिये।

३० अक्तूबर, १९७९ को मुझे पत्र में वे अपने पति के बारे में कहती हैं:

'इनकी प्रसन्नता का तो प्रश्न ही उठता। शायद जीवनभर बड़े से बड़ा करके, अपने आदर्शों से गिरकर अपनी आत्मा को गलाकर भी मैं प्रसन्न नहीं कर सकती। यदि यही भाग्य में होता, तो क्या भगवान मुझ लड़की को ऐसा घोर संसारी, अहं भोगी कुटिल व्यक्ति देते। मुझे ऐसा कर्मक्षेत्र देते।'

वैवाहिक जीवन की अपनी यातनाओं को वे सिर्फ मुझ पर ही ज़ाहिर करती थीं। किसी और से वे कुछ नहीं कहती थीं, और अपने अंतर की घनीभूत वेदना को चुपचाप सहनकर, अपने कर्तव्यों एवं दायित्वों को अकेली ही निभाती रहती थीं।

वस्तुत: जब उन्होंने स्वयं को विवाह के लिए राज़ी किया था, तभी से उन्होंने स्वयं को तिल-तिलकर मारना प्रारंभ कर दिया था। २४ घंटों के उनके दिन में नींद के २-३ घंटों को छोड़कर, विश्राम के लिए कोई स्थान न था। निरंतर काम, काम, काम और काम। घर का काम, ससुराल वालों का काम, और अपने पति का काम। इन क्षणों में, बस एकाध घंटा ही उनकी 'थीसिस' के लिए सुरक्षित था। नींद के लिए नियत २-३ घंटे भी प्राय: जागते-जागते या रोते-रोते ही बीतते थे।

०००

अपने निधन से ३-४ दिन पूर्व वे अपने मातृगृह से रानी बाग़ (अपने निवास-स्थान) गयी थीं, तभी शारीरिक और मानसिक वेदनाओं की स्थिति में १३ मार्च, १९८० की रात्रि को कॉलरा हो गया था। तब उनके मुंह ये मर्मभेदी शब्द निकले थे, 'हे प्रभो! यदि तेरी ऐसी ही इच्छा है, तो इतना अधिक कष्ट देने से अच्छा है कि तू मुझे उठा ले।'

और इसके तुरंत बाद ही उनका प्राणांत हो गया। छटपटाती उनकी आत्मा भौतिक शरीर की कारा से मुक्त होकर अनंत में विलीन हो गयी।

अपने को जैनेंद्रकुमार के 'त्यागपत्र' उपन्यास की मृणाल मानकर, वे मुझे प्रमोद कहा करती थीं। उनके जाने के बाद मुझे लगा, मेरी मृणाल मुझ प्रमोद को अकेला छोड़कर चली गयी। 'त्यागपत्र' के प्रमोद की ही भांति मैं अपनी जीजी से मिलना तो दूर उनके दर्शन भी न कर सकी। उनके कमरे में गयी, तो पाया कि सब वस्तुएं अपनी जगह मौजूद थीं। मौजूद नहीं थीं, तो मेरी जीजी, जो कहीं भी नज़र न आते हुए भी, कण-कण में प्रतिभासित हो रही थीं।

जीजी सदा-सदा के लिए चली गयीं हैं, ऐसा लगता ही न था। लगता था, अभी-अभी कोई दु:स्वप्न देखकर उठी हूं।

और, उनके निधन के कुछ समय पश्चात्, मुझे हुआ, एक ऐसा अलौकिक, अनुभव, जो मेरी जीजी से ही संबंधित है।

०००

जीजी की याद आते ही, एक बात सबसे अधिक मन को कचोटती है, और वह यह कि घर-परिवार में और बाहर कोई भी उन्हें समझ नहीं सका था। मां ने वैसे यह जान लिया था कि आध्यात्मिक भावावेग में आसानी से वह गयी उनकी भोली बेटी कहीं संन्यासिनी न हो जाये, उन्हें घरेलू कामों में निपुण बनाने की ओर मां ने अधिक ध्यान दिया था। मां ने ही जीजी की पढ़ायी-लिखायी अधूरी छुड़वाकर उन्हें विवाह-

बंधन में बांधने का अथक प्रयास किया था। वे चाहती थीं कि घर-परिवार और संसार से जीजी का मोह छूटने न पाये।

जीजी ने भी उनकी भावनाओं का आदर कर उनके सब आदेशों को शिरोधार्य किया था। उन्होंने अपना जीवन मां तथा परिवार के सदस्यों के सुख के लिए समर्पित कर दिया था। और इसके बदले में उन्हें चाहिये था—प्रेम, शांति और सर्वत्र छाया उल्लास। अपनी इस आंतरिक अभिलाषा को उन्होंने इन शब्दों में व्यक्त किया था, 'जी चाहता है, चारों ओर प्रेम, शांति, उल्लास और शांति की वर्षा हो। सब ओर अमृत-ही-अमृत हो, इसी प्रयास में चाहे विषपान भी करना पड़े, तो भी तत्पर हूं।'

सत्य की जिस अग्नि में तपकर वे कंचन बनी थीं, उसी में तपाकर वे दूसरों को भी कंचन बनाने के लिए सदैव तत्पर रहा करती थीं। उनके इसी समर्पित जीवन को देखकर मैं उन्हें 'मोमबत्ती' कहा करती थी। मोमबत्ती, जो स्वयं तिल-तिल कर जलती हुई, दूसरों को प्रकाश देती है, उनका अंधेरा पथ आलोकित करती है। मोमबत्ती, जिसके प्रकाश-पुंज से अनेक लौ फूट रही हैं।

प्राणांत के ५२ घंटे बाद तक, अंतिम संस्कार के क्षणों तक उनके मुखमंडल पर जो दिव्य आभा विद्यमान थी, वह उसी तप के परिणामस्वरूप थी, जो आजीवन उन्होंने किया था।

यह विचित्र अनुभूति मुझे उनके [illegible] के पश्चात् ही हुई कि हम दोनों एक [illegible] को इतना अधिक चाहते थे कि 'दो [illegible] एक आत्मा' वाली कल्पना साकार [illegible] गयी थी। उनके देह-त्याग के बाद [illegible] मुझे लग रहा था कि उनकी और [illegible] आत्मा एकाकार हो गयी है।

एक और विचित्र अनुभव मुझे [illegible] मृत्यु के बाद हुआ। घर का प्रत्येक [illegible] शोकाकुल था, किंतु रो नहीं [illegible] और ज्ञान, प्रेम और शांति की [illegible] कर रहा था। उनकी जो सच्ची [illegible] लोगों को उनके जीते जी नहीं हो [illegible] थी, वह उनके जाने के बाद, [illegible] हो गयी थी। सब उनका स्मरण [illegible] हुए कह रहे थे, 'अरे, वह तो साक्षात् [illegible] थी, दिव्यात्मा थी, तपस्विनी थी। सबसे भिन्न थी, सामान्य बिलकुल न [illegible]

०००

किंतु सबसे अधिक रहस्यमयी [illegible] तीव्र अनुभूति तो वह थी, जो हमें [illegible] निधन के लगभग डेढ़-दो महीने बाद [illegible] निरंतर होती रही। लगता, जैसे एक [illegible] सर्वत्र व्याप्त है, और हम सबसे कह [illegible] है, 'वही मेरी थी। मैंने उसे ले लि[illegible] तुम्हारा क्या अधिकार था, उस [illegible] तुम सब उसके योग्य थे ही नहीं। [illegible] लिये, मैंने उसे ले लिया; क्योंकि [illegible] मेरी थी।'

जीजी के स्वर्गवास के बाद, [illegible] परिवार लौटकर आगरा आया।

रात, पिताजी ने दीपक और अगरबत्ती जलाकर, श्रीमां का ध्यान करना आरंभ किया, ताकि उनके दुखी-अशांत मन को कुछ शांति मिल सके। सहसा, पिताजी ने आंखें खोलीं, और श्रीमां के चित्र की ओर देखा। देखते ही, वे भयभीत हो उठे। उन्हें स्पष्ट अनुभूति हुई कि चित्र की श्रीमां के नेत्रों से तेज की चिनगारियां निकल रही हैं, और श्रीमां उनसे कह रही हैं, 'प्रवदा मेरी थी। तुम्हारा उस पर कोई अधिकार नहीं था। वह मेरी थी, और मैंने ही उसे अपने पास बुला लिया।'

चकित-स्तब्ध पिताजी ने अपनी आंखें श्रीमां के चित्र से फेर लीं, मगर अभी श्रीमां के शब्द उनके कानों में गूंज रहे थे।

इस अनुभव का पिताजी पर गहरा प्रभाव पड़ा। पहले, वे जीजी की बातों को बुद्धि से ग्रहण करते थे, लेकिन अब उनके भावार्थ अंतर की गहराइयों से समझने लगे। और इस घटना के बाद उन्होंने कभी भी श्रीमां के चित्र की ओर ताकने का साहस नहीं किया।

०००

जीजी की मृत्यु यद्यपि आकस्मिक थी, तथापि मुझे उसका आभास बहुत पहले हो चुका था। उनसे दूर होते हुए भी, उनके अंत के संकेत मुझे निरंतर मिलते रहते थे, मगर अपनी नासमझी की वजह से मैं उन्हें ठीक-ठीक समझ नहीं पाती थी। साथ ही, उनकी मृत्यु से पूर्व कुछ ऐसी घटनाएं भी घटीं, जो स्पष्ट रूप से यह दर्शाती थीं कि विधाता ने उन्हें इस दुनिया से उठाने की व्यवस्था कर ली है।

'मातृ वंदना' शीर्षक की अपनी कविता में, श्रीमां से प्रार्थना करते हुए, उन्होंने इन शब्दों में अपने बारे में भविष्यवाणी कर दी थी :

'अति मानसिक ज्योति बढ़ी, जड़ तत्त्व को कर अतिक्रमण,
छोड़ा शरीर असमर्थ वह, जो महत् बाधा बन गया।'

मुझे लगता है कि उनके अंतिम दिनों में दिव्य ज्योति की वह किरण और वह अतिमानसिक शक्ति, जिसका उल्लेख श्रीअरविंद ने किया है, उनमें अवतरित होने को व्याकुल थी, किंतु उनका भौतिक शरीर और भौतिक परिस्थितियां उसमें बाधक बन रही थीं। इस बाधा को दूर करने के लिए ही, संभवतः उन्होंने अपने शरीर का परित्याग किया।

मैं इस तथ्य की प्रत्यक्ष गवाह हूं कि २७ वर्ष के अपने अल्प जीवन में जीजी को अनेक अलौकिक तथा आध्यात्मिक अनुभूतियां हुई थीं। २७ फरवरी, १९८० को जब वे अंतिम बार, होली के अवसर पर, अपने मातृ-गृह आयी थीं, तब अपनी हाल की एक अनुभूति का उल्लेख करती हुई बोली थीं, 'रानीबाग में घर के समीप, नल से पानी निकालते समय मुझे ऐसा लगा, मानों मैं ऊपर ही ऊपर उठती चली

जा रही हूं, और अनंत मेरे सीमित, व्यक्तित्व में ऐसे समाता जा रहा है, जैसे बूंद में समुद्र। यह एक ऐसी अकल्पनीय प्रतीति थी, जिसने मुझे आतंकित कर दिया। मैं पुनः अपने सीमित, भौतिक व्यक्तित्व को खोजने के लिए व्याकुल हो उठी। यथार्थ जगत में वापस लौटने में मुझे काफ़ी समय लगा।'

भला, यह चलते-फिरते समाधि लग जाना नहीं तो और क्या है?

इस अनुभव के ३-४ दिन बाद, एक योग-शिविर में योगाभ्यास करते हुए, उन्हें पुनः एक और अलौकिक अनुभूति हुई। वे कुंडलिनी-जागरण प्रक्रिया का अभ्यास कर रही थीं कि उन्हें सहसा अपने चारों ओर तीव्र प्रकाश दिखायी देने लगा।

बाद में उन्होंने यह सोचकर योगाभ्यास बंद कर दिया कि अब तो मैंने गृहस्थ-धर्म स्वीकार कर लिया है, मुझे संन्यास-मार्ग पर चलना बंद करना चाहिये।

जीजी के अंदर अपार आंतरिक शक्ति विद्यमान थीं। जब-तब यह शक्ति विभिन्न रूपों में प्रकट हो जाती थी। ऐसी ही एक घटना का वर्णन उन्होंने मुझसे इन शब्दों में किया था :

'मुझे एक काम से बरेली नगर से थोड़ा बाहर जाना था। मैं अकेली ही थी। कुछ दूर चलकर मुझे कुछ गुंडे किस्म के लड़के दिखायी पड़े, जो मुझे ऐसे घूर रहे थे, जैसे शिकारी अपने शिकार को घूरे। तभी वर्षा आरंभ हो गयी। इससे एक ओर जहां मेरा वापस या आगे [illegible] दुष्कर हो गया, वहां दूसरी ओर [illegible] सबकी उत्तेजना अपनी चरम सीमा [illegible] पहुंचने लगी। मैं घबरा गयी। पर [illegible] मैंने अपने को संतुलित और चित्त [illegible] एकाग्र किया। ऐसा करते ही, मैंने [illegible] किया कि मैं अमित शक्ति का कें[illegible] गयी हूं, और ऊपर ... बहुत ऊपर [illegible] जा रही हूं। मुझे मालूम ही न पड़ा [illegible] गुंडे लड़के कब दुम दबाकर भाग [illegible] मैं काम पूराकर, रिक्शे से लौट आयी [illegible]

०००

अपने जीवन के अंतिम दिनों में [illegible] विपरीत-से-विपरीत परिस्थितियों [illegible] स्थितप्रज्ञ और अविचल होना सीख [illegible] था। इस अवस्था का वर्णन स्वयं [illegible] शब्दों में, '... मानो कोई स्थितप्रज्ञ [illegible] में स्थित हो, और चारों ओर [illegible] की किरणें बिखेर रहा हो, और [illegible] की मांग और संस्कारों की झिझोड़ [illegible] अशांत और अव्यवस्थित करता [illegible] रही हो।'

उन्हें हर क्षण नित-नवीन अनु[illegible] होती रहती थीं! मेरे इस आग्रह प[illegible] वे उन्हें लेखों के रूप में लिपिबद्ध क[illegible] करतीं, उन्होंने मुझे लिखा था, '[illegible] मीना, मेरे अंतस से सदैव अत्यंत [illegible] गहन और सूक्ष्म सत्य प्रवाहि[illegible] रहते हैं कि तथाकथित बुद्धिजीवि[illegible] लिए उन्हें समझ पाना असंभव-प्रा[illegible] और ऐसा कोई मिलता नहीं [illegible]

समझ और परख पाये। और इन सत्यों को शब्दों में मूर्त करने का प्रयास करते ही वे स्वयं मेरे लिए एक पहेली बन जाते हैं, औरों की तो बात ही क्या ?' 'जीवन की डाल' नामक अपनी कविता में वे कहती हैं :

'मरेगी आह तो भी पगली, न सुनेगा
एक भी जग में,
व्यवहार में कुशल नहीं तो,
चुना क्यों मार्ग यह जग का ?'

०००

जो कुछ वे कहती थीं, वह सच ही निकलता था; क्योंकि वह उनके छल-कपट, द्वेष-राग-रहित अंतस से उद्भूत होता था। विवाह से पूर्व उनकी सतत जागरूक और संवेदनशील आत्मा ने जान लिया था कि उनका वैवाहिक जीवन अत्यंत क्लेशमय और दुखी सिद्ध होगा। उन्हें अपने अंत का भी पूर्वाभास हो गया था।

अपने जीवन के अंतिम तीन वर्षों में उन्होंने अपनी थीसिस के लगभग सभी अध्याय पूरे कर लिये थे। केवल दो अध्याय शेष रह गये थे। अपने जीवन के अंतिम दिनों में वे हिंदी की उपन्यास-विधा पर अरविंद-दर्शन के प्रभाव की शोध में व्यस्त थीं। उन्हीं दिनों, प्रख्यात उपन्यासकार श्री वीरेंद्रकुमार जैन के महान उपन्यास 'अनुत्तर योगी' के द्वितीय खंड का बड़ी लगन और बारीकी से अध्ययन कर रही थीं। इस अद्वितीय उपन्यास के इस खंड में वे इतनी अधिक लीन हो गयी थीं कि उठते-बैठते, सोते-जागते उसी कल्पना जगत में विचरण करती रहती थीं, जिसकी सृष्टि एक महान सर्जक की नाईं श्री जैन ने की है। इस उपन्यास में जैसे उन्हें अपने ही जीवन की एक झांकी दिखायी पड़ रही थी। उन दिनों उन्होंने श्री जैन को जो एक पत्र लिखा था, उसका निम्न अंश उनकी समग्र चेतना की एकांत तल्लीनता को भली भांति व्यक्त करता है :

'मेरे आत्मवल्लभ दादा, सच ही आप मेरे आध्यात्मिक पिता हैं। मैं आपकी ही आत्मजा हूं। भाव, संवेदन, चिंतन, अनुभूति और जीवन-संघर्ष की ऐसी सादृश्यता मैंने आज तक किसी और के साथ अनुभव नहीं की।'

श्री वीरेंद्रकुमार जैन के संबंध में उन्होंने मुझे लिखा था–

'वीरेंद्रजी ही अकेले व्यक्ति मुझे मिले, जिन्होंने मेरे सब अनुत्तरित प्रश्नों के उत्तर प्रदान किये, मेरी प्रज्ञा के धुंधलके को हटाया।'

स्वर्गवास से पूर्व, उन्होंने वीरेंद्रजी को एक लंबा पत्र लिखा था। किंतु, उनके देहावसान के बाद न उसका पता लगा, न 'अनुत्तर योगी' के दूसरे खंड का, जो उनके जीवन के अंतिम दिनों में सदैव उनके साथ रहता था।

लगता है, उनकी सूक्ष्म देह इन दोनों वस्तुओं को एक अनमोल धरोहर के रूप में अपने साथ ही ले गयी।

उनकी सूक्ष्म देह मेरे पास प्रायः आती रहती है। अपनी मृत्यु से पूर्व, अचेतावस्था में उन्होंने मुझे ही बारंबार याद किया था। उनकी मृत्यु के ३-४ दिन बाद उनका मधुर और कंपित स्वर कई बार मेरे कमरे में गूंजा, मगर मैं मूर्ख और अभागी उस स्वर को ध्यान से सुन भी न पायी।

इस स्वर की बात मेरे मकान-मालिक की छोटी बहू ने, जिसका संपर्क अपने स्वर्गीय बाबा के सूक्ष्म शरीर के साथ वर्षों तक रहा था, बतायी थी। मगर तब तक वे यह भूल चुकी थीं कि जीजी की सूक्ष्म देह मुझसे क्या कहने की इच्छुक थी। आर्य समाज, हलद्वानी में भी, मैंने उनकी सूक्ष्म देह को अपने को 'मीना' पुकारते सुना था।

मेरे बाद मेरे पिताजी को भी स्वप्नावस्था में जीजी की वाणी सुनायी देने लगी। पहली बार, जब जीजी उनके सपनों में आयीं, तो उन्होंने पिताजी से कहा, 'मेरी थीसिस से किसी को कोई आर्थिक लाभ होने की संभावना नहीं है। इसे तो वही प्रकाशित करेगा, जिसे मुझसे ममता होगी।'

एक अन्य स्वप्न में पिताजी ने देखा, न जाने कहां से दौड़कर आया एक रथ उनके सामने आकर खड़ा हो गया है, और उसका सारथी पूछ रहा है, 'प्रवदा, की थीसिस लीजिये।' पांच दिन बाद, प्रवदा जीजी के पति स्वयं आकर उनकी थीसिस हमें दे गये।

एक बार जब जीजी मेरे स्वप्न में आयीं, तो मैंने उनसे पूछा, 'जीजी, तुम हम सबको छोड़कर कहां चली गयी हो? तुमने अपना दूसरा जन्म लिया या नहीं?'

जीजी ने उत्तर दिया, 'मैं तो कहीं नहीं गयी, सदा तुम सबके साथ हूं। दूसरे जन्म की बात मत करो। कहीं ऐसा न हो कि उसके बारे में तुमसे सुनकर, मेरे मन में सचमुच दूसरा जन्म लेने की इच्छा जागृत हो जाये।'

सपनों में मेरी और जीजी की सूक्ष्म देह की बहुत बातें होती हैं। एक स्वप्न में काफ़ी देर तक बातें करने के बाद उन्होंने मुझसे कहा—'चलो, अब पढ़ने बैठो। माचिस ले आओ। मैं लालटेन जलाती हूं।' मैं जैसे ही माचिस लेने उठी, आंखें खुल गयीं। रात के दो बजे थे। सपना इतना सजीव था कि मुझे लग ही नहीं रहा था कि मैंने कोई सपना देखा है।

एक अन्य स्वप्न में, बातों के दौरान मैंने उनसे कहा—'जीजी, तुम्हारी बहुत सी कविताएं ढूंढ़े नहीं मिल रही हैं। उन सबको मुझे लिखवा दो, ताकि वे हमेशा हमारे पास सुरक्षित रहें।' जीजी ने अपनी कविताओं के नाम शुरू किये ही थे कि मेरी आंख खुल गयी।

एक सपने में जीजी ने अपनी मृत्यु के बारे में काफ़ी बातें की थीं। बोलीं, 'मीना, इन सबकी साजिश थी, मुझे मारने की। सब डाक्टर से मिल गये थे।

मेरे कान तक कैंसर पहुंच गया था, इसलिये डाक्टर को मेरा कान थोड़ा-सा काटना पड़ा था।'

बाद में मुझे मालूम पड़ा कि कान तो नहीं, हां, ग्लूकोज चढ़ाने के लिए डाक्टर को पांव की थोड़ी-सी खाल अवश्य काटनी पड़ी थी। संभवतः उस नस का संबंध कान तक जाती हुई किसी नस से रहा हो।

०००

लेकिन आगे चलकर १२ जून '८० की एक स्वप्न-वार्ता में उन्होंने स्वयं ही ऊपर की सूचना का खंडन करते हुए कहा, 'मेरा पतिदेव के साथ जायदाद और धन-दौलत को लेकर झगड़ा हो गया था। इस झगड़े से दुखी होकर मैंने कुछ खा लिया, और जोर के क़ै-दस्त के बाद मेरी मृत्यु हो गयी!'

जीजी के स्वर्गवास के बाद, शायद सूक्ष्म जगत में किये गये जीजी के प्रयासों के फलस्वरूप, मुझे एक स्वप्न में श्री-अरविंद और श्रीमां के साक्षात् दर्शन हुए। इस स्वप्न में मैंने श्रीमां को जीजी की रचनाओं का ध्यानपूर्वक अध्ययन करते हुए तथा उनमें उचित संशोधन करते हुए देखा। एक अन्य स्वप्न में श्रीअरविंद के दर्शन के पूर्व और पश्चात् जीजी प्रसन्न मुद्रा में दिखलायी दीं।

जीजी, जब आखिरी बार होली पर आगरा आयी थीं, तो अपनी बी-एड. की कापियां और रजिस्टर मेरे लिए, अपने साथ लायी थीं। उन्होंने मुझसे कहा था, तुम्हें मेरे नोट्स से बहुत सहायता मिलेगी मीना।' मरने के बाद भी सपनों में वे मुझे अपने नोट्स से मदद लेने की याद दिलाती रहीं।

मेरी परीक्षा से पूर्व, एक चमत्कार हुआ। २८ जून, १९८० की रात को उन्होंने सपने में मुझसे कहा, 'मीना, मेरे नोट्स के इन-इन अंशों को याद कर लो।' मैंने वैसा ही किया। अगले दिन अधिकांश प्रश्न उन्हीं अंशों से संबंधित थे।

एक स्वप्न में जीजी ने मुझे बताया कि 'मैं एक बड़ी पार्टी से आ रही हूं। श्रीमां भी इस पार्टी में थीं।' तब, मैंने उनसे पूछा—'क्या सूक्ष्म जगत में लोगों का रूपांतरण हो जाता है?'

'नहीं। मैं तो यहां भी वैसी ही हूं जैसी जीवितावस्था में थी।' जब मेरे प्राण निकले तो मुझे कोई कष्ट नहीं हुआ था।

फिर पांडिचेरी आश्रम की सुनंदा दीदी और श्री वीरेंद्रकुमार जैन की बात छिड़ गयी। जीजी ने पूछा, 'तुझे वीरेंद्र-कुमार जैन कैसे लगे? है न बहुत कोमल हृदय के!'

जीजी से सपनों में बातें करते समय मुझे हमेशा यही लगा कि जीजी हमारे बीच ही हैं और कहीं नहीं गयीं। कहीं गयी भी हैं, तो सपनों में हमारे पास अवश्य लौट आती हैं। वे हर अवसर पर मुझे अपने कर्तव्यों के प्रति सचेत करना भी नहीं भूलतीं।

१३ अगस्त, १९८० को प्रातः ५ बजे

अर्द्ध-निद्रावस्था में जीजी के शब्द कानों में गूंजते से सुनायी पड़े। हरियाली तीज के दिन घर में सब लोगों को जीजी की आकृति स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ी।

जीवितावस्था में वे एक अध्यापिका को बहुत चाहती थीं। उसके ढाई वर्ष के पुत्र को अपना भाई मानती थीं, और रक्षाबंधन पर उसको आंसुओं से भीगी राखी भेजती थीं। उनकी मृत्यु के बाद, रक्षाबंधन से ६-७ दिन पूर्व, मैंने सपने में देखा कि वे राखी भेजने को बेचैन हैं, मगर श्रीमां उन्हें अपने पास से जाने को मना कर रही हैं। सुबह होते ही मैंने उसे राखी डाक से भेज दी।

०००

मेरी जीजी देवांशिनी प्रवदा ने भगवान शिव की भांति सबके कल्याण के लिए स्वयं विषपान कर सबको अमृत प्रदान किया। किंतु इस नश्वर जगत से उन्हें कष्ट-कंटकों के अतिरिक्त और कुछ न मिला। अतः उस परम दिव्य ज्योति ने अपने इस अंश को शीघ्र ही आत्मसात् कर लिया। इस प्रकार भारत ही नहीं, विश्व का एक अमूल्य दिव्य रत्न सदा के लिए खो गया, और छोड़ गया अपनी धूमिल आभा।

जीजी से भविष्य के लिए बहुत आशाएं थीं। अभी तो दुनिया को उस विपुल ज्ञान-भंडार की ही पूरी जानकारी नहीं है, जो वह अपने पीछे छोड़ गयी है! समाज के कल्याणार्थ, वे अपने गहन एवं व्यापक आध्यात्मिक विचारों, शोध-प्रबंध, कविताओं, निबंधों तथा कथा-साहित्य की जो अमूल्य निधि छोड़ गयी हैं, उसका विद्वज्जनों द्वारा समुचित और शीघ्रातिशीघ्र मूल्यांकन होना अत्यंत आवश्यक है।

□

लेखकों से निवेदन

- रचनाओं का अंतिम निर्णय एक ख़ानगी सलाहकार-समिति करेगी। व्यक्ति विशेष नहीं।
- 'भारती'-समन्वित 'नवनीत' केवल हिंदी, भारत या उसके साहित्य तक सीमित नहीं। वह एक वैश्विक और अंतरराष्ट्रीय व्यास की सर्वसमावेशी सांस्कृतिक और ज्ञान-विज्ञान-समन्वित पत्रिका है। रचना भेजते समय कृपया, यह लक्ष्य में रखें।
- अनामन्त्रित कविताओं पर विचार करने को हम बाध्य नहीं। आज के समग्र विश्व-साहित्य में से चुनी हुई थोड़ी-सी कविताएं ही हर अंक में जा सकेंगी।
- रचना के साथ टिकट लगा पूरा पता लिखा लिफ़ाफ़ा अवश्य रखें। अन्यथा रचना लौटायी नहीं जायेगी और न उसके संबंध में पत्र-व्यवहार ही किया जायेगा।
- रचना भजने से पूर्व विचार कर लें कि वह नवनीत के अनुकूल है भी या नहीं।

—संपादक

(पृष्ठ ९१ का शेषांश)

की भीड़, ठीक सामने संगम। ऐन मुहूर्त पर बिना रोक-टोक, बाधा डुबकी लगाकर सारा अमृत स्वयं भर लाने का प्रबंध। मेले में ऐसे एक नहीं अनेक शिविर लगाये गये हैं। इसका व्यय भार कौन वहन करेगा? स्वयमेव उत्तर मिलता है—सामान्य कर दाता। दूर-दूर से गठरी दबाये आने और तीर्थयात्री मेला टैक्स देने वाला साधारण यात्री। गरीब किसान खेतिहर धर्मालु ग्रामीण। यहीं क्यों, जो जहां हैं दूसरों के परिश्रम, धन पर अधिकतम सुविधासहित सारा अमृत अपने गले के नीचे उतार जाने हेतु प्रयत्नशील है।

देखकर मुझे ऐसा लगता है जैसे वह विश्व का सबसे बड़ा धार्मिक मेला न होकर पिकनिक स्थल हो, जहां लोग पांच-सात दिनों की पिकनिक के लिए आने वाले हैं। कहां है तीर्थस्थल और तीर्थयात्रा, कल्पवास की संस्कारजनित परंपरा कि तीर्थयात्रा के पूर्व किसी का भूले-भटके एक पैसा भी ऋण शेष नहीं रहना चाहिये। सारा चुकता करने पर मात्र अपने धन, श्रम और निष्ठा के बल पर तीर्थयात्रा, संयम, सादगी, एक समय न्यूनतम भोजन, उसे भी स्वयं बनाना। सेवा एवं समर्पण भाव। अपरिग्रह, दान तथा त्याग की पराकाष्ठा—इस सीमा तक कि अपना उत्तरीय तक भी न बचा। बहिन राज्यश्री से वस्त्र लेकर हर्षवर्धन को काम चलाना पड़ा। चाहे ह्वेनसांग द्वारा हर्षवर्धन के समय में आयोजित मेले का आंखों देखा विवरण हो, चाहे फ्रांसीसी टैवर्नियर अथवा सन् १८२६ में स्किनर द्वारा प्रस्तुत मेले का वृत्तांत हो। कहीं विशिष्ट व्यक्ति शिविरों का उल्लेख नहीं मिलता। कहां गयी कुम्भ की पावन परंपरा? चलते-चलते बालू की बोरियां ढोने वाले एक मजदूर से पूछ लेता हूं, 'कहो भाई, इस बार तो बड़ा अच्छा अवसर है, कुम्भ में पैसे भी कमाओ और डुबकी लगाकर पुण्य भी।' मजदूर ने अन्यमनस्क होकर उत्तर दिया, 'कइसन कुम्भ मेला, और पुन्न? ई सब पैसे का खेल है, पेट भरा रहे तो मेला ठेला, पुन्न, सरग (स्वर्ग) सब है।' 'तब तुम कुम्भ के समय यहां नहीं रहोगे?' उसका उत्तर था, 'नहीं, जो कुछ कमाई हो सकै, लै के गांव चले जाना है बाल-बच्चन के बीच।' शायद 'अमृतघट' की यह सबसे यथार्थ और व्यवहारिक व्याख्या थी।

मेला जोर-शोर से आरंभ हो गया है। यही अवसर है 'अमृतघट' की खोज करने का। नगर की बस्ती अभी समाप्त नहीं होने पायी। सड़क के किनारे धार्मिक निःशुल्क स्थलों चिकित्सा-केंद्रों ने अपने भवनों को पर्यटक विश्राम स्थलों, होटलों में बदल दिया है। जब सभी पुण्य बटोर रहे हैं, नोटों की गड्डी के रूप में, फिर यही क्यों पीछे रहें? आकाश में उड़ते, सेक्टर कार्यालय स्थलों के सूचक रंग-बिरंगे विशालकाय गुब्बारे विज्ञापन करने वाले, आगे चलकर

विशाल कुम्भ द्वार। शासन के विभिन्न विभागों द्वारा प्रस्तुत प्रदर्शिनी जिसमें घूमने से दिल्ली में आयोजित की जाने वाली एशिया ७२ या फिर एक्सपो ७७ का एहसास हो। दूसरी ओर खादी, गृहउद्योग प्रदर्शिनी। और आगे विशाल एवं सजे मंडपों वाली अनेक दुकानों की पंक्तियां। यहां 'अमृतघट' की संभावना नहीं है। साथी मित्र के अनुरोध पर घूम गया हूं अलो: मंदिर की ओर, जहां गत कुम्भ में एक मंच पर चारों शंकराचार्य पधारे थे। हिन्दू धर्म, व्यवस्था की व्याख्या, धर्मशास्त्रों पर संत-महात्माओं ने विचार विमर्श और नये संदर्भ में प्रतिपादन किया था, सिंह द्वार के समीप ही स्वामी विवेकानंद की भव्य प्रतिमा... इस कुम्भ में भी कुछ ऐसा ही होगा। उस शिविर के स्थान पर है कांग्रेस का विशाल शिविर सात लाख सत्तर हज़ार वर्ग फीट क्षेत्रफल में फैला... भीतर अनेक शिविर... मेरे साथी मित्र मुझसे पूछ उठते हैं, 'अरे, वह हिन्दू परिषद् का शिविर कहां गया?' अकस्मात् पास खड़े एक सज्जन ने बतलाया, 'उस शिविर को मेले में लगाने की अनुमति नहीं मिली।' अब मेरे मित्र लगभग चीख उठे—'कुम्भ मेले में हिन्दू शिविर नहीं लगायेंगे तो फिर कौन आयेगा? हिन्दुओं का प्रमुख मेला और हिन्दुओं को ही स्थान नहीं?' अपरिचित व्यक्ति संभवत: कार्यकर्ता थे, उन्होंने गंभीरता से कहा—'जैसा जो है देखते जाइये, अनावश्यक उत्तेजना के कारण जेल में बंद होने से कोई लाभ नहीं। हिन्दू धर्म अथवा संस्कृति भी धारा को बांध नहीं सकती।' यहां अमृतघट होने का प्रश्न ही नहीं उठता। बाद में पता लगा कि सात लाख सत्तर हज़ार वर्ग फुट भूमि का आबंटन एकदम नि:शुल्क कर दिया गया था जो नियमों के प्रतिकूल था। इस अनियमितता के घपले की जांच के साथ भूमि के लिए ३८ लाख रुपयों की वसूली के आदेश दिये गये। जो साल भर बाद तक भी नहीं वसूल हो पाये थे।

खिन्न एवं उद्विग्न मन से हम लोग घूम पड़ते हैं धार्मिक शिविरों की ओर, जहां पहुंचे सिद्ध संत महात्मा के दर्शन हों, उनके अमूल्य विचारों से मन को शांति मिल सके; 'अमृतघट' की खोज सफल हो सके। एक कैंप के बाहर तीन पहिये की ट्रॉली वाले से यात्री की बहस चल रही है। ट्रॉली वाला आठ किलोमीटर दूर नगर से सामान लाने का पैंतालीस रुपये मांग रहा है। अड़ा हुआ है। यात्री पैंतीस से अधिक देना नहीं चाहता। किराया आठ-दस रुपये से अधिक नहीं होता। कुम्भ की 'अमत लूट' में ट्रॉली वाला ही क्यों पीछे रह जाये। शायद चालीस रुपये पर मामला तय हो गया।

शिविर में मंच पर रासलीला चल रही है। शायद मथुरा की मंडली है। दूसरे शिविर में अयोध्या की मंडली रामलीला कर रही है। नाच-गाना चल रहा है। भक्त तन्मयता से देख रहे हैं और दक्षिणा चढ़ाते

जा रहे हैं। दूसरी ओर रामलीला प्रसंग में राम-सीता के विवाह मंडप में पैर पूजने की रस्म चल रही है। पुजारी भक्तों को बारंबार बुला रहे हैं, 'आइये पैर पूजकर पुण्य कमाइये' और भक्त जनता राम-सीता के पैर पूजकर नोट, गहना चढ़ा रही है। स्वर्ग का रिजर्वेशन चल रहा है। कुछ नहीं है तो मूर्तियां ही स्थापित करा दीं। लोग पैसे चढ़ा रहे हैं। कहीं पंडिताऊ ढंग की कथावार्ता तो कहीं 'हरे राम हरे हरे' का कीर्तन। बड़े-बड़े महामंडलेश्वरों के शिविरों का लगभग यही हाल। किसी न किसी रूप में अशिक्षित परंतु धर्म प्रेमी जनता के लिए धार्मिक मनोरंजन और अधिकाधिक पैसे बटोरने का उपक्रम। कहीं गंभीर चर्चा नहीं। मौन रहने वाले महात्मा का शिविर जिनका दर्शन ही मिलना कठिन है। अखाड़ों के तापसी आश्रमों में राजसी वैभव खाते-पकाते चिलम पीते आग तापते लोग कुछ स्थायी और कुछ मौसमी शायद किराये पर आये। एक-दो स्थानों पर यज्ञ जैसा आयोजन, अथवा 'रामचरित मानस' की चौपाइयों का पाठ। कहते हैं इन्हीं शिविरों में सरस्वती आविर्भूत होती है। गंभीर चिन्तन-मनन ही 'अमृतकलश' है, जिससे जीवन का मार्गदर्शन हो। श्रद्धालु परंतु अशिक्षित जनता कर्मकांड तक सीमित है और उससे संतुष्ट भी, परंतु वास्तविक अमृतकलश की खोज करने वाले भटक रहे हैं। भक्तों से घिरे महंत, राम-कृष्ण के नाम पर, मोक्ष के लिए अर्पित 'दान', वैभव संपदायुक्त 'शाही', में अमृतघट खो गया है। सर्वस्वदान कर देने के उपरांत भी विनयशीलता की अपेक्षा दानी लोगों के मुखमंडल पर अहंभाव, 'मेरे भंडारे में १०००० लोगों का भोजन चल रहा है।' परोक्ष क्रियाकलाप और परिवेश के बावजूद मूलतः इन शिविरों (अपवाद छोड़कर) तथा मेले की दूकानों में विशेष अंतर नहीं है। एक विशाल पंडाल, साधु संन्यासियों की भारी भीड़ गेरुआ वस्त्रधारी। इतने बड़े साधु समाज में 'अमृतकलश' निश्चय ही प्रकट होगा। बड़ी आशा से हम लोग भी शिविर में बैठ गये। थोड़ी देर में पता लगा कि इस पंडाल के मंच पर उच्चतम व्यासपीठ से किसी देश के शीर्षस्थ नेता साधु समाज को संबोधित करेंगे। मुझे विश्वास नहीं होता। यह कुम्भ मेला है जहां आध्यात्मिक आचार्यों के सम्मुख राष्ट्र की सर्वोच्च सत्ता भी श्रद्धानत होती रही है।

मेरा सिर चकरा उठता है, स्पष्ट लगने लगा गंगा बंगाल की खाड़ी गंगोत्री में गिरने लगी है। मैं चल पड़ता हूं। महाकुम्भ पर्व में एक-दो दिन ही शेष हैं। सारे शिविर खचाखच भर गये हैं, नामपट्ट जो भी लगा हो सरकारी या गैर सरकारी, जिसकी जैसी पहुंच थी व्यवस्था कर ली। अब तो सभी में परिवार भरे पड़े हैं। कलियुग में साधन नहीं, साध्य का ही महत्व होता है, वही सब कुछ है।

यह कुम्भ की पूर्व रात्रि से ही अनवरत

वर्षा मूसलाधार, भक्तों की कठिन परीक्षा, किटकिटाती सर्दी, ऊपर से वर्षा नीचे दलदल और फिसलन, रह गये असंख्य पुण्य कमाने वाले, ठिठुरते भक्तों के लिए न जगह-जगह आग जलते कुंदे, न चाय और न नगर के विद्यालयों, भवनों में तुरंत उन्हें ठहराने की व्यवस्था जो हुई अत्यंत विलंब से ! इस वर्षा में लगता है 'अमृतघट' कहीं बह गया अथवा लुढ़क गया आपाधापी में । लोगों को पता नहीं चला । ... कुम्भ चला गया । मर्करीवेपर लेंप बिगड़ गये या चोरी चले गये, उनके स्थान पर वही डिमडिमा टिमटिमा रहा है । 'अमृतघट-खोज-यात्रा' पुनः आरंभ हो गयी है अगले कुम्भ तक के लिए । □

नवनीत के चंदे की दरें

(भारत में) एक वर्ष : २४ रु. । दो वर्ष ४[illegible] रु. । तीन वर्ष : ६६ रु. । विदेशों में समुद्री डाक से : एक वर्ष ६० रु. । दो वर्ष : १०[illegible] रु. । तीन वर्ष : १५० रु. । विदेशों में हवाई डाक से :एशियाई देशों के लिए एक वर्ष का १२० रु. । दो वर्ष का २१० रु. । तीन वर्ष का ३०० रु. ।

एशिया के अलावा अन्य देशों के लिए एक वर्ष : १५० रु. । दो वर्ष : २७५ रु. । तीन वर्ष ४१० रु. । —वितरण व्यवस्थापक

(पृष्ठ ९६ का शेषांश)

चिकित्सा-विधि से ही प्राप्त हो सकती है; क्योंकि वह शरीर की वर्ण-संबंधी कमियों को दूर करने का प्रयास करती है।

विशुद्ध भारतीय

हाल ही में, भुवनेश्वर में चिकित्सकों का एक सम्मेलन हुआ था । इसके अध्यक्ष डॉक्टर एस. आर. दासगुप्ता ने ऐसी कई दवाओं और गोलियों का उल्लेख किया था, जिनके सेवन से मूल रोग तो अस्थायी रूप से दब जाता है, पर अनेक नये रोग जन्म ले लेते हैं।

ब्रह्मांड किरण चिकित्सा-विधि एक आदर्श और सर्वांग-संपूर्ण चिकित्सा-विधि है। यदि व्यापक रूप से उसके प्रयोग आरंभ हो जायें, तो समूची मानवता उससे लाभान्वित हो सकती है।

यह चिकित्सा-विधि पूर्णतः और विशुद्ध भारतीय है । कुछ लोग, भ्रमवश, इसका जन्म मैक्सिको में हुआ ऐसा मानते हैं, मगर यह सच नहीं है । वास्तव में, १९६० में मैक्सिको के कुछ डॉक्टर भारत में इस चिकित्सा-विधि की जानकारी लेने आये थे । भारत से लौटने के बाद, उन्होंने अपने देश में इस विधि के विषय में कुछ पुस्तकें लिखीं, जिनमें उन्होंने स्वीकार किया है कि 'प्रिज्म से सगुनाने' की विधि उन्होंने भारत में डॉक्टर भट्टाचार्य से सीखी थी। ('ब्लिट्ज' से साभार उद्धृत)

[इस चिकित्सा-विधि के विषय में अधिक जानकारी प्राप्त करने के इच्छुक पाठक अंग्रेजी ब्लिट्ज का हवाला देते हुए इस पते पर पत्र-व्यवहार कर सकते हैं: B. T. B. Teletherepy Cosmic Ray Institute, Park street, Calcutta.]

□

प्यार की फटकार

कक्षा में एक दिन मैंने एक छात्र को किसी बात पर डांटा। मुझे पता नहीं था कि स्कूल के बाहर के कुछ दादा टाइप लड़के उसके मित्र हैं। मैं घर पर बैठा पढ़ रहा था कि दो-तीन दादा टाइप लड़के आये और मुझे धमकी देकर चले गये कि 'आप कक्षा में उस लड़के को बहुत अपमानित करते हैं, आगे से ऐसा किया तो ठीक नहीं होगा।'

दूसरे दिन इस घटना को सुनकर मेरे सभी साथियों ने सलाह दी कि प्रिंसिपल को उस छात्र के खिलाफ 'एक्शन' लेने को कहूं। पर मैं टाल गया।

तीन दिन बाद मैंने उस छात्र को घर बुलाया और कहा, 'तुम्हारे कुछ मित्र मुझे धमकाने आये थे। मेरे भाई, यदि तुम समझते हो कि मैं तुम्हारा दुश्मन हूं और मैंने तुम्हारे साथ अन्याय किया है तो यह चाकू लो और मार दो मुझे ! मुझे यह संतोष मिलेगा कि मेरे विद्यार्थी ने मुझे मारा है किसी और ने नहीं . . .' मेरा इतना कहना था कि वह छात्र रो पड़ा और उसने मुझसे वादा किया कि भविष्य में वह एक अच्छा लड़का बनने का प्रयास करेगा। आज वह मेरा प्रिय विद्यार्थी है।

मैंने कहीं पढ़ा था: 'शब्द की मार, प्यार की फटकार तलवार से भी अधिक प्रभावशाली होती है।' और यह कथन स्मृति-पटल पर और अधिक गहराई से अंकित हो गया इस घटना के बाद से।

—श्रीकांत कुलश्रेष्ठ, बंबई—३७

चमत्कारिक अनुभव

लगभग दस वर्ष पूर्व की घटना है। उन दिनों मैं उदयपुर में ही था। मेरे दूर के एक संबंधी थे, जिनके घर अक्सर मैं जाया करता था। उनके पड़ोस में ही एक ज्योतिषी रहते थे। वे परलोकगत आत्माओं से संपर्क स्थापित कराने का भी दावा करते थे। विज्ञान का छात्र होने के कारण मैं उनकी बातों पर विश्वास नहीं करता था। मेरे संबंधी के पिताजी भीलवाड़ा जिले के एक गांव में अचानक असाध्य रोग से पीड़ित हो गये। कभी-कभी उनकी तबीयत का समाचार आ जाया करता था, पर कुछ दिनों से उस गांव से कोई समाचार नहीं आया था ! हमने सोचा अब ज्योतिषीजी की विद्या की परीक्षा ली जाये और मैं संबंधी को साथ लेकर ज्योतिषीजी के घर गया। उनसे निवेदन किया कि वे अपनी तांत्रिक साधना द्वारा अमुक गांव में संबंधी के बीमार पिता की बीमारी का समाचार मालूम करें।

उन्होंने हमारी प्रार्थना मान ली और कहा कि इसके लिए वे 'हाजरात' (सम्मोहन विद्या) का प्रयोग करेंगे।

उन्होंने हमसे भीमसेनी काजल और शुद्ध सरसों का तेल मंगवाया। हमने दोनों चीजें लाकर उन्हें दे दीं। संध्या के समय एक कमरे में प्रयोग किया गया। ज्योतिषीजी अपने साथ एक बारह वर्ष के लड़के को साथ में लाये थे। आवश्यक सामग्री कमरे में जमा देने के पश्चात् उन्होंने उस बालक को साफ-सुथरी जगह पर बिठाया और उसके बायें हाथ के अंगूठे के नाखून पर काला काजल (तेल एवं अन्य मंत्रसिद्ध औषधियों के साथ) लगाया। तदनंतर उन्होंने कुछ मंत्रोच्चारण किया।

इसके पश्चात ज्योतिषीजी ने बालक को रंगीन नाखून को देखने को कहा। बालक बराबर नाखून की ओर देखता रहा।

उन्होंने पूछा: 'क्या देखते हो?'

बालक मानों सम्मोहित होकर कहने लगा: 'मैदान देख रहा हूं।'

ज्योतिषी: 'अच्छा, अमुक गांव में पहुंच जाओ।'

बालक: 'हां, पहुंच गया।'

ज्योतिषी: 'अच्छा बताओ इनके पिताजी की तबीयत कैसी है?'

बालक: 'आज तो कुछ ठीक है पर दो दिन बाद दस बजे प्रात: वे स्वर्गवासी हो जायेंगे।'

इसके पश्चात् तांत्रिक क्रिया समाप्त कर दी गयी।

दो दिन बाद ठीक दस बजे प्रात: मेरे संबंधी के पिताजी का देहावसान हो गया।

यह घटना अक्षरश: सत्य है। अध्यात्म विज्ञान के अनुसार ज्योतिषी ने बालक के अन्तर्मन को सम्मोहन एवं तंत्र-साधना द्वारा अधिक क्रियाशील बना दिया था, जिससे उसे त्रिकालदर्शिता की अनुभूति हुई थी।

दूरानुभूति एवं भविष्य-दर्शन की यह चमत्कारिक घटना मेरे लिए सदैव अविस्मरणीय रहेगी। —श्याम मनोहर व्यास,
पोस्ट—भानदा, उदयपुर (राजस्थान)

०००

वह उदार आत्मा

बात उन दिनों की है, जब एक बार मैं आवश्यक शासकीय कार्य से भोपाल गया था। वहां पर दो दिन रुकने के बाद तीसरे दिन जब मैं घर आने के लिए बस में बैठा तो जल्दी होने के कारण मैंने टिकट खिड़की से टिकट नहीं लिया। सोचा वहीं कंडक्टर से ले लूंगा। लेकिन जैसे ही कंडक्टर को पैसे देने के लिए मैंने जेब में हाथ डाला तो धक् से रह गया! क्योंकि पैसों का पर्स जेब से गायब था! मैंने कंडक्टर के सामने अपनी स्थिति स्पष्ट की, लेकिन उस पर कोई प्रभाव नहीं हुआ। उसने समझा मैं बन रहा हूं। इसलिये वह मुझे उल्टे भला-बुरा कहने लगा। तभी पास में बैठे एक अपरिचित सज्जन ने मेरी परिस्थिति को समझकर द्रवीभूत होकर चुपचाप टिकट के पैसे कंडक्टर को दे दिये और उसे डांट भी दिया। मैं बड़े कृतज्ञ भाव से उन सज्जन

को देखकर पहचानने की कोशिश करने लगा। पर वे तो अपरिचित थे।

जब घर पहुंचने पर एक दुकानदार से रुपये लेकर मैं उन्हें देने लगा तो उन्होंने यह कहकर लौटा दिये कि 'यह तो मेरा फ़र्ज़ था। कभी मेरे साथ भी ऐसा घट सकता है।' और वे चले गये।

आज भी याद आने पर उस उदार आत्मा के प्रति हृदय कृतज्ञता से भर जाता है।

—रामस्वरूप दीक्षित, नौगांव (छतरपुर)

०००

'मंगली'

लगभग दस साल पहले की बात है। मेरी एक सहेली बैंक में काम करती थी और रूप, रंग, शिक्षा आदि की दृष्टि से भी योग्य थी। पर उस युवती की शादी केवल इसलिये नहीं हो पा रही थी कि वह 'मंगली' थी। उसके लिए मंगली पति ही उपयुक्त था; क्योंकि ऐसा न होने पर वह विधवा हो सकती थी।

समाज की इस बेड़ी में से एक युवक आगे आया, उसने उस युवती से शीघ्र ही आर्य समाज की रीति से शादी कर ली, क्योंकि उसका विश्वास था कि लड़की के संस्कार, गुण, शिक्षा या रूप-रंग पर जन्मपत्री की ऐसी अंधश्रद्धा कुछ नहीं कर सकती। आज यह देखकर ऐसी मान्यता से मन डिगता है और संतोष होता है कि उस 'मंगली' लड़की ने गुण व सद्व्यवहार से अपना दांपत्य जीवन मंगलमय बना दिया है।

—स्नेहलता माथुर, अजमेर

सब्जी का स्वाद

फरवरी का महीना था। हरे चनों की सब्जी खाने के लिए मन लालायित हो रहा था। किसी कारणवश दो दिन बाद एक मित्र के यहां शाम को जाना हुआ। वह लगभग भोजन का ही समय था। मित्र की पत्नी ने भोजन का आग्रह किया—'खाना खा लो। हरे चने की सब्जी बनायी है।' हरे चने का नाम सुनते ही मुंह में पानी आ गया।

खाना खाते समय मैंने पूछा—'भाभी, तुम तो नौकरी करती हो, चने निकालने का समय तुम्हें कैसे मिला, या निकाले हुए खरीदे? पर वे तो बहुत महंगे मिलते हैं।' मेरी बात सुनकर वे हंसने लगीं। बोलीं—'स्कूल में हम शिक्षिकाएं नौकर से मंगा लेती हैं और कक्षा की लड़कियां ये दाने दस मिनिट में निकाल देती हैं। बाद में हम आपस में बांट लेती हैं।'

उनका उत्तर सुनकर मैं न जाने किन खयालों में खो गया। उसके बाद सब्जी का स्वाद ही बदल गया। शायद इसलिए कि मैं भी एक अध्यापक हूं।

—गोकुलचंद दुआ, अजमेर, राजस्थान

०००

सर्वत्र मातृ-दर्शन

१९७१ की १३ जून के १० बजे सुबह का समय। मेरी सहधर्मिणी रेणु की गोद में मेरी मां का सिर था। वह मां का माथा सहला रही थी। और मां धीमी आवाज में जीवन का महामंत्र उसे बता

रही थी–'गिचा कू गास तेरू, अर हाथ कू गास औंण वाला कू' (जो कुछ मुंह में चला गया वह तेरा है लेकिन जो हाथ पर है वह आने वाले आगन्तुक का है।) कुछ ही मिनट बाद मां का केवल शरीर ही हमारे सामने था। प्राण पखेरू उड़ चले थे।

मेरी मां प्रायः कहा करती थी–'बेटा ! मैं तै कै निरंकार डांडा मती छोड्यो' (बेटा मुझे किसी निरंकार पर्वत पर छोड़ आओ)। यद्यपि मैं आज तक निरंकार पर्वत का सही अर्थ नहीं जान सका। फिर भी मां के स्वर्गवास के बाद मैंने अध्यापकी छोड़ दी और गढ़वाल के गिरि, वन, कंदराओं की गोद में बसे गांवों की स्नेहमयी महिलाओं में अपनी मां के दर्शन करता घूमता हूं।

बूढ़ा केदारनाथ में धर्मानंदजी से मिलना था, पर वे घर पर नहीं थे। सो, मंदिर में रात्रि-निवास का विचार किया। उनकी सहधर्मिणी से परिचय न होने पर भी वे मुझे अपने घर ले गयीं। अपने बच्चों के हिस्से का दूध मुझे पिलाया और दूसरे दिन सुबह स्वादिष्ट भोजन खिलाकर ही विदा किया।

देवप्रयाग प्रखंड के खास पट्टी के गांवों में 'चिपको आंदोलन' का संदेश और शराबबंदी के शिक्षण के लिए घूम रहा था। मई की दोपहर की धूप, पहाड़ की चढ़ाई, भूख और प्यास से व्याकुल प्राण; पीठ पर सामान–आसपास कोई गांव नहीं। एक झोपड़ी दिखाई दी, आंगन में पहुंचा। खाना खाकर उस घर के लोग आराम कर रहे थे। घर की मालकिन ने सबसे प्रथम भोजन के लिए पूछा। भरी दुपहरी में दुबारा चूल्हा जला। प्याज और पोदीना की चटनी के साथ, गेहूं और मंडुवे की रोटियां खाकर मन, प्राण और शरीर को, जो आराम मिला, उसे व्यक्त करने के लिए शब्द नहीं हैं।

ऐसी करुणामयी माताओं के ये चेहरे सदा स्मृति-पटल पर विद्यमान रहते हैं और हृदय को प्रफुल्लित करके मन-प्राण में नित-नवीन शक्ति का संचार करते रहते हैं। –घूमसिंह नेगी,
टिहरी गढ़वाल, उ. प्र.

□

कुछ नये स्तंभ

हम यथाशीघ्र 'नवनीत' में कुछ ऐसे स्थायी स्तम्भ आरम्भ कर रहे हैं, जिनमें हमारे पाठक भी हिस्सेदारी कर सकेंगे। मसलन 'मेरा सपना, जो सच हुआ', 'मेरा चमत्कारिक अनुभव' तथा बच्चों के लिए 'मच्छी-मच्छी कित्ता पानी', जिसमें बच्चों की रचनाएं, चित्र तथा फोटो भी यथा-प्रसंग छप सकेंगे। इन स्तम्भों के लिए आपकी सामग्री सहर्ष आमन्त्रित है। –सम्पादक 'नवनीत'

(पृष्ठ ६४ का शेषांश)

शित महामौन में लीन हो गये। महात्मा गांधी तो कर्म की अपेक्षा अनासक्ति पर ज़ोर देते रहे। यह विलक्षण है बात कि जो हमारे देश में सर्वाधिक कर्मण्य होता है, वही सर्वाधिक आत्मानुवर्ती, भी होता है। देखिये रमण महर्षि को, देखिये शिवानन्द को, देखिये उन सब अध्यात्म-प्रचारकों को जो अब नहीं रहे—कइयों के तो जीवन भी नहीं मिलते। 'नक़्श-पा तक नहीं बाकी!'

इक़बाल का एक शेर है 'इबादत चश्मे-आशिक की है हरदम बा-वज़ू रहना' (अर्थात प्रेमी की आंख की पूजा इसी में है कि वह प्रतिक्षण सजल स्वच्छ रहती है)। शक्ति-उपासक इक़बाल को भी 'शिव' ने ऐसा घेरा है कि उसके इश्क (लव) में कर्म समाहित हो गया। कर्म में ज्ञान और शक्ति दोनों ही घुलमिल गये। 'इश्क सरापा यक़ीं, और यक़ीं फ़तह दाद!' (इकबाल)

प्रेम मोर भक्ति रूपे उठिबे ज्वलिया
मोह मोर मुक्ति रूपे उठिबे फलिया
(रवींद्रनाथ)

पूर्व और पश्चिम की इस दुविधा को जापान ने चुपचाप हल कर दिया। बरसाते हो एटम-बम, बरसाओ! आज हमारी 'टोयोटा' कार के मारे अमेरिका के मोटर-बाज़ार का काफ़िया तंग है। आप हमें तंग नज़र और छोटी-छोटी तिरछी बादामी आंखों का कहते हो! कह लो!! हमारे कैमरे सारे हालीवुड में छाये हैं—हमारी ही लेन्सें, हमारी फ़िल्में, हमारी रंगीन फोटोग्राफी, हमारी छपाई—है कोई इसका जवाब! कह लो कि हमें ठीक से 'र' और 'ल' का उच्चारण करना नहीं आता, हम तुतलाकर अंग्रेजी बोलते हैं। ठीक है! हमारी ही ध्वनि-यंत्र-माया से तुम्हारी लैंग्वेज लेबोरेटरियां अंटी हैं। हमारे ही हाय-फाय, रेकार्ड प्लेयर, सुपरसौनिक ट्रांजिस्टर और रेकार्ड-प्लेयर सारे पश्चिम में छाये हैं।

पश्चिम ने यंत्र बनाये
पूर्व ने उन्हें अपने तंत्र से मंत्र बना दिया
पश्चिम ने उद्योग और व्यापार बढ़ाया
पूर्व ने उसमें साख डाल दी, उसे 'मानवीय' बनाया
पश्चिम ने कहा—प्रथम महायुद्ध, द्वितीय महायुद्ध ... विश्वयुद्ध?
पूर्व ने कहा—ओं नम्यो हो रें गे क्यो हो!
पश्चिम ने भेजीं सौ मंज़िली इमारतें, बड़ी-बड़ी फैक्टरियां
पूर्व ने भेजे शांतिस्तूप, उपासनागृह, मंदिर और विहार
पश्चिम ने चांद को जाकर लात मारी
जेन बौद्ध अंतेवासी ने कहा मुस्कराकर—
क्या चांद की ओर चुपचाप देखते रहना काफी नहीं है?

जापान में देखा पश्चिम घर की ड्योढ़ी के बाहर तक है: जैसे ही सूट-बूट, मोटर-कार, कंपनियां, कारखाने, व्यवस्थाएं प्रबंध, यातायात... पर जहां घर में प्रवेश

करना हो तो बाहर के जूते बाहर, भीतर दूसरे जूते पहनिये, नीचे घुटने टेककर वीरासन मुद्रा में बैठिये, चाय-समारोह में भाग लीजिये और भी आत्मीय हों तो बाहर की पोशाक वहीं उतारकर रख दीजिये। युकिता या किमोनो पहनिये। अपने घर में अपनी संस्कृति। जापानी रंगीन टेलीविजन के दस चैनलों का अधिकांश समय इसी 'जापानिता' के प्रचार, ज्ञान-प्रसार में बीतता है। हमारे यहां कुश्तियां कैसे होती हैं? हमारे यहां मछलियां कैसी मिलती हैं? हमारे बच्चे कौन-से खेल खेलते हैं? हमारे पंखे कैसे होते हैं? हमारे मोती कैसे पाये जाते हैं? हमारी नर्तकियां कैसे गाती हैं, नाचती हैं? हमारे कपड़ों पर डिज़ाइन कैसे बनते हैं? हमारे चित्राक्षर कैसे सुंदर होते हैं? हमारी प्राचीन नाट्यपरंपरा— नोह, और काबुकी ... ओह, कितनी विविधता है?

हमारे 'सकुरा' (चेरी ब्लासम), हमारी सेवती, हमारे किकु (फल), हमारी स्त्रियों की वेशभूषा का प्राचीन इतिहास, हमारे दर्शनीय स्थान, हमारा एकाकी फूजीयामा सु'त ज्वालामुखी, हमारी मोनो रेल, हमारा....

आप इसके साथ अपने टेलीविजन के नीरस कार्यक्रमों की तुलना कीजिये। पर छोड़िये उस बात को...

०००

केवल कर्म, जिसमें प्रेम नहीं हो, मनुष्य को यंत्र बना देता है। और केवल प्रेम निकम्मों की बात है। मैं ही जानता हूं कि जब (स्व.) मुक्तिबोध ने मेरे घर में रहकर यह पत्र लिखा, तब वे कैसे प्रेम में पड़े थे। और वे क्या काम करते (या नहीं करते) थे। आज भी हमारे तथाकथित कर्मवादी जो राजनीति की बड़ी बातें करते हैं, प्रेम से बहुत शून्य हैं। मुझे पता है ऐसे अनेक लोगों का जिनसे मैंने एकतर्फा प्रेम किया (यहां प्रेम का अर्थ 'सेक्स' से नहीं है)—जिन पर अनेक उपकार किये, जिन्हें लिखने की तमीज़ सिखाई, जिनके गीत और अनुवाद और लेख शुद्ध किये, जिन्हें भाषा की प्राथमिकताएं पढ़ाईं, जिन्हें मेरी पत्नी ने अपनी बीमारी का खयाल न करके सेवा दी, कितने महीनों और वर्षों हमारे घर में पड़े रहे, जिन्हें खिलाया-पिलाया, जो हमारे घर की सर्वोत्तम पुस्तकें और कपड़े और क्या-क्या वस्तुएं नहीं ले गये, जिनके घर में मैंने चित्र बनाये, जिनके लिए कोई कसर उठाकर नहीं रखी—उनमें से अनेक वे सब 'प्रेम' की बातें भूल चुके हैं। उनकी गिनती में हम कहीं नहीं हैं। उनमें से कइयों ने हमारे विरोध में अनेक काम किये। कितना कुछ पानी बह चुका है क्षिप्रा, बेतवा, जमुना, गंगा में।

तुम सूत्रों में बात करना पसंद करते हो। मित्र, आत्म-प्रेम कर्म नहीं होता, न आत्म-कर्म प्रेम। जब तक वह स्व-

केंद्रित रहता है, न तो वह कर्म शुद्ध है, न प्रेम। मुझे पता है कि ऐसे-ऐसे गांधी-वादी, समाजवादी, मार्क्सवादी आदि-आदि मौजूद हैं, जो दीखते हैं तो बड़े कर्मठ, दूसरों के लिए जीने वाले—पर अंततः वे गांधी, मार्क्स आदि सभी चिन्तकों को केवल अपने ही उत्कर्ष और विस्तार के लिए प्रयोग में लाते हैं। यही कारण है कि उनके शब्दों का कोई भरोसा नहीं करता। हर कोई उनकी करनी को देखता है कथनी को नहीं। उससे उलटे, निश्शब्द मूक, प्रत्याशाविरहित, अकथित प्रेम भी होता है, जिसमें सचमुच ऊपर से बेहद अकर्मण्यता और निकम्मेपन का बोध हो, पर है वह नैष्कर्म्य।
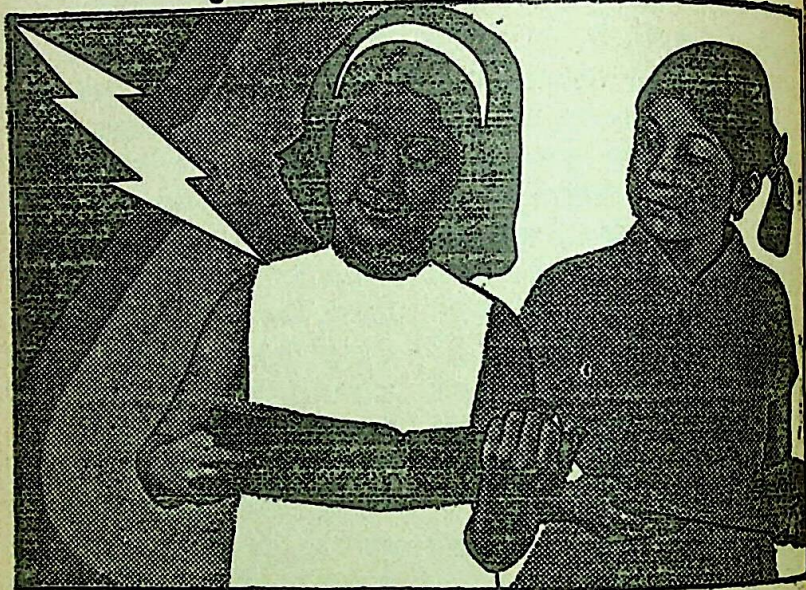
पूर्व यहीं पर पश्चिम को समझ नहीं पाता और मार खा जाता है। हमें लगता है कि पश्चिम में 'सभ्यता का संकट' है (रवींद्र)। 'तुम्हारी तहज़ीब अपने हाथों से खुदकुशी करेगी। जो शाखें नाजुक पै आशियाना बनेगा नापायेदार होगा' (इकबाल) या 'पश्चिम में मनुष्य यंत्र का गुलाम हो गया है' (गांधी) आदि। और पश्चिम वाले—बार-बार हमें 'रोने रोने' (वेल्टान-मेर्श) और निवृत्तिमार्गी और मृत्यु-चिताग्रस्त ('आत्महत्या से हटकर' 'देहांत के विरुद्ध,' 'आहत आत्माएं' आदि कविता-संग्रहों के नाम हैं हिंदी में) मानते हैं। सच बात यह कि सामी ('सेमेटिक') धर्म मृत्यु की समस्या से बहुत ही बुरी तरह आक्रांत है। सारे ईसाई गिरजे और कब्रिस्तान सलीब पर मरे जीसू की अंतिम बलि की प्रतिमाओं से भरे पड़े हैं (प्रतीक रूप में सलीबों से)। 'या हुसैन' 'या हसन'! से मुहर्रम सब जगह मनाया जाता है। हिजरत ही वहां बड़ी ऐतिहासिक घटना है, यहूदियों के लिए अपने पाक-वतन से निर्वासन! यह अपने आपसे उखड़ा-उखड़ापन उन्हें जमीन में गाड़ देता है। उन्हें 'मौत का एक दिन मुऐय्यन है, नींद क्यों रात भर नहीं आती' से परेशान करता रहता है। यहां मामला दूसरा है: 'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय'—है—बुद्ध और महावीर के परिनिर्वाण के विशाल शिल्प हैं। उनके देह-विसर्जन की घड़ी के बहुत कम।

इसलिये परोपदेश से पहले यह जरूरी है कि हम अपने आपमें कर्म और प्रेम का समन्वय देख लें। इसी की विच्छिन्नता ने देश को विपन्न कर दिया है। साहित्य में यह दुचित्तापन और विकृतियां पनपी हैं। अपना घर-परिवार ठीक से संभाल नहीं सकते, और चले हैं विश्व में क्रांति करने। एक नारी के साथ निष्ठा का व्यवहार नहीं कर सकते, नारी जाति पर अन्याय पर भाष्य लिखने बैठते हैं। इन अप्रमाणिक व्यक्तियों की बातों का क्या भरोसा? अव्वल तो अपनी पत्नी के खिलाफ मित्रों को पत्र लिखते रहना अनैतिक है, मित्र का उन पत्रों को सार्वजनिक उपयोग के लिए मित्र न रहने पर
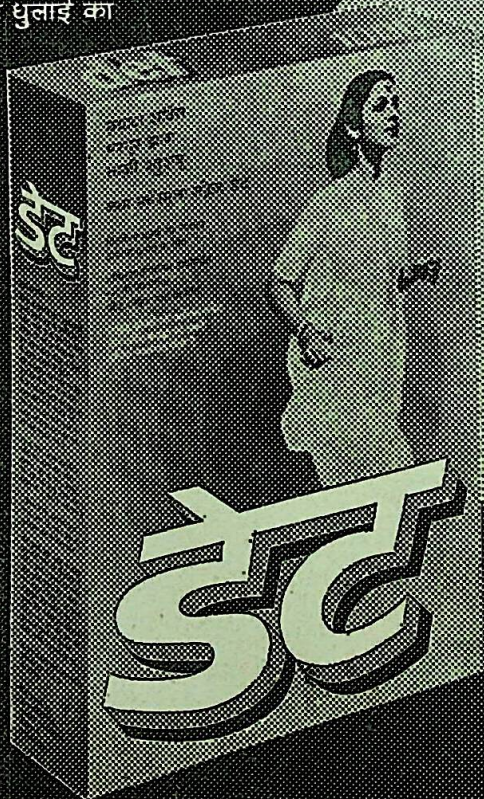
प्रचारित-प्रसारित करना और भी अनैतिक है। ऐसा व्यक्ति चाहे जो 'वाद' अपने नाम के साथ चिपकाये घूमे, गलत है। वह गांधीवादी हो, मार्क्सवादी हो, कला-वादी हो, समाजवादी हो—कोई 'वादी' हो, मूलतः वह अहंवादी है। और जिसने 'इदं न मम' नहीं कहा, उसे किसी भी आहुति को होमने का अधिकार नहीं। दूसरे का उपयोग ये लोग सीढ़ी की तरह करते हैं। जैसे सार्त्र ने कहा 'दूसरा नरक है'।

वही बात अहिंसा, अनासक्ति, अपरि-ग्रह की है। ये सब मोठे सदुपदेश औरों को देने वाले जरा अपने भीतर झांककर देखें। कितना विराट् अपव्यय—समय, शक्ति और धन का हमारे राजनीतिज्ञ, कलम-जीवी और कलम-धर्मी लोग, इन आदर्शों के नाम पर कर रहे हैं! कहां है उनका जीवन? कहां है उनका कथन? आश्चर्य नहीं कि ऐसे लोगों की बातों पर कोई विश्वास नहीं करेगा। गये बीस बरसों में ऐसे बूर्ज्वा कम्यूनिस्ट, ऐसे रंगीले साधु और ऐसे लोभी गांधीवादी, ऐसे सत्ता-और-कुर्सी-मोही देशभक्त, देश में बहुत बढ़ गये हैं। सबके सब अवसर-वादी हैं। कोई बड़ी आधुनिकता और निषेध की बात करते-करते आराम से सुविधा-जीवी नौकरी या 'बॉस' की, सत्ताधीश की कृपा का पात्र बनने का यत्न करता है। मैंने ऐसे कई लोगों को बहुत निकट से देखा है। अतः मेरी श्रद्धा भारतीय लेखक के फतवों या तेवरों पर नहीं हो पाती। 'माई गॉड हैज़ फेल्ड'—सब जगन्नाथों के पैर काठ के हैं। हमाम में सब नंगे हैं। काजल की कोठरी में सब सयाने दाग़ बचाते घूम रहे हैं। ऐसे में क्या महान् साहित्य रचोगे, मित्र?

इसलिए, प्रिय मित्र वीरेन्द्र, मैं अब लिखता कम हूं। कर्म और प्रेम के बिखरे सूत्र यथाशक्ति जोड़ने लगा हूं। लेख लंबा हो गया है, इच्छा न लगे तो मत छापना।

□

अधिकार

शांतिनिकेतन में गर्मी बेहद पड़ती है। गर्मी की एक शाम को आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी खद्दर की छोटी धोती पहने बाहर पढ़ रहे थे। रोशनी कम होने लगी थी, किंतु आलस के कारण उठ नहीं रहे थे, किताब को और पास लाकर पढ़ते जा रहे थे। इतने में उधर से क्षितिमोहन सेन के साथ रवीन्द्रनाथ आ गये। गुरुदेव को देखकर द्विवेदीजी संकुचित होकर खड़े हो गये और उनके सम्मान के लिए अपनी धोती के छोर से ऊपर का बदन ढांकने की चेष्टा करने लगे, खद्दर की छोटी धोती, ऊपर खिंची तो नीचे पैर उघड़ने लगे। द्विवेदीजी के संकोच को देखकर क्षितिमोहन सेन बोले—'अरे पंडितजी, काहे परेशान होते हैं, इस देश में संस्कृत पढ़े पुरुषों और अंग्रेजी पढ़ी स्त्रियों को नंगे रहने का पूरा अधि-कार है।' इस पर जोर का ठहाका लगा।

—डा. गोपालप्रसाद 'वंशी'

□

मुनिया रानी बढ़ती जाये
काले, बालों का जादू जगाये
मोती से सफेद दांतों को चमकाये
सेवाश्रम का गाय छाप ब्राह्मी आँवला केश तेल
और काला दन्तमंजन
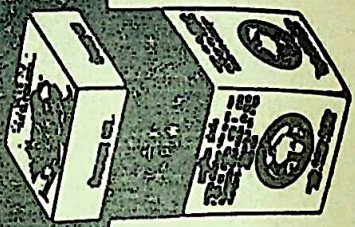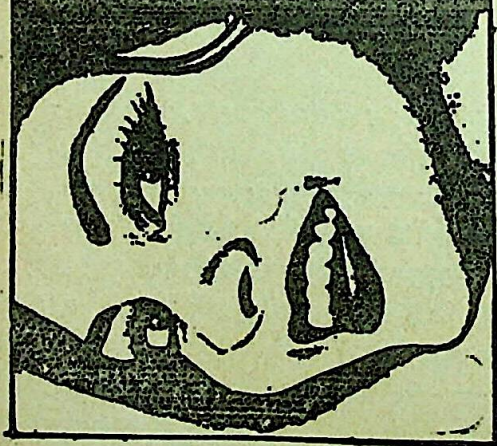
दो क्षण तो हंस लें

एक ग्राहक ने दर्जनों स्वेटर देख डाले, पर कोई स्वेटर पसंद ही नहीं आया। अंत में एक स्वेटर हाथ में लेकर वह दुकानदार से बोला– 'क्या यह शत-प्रतिशत ऊनी है ?'

ऊबा हुआ दुकानदार टर्राकर बोला– 'जी नहीं, बटन नायलोन के हैं !'

०००

गांव के एक धनी, किंतु अनपढ़ दुकानदार से किसी ने उसकी सफलता का राज़ पूछा तो उसने बताया, 'साहब, मैं हिसाब-किताब में कमज़ोर हूं, जो चीज़ एक रुपये की लाता हूं उस पर एक रुपया कमाता हूं, इस तरह एक प्रतिशत लाभ उठाता हूं।'....

०००

सड़क पर चल रहे मरम्मत कार्य की सूचना देने वाले बोर्ड पर किसी मनचले ने अंत में एक शब्द जोड़कर उसे सटीक बना दिया–

'आगे काम चल रहा है–शायद'

०००

वज़न घटाने का एक आश्चर्यजनक नुस्खा– 'अपने फ्रिज़ के दरवाज़े का हेंडिल फर्श से केवल तीन इंच ऊपर करवा दीजिये।'

–सुधीर निगम

एक अवसर पर श्री महावीर त्यागी के इस शेर के कहने पर कि 'इश्क ने मुझको निकम्मा कर दिया, वर्ना हम भी आदमी थे काम के', पं. जवाहरलाल नेहरू बोल उठे–'त्यागी ! शेर ऐसा नहीं है, ऐसा है–'काम ने मुझको निकम्मा कर दिया, वर्ना हम भी आदमी थे इश्क के !' ... सुनते ही सभी ठहाका मारकर हंस पड़े।

०००

कलकत्ते में एक बार एक नवयुवक सज्जन आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी से मिलने आये।

उन्होंने दाढ़ी बढ़ा रखी थी। द्विवेदीजी ने बहुत गंभीरता से पूछा, क्या आपकी शाल खो गयी है। वे जरा असमंजस में पड़कर बोले नहीं तो। द्विवेदीजी ने कहा, 'भाई बात ऐसी है कि काशी के एक पंडितजी का अंगौछा खो गया था, तो उन्होंने प्रतिज्ञा की कि पंद्रह दिनों तक दाढ़ी न बनवाकर उसी पैसे से नया अंगौछा खरीदूंगा। सो आपकी इतनी बड़ी दाढ़ी देखकर मुझे लगा शायद आप अपनी शाल का घाटा पूरा करने की कसम खाये बैठे हैं।

–डा. गोपालप्रसाद 'वंशी'

□

सु. रामकृष्णन् द्वारा भारतीय विद्याभवन, क. मा. मुन्शी मार्ग, बंबई-४०000७ के लिए प्रकाशित तथा श्रीवेंकटेश्वर प्रेस, ३६/४८ खेमराज श्रीकृष्णदास मार्ग, बंबई-४०० ००४ में मुद्रित ।

Regd. No. BYW

नवनीत
हिन्दी डाइजेस्ट
मई, १९८१
मूल्य रु. २.२५

नवनीत

संस्थापक

कन्हैयालाल मुंशी श्रीगोपाल नेवटिया

भारती : स्था. १९५६ नवनीत : स्था. १९५२

*

संपादक

वीरेन्द्र कुमार जैन

सह-संपादक

गिरिजाशंकर त्रिवेदी

उप-संपादक

रामलाल शुक्ल

*

संयोजक

शान्तिलाल तोलाट

*

प्रकाशक

सु. रामकृष्णन्

*

आवरण-चित्र :

शांतिदेव

कार्यालय : भारतीय विद्या भवन

वर्ष : ३०; अंक :

कुलपति मुन्शी मार्ग, बम्बई-४०० ००७

मई १९८१

चित्र-सज्जा : ओके, शेणै, ब्लैक, राणा, जड़िया, चव्हाण, सांकला, आलोक जैन

रमेश दवे के हाल ही में प्रकाशित कविता-संग्रह

'काँच के दरख्त का डर'

पर डॉ. श्यामसुंदर निगम की समीक्षा

'कांच का दरख्त टूटता है तो रोपने वाले पर गिरता है और कांच के जंगल जब सुलगते हैं तो बबूल हरे होने लगते हैं।' 'कांच के दरख्त डरदार और हवसदार तो हो सकते हैं, छायादार या हवादार कभी नहीं।' अपनी पचपन छोटी-बड़ी कविताओं के माध्यम से रमेश दवे ने अपने प्रथम काव्य संग्रह में अपने उस संवेदन को अभिव्यक्त किया है, जो गत २६ वर्ष से वे कांच की पर्देदार अय्याश संस्कृति के खिलाफ अनुभव करते रहे हैं। ये पचपन कविताएं एक दूसरे की पूरक हैं और सीधे-सादे रूप में अपनी बात कहती हुई भोगे हुए यथार्थ एवं उनसे जुड़ी अनुभूतियों को एक विशिष्ट संचेतना के साथ प्रकट करती हैं – बिना एक शब्द भी बेकार गंवाये।

दवे की कविताएं अपने मूल परिवेश को नहीं छोड़तीं। यही कारण है कि वह नदी को अपने अंदर बहने और समुद्र को अपने ज्वार की याद दिलाने के लिए उसके साथ चलने की बात कहता है। समुद्र को उसके ज्वार की याद दिलाना एक अंतर्द्रोह है, एक व्यक्ति का नहीं बल्कि एक अंचल का जो स्वतंत्रता के उपरांत एक कृत्रिम व आरोपित सभ्यता के विरुद्ध एक बेचैन छटपटाहट के रूप में उभरता चला आ रहा है :—

महानगर और महासागर मीठे क्यों नहीं होते?
मुझे लगा। मेरे गांव का तालाब
आज भी समुद्र से बड़ा है।

(गवाही बिगाड़ रहे लोग–२०)

× × ×

चिड़िया बता–
तेरे पंखों पर कहां लिखा है–
आज़ादी का अर्थ ?

(चिड़िया से–८०)

इस छटपटाहट में निष्क्रिय बने रहने का कोई अर्थ ही नहीं रह गया है। संघर्ष का आमंत्रण दवे की रचनाओं का प्रमुख स्वर है। इस संघर्ष को भी वे एक योद्धा की तरह करना चाहते हैं, इसलिये उनकी कविता में एक ख़ास क़िस्म का सिपाहीपन भी है :

मेरे प्यारे बेटे / लड़

हर बात पर लड़ / रोटी पर लड़ / बिस्तर
पर लड़
लड़ना नहीं सीखेगा /
तो / मेरी तरह / खांस-खांस कर मरेगा /
(बेटे से—२४)

× × ×

बिस्तर पर गोली लगे
इससे बेहतर है
लड़ते लड़ते मारे जाओ।
(वक्त, आग और हवा—२२)

(वरदीदार चेहरों के बारे में—१७)

× × ×

बैठा हूं /
सभ्य लोगों के बीच /
पुंसत्व की परिभाषा करता /
चर्चा के दौर में पाया
हिजड़े / ज्यादा ताकतवर होते हैं।
(हम नपुंसक हो गये—५८)

× × ×

साहित्यकार, / कलम फेंको /
माला उठाओ
राजधानी / जल्सों का नगर
होती है।
(राजधानी में आजादी—५३)

योद्धा होते हुए, दवे अपनी रचनाओं के माध्यम से अपनी असुरक्षा का खतरा भी जाहिर करते हैं। यह दवे के रचनाक्रम में किसी कमजोरी का अहसास देता है, मगर कविता के जरिये केवल शब्द ही तो लड़ सकते हैं, कवि तो लड़ने पर हमेशा मरा है। इस लिये दवे के संघर्ष में कहीं कहीं मुक्तिबोध की तरह ही असुरक्षा का वह भाव है, जिसे मुक्तिबोध भी तमाम जिंदगी भोगते रहे और यही डर मुक्तिबोध की समूची पीढ़ी का डर भी रहा और शायद उस पीढ़ी से स्थानांतरित होकर वही डर दवे की रचनाओं में भी मौजूद है :

चित्र : आलोक जैन

में वरदीदार चेहरों / सलाखोंदार जेल /
दोनों से जिंदा लौटा हूं / बार-बार /
में मारा गया हूं / — जेल के बाहर

रमेश दवे की पीड़ाओं और संवेदनाओं में मध्यवर्गीय स्वर अपने समकालीन अंचल की व्यथाओं एवं उत्पीड़न को अभिव्यक्त करता है। उनका कथन है—'रोटियों के बारे में बयान देने वाले अक्सर भूखे नहीं होते।' 'बयानों के बजाय, रोटियां होतीं तो रोटी का प्रश्न बंदूक न बनता।' दवे की सांस्कृतिक दृष्टि में राष्ट्र धृतराष्ट्र है और जनता एक मजबूर गांधारी। आम आदमी की जद्दोजहद, उसकी कशमकश को दवे ने इस प्रकार शब्दाया है :

तुम्हारे कमरे की दीवारों पर टंगे नंगी तस्वीरों के कैलेंडर

ग़ज़ल
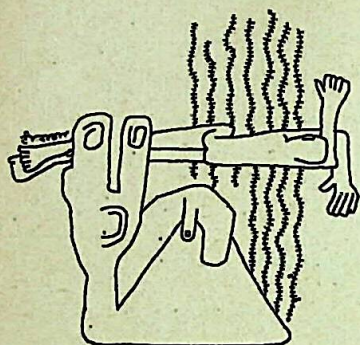
हर जगह उम्मीद लेकर जाइये
और फिर इस भूल पर पछताइये
रोशनी, काली घटा और आदमी
जिन्दगी भर इनसे धोखा खाइये।
रास्ते इनसे हुए हैं बदगुमां
इन इरादों को जरा समझाइये।
आज कल हर आदमी बदनाम है
तंग गलियों से न होकर जाइये।
यह सड़क दोनों जगह ले जायेगी
आप मन्दिर, चाहे मस्जिद जाइये।

—श्याम प्रकाश अग्रवाल

और आम रास्ते पर पड़ी
अधनंगी औरत—
फर्क है दोनों में।
तुम सपरिवार नंगे हो चुके हो
वह औरत नग्नता से रक्षा का एक युद्ध
लड़ रही है।

'पेड़', 'सिपाही के लिए', 'पहरेदार', 'कांच के दरख्त का डर' जैसी कविताओं में दवे जहां मुखर और सार्थक ढंग से अभिव्यक्त हुए हैं, वहीं 'बीवी से', 'पेंचकस', 'अध्यापक से' आदि कविताएं संकलन के स्तर को नीचा ले जाती हैं। भाषा पर दवे को न केवल अधिकार है, बल्कि उसके सही इस्तेमाल की समझ भी है। कविता में शब्द अपने पूरे मकसद के साथ उपस्थित हैं। ये ५५ कविताएं दवे की आगामी सामर्थ्य के प्रति आश्वस्त तो करती हैं, मगर दवे का बयानबाजी के इतिवृत्त से मुक्त होना जरूरी है। भाषा को भी उन्हें छायावादी प्रतीकों की रूमानी आदत से बचाना होगा। फिर भी पूरे संकलन में दवे ने शब्दों के माध्यम से, अनभूतियों और संवेदन के माध्यम से रचना की वह ताकत जाहिर की है, जिससे पाठक बंधता है। दवे मध्य प्रदेश के साहित्यिक कलेवर में गुमनामियत भोगते-भोगते बहुत देर से जाहिर हुए हैं, मगर जिनके पास मूल्यांकन के चश्मे न होकर सही आंखें हैं, वे दवे को निरस्त करके नहीं रख सकते।

कवि : रमेश दवे; प्रकाशक : वाणी प्रकाशन, दिल्ली; मूल्य : २० रुपया।

मेरे कुछ अलौकिक अनुभव

□. अप्पा पंत

भूतपूर्व राजनयिक श्री अप्पा पंत ने यहां अपने कुछ ऐसे अविस्मरणीय अलौकिक अनुभवों का वर्णन किया है, जो उन्हें तिब्बत, सिक्किम और भूटान में हुए थे। एक जीवित लामा के आरपार देखने का निराला अनुभव भी इन अनुभवों में शामिल है।

ये अनुभव उनकी अंग्रेजी पुस्तक 'सूर्य नमस्कार' (प्रकाशक : संगम बुक्स, ओरियेन्ट लांगमैन्स लिमिटेड, बम्बई-३८) से साभार उद्धृत हैं।

मुझे लगभग ६।। वर्षों तक तिब्बत, भूटान और सिक्किम में रहने का सुअवसर मिला था। तिब्बत में ल्हासा, सामये, सेरा ड्रेपुंग, ग्यान्त्सी, यातुंग आदि स्थानों में अनेक ऐसे लामाओं और योगियों से भेंट हुई, जो वर्षों से मौन समाधि में लीन हैं।

अगस्त-सितंबर, १९५५ में ऐसे ही एक लामा से हुई भेंट मुझे सदा याद रहेगी। मैं अपने परिवार के सदस्यों के साथ भूटान होता हुआ तिब्बत जा रहा था। सिक्किम की सीमा से परे, तिब्बत के नाथूला दर्रे से १३ मील दूर एक प्राचीन मठ है, जिसमें एक विचित्र पंथ के अनुयायी रहते हैं। उन दिनों इस मठ के प्रमुख लामा थे—संत पापा अजो रिम्पोक। जब मैंने उनके दर्शन किये, तब उनकी आयु ९७ वर्ष थी। बड़े प्रमुदित थे मुझसे बातें करते हुए। नाथूला दर्रा पार करते हुए हमें भीषण ओला-आंधी का सामना करना पड़ा था, जिस कारण हम सब काफ़ी दुखी और परेशान थे हमारा काफ़ी सामान, मय कुछ खच्चरों के साथ, इस ओला-आंधी में खो गया था।

चित्र : ठाकोर राणा

हम सब जब मठ में पहुंचे, तो काफ़ी भीगे हुए थे, ठंड से कांप रहे थे, और भूखे भी थे। मक्खन मिली नमकीन चाय पीकर तथा उसके साथ मिले स्वादिष्ट व्यंजन खाकर, कुछ जान-में-जान आयी।

जब प्रमुख लामा को ओला-आंधी के
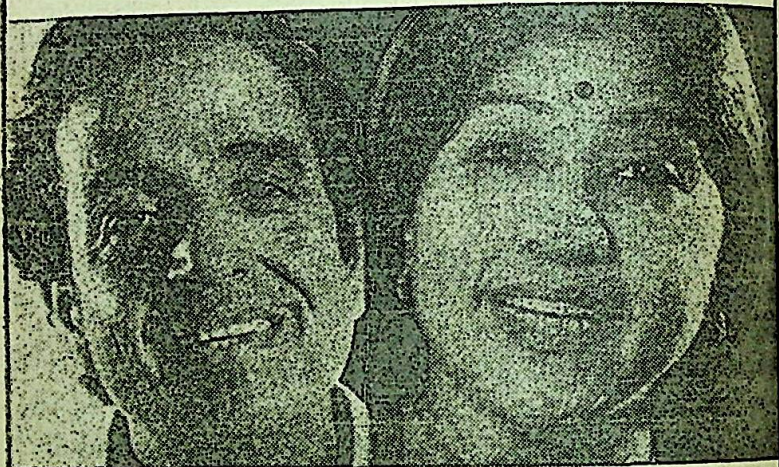
बारे में पता चला, तो उन्होंने मुझसे पूछा-'आपने अपने आगमन के बारे में पूर्व सूचना क्यों नहीं दी थी ? पूर्व-सूचना मिली होती, तो मैं ओला-आंधी को रोक देता।'

उनकी यह बात सुनकर मैं चकित रह गया। मैंने अपने दुभाषिये से पूछा कि प्रमुख लामा मौसम में तब्दीली कैसे कर सकते थे ? दुभाषिये ने बताया कि वे मंत्र की सहायता से कहीं के भी खराब मौसम को रोक सकते हैं। उसने यह भी बताया कि वे हवा में उड़कर दूर-दूर तक जा सकते हैं, और तिब्बत में कहीं भी, किसी क्षण, प्रकट हो सकते हैं।

मैंने दुभाषिये के माध्यम से प्रमुख लामा से कहा-'अगली बार दर्रा पार करूंगा, तो आपको पूर्व सूचना देना नहीं भूलूंगा।'

इसके बाद, मुझे १२ बार दर्रे को पार करने का मौका मिला। और, प्रत्येक अवसर पर मैं प्रमुख लामा को अपने आने के बारे में पहले से बताना नहीं भूला। और यह बात अविश्वसनीय लग सकती है, मगर सच है कि आसपास खराब मौसम होने के बावजूद, मुझे मार्ग में सदा उजली धूप ही मिली।

पं. नेहरू पूर्वजन्म में बुद्ध थे

१९५७ में ल्हासा से लौटते हुए, नाथू-ला दर्रे को पार करने से पूर्व, हम इसी मठ में रुके। मैंने जब प्रमुख लामा से मौसम के बारे में पूछा, तो उन्होंने कहा कि सिक्किम तक मौसम अच्छा रहेगा।

हमारे दल के कुछ सदस्यों के मार्ग में बीमार पड़ जाने के कारण, हमें सिक्किम पहुंचने में काफ़ी देरी हुई। जब हमने दर्रे में प्रवेश किया, तो आसमान में बादल गरज रहे थे, और गरज वाले तूफ़ान के आसार भी मौजूद थे। लेकिन, जब तक हमने दर्रा पार नहीं कर लिया, न वर्षा हुई, न तूफ़ान आया। दर्रा पार कर हम जैसे ही डाकबंगले में पहुंचे, बर्फ़ पड़ने लगी, और तेज़, तूफानी हवाएं चलने लगीं।

२५ सितम्बर १९५८ को मुझे प्रधान मंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू के साथ भूटान जाने का मौका मिला। हमें तिब्बत जाना था। मैंने अजो रिम्पोक को पहले से ही बता दिया था कि हम तिब्बत जा रहे हैं, और वे अच्छे मौसम की प्रार्थना करें।

पं. नेहरू दिल्ली से हवाई जहाज द्वारा बागदोगरा आये, और वहां से कार से सिलगुड़ी से गंगटोक पहुंचे। गंगटोक में भारी वर्षा हो रही थी, और मार्ग में भूस्खलन के समाचार भी मिल रहे थे। भूस्खलन के कारण कहीं-कहीं मार्ग इतना खराब था कि पं. नेहरू को बीच-बीच में जीप से उतरकर पैदल चलना पड़ता था। मुझे डर लग रहा था कि गंगटोक से दर्रे तक का रास्ता कैसे पार होगा ? हमें जो समाचार मिल रहे थे, उनसे ऐसा प्रतीत होता था कि आगे का रास्ता और भी खराब होगा।

लेकिन, जैसे-जैसे हम दर्रे की ओर बढ़ते गये, वैसे-वैसे मौसम साफ़ होता
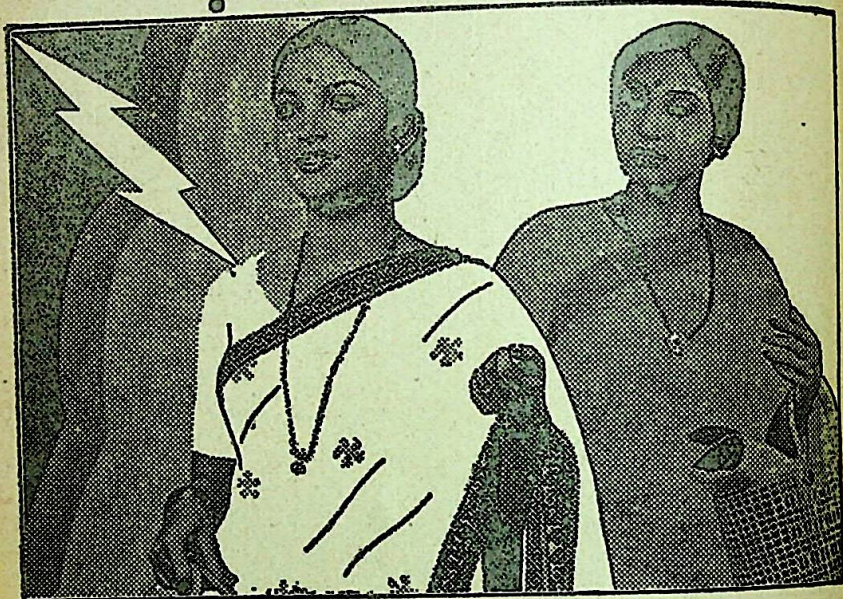
गया। जब हमने दर्रे में प्रवेश किया, उस समय तेज़ धूप खिली हुई थी, जब कि क़ायदे से वहां बर्फ़ होनी चाहिये थी। दर्रे से मठ तक हम घोड़ों पर सवार होकर आये, और यह सफ़र बड़ा सुहावना रहा।

प्रमुख लामा ने पं. नेहरू का स्वागत बड़े प्रेम और समारोह के साथ किया। मैं साफ़ मौसम के लिए उनका आभार मानना चाहता था, मगर मेरे कुछ कहने से पहले ही उन्होंने कहा—'इस बार तो साफ़ मौसम के लिए मुझे कोई प्रार्थना भी नहीं करनी पड़ी। जानते हैं क्यों? इसलिये कि इस बार आपके साथ स्वयं एक बोधिसत्व यात्रा कर रहे थे।'

यहां बता देना आवश्यक है कि तिब्बत में यह आम विश्वास है कि पं. जवाहरलाल नेहरू स्वयं बुद्ध के अवतार हैं। इसीलिए, तिब्बतवासी उन्हें बोधिसत्व मानते थे।

मुझे प्रमुख लामा का स्नेह-पात्र होने का सौभाग्य मिला था। अपने जीवन के अंतिम दिनों में उन्होंने मुझे एक पवित्र मूर्ति भेंट में देने की कृपा की थी। उनकी कृपा से मुझे एक वज्र (दोरजे) भी, जिसे अभिबोध का प्रतीक माना जाता है, प्राप्त हुआ। मैं सदा यात्राओं में उसे अपने साथ रखता हूं। भूटान, सिक्किम, नार्वे, इंडोनेशिया, अफ्रीका आदि में उसके साथ यात्रा करते समय मुझे कभी खराब मौसम का सामना नहीं करना पड़ा।

अनिष्टसूचक चीरक

इस वज्र के कारण मैं तिब्बत तथा अनेक स्थानों की खतरनाक यात्राओं में दुर्घटनाग्रस्त होते-होते बचा। एक बार मैं तिब्बत में आठवीं सदी में गुरु पदमसंभव द्वारा स्थापित एक मठ की ओर जा रहा था कि मार्ग में पड़ने वाले गोकर ला दर्रे को (ऊंचाई १७,८०० फुट) पार करते समय मेरा घोड़ा कई बार गहरी घाटियों में गिरते-गिरते बचा। एक अन्य अवसर पर यातुंग से नाथूला दर्रे को पार करते समय मेरा घोड़ा एक खड़ी चट्टान पर रपट गया, और नीचे गिर पड़ा। घाटी १०० फुट गहरी थी, और न मेरे बचने की आशा थी, न मेरे घोड़े की। मगर प्रमुख लामा द्वारा दिये गये वज्र की कृपा से मैं और मेरा घोड़ा ५० फुट नीचे आकर एक शिला-फलक पर सुरक्षित आ गये। इसे एक चमत्कार ही कहा जायेगा कि इतने नीचे गिरने पर भी हम दोनों जीवित रहे। जब मैंने इस घटना का ज़िक्र प्रमुख लामा अजो रिम्पोक से किया, तो उन्होंने सिर्फ़ इतना कहा—'मैं तुम्हारे लिए प्रार्थना करूंगा।'

तिब्बत में मुझे जहां शुभ मूर्तियां मिलीं, वहां पुरानी पुस्तकें, कलाकृतियां, मूर्तियां, चीरक आदि जमा करने के शौक में कुछ अशुभ प्रतीक-चिह्न भी हाथ लग गये। ऐसी कुछ वस्तुएं मुझे सामने के एक मठ में मिली थीं। इनके परिणामस्वरूप मैं गंगटोक जाकर बीमार पड़ गया। मुझे बताया गया कि मेरी बीमारी का कारण कोई अशुभ वस्तु है। जब मैंने पूछा कि उसके अभिशाप से कैसे बचा जा सकता है? तो मुझे संत

पापा खेन्तसे रिम्पोक से सम्पर्क करने का सुझाव दिया गया।

मैं उनसे मिला। महान लामा समाधिस्थ हो गये। अगले दिन, मुझे उनका संदेश मिला कि एक काला चीरक मेरे लिए अशुभ सिद्ध हो रहा है। उसका परित्याग कर देने पर, मेरी सब परेशानियां दूर हो जायेंगी। मैंने फ़ौरन उस काले चीरक को फेंक दिया और सचमुच उसके बाद मेरे सारे कष्ट दूर हो गये।

लामा के आरपार

एक बार पश्चिमी सिक्किम जाते हुए मुझे संत पापा धुशी रिम्पोक नामक एक और पहुंचे हुए लामा के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ। अन्य लामाओं की भांति वे भी अत्यन्त सदय थे। उनकी एक विशिष्टता यह थी कि उनके पास अपना कहने योग्य कुछ न था। उन्हें जो कुछ दूसरों से मिलता, उसे वे दीन-दुखियों में बांट देते थे। वे सदा एक एकान्त-स्थल में समाधिस्थ रहते थे। उनका मठ एक ऊंची और खड़ी चट्टान के शिखर पर स्थित था।

जब उन्हें हमारे आने का समाचार मिला, तो उन्होंने हमें संदेश भिजवाया कि उनकी तबियत अच्छी नहीं है, और वे हमसे भेंट नहीं कर सकेंगे। हम फिर अपने मार्ग पर चल पड़े। पर, बीच मार्ग में हमें पुनः उनका संदेश मिला कि लामा हमसे भेंट करने के इच्छुक हैं, और लंच पर हमारी प्रतीक्षा कर रहे हैं।

बड़ी मुश्किल से हम शिखर पर पहुंचे, क्योंकि चढाई बड़ी दुर्गम और जोखिम-भरी थी। बादलों के भी परे था उनका मठ। वहां पहुंचने पर पता चला कि लामा सिर्फ़ मुझसे और मेरी पत्नी से ही भेंट करेंगे। हम दोनों अपने दुभाषिये के साथ लामा के कक्ष में पहुंचे।

कक्ष में पहुंचने पर मुझे जो अनुभव हुआ, वह वर्णनातीत है। मैं लामा को सिर्फ़ देख ही नहीं सकता था, उनके आर-पार भी देख सकता था। वे जैसे थे ही नहीं, या थे तो एकदम रिक्त थे — शून्य।

एक सप्ताह बाद, मुझे लामा के देहान्त का समाचार मिला।

भटकी हुई प्रेतात्मा

सिक्किम में जो सज्जन श्री सिन्हा मेरे जन-सम्पर्क अधिकारी थे, वे आजकल गांगटोक स्थित 'नामग्याल इन्स्टिट्यूट ऑफ तिब्बतोलोजी' के निदेशक हैं। उन्हें जो मकान रहने के लिए मिला था, वह नया-नया, १९५९ में ही बना था। पर, उस मकान में जाते ही, पहली रात से ही श्री सिन्हा को कष्टदायक अनुभव होने लगे। पहली रात वे बिलकुल नहीं सो पाये, क्योंकि सारी रात कोई मकान की टिन की छत पर पत्थर फेंक रहा था। जब एक सप्ताह तक, हर रात, यही उपद्रव होता रहा, तो उन्होंने पुलिस को सूचित किया।

लेकिन पुलिस के आने पर भी स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ। पुलिस के सामने भी छत पर पत्थर बरसते रहे, और यह

पता नहीं चल पाया कि पत्थर कौन फेंक रहा है? हारकर, श्री सिन्हा थोशू रिम्पोक नामक एक लामा के पास पहुंचे। लामा ने सब सुनकर श्री सिन्हा से अगले दिन आने को कहा। अगले दिन उन्होंने श्री सिन्हा को बताया कि एक वर्ष पहले तिब्बत का एक तीर्थयात्री बोधिगया गया था, और वहीं उसकी मृत्यु हो गयी थी। उसकी प्रेतात्मा तिब्बत में सामये नामक स्थान पर, जहां सब तिब्बतवासियों की प्रेतात्माएं एकत्र होती हैं, जाना चाहती थी। पर, तिब्बत लौटने पर उसकी प्रेतात्मा ने पाया कि उसके पुराने घर के स्थान पर नया घर बन गया है। लामा ने अंत में कहा कि उन्होंने प्रेतात्मा को आवश्यक निर्देश दे दिये हैं, और वह भविष्य में श्री सिन्हा को तंग नहीं करेगी। और सचमुच, श्री सिन्हा तथा उनके परिवार के सदस्यों को भविष्य में कोई परेशानी नहीं हुई।

इंडोनेशिया के अनुभव

इंडोनेशिया में भी हमें अनेक अलौकिक अनुभव हुए। इंडोनेशिया के महान सूफ़ी बापक रहीम एक ज़िन्दादिल और हमेशा हंसते-मुस्कराते रहने वाले व्यक्ति थे। इतने खुशमिज़ाज थे वे कि उनसे मिलने पर, हर्षातिरेक के कारण मेरी आंखों में आंसू आने लगते थे। उनका कहना था कि अलौकिक अनुभवों को असामान्य नहीं समझना चाहिये, वे सामान्य जीवन के ही अनिवार्य अंग हैं।

एक दिन, जैसे ही मैंने उनके कमरे में प्रवेश किया, वे एक काग़ज़ पर कुछ लिखने लगे। मैंने दुभाषिये से पूछा कि वे क्या लिख रहे हैं? उसने बताया—'रहीम कहते हैं कि आज आप इस कमरे में अकेले नहीं आये हैं। आपके साथ कोई और भी है।' इस 'कोई' का वर्णन जो उन्होंने दिया, वह मेरे मृत पिता के हुलिये से बहुत मिलता था। सिर पर लाल साफ़ा, और कमर में लटकी तलवार आदि। रहीम ने दुभाषिये के माध्यम से मुझसे कहा—'आप आजकल संकटपूर्ण स्थिति से गुज़र रहे हैं। आपके पिता की प्रेतात्मा आपकी सुरक्षा के लिए सदा आपके साथ रहती है।'

यह घटना १९६२ की है, जब भारत और इंडोनेशिया के राजनयिक सम्बन्धों में तनाव आ जाने से मैं भी काफ़ी मानसिक तनाव अनुभव करता रहता था। उन्हीं दिनों, भारत लौटने पर मेरे कई रहस्यवादी मित्रों ने भी मुझे बताया कि मेरे पिता की प्रेतात्मा सदा मेरे साथ रहती है।

एक बार मैं फ्रांस के महान दार्शनिक डॉक्टर द मरक्यैत को, जो मेरे मेहमान थे, बापक रहीम से मिलाने ले गया। हम दोनों को देखते ही रहीम एक काग़ज़ पर कुछ लिखने लगे। पूछने पर दुभाषिये के माध्यम से उन्होंने कहा—'जो भाषा मैं लिख रहा हूं, उसे मैं नहीं जानता, किन्तु यह आपके मित्र के हृदय में अंकित है।' वह भाषा थी ग्रीक, जिसमें उन दिनों डॉ. मरक्यैत 'सत्य की ग्रीक धारणा' विषय पर शोध-ग्रंथ लिख रहे थे।

□

लू-शुन की चीनी कहानी

□

भिखारी

मैं एक नंगी ऊंची दीवार के साथ-साथ धूल में पांव घिसटता जा रहा हूं। कुछ दूसरे लोग अकेले घूम रहे हैं, हवा वह रही है, तथा दीवार के ऊपर, ऊंचे वृक्षों की टहनियां जिनके ओस लिए पत्ते अभी भी सूखे नहीं हैं, मेरे सिर के ऊपर झूल रहे हैं।

तेज़ हवा बह रही है तथा चारों तरफ धूल उड़ रही है।

एक लड़का मुझसे भीख मांगता है, वह भी दूसरों की तरह धारीदार कपड़े पहने हुए है और दुःखी नहीं दिख रहा, तथा रिरियाते, रोते और दंडवत करते हुए मेरे पीछे-पीछे आता है।

मुझे उसकी आवाज़ और तौर-तरीक़ों से नफ़रत होती है। उसके उदास न होने की वजह से मुझे उस पर खीझ-सी आ रही है, जैसे अगर कोई मज़ाक हो; जिस ढंग से वह मेरे पीछे-पीछे चला आ रहा है, उससे मुझे नफरत-सी हो रही है।

मैं चला जा रहा हूं। कुछ दूसरे लोग अकेले घूम रहे हैं। हवा बह रही है तथा चारों तरफ धूल है।

एक लड़का मुझसे भीख मांगता है, वह भी दूसरों की तरह धारीदार कपड़े पहने हुए है और दुःखी नहीं दिख रहा, पर वह गूंगा है, वह हाथ पसारकर गूंगापन प्रदर्शित करने का संकेत देता है।

मुझे उसके इस संकेत से खीझ-सी हो रही है, इसके अलावा हो सकता है कि वह गूंगा ही न हो, और केवल इस प्रकार भीख मांगने का उसका अपना ढंग ही हो।

मैं उसे भीख नहीं देता हूं, भीख देने की मेरी कोई इच्छा भी नहीं है, मैं भीख देने वालों में से नहीं हूं, उसके लिए मेरे पास केवल तिरस्कार, संदेह और घृणा ही है।

मैं मिट्टी की दीवार के नीचे उतर रहा हूं, दीवार के गढ़े में ईंटों का ढेर लगा हुआ है, और दीवार की तरफ कुछ भी नहीं है। तेज हवा वह रही है और पतझड़ की ठंडी हवा मेरे धारीदार चोगे के अंदर लगातार प्रवेश कर रही है; चारों तरफ धूल है।

मैं सोचता हूं कि मुझे भीख मांगने के लिए कौन-सा उपाय अपनाना चाहिये ! किस प्रकार की आवाज में बोलना चाहिये ? अगर गूंगे का अभिनय करना हो तो किस संकेत का प्रयोग करना चाहिये !

कुछ दूसरे लोग अकेले घूम रहे हैं।

और

मुझे कोई भीख नहीं मिलेगी, मैं भीख लेना भी नहीं चाहता। मैं उन लोगों से तिरस्कार, संदेह और घृणा ही पा सकूंगा, जो अपने आपको भीख देने वालों से अलग समझते हैं।

मैं खामोशी से बिना हिले-डुले भीख मांगूंगा।

मैं अंत में कुछ भी पा न सकूंगा। तेज़ हवा बह रही है, चारों तरफ धूल उड़ रही है। कुछ दूसरे लोग अकेले घूम रहे हैं।

मूल चीनी से अनुवाद : सत्यप्रकाश

□

बंबई में इंडो-पाक मुशायरा था। हिंदुस्तान और पाकिस्तान के बहुत-से मशहूर शायर मंच पर उपस्थित थे। इस मुशायरे में भारी-भरकम बदन के मालिक एक प्रसिद्ध शायर भी शामिल थे। जैसे ही उन्होंने ग़ज़ल पढ़नी शुरू की तो एक श्रोता ने आवाज़ कसी-'क्या कहने हैं मस्त हाथी के!'

यह सुनते ही शायर ने पूछा-'क्या कभी आपने हाथी नहीं देखा?'

श्रोता ने तुरंत उत्तर दिया, 'देखा तो है, लेकिन ग़ज़ल पढ़ते हुए पहली बार देख रहा हूं।'

यही बात ... बारे में भी कही जा सकती है। वह अविशेषज्ञों द्वारा भी उतना ही बोधगम्य है, जितना विशेषज्ञों द्वारा।

कैंसर जितना लुभावना विषय है, उतना ही डरावना भी है। विशेषज्ञों और अविशेषज्ञों दोनों के

चित्र : ठाकोर राणा

कता नष्ट होने लगती है, और वह समझ में आने लगता है।

कैंसर के कारणों और उसकी उपचार-विधियों के बारे में इसलिए नहीं जाना जा सकता कि वे मौजूद हैं ही नहीं। निराशा हुई आपको यह जानकर? मगर

हुए मेरे पीछे-पीछे आता है।

मुझे उसकी आवाज़ और तौर-तरीक़ों से नफ़रत होती है। उसके उदास न होने की वजह से मुझे उस पर खीझ-सी आ रही है, जैसे अगर कोई मज़ाक हो; जिस ढंग से वह मेरे पीछे-पीछे चला आ रहा है, उससे मुझे नफरत-सी हो रही है।

मैं चला जा रहा हूं। कुछ दूसरे लोग अकेले घूम रहे हैं। हवा बह रही है तथा चारों तरफ धूल है।

एक लड़का मुझसे भीख मांगता है, वह भी दूसरों की तरह धारीदार कपड़े हूं, दीवार के गढ़े में ईंटों का ढेर लगा हुवा है, और दीवार की तरफ कुछ भी नहीं है। तेज हवा वह रही है और पतझड़ की ठंडी हवा मेरे धारीदार चोगे के अंदर लगातार प्रवेश कर रही है; चारों तरफ धूल है।

मैं सोचता हूं कि मुझे भीख मांगने के लिए कौन-सा उपाय अपनाना चाहिये? किस प्रकार की आवाज में बोलना चाहिये? अगर गूंगे का अभिनय करना हो तो किस संकेत का प्रयोग करना चाहिये?

कुछ दूसरे लोग अकेले घूम रहे हैं।

मौ

डा. मनु कोठारी और डा. लोपा मेहता के क्रान्तिकारी विचार

□

कैंसर : कितना सच, कितना झूठ

ब्रिटेन और अमरीका में एक साथ प्रकाशित अपनी विचारोत्तेजक और क्रांतिकारी पुस्तक 'कैंसर : मिथ्स एण्ड रिएलिटीज़' में डॉ. मनु कोठारी और डॉ. लोपा मेहता ने कैंसर जैसे दुर्दम्य और सांघातिक रोग को नयी निगाहों से देखने और नये ढंग से समझने का प्रयास किया है; जैसा कि मैक्सिको के कैंसर-विशेषज्ञ आइवान इलिच ने पुस्तक की भूमिका में कहा है, 'अपने ढंग की यह पहली पुस्तक है। इसके सहारे अविशेषज्ञ व्यक्ति विशेषज्ञों द्वारा इस्तेमाल न होकर, खुद उनकी सलाहों का इस्तेमाल कर सकेगा।'

प्रस्तुत हैं, इस असाधारण पुस्तक के कुछ अंश, जो कैंसर के संबंध में कल्पित बातों को उघाड़ने के साथ-साथ उसकी वास्तविकताओं को भी वैज्ञानिक दृष्टिकोण से उद्घाटित करते हैं।

आइंस्टीन ने एक बार कहा था कि जगत के बारे में सबसे अधिक अबोध्य बात यह है कि वह बोधगम्य है। ठीक यही बात कैंसर के बारे में भी कही जा सकती है। वह अविशेषज्ञों द्वारा भी उतना ही बोधगम्य है, जितना विशेषज्ञों द्वारा।

कैंसर जितना लुभावना विषय है, उतना ही डरावना भी है। विशेषज्ञों और अविशेषज्ञों दोनों के लिए। पर ऐसा होना नहीं चाहिये। कैंसर को यदि सही जैविक परिप्रेक्ष्य में देखा जाये, तो उसका रहस्यावरण और उसकी सांघातिकता नष्ट होने लगती है, और वह समझ में आने लगता है।

चित्र : ठाकोर राणा

कैंसर के कारणों और उसकी उपचार-विधियों के बारे में इसलिए नहीं जाना जा सकता कि वे मौजूद हैं ही नहीं। निराशा हुई आपको यह जानकर? मगर

होनी नहीं चाहिए। जिन तथ्यों के आधार पर हमने कैंसर के बारे में निष्कर्ष निकाले हैं, उन्हीं से हमें यह तर्कसंगत सूक्ष्मदृष्टि भी प्राप्त हुई है कि एक ओर तो कैंसर की उपस्थिति से डरने की कोई आवश्यकता नहीं है, और दूसरी ओर उसके साथ जिया जा सकता है।

कैंसर के बारे में जो अनेक मनगढ़ंत 'तथ्य' प्रचलित हैं, उनमें से एक यह है कि कैंसर किसी कर्ता के कारण होता है, और उस कर्ता को दूर कर दिया जाये तो यह रोग भी दूर हो सकता है। ऐसा ही एक दूसरा 'तथ्य' यह है कि उसका ऐसी अवस्था में निदान किया जा सकता है, जहां पहले से चिकित्सा शुरू करके उस पर विजय पायी जा सकती है।

सच तो यह है कि मानवता के इतिहास में इतने कम लोगों ने इतने अधिक लोगों से इतना अधिक झूठ नहीं बोला (जितना कैंसर के बारे में बोला गया।) कैंसर के इन मनगढ़ंत 'तथ्यों' को एक वाक्य में इस प्रकार संक्षेप में कहा जा सकता है: अज्ञान, और उसके साथ मेल खाते हुए अत्यधिक दावे, अत्यधिक कर्मकाण्ड और अत्यधिक वायदे।

यह अज्ञान आरंभ होता है—कैंसर की व्याख्या की सामान्य समस्या से। कोशिकीय रोगविज्ञान के जन्मदाता विरचो ने पिछली सदी में कहा था कि कोई भी व्यक्ति, भले ही उसे कितनी भी यंत्रणा क्यों न दी जाये, कैंसर की व्याख्या नहीं कर सकता। इतने वर्ष बीत जाने पर भी यह कथन आज भी पहले की भांति ही सच है। ब्रिटेन के प्रख्यात कैंसर-विशेषज्ञ फाउल्ड्स ने हाल ही में कहा था कि 'जिस दिन कैंसर की जैविक भाषा में परिभाषा संभव हो सकेगी, उस दिन कैंसर की शोध के क्षेत्र में एक युगान्तरकारी घटना घटेगी।'

नोबल-पुरस्कार-विजेता वैज्ञानिक वाटसन ने बड़ी साफ़गोई के साथ कैंसर विज्ञान को वैज्ञानिक रूप से दिवालिया, चिकित्सा-विज्ञान की दृष्टि से अप्रभावी और खर्चीला बताया है। एक अन्य नोबल-पुरस्कार विजेता वैज्ञानिक बर्नेट ने कहा है कि 'यदि कैंसर पर हुई शोध का व्यापक और निष्पक्ष सर्वेक्षण किया जाये, तो सर्वेक्षक के प्रयासों की समाप्ति विध्वंसक व्यर्थता में होगी।'

कैंसर का इलाज करने वाले डॉक्टर कैंसर के रोगियों के रोग का शीघ्र निदान करा लेने के लिए प्रोत्साहित करते रहते हैं। पर ऐसे कैंसर-विशेषज्ञों के नाम काफ़ी तादाद में गिनाये जा सकते हैं, जो स्वयं कैंसर के शिकार हुए। सबसे पहले ध्यान आता है अरमान्द ट्राउसो, और अमरीका के विख्यात चिकित्सा-गृह मेयो क्लीनिक के सह-संस्थापक विलियम मेयो का, जिन्होंने पेट के कैंसर के बारे में काफ़ी शोध-साहित्य की रचना की है। वे एक अन्य कैंसर-विशेषज्ञ सर डी. पी. डी. विल्की, और प्रसिद्ध शल्य-

चिकित्सक जेम्स ईविंग के समान कैंसर से ही मरे। भारत में टाटा मेमोरियल सेंटर कैंसर का अन्यतम अस्पताल और शोध-केंद्र है। यहां के दो शल्य-चिकित्सकों अर्नेस्ट बोर्जेज और सोराब मेहता के कैंसर का निदान 'बहुत देर से' हो पाया। विश्व के जिन अन्य प्रख्यात कैंसर-विशेषज्ञों को कैंसर से मरना पड़ा, उनमें से कुछ के नाम इस प्रकार हैं—फ्रेंक हॉर्स-फॉल (निदेशक, स्लोअन-कैटेरिंग इन्स्टिट्यूट), डेविड कार्नोफस्की (एस. के. आई. के कैमोथेरेपी विभाग के अध्यक्ष), और डोनें (विश्व-विख्यात कैंसर-विशेषज्ञ)।

शेक्सपीयर की यह सूक्ति कितनी सटीक है: 'दवाइयों से जीवन को थोड़ा बढ़ाया जा सकता है, किंतु मौत डॉक्टर को भी अपनी गिरफ्त में ले लेगी।'

आधारहीन दावे

कैंसर-विशेषज्ञों ने कैंसर के होने के जितने कारण बताये हैं, उनमें से कोई भी (धूम्रपान भी) कैंसर के लिए जिम्मेदार सिद्ध नहीं हो सका है। और अब तो वे सूरज और शुक्राणु को कैंसर के लिए जिम्मेदार मानने लगे हैं। इन विशेषज्ञों ने, असल में 'कैंसरफोबम्' (कैंसर से भय) नामक एक नये रोग को ही जन्म दे दिया है, जो 'न्यू इंग्लैंड जर्नल ऑफ मेडिसिन' के एक भूतपूर्व संपादक इन्गेलफिन्गर के अनुसार 'कैंसर के समान ही गंभीर, और नैतिक दृष्टि से उससे कहीं अधिक विध्वंसक है।'

कैंसर का इलाज करने वाले उसके निदान और इलाज दोनों में क्षति करते हैं, क्योंकि वे इस सचाई को नजरअंदाज करते रहते हैं कि न कैंसर का बहुत पहले निदान संभव है, न उसका पूरा इलाज। कैंसर से मुक्ति का भ्रम तभी उत्पन्न होता है, जब रोगी कैंसर की मौजूदगी को अनुभव नहीं करता और या चिकित्सक उसे पहचानने में असमर्थ रहता है। उदाहरणस्वरूप, अतिपाती श्वेतरक्तता में 'पूर्ण उपशमन' के बाद भी, कैंसर की कोशिकाएं सदा मौजूद रहती हैं।

'डेमोग्राफिक कंसीडरेशन ऑफ द कैंसर प्राब्लम' नामक लेख में उसके विद्वान लेखक हार्डिन जोन्स कहते हैं, 'जहां तक जीवन की सम्भावना का प्रश्न है, (इलाज के बाद भी) जीवित रहने की संभावना बिना इलाज के समान ही है। बल्कि, संभावना यह अधिक है कि कैंसर के इलाज के बाद रोगी के जीने की प्रत्याशा का समय शायद और कम हो जाता है।'

जोन्स के १९५६ में किये इस निर्धारण का समर्थन १९७५ में विश्व-स्वास्थ्य संगठन (WHO) के लोगन ने वक्ष-कैंसर के मामलों का दुनिया भर में सर्वेक्षण करके किया। उनका कहना था कि इस रोग के मूलभूत रोगोपचार के बावजूद, रोगियों की मृत्यु-संख्या कम होने के स्थान पर बढ़ी ही है।

'द पेंचवर्क माउस. पोलिटिक्स एण्ड इन्ट्रीग इन द कैम्पेन टू कॉन्कर कैंसर' के लेखक जे. हिक्ससन ने कैंसर की शोध में रत स्लोअन - कैटरिंग इन्स्टिटच्यूट के शोध-कार्य की तीखी आलोचना करते हुए कहा है, 'सारी दुनिया में अपनी सनकों और वस्तु-पूजा के लिए मशहूर अमरीकी जनता को कभी-कभी किसी एक रोग के प्रति तन्मयता की सनक सवार हो जाती है। आज वह रोग है—कैंसर।.... जैविकी में शोध करने वाले तरुण शोध-वैज्ञानिकों से मैं कहूंगा कि वे कैंसर की शोध से दूर ही रहें। कारण, वह शोध-कार्य पैसा कमाने के लिए ही आरंभ किया गया है, और विज्ञान से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है।'

कैंसर आखिर है क्या ?

कुख्यात कैंसर वास्तव में जैविकी का ही एक अभिन्न अंग है। 'यह सोचने का कोई कारण नहीं है कि कैंसर जीवन पर अध्यारोपित कोई रोग है। इसके बर-खिलाफ़, कैंसर विकासात्मक प्रक्रिया का ही एक अनिवार्य अंग है, और उसका इतिहास उतना ही पुराना रहता है, जितना उस जीवन का, जिसे वह प्रभावित करता है।' यह कथन है, 'द बायोलॉजी ऑफ़ कैंसर' के एक लेखक एफ़. जे. सी. रो का।

रेने दुबो के कथनानुसार, प्रत्येक कैंसर अपूर्व, अद्वितीय और ऐसा होता है कि उसे दोहराया नहीं जा सकता। प्रत्येक कैंसर की इसी अद्वितीयता के कारण, किसी ऐसी विशेष दवा या टीके की सिफ़ा-रिश कैंसर रोग के लिए नहीं की जा सकती। एक और बात यह है कि कैंसर की गति व्यक्ति-विशेष के समान ही अप्रत्याशित रहती है। हो जाने के बाद, यह ज़रूरी नहीं कि वह विकसित हो ही, और विकसित होने पर परेशान करे ही, और घातक सिद्ध हो। बहुत से कैंसर अपने स्वामी के साथ ही मर जाते हैं, इसलिए कैंसर ही, उसका उपचार नहीं, परिणाम का निर्धारण करता है।

कैंसर न वंशानुगत रोग है, न पारि-वारिक। जिसे कैंसर होता है, वह उसके शरीर का एक अंश ही बन जाता है और उसकी कोशिकाओं को सीधा नष्ट करने के चक्कर में शरीर की अन्य कोशिकाओं के नष्ट होने का भय रहता है। कैंसर से लड़ने वाली सब दवाएं और विधियां कैंसर की कोशिकाओं को भी उसी ढंग से प्रभावित करती हैं, जिस ढंग से अन्य कोशिकाओं को।

कैंसर वास्तव में बढ़ती उमर की अभिव्यक्ति है। बच्चों में कैंसर सठियाव का ही एक चिह्न है।

कैंसर और मौत

शरीर के जिस भाग में कैंसर प्रकट होता है, वहां से उसका प्रसार प्रायः इन चार भागों में होता है—फेफड़े, हड्डियां, मस्तिष्क और यकृत। वैसे, कैंसर शरीर के किसी भी भाग में फैल सकता है।

कैंसर का प्रसार चिकित्सक को चकमे में डाल सकता है, शल्य-चिकित्सकों को मात कर सकता है, और रोगी की मौत का कारण बन सकता है। कैंसर का इलाज उसके प्रसार में शीघ्रता ला सकता है। कैंसर जितना ज्यादा और जितना तेजी से फैलेगा, वह उतना ही शीघ्र घातक बनेगा।

'वर्ल्ड विदआउट कैंसर' के लेखक जी. ई. ग्रिफिन के मतानुसार 'कैंसर और मौत के बीच का रिश्ता विवादास्पद है। यह इस परिकलन से स्पष्ट है कि यदि, कैंसर पर पूरी तरह विजय पा भी ली जाये तो भी उसका प्रभाव यही होगा कि उसके रोगी की आयु में कुछ वर्षों की वृद्धि हो जायेगी।'

कैंसर के यदि कान और जबान होते, तो वह बेचारा अपने बारे में सामान्य जन और चिकित्सकों की आशंकाओं के बारे में सुनकर यही कहता कि 'मेरी जड़ें मौत में नहीं, जिन्दगी में हैं।' वास्तव में कैंसर अपने आपमें कोई समस्या नहीं, बल्कि मौत की समस्या का एक हल है। ब्रिटेन के सर जॉर्ज पिकरिंग ने इसी बात को इन शब्दों में कहा है, 'बुढ़ापा मौत की तैयारी है, यह धारणा हमारे मन में इतने गहरे में जड़ पकड़ गयी है कि इस बात पर ज़ोर देने की ज़रूरत है कि बुढ़ापे को एक रोग के रूप में जानना-समझना चाहिये। ऐसे ही घातक रोगों के कारण नये जीवन को आने का अवसर मिलता है। उनके बिना हम उस ढंग से न रह पाते, जैसे आज रह रहे हैं।'

कैंसर के बारे में भी यह सच है। कैंसर (हमारे उसे दूर करने के सब प्रयासों के बावजूद) अनंत-काल तक हमारे बीच रहेगा।

यह अनुभूति कि कैंसर किसी कारण से नहीं होता, और इसी कारण उसे रोका भी नहीं जा सकता, एक माने में एक वरदान है। यह अनुभूति हमें कैंसर के भय से मुक्त करने के अलावा इस भय से भी मुक्त कर देती है कि हम 'धीमी मौत' के रूप में कैंसर को खुद ही आमंत्रित कर सकते हैं।

हमें इस दुखद, किन्तु अनिवार्य तथ्य को स्वीकार करना ही होगा कि पांच में से एक व्यक्ति कैंसर का शिकार होगा ही, चाहे हम कुछ भी करें। इस बात को लेकर अधिक चिंतित होने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि प्रकृति इसी नियम से चलती आयी है, और चलती रहेगी।

□

• जितना धन आज शिक्षा से बचा रहे हैं, उससे कहीं अधिक जेलों, सुधारगृहों और सुरक्षा में व्यय करना पड़ेगा।

—राबर्ट बेन्सन

• प्रेम ने मनुष्य को बनाया। भय ने उसे समाज का रूप दिया। अंधकार ने उसे राष्ट्र में संगठित कर दिया।

—अज्ञेय

□

डा. राजा रामन्ना का सूचक-लेख

□

विज्ञान के क्षेत्र में भारत के बढ़ते कदम

०

'आजादी के बाद से हमने विज्ञान के क्षेत्र में शानदार प्रगति की है, और इस क्षेत्र में हम सभी विकासशील देशों से आगे ही नहीं हैं, पूरी तरह आत्मनिर्भर भी है।' यह मत है, भारत के प्रतिष्ठित वैज्ञानिक तथा भाभा परमाणुविक शोध केंद्र के निदेशक डॉक्टर राजा रमन्ना का, जो उन्होंने हाल ही में 'टाइम्स ऑफ इंडिया' के दो प्रतिनिधियों—श्री एस. कुमार और श्री श्रीनिवास लक्ष्मण को दी गयी एक विशेष भेंट में व्यक्त किया। नीचे प्रकाशित इस भेंट-वार्ता के कुछ अंशों से आप हमारी शानदार वैज्ञानिक प्रगति का लेखा-जोखा लेने के साथ-साथ उसकी भावी दिशाओं और संभावनाओं से भी परिचित हो सकेंगे।

०

प्रश्न : विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्रों में भारत ने पिछले ३० वर्षों में कौन-कौन सी बड़ी उपलब्धियां अर्जित की है ?

उत्तर : भारत ने इन क्षेत्रों में इस अवधि में जो शानदार प्रगति की है, उसका सही-सही मूल्यांकन नहीं हो पाया है, ऐसा मेरा विचार है। भारत को उसकी गंदी सड़कों और खराब टेलिफोनों आदि के कारण अगले कई दशकों तक विकासशील देश समझा जाता रहेगा, मगर इस तथ्य को बहुत कम समझा गया है कि पंडित नेहरू ने जो वैज्ञानिक क्रांति आरंभ की थी, उसकी परिणति एक महान वैज्ञानिक क्रांति के रूप में हो चुकी है। मैं जब देश की प्रयोगशालाओं में जाता हूं तो यह देखकर दंग रह जाता हूं कि प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में ही नहीं, बुनियादी शोध के क्षेत्र में भी हमने उच्च कोटि का कार्य किया है। एकमात्र समस्या यह है कि अभी तक हम विभिन्न शोध-केंद्रों की प्रौद्योगिकी को उत्पादन-केंद्रों तक पहुंचाने में सफल नहीं हुए हैं। लेकिन, अब यह काम भी धीरे-धीरे आरंभ हो रहा है। यह आसानी से कहा जा सकता है कि जहां तक विज्ञान और प्रौद्योगिकी का संबंध है, भारत ने बहुत प्रगति की है। पर उसे अनेक सामाजिक और प्रबंधकीय समस्याओं के कारण आसानी से देखा नहीं जा सकता।

प्रश्न : आत्म-निर्भरता और देशज...

संबंधी हमारे प्रयास, इस दिशा में, कहां तक सफल हुए हैं ?

उत्तर : विकास और उत्तम कोटि की शोध के परिणामस्वरूप, आत्मनिर्भरता तो स्वयमेव आ ही जाती है। इसका आधार हमें मिल चुका है। लेकिन, अभी तक शोध और विकास तथा उत्पादन के बीच सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सका है। इस कारण, लोगों को वह आत्मनिर्भरता नहीं दिखायी देती, जिसे हम पा चुके हैं। हमारे देश में आयातित और लायसेन्स-शुदा प्रौद्योगिकी पर निर्भर रहने की ख़तरनाक प्रवृत्ति काफ़ी ज़ोर पकड़ चुकी है। इस प्रवृत्ति से मस्तिष्क विकृत हो जाता है। यह प्रवृत्ति समस्त-वैज्ञानिक परिवर्तन से ही दूर हो सकती है। आयातित प्रौद्योगिकी भले ही सस्ती लगे, किंतु हमें भारतीय प्रौद्योगिकी को ही प्रोत्साहित करना होगा। जब तक हम बुनियादी शोध से लेकर उत्पादन तक आत्मनिर्भर नहीं रहेंगे, तब तक हमारे सामने वे ही समस्याएं उपस्थित होती रहेंगी, जो आज हमारे सामने मौजूद हैं।

प्रश्न : ऐसा कहा जाता है कि वैज्ञानिकों की संख्या की दृष्टि से भारत का स्थान विश्व में तीसरा है। क्या आप इस मत से सहमत हैं ?

चित्र : ठाकोर राणा

उत्तर : सिर्फ़ विज्ञान और इंजीनियरिंग के कॉलेजों की संख्या बढ़ाने से ही, वैज्ञानिक मानव-शक्ति नहीं बढ़ायी जा सकती। इससे वैज्ञानिक क्षमता कम होती है। साधारणतया, वैज्ञानिक शिक्षा का अधिकाधिक प्रसार बुरी बात नहीं है, मगर उसके परिणामस्वरूप जो वैज्ञानिक मानव-शक्ति उत्पन्न होगी, उसका व्यवहार करने में कुछ समय लग सकता है।

प्रश्न : आप उस प्रशिक्षण-केंद्र के संस्थापक हैं, जिसका जन्म आज से बीस वर्ष पूर्व भाभा परमाणु शोध-केंद्र के प्रशिक्षार्थियों के प्रशिक्षण के लिए हुआ था। हमारे नाभिकीय वैज्ञानिकों की क्षमता तथा वैज्ञानिक मानव-शक्ति की अभिवृद्धि में इस केंद्र के योगदान का मूल्यांकन आप कैसे करेंगे ?

उत्तर : मुझे इस बारे में तनिक भी संदेह नहीं है कि इस केंद्र के प्रशिक्षार्थियों की भर्ती और उनके प्रशिक्षण के लिए जो विधियां हमने अपनायीं, उन्हीं के
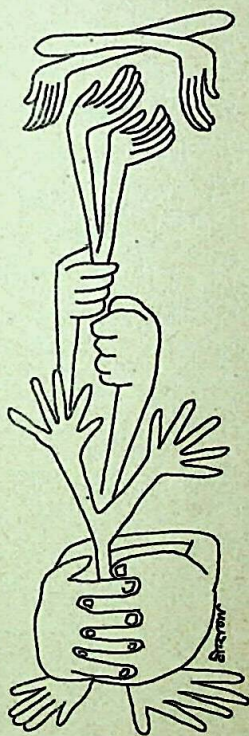
कारण हम आज वर्तमान स्थिति तक पहुंच पाये हैं। हमने इस प्रशिक्षण-केंद्र की शुरुआत १९५७ में की थी, जब बुनियादी शोध और व्यावहारिक शोध दोनों में तरुण वैज्ञानिकों की काफ़ी दिलचस्पी थी। इसी कारण हम देश की चोटी की वैज्ञानिक-प्रतिभा को अपनी ओर खींचने में सफल हो सके। प्रशिक्षित होने के बाद इन वैज्ञानिकों ने उन सब अपेक्षाओं की पूर्ति की, जो हमने उनसे की थी। हमारे केंद्र से प्रशिक्षित अनेक वैज्ञानिक आज देश-विदेश में महत्त्वपूर्ण पदों पर आसीन हैं।

प्रश्न : इलेक्ट्रानी क्षेत्र में हमने कैसी प्रगति की है?

उत्तर : इलेक्ट्रानी क्षेत्र में पिछले कुछ वर्षों में हमने उल्लेखनीय प्रगति की है। पर यह प्रगति 'वाइरिंग' इलेक्ट्रानी क्षेत्र में अधिक, और अंगभूत इलेक्ट्रानी क्षेत्र में कम हुई है। यदि अगले दशक में हमने अंगभूत इलेक्ट्रानी की ओर अधिक ध्यान दिया, तो हम नयी-नयी गतिविधियां आरंभ कर सकते हैं, और उस अप्रचलन से भी बचे रह सकते हैं, जो इलेक्ट्रानी-क्षेत्र में बड़ी तेज़ी से दिखायी देता है। हमें आरंभ से ही बुनियादी अंगभूत इलेक्ट्रानी और 'सॉलिड स्टेट' रचनाओं पर अधिक ध्यान देना चाहिए था।

प्रश्न : अंतरिक्ष तथा नाभिकीय-ऊर्जा संबंधी योजनाओं में अपनी सफलताओं के बावजूद, हम कुछ अन्य क्षेत्रों में काफ़ी पीछे हैं। आपके मतानुसार इसका क्या कारण हो सकता है?

उत्तर : उदाहरण के लिए, विद्युत् वितरण को लीजिये। इसे बहुत बड़ा विज्ञान नहीं कहा जा सकता, लेकिन किसी से छिपा नहीं है कि इस क्षेत्र में स्थिति कितनी खराब है।

अब, जब आप अंतरिक्ष-प्रौद्योगिकी की बात करते हैं, उदाहरण के लिए, अपने 'रोहिणी' उपग्रह के बारे में, तो लोग कहते हैं, 'ओह! भारत ने अंतरिक्ष में अपना उपग्रह छोड़ दिया।' लेकिन, उन्हें उन अनेक प्रयासों के बारे में पता नहीं होता, जो इस प्रक्षेपण से पूर्व किये गये थे। उच्चतम कोटि की प्रौद्योगिकी के बिना यह उपलब्धि असंभव थी। ऐसी प्रौद्योगिकी हमारे उद्योगों को उपलब्ध नहीं है। इस अन्तराल को भरना होगा।

प्रश्न : अधिकारी-वर्ग के खिलाफ़ यह आम शिकायत है कि वे भारतीय प्रयोगशालाओं में शोधरत वैज्ञानिकों की उपेक्षा करके, बाहर से अंधाधुंध प्रौद्योगिकी का आयात करते रहते हैं। इस संबंध में आपको क्या कहना है?

उत्तर : उनका अधिक दोष इसलिए नहीं है, क्योंकि इस पहलू पर उन्हें आर्थिक दृष्टि से भी सोच-विचार करना पड़ता है। प्रत्येक अधिकारी से भाभा होने की अपेक्षा नहीं की जा सकती। भाभा जितने महान वैज्ञानिक थे, उतने ही महान प्रशासक भी थे। अधिकारी-वर्ग की भी

अपनी समस्याएं हैं। उसके साधन सीमित हैं, और वह भविष्य में बहुत आगे तक नहीं देख पाता। उसे अपनी तात्कालिक आवश्यकताओं का ही ध्यान रखना पड़ता है। फिर, कुछ अधिकारी अच्छे होते हैं, कुछ नहीं। सही पद पर सही अधिकारी हो, तो यह समस्या उत्पन्न नहीं होगी।

प्रश्न : क्या हमारे वैज्ञानिक प्रशिक्षण का स्तर गिरा है?

उत्तर : मैं ऐसा नहीं मानता। मेरा मानना है कि आमतौर पर, हमारे शिक्षा के स्तर में कोई गिरावट नहीं हुई है। हुआ यह है कि हमारे प्रशिक्षण-केंद्रों में प्रशिक्षार्थियों की संख्या काफ़ी बढ़ गयी है। संख्या बढ़ जाने पर सामान्यता का आ जाना स्वाभाविक ही है। ऐसे में अच्छे-बुरे का भेद भी कठिन हो जाता है। मैं महसूस करता हूं कि आज के विद्यार्थी को हमारे ज़माने के विद्यार्थी से बेहतर शिक्षा मिलती है। आज भी हमें ऐसे वैज्ञानिक मिल जाते हैं, जो कम पैसों पर वैज्ञानिक शोध करते रहने को तैयार हैं।

प्रश्न : जब से वैज्ञानिकों ने वरिष्ठ सरकारी पदों पर कार्य करना आरंभ किया है, तब से क्या कोई उल्लेखनीय परिवर्तन दिखायी पड़े हैं?

उत्तर : हां, निश्चित रूप से कई परिवर्तन दिखायी पड़े हैं। दुनिया भर में वैज्ञानिकों को ऊंचे सरकारी पदों पर बैठाया जा रहा है, और भारत ने भी इस नीति का अनुकरण कर अच्छा ही काम किया, और उसके और भी अच्छे परिणाम सामने आने की आशा है।

प्रश्न : क्या आप इस आलोचना से सहमत हैं कि भारत बुनियादी शोध पर ज्यादा खर्च नहीं कर रहा है?

उत्तर : ऐसी आलोचना हमेशा की जा सकती है। मगर ज़रूरी बात यह है कि जो कुछ भी खर्च किया जाये, सही लोगों द्वारा सही कामों के लिए, और सही ढंग से खर्च किया जाये। हमरा देश इस मद में रूस और अमरीका की तरह खर्च नहीं कर सकता, मगर थोड़ा-बहुत खर्चा तो हमें बुनियादी शोध पर करते ही रहना होगा। विज्ञान-जगत् में भारत की जो प्रतिष्ठा है, उसका एक कारण यह भी है कि बुनियादी शोध के प्रति हमारा प्रेम इस सदी के आरंभ से ही चला आ रहा है। पहले, कुछ वैज्ञानिक निजी तौर पर ऐसी शोध करते थे, और आज सरकार उसे समर्थन देती है। जो भी हो, इस शोध-कार्य को हमें जारी रखना चाहिये।

प्रश्न : भारत जैसे देशों के ऊपर जो 'समुचित शिल्पविज्ञान' थोपा जा रहा है, उसके बारे में आपका क्या कहना है? ऐसा कहा जा रहा है कि भारत जैसे बहुसंख्यक देश के लिए वह ठीक नहीं रहेगा।

उत्तर : मैं इस तर्क को सही नहीं मानता। भारत जैसे देश जहां, अपार वैज्ञानिक साधन मौजूद हैं, अनेकानेक

प्रकार के शिल्पविज्ञानों की आवश्यकता है । 'समुचित शिल्पविज्ञान' हमारे लिए लाभकारी नहीं होगा, ऐसा सोचना नितांत ग़लत है ।

प्रश्न : विज्ञान को और अधिक लोकप्रिय कैसे बनाया जाये ?

उत्तर : विज्ञान को लोकप्रिय बनाने के बारे में काफ़ी भ्रम फैले हैं । एक दृष्टिकोण है, उन वैज्ञानिक विधियों का प्रचार जो, गांवों में प्रयुक्त होती हैं । दूसरा दृष्टिकोण है, गुरुत्वाकर्षण और उसके दर्शन आदि मूलभूत विषयों का प्रचार । दोनों की उपयोगिता है । मगर जिन संस्थाओं के जिम्मे विज्ञान को लोकप्रिय बनाने का काम है, वे दोनों प्रकार से असफल हुई हैं । मैं जिस किस्म के विज्ञान और शिल्पविज्ञान से सम्बन्धित हूं, जैसे तेज़ प्रजनक रिएक्टर, द्रवण शोध, भारी आयन त्वरित्र, आदि उसको लोकप्रिय बनाने का काम मेरा हो जाता है । अपने जिन सहयोगियों के बीच में इन विषयों का प्रचार करता हूं, उन्हें इन क्षेत्रों की प्रगति का जायज़ा मिल जाता है । गांवों की ज़रूरतों को पूरा करने के लिए वैज्ञानिकों के एक अन्य वर्ग की आवश्यकता है । विज्ञान को अधिकाधिक लोकप्रिय बनाना आसान काम नहीं है ।

प्रश्न : भाभा केन्द्र ने कुछ समय पूर्व एक ऐसे लेसर-यंत्र का निर्माण किया था, जिससे असम्बद्ध दृष्टिपटल को जोड़ा जा सकता है । पर उसका व्यापारिक उपयोग अभी तक संभव नहीं हो पाया । ऐसे में लेसर-शिल्पविज्ञान का भविष्य भारत में कैसे उज्ज्वल हो सकेगा ?

उत्तर : आपने स्वयं प्रयोगशालाओं के शिल्पविज्ञान को उत्पादन से जोड़ने का एक उदाहरण दे दिया । ऐसे परिष्कृत उपकरणों का निर्माण बड़ा कठिन है, जिसे आदमी फ़ौरन उपयोग में ला सके । लेसर का विभिन्न प्रकार से प्रयोग हो सकता है और उन सभी को प्रोत्साहित करना आवश्यक है । सुरक्षा, चिकित्सा, आदि क्षेत्रों में लेसर के प्रयोग की संभावनाएं इतनी अधिक हैं कि उन पर आसानी से विश्वास नहीं हो सका । हमारी समस्या यह है कि हमने लेसर उपकरणों पर अधिक, और लेसर पदार्थों पर कम ध्यान दिया है । अब इस कमी को दूर करने के प्रयास चल रहे हैं । एक प्रयोगशाला में सिर्फ़ यही काम चल रहा है । अगले दशक में हम लेसर घटकों के निर्माण के क्षेत्र में आत्मनिर्भर हो जायेंगे ।

प्रश्न : क्या आप भारत में तेज़ प्रजनक रिएक्टर शिल्पविज्ञान की वर्तमान स्थिति और उसके भविष्य पर प्रकाश डाल सकेंगे ?

उत्तर : यह शिल्पविज्ञान हमारा भावी शिल्पविज्ञान है । जब कोई रिएक्टर परिचालित होता है, तो वह ईंधन जलाता है । कुछ विशेष परिस्थितियों में इसके द्वारा बेकार पदार्थों को नाभिकीय ऊर्जा में परिवर्तित किया जा सकता है । जितना ईंधन जलता है, उससे अधिक निर्मित होता है और

और इसीलिए उसे तेज़ प्रजनक कहा जाता है। हमारे पास भारी मात्रा में यूरेनियम-२३८ या थोरियम है, जो प्रयोग में नहीं आती, मगर जिसका प्रयोग सही ढंग से हो सकता है।

प्रश्न : भारत के पास जो वैज्ञानिक तथा शिल्पवैज्ञानिक साधन हैं, उन्हें ध्यान में रखते हुए, आप उसके लिए विकासशील देशों के बीच किस प्रकार की भूमिका की आशा रखते हैं?

उत्तर : पिछले कई वर्षों से मैं यह मानता चला आ रहा हूं कि विज्ञान और शिल्प-विज्ञान के क्षेत्रों में हमने जो-जो विकास और सुधार किये हैं, उनकी जानकारी का लाभ हमें अपने पड़ोसी देशों, विशेष रूप से द. पू. एशिया, प. एशिया और अफ्रीकी देशों को देना चाहिये। मैं प्रोफेसर सलाम की इस बात से सहमत हूं कि भारत ने इतनी अधिक प्रगति कर ली है कि वह ऐसा करने में समर्थ है। लेकिन, पड़ोसी देशों को भी यह अहसास होना चाहिये। इन देशों के वैज्ञानिक जब आकर हमारी प्रयोगशालाएं देखते हैं, तो फ़ौरन हम सहयोग की बात छेड़ देते हैं। हमारे पास इन देशों को देने के लिए बहुत कुछ है, विशेष रूप से इलेक्ट्रानी, नाभिकीय विज्ञान और भौतिकी के क्षेत्रों में।

('टाइम्स ऑफ इंडिया' से साभार)

□

लेखकों से निवेदन

- रचनाओं का अंतिम निर्णय एक ख़ानगी सलाहकार-समिति करेगी। व्यक्ति विशेष नहीं।
- 'भारती'-समन्वित 'नवनीत' केवल हिंदी, भारत या उसके साहित्य तक सीमित नहीं। वह एक वैश्विक और अंतरराष्ट्रीय व्यास की सर्वसमावेशी सांस्कृतिक और ज्ञान-विज्ञान-समन्वित पत्रिका है। रचना भेजते समय कृपया, यह लक्ष्य में रखें।
- अनामन्त्रित कविताओं पर विचार करने को हम बाध्य नहीं। आज के समग्र विश्व-साहित्य में से चुनी हुई थोड़ी-सी कविताएं ही हर अंक में जा सकेंगी।
- रचना के साथ टिकट लगा, पूरा पता लिखा लिफाफा अवश्य रखें। अन्यथा रचना लौटायी नहीं जायेगी और न उसके संबंध में पत्र-व्यवहार ही किया जायेगा।
- रचना भेजने से पूर्व विचार कर लें कि वह नवनीत के अनुकूल है भी या नहीं।

—संपादक

□

प्रसिद्ध होम्योपैथ डा. एच. बॉ. कारापटेल का लेख

होमियोपैथी का उद्भव और वर्तमान प्रासंगिकता

होमियोपैथी के आविष्कारक और प्रथम प्रतिपादक सैमुअल हानमैन का जन्म जर्मनी के सैक्सनी प्रांत के माइसेन नगर में १० अप्रैल सन १७५५ को हुआ था। वे निस्संदेह अत्यंत प्रतिभावान पुरुष थे और उन्हें सही माने में 'चिकित्सा-विज्ञान का सुधारक' कहा जा सकता है।

२४ वर्ष की आयु में उन्होंने इलेंजर यूनिवर्सिटी से एम. डी. की डिग्री प्राप्त कर ली तथा ११ भाषाओं पर अधासारण अधिकार भी कर लिया था।

१७८२ में डेंसन नगर में अपनी डाक्टरी की प्रैक्टिस आरंभ करने के कुछ समय पश्चात् उन्हें वहां के चिकित्सालयों में प्रचलित रोग-निवारण पद्धतियों के परिणाम काफी असंतोषजनक प्रतीत होने लगे। उन दिनों नस काटकर खून निकालना और गहरा जुलाब देना करीब-करीब हर तरह की बीमारी के इलाज में सहायक माना जाता था। हानमैन इन तरीक़ों के ख़तरों को अच्छी तरह समझ गये थे। यह उन्हें असहय लगने लगा। उन्होंने अपनी प्रैक्टिस बंद कर दी। तत्पश्चात् वे रसायन-प्रक्रिया अनुसंधान और प्रयोगों में लग गये। घर चलाने के लिए उन्होंने रसायन-शास्त्र की पुस्तकों का अनुवाद करने का सहारा लिया। इसी परिस्थिति में जब वे गरीबी, रोज़मर्रा की परेशानियों तथा विभिन्न यातनाओं से घिरे हुए जीवन व्यतीत कर रहे थे, तभी उन्होंने होमियोपैथी का आविष्कार किया।

अविष्कार का उद्भव – इन दिनों वे कलन की मेटीरिया मेडिका (औषधि-निर्धारण कोश) का अनुवाद करने में व्यस्त थे। उन्हें इस पुस्तक में जोड़ों के दर्द के लिए सिनकोना की छाल के उपयोग और प्रभाव पर लेखक द्वारा दिया गया विवरण सही नहीं लगा। इस कारण उन्होंने इस औषधि का सेवन स्वयं ही करना शुरू कर दिया और अपने शरीर पर उससे उत्पन्न प्रभावों का निरीक्षण करने लगे। जब उन्हें रह-रहकर बुखार आने लगा तो वे अचंभे में पड़ गये। यह घटना लीपज़िग में १७९० में घटित हुई।

अब उन्होंने कई औषधियों का प्रयोग विभिन्न मात्राओं में कुछ स्वस्थ व्यक्तियों पर–जिनमें उनके परिवार के सदस्य तथा सुसम्मत मित्रगण सम्मिलित थे– शुरू किया। इन प्रयोगों से अंततः वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि प्रभावोत्पादक मात्रा में दी गयी औषधि स्वस्थ व्यक्ति में रोग के लक्षण उत्पन्न कर सकती है और यदि रोग के लक्षण समरूप हों तो औषधि की अल्प मात्रा के उपयोग से भी अस्वस्थ व्यक्ति में उसी प्रकार के लक्षणों से संबंधित रोग का भी शमन होगा।

सन १७९६ में उन्होंने एक चिकित्सा-शास्त्र संबंधी पत्रिका में अपना एक लेख प्रकाशित किया, जिसमें उन्होंने औषधियों के रोग-शामक प्रभावों पर एक नवीन सिद्धांत की प्रस्तुति की। इसी लेख में उन्होंने पहली बार संसार के सामने अपना विश्वविख्यात समानिकता-न्याय-सिद्धांत(Similia similibus Curanter): समान का निदान समान से) रखा। यही होमियोपैथी का जन्म-वर्ष था।

इससे पहले १७९२ में उन्हें होनवर राज्य के पुलिस सचिव क्लाकमब्रिंग के पागलपन को ठीक करने का अवसर मिला। १७९९ के ग्रीष्मकाल में कोइंग शटर नगर में फैली हुई खसरे की बीमारी से परेशान सैकड़ों लोगों को उन्होंने बेला-डोना का लघु-अंश घोलकर देकर पीड़ा-मुक्त किया। यह सब करने पर भी हान-

चित्र : आलोक जैन

मैन की व्यक्तिगत परिस्थितियां विपत्ति-ग्रस्त ही रहीं। इसके कारण थे–दूसरे चिकित्सकों की ईर्ष्या, औषधिनिर्माताओं का क्रोध, तथा समसामयिक अज्ञानाच्छादित वातावरण और उनकी संवेदनात्मक शालीनता। इन सबने मिलकर इस महान समाजसेवक को कई वर्ष बंजारे की ज़िंदगी बिताने पर मजबूर कर दिया।

परंतु इन विकट परिस्थितियों और गरीबी में भी वे सालों तक औषधि परीक्षण और अनुसंधान करते रहे। आखिर-कार सन १८१० में उन्होंने संसार के समक्ष अपने महान ग्रंथ Organon of Rational Healing (न्यायोचित रोग-निवारण ज्ञान कोश) को प्रकाशित करके प्रस्तुत किया। पर हुआ क्या! समकालीन

तथाकथित चिकित्सा-विशारदों ने इस होमियोपैथी की बाइबल का लगातार मज़ाक उड़ाया और इस पर गालियों की बौछार की। उन लोगों ने हानमैन को 'बेवकूफ, चालबाज़ और धूर्त' करार दिया।

औषधियों के प्रभावों का अध्ययन

१८११ में हानमैन ने अपने 'शुद्ध औषधि-निर्धारण कोश' (Materia Medica Pura) का प्रथम खंड प्रकाशित किया। इस ग्रंथ में उन्होंने सुनियोजित ढंग से खुद पर और अपने शिष्यों पर विभिन्न औषधियों के प्रयोग से उत्पन्न हुए प्रभावों का विस्तृत विवरण देकर अपने सैद्धांतिक निष्कर्षों को प्रस्तुत किया, जिनकी पुष्टि आज भी की जा सकती है। और जिन्हें होमियोपैथी चिकित्सा विधान का सूत्रधार माना जा सकता है।

सन १८१२ में उन्होंने लीपजिग विश्वविद्यालय की औषधि-विज्ञान विभाग की आम सभा के सामने जब अपना लेख (Dissertation on the Helleborisum of the Ancients) रखा तो उसने सभासदों को ऐसा चमकृत किया कि उन्हें खुलेआम अभिनंदित करके प्राध्यापक का पद प्रदान कर दिया गया। १८१२ से १८२१ तक हानमैन लीपज़िग विश्वविद्यालय में होमियोपैथी की दीक्षा देते रहे। उनके अनवरत अध्यवसाय, विषय के परिपूर्ण ज्ञान और समग्र विवेक ने अनेक बुद्धिशाली विद्यार्थियों को आकृष्ट किया। उनके इन विद्यार्थियों पर किये गये प्रयोगों से प्राप्त तथ्यों के नियमित संग्रह से हानमैन ने 'औषधि ज्ञान कोश' के शेष खंडों का क्रमबद्ध प्रकाशन किया। लेकिन परेशानियों से उनका पीछा अब भी नहीं छूटा। दूसरे चिकित्सकों के लिए होमियोपैथी की सफलता आंख का कांटा बन गयी। उन लोगों ने सांठगांठ करके कानून का सहारा लिया। हानमैन को सूचित किया गया कि अगली बार से उनके हर दिये गये नुस्खे पर २० थेलर का जुर्माना लगाया जायेगा। यह बात उनके लिए लीपजिग छोड़ने का कारण बनी और उन्हें कोटन जाना पड़ा कोटन में १८३५ तक हानमैन शांत मन से अध्यवसायी जीवन व्यतीत करते रहे। इन्हीं दिनों के बीच उन्होंने अपने महत्त्वपूर्ण ग्रंथ 'Chronic Diseases' (चिरकालिक व्याधियां) को पांच खंडों में प्रकाशित किया।

कोटन में ही हानमैन के जीवन से संबंधित एक महत्त्वपूर्ण घटना घटी। वह भी उन दिनों फैली हुई एशियाई कालरा (पेचिश) की महामारी, जब उनके दिये हुए कपूर, तत्पश्चात् Cuprum और Veratrum Album जैसी औषधियों के कारण हज़ारों मनुष्य कालकवलित होने से बच गये।

और कोटन में ही शेष जीवन भी सुख समृद्धि में व्यतीत करके हानमैन ने २ जुलाई १८४३ को 'मैं व्यर्थ जीवित नहीं

न रहा' कहते हुए अंतिम सांस छोड़ी।

व्याधियों की परिभाषाएं

होमियोपैथी के बारे में जानने के पहले हमें हानमैन द्वारा व्याधियों की दी हुई परिभाषा को समझ लेना आवश्यक है। उनके अनुसार 'व्याधि शरीर के प्राण तत्त्व में घटित पीड़ा अथवा असंतुलन है, जिसका प्रतीक रोगी के तन में प्रकट लक्षणों की समग्रता है। जो कि प्राण-ऊर्जाओं की गतिमय विक्षुब्धि मात्र है।' जब रोग के सब अपरोक्ष लक्षणों या प्राणबल की पीड़ा की निवृत्ति हो जाती है, तब रोगी निरोग हो जाता है। होमियो-पैथी को इसलिये प्राण-गति शास्त्र का विज्ञान कहा जा सकता है।

होमियोपैथी का इस बात में बिल्कुल विश्वास नहीं है कि रोग के शमन के लिए भारी मात्रा में दवाएं बार-बार दी जायें। उसका लक्ष्य तो रोगी के प्राण-बल को सुक्रियान्वित करके रोग को निरस्त करना होता है।

रोग के कारणों का निर्मूलन

होमियोपैथी केवल रोगी के शरीर की क्रियाशील शक्तियों को उद्दीप्त करने का प्रयत्न करती है। रोगी के रोग का शमन तो उसके प्राण-बल का प्राण-विरोधी तत्त्वों के साथ किया हुआ सफल विप्लव मात्र है और रोग-वृद्धि प्राण-बल की उत्तेजित प्रतिक्रिया से संभव हो जाती है। हानमैन का कथन है कि होमियो-पैथिक औषधि की संभवतया न्यूनतम मात्रा शरीर के उन रोगग्रस्त अवयवों में सक्रिय हो जाती है, जो रोग-समरूप-लक्षण-प्रत्युत्तेजकों से अत्यधिक प्रभावित हो चुके हैं। होमियोपैथी द्वारा चुनी औषधि की शक्ति रोग की प्राकृतिक शक्ति से कम नहीं होनी चाहिये।

होमियोपैथी का सबसे कठिन भाग उपचार-विधि निश्चित करने के पश्चात् व्याधि की वस्तुतः चिकित्सा है।

हानमैन के शिक्षण के अनुसार औषधि की एक मात्रा देकर उसकी पूरी प्रक्रिया और परिणाम का इंतजार करना चाहिये। औषधि मात्रा की पुनरावृत्ति का एक ही नियम है और वह है कि पुनरावृत्ति तभी की जाये जब पहली मात्रा के प्रभाव से उत्पन्न सुधार बंद हो जाये। अगर उचित समय के अंतर में कोई सुधार दिखाई न दे तो उसका अर्थ या तो उप-चारविधि की गलती या औषधि-शक्ति की न्यूनता है। किसी भी गहरी बीमारी में जब तक लगातार प्रत्यक्ष सुधार होता रहे तो उसका मतलब ही है कि दवा न दोहरायी जाये। ऐसी स्थिति में औषधि को फिर से देने से रोग के सुधार-क्रम में बाधा पड़ती है। दवा को बार-बार तब तक ही देना चाहिये, जब तक सुधार न दिखायी दे या सुधार होना बंद हो जाये। अधिक औषधि-मात्रा देने या बदलने से प्रायः चिकित्सक को भ्रांति या रोगी की हानि होती है। हमारे मत में रोग के शमन का अर्थ है रोग की स्थिति

का पूर्ण निर्मूलन और उसके कारण प्रकट लक्षणों का निराकरण तथा स्वाभाविक स्वास्थ्य स्थिति की वापसी।

यदि आजकल की होमियोपैथी की पुस्तकों की तुलना २० साल पहले की किताबों के साथ करें, तो यह विदित होता है कि हानमैन प्रशिक्षित चिकित्सा-विधि में आशातीत उत्थान हुआ है, परंतु होमियोपैथी के आधारभूत सिद्धांतों में किंचित् मात्र भी परिवर्तन नहीं हुआ है; क्योंकि ये सिद्धांत सत्य हैं और सत्य बदलता नहीं।

थोड़ा खर्च, अधिक प्रभाव

होमियोपैथी की स्थिति इस देश में दृढ़ हो गयी है। इसका प्रचलन इसकी प्रभाविकता और कमखर्ची के कारण एलोपैथी के बराबर ही नहीं, बल्कि कुछ ज्यादा ही है। अपने साधनविहीन देश में जहां गरीब लोगों के लिए एलोपैथी की महंगी दवाएं हैसियत के बाहर हो जाती हैं तो उन्हें अपनी बीमारियों के इलाज के लिए होमियोपैथी का ही सहारा लेना पड़ता है। इस देश में वस्तुतः होमियोपैथी ने ही व्याधिग्रस्त मनुष्यों को थोड़े से खर्च में राहत पहुंचायी है। मेरा दावा है कि भारत में होमियोपैथी पर विश्वास रखने वालों की संख्या शेष विश्व में ऐसे लोगों की संख्या से अधिक ही होगी, और यह सब बतौर किसी शासकीय समर्थन और सहायता के हुआ है। हमारी सरकार ने भी होमियोपैथी को मान्यता प्रदान कर दी है। तो हमें जन-साधारण की होमियोपैथी से सहानुभूति का भी उपयोग करना होगा।

एक और महत्त्वपूर्ण विषय की ओर भी ध्यान देना आवश्यक है। सरकार उष्ण-प्रदेश-व्यापी व्याधियों के निरोध-अनुसंधान के लिए बड़ी मात्रा में अन्य चिकित्सा-पद्धतियों के संस्थानों को वित्तीय सहायता प्रदान कर रही है, लेकिन होमियोपैथी द्वारा इस प्रकार के शोध को कोई बढ़ावा नहीं दिया जा रहा है। होमियोपैथी के शोध और गवेषणा कार्य में थोड़े से वित्त व्यय से प्रत्याशित परिणाम मिल सकते हैं।

सर्प-विष के प्रमाणों पर सफल शोध सबसे पहले होमियोपैथी में ही हुआ। भारत होमियोपैथिक औषधिशोध के लिए एक आदर्श देश है, क्योंकि यहां वृक्ष-तरु लताओं की प्रचुरता और विभिन्नता उपलब्ध है। इस कार्य के लिए यदि अनुकूल शासकीय प्रोत्साहन मिले तो यह देश होमियोपैथिक औषधि उत्पादन में शीघ्र ही स्वावलंबी हो सकता है।

□

जिसने सर्वप्रथम धन खोजा, उसी ने सारे दुःख भी खोजे होंगे। —शेरजंग

०

त्रुटियां ही पाप बन जाती हैं, अगर क्षमा न मांगी जाये तो। —ब्रदर हुली

□

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः

भवन की पत्रिका 'भारती' से समन्वित

मनुष्य के नवोत्थान का सूचक;
जीवन, साहित्य और संस्कृति का मासिक

प्रार्थना

इन्द्रायेन्दो मरुत्वते
पवस्व मधुमत्तमः ।
अर्कस्य योनिमासदम् ।।

हे जगत को सरसाने वाले, स्नेह-रस के सुधाकर, मुझ प्राणों वाले, मुझ इन्द्रियों वाले देह-धारी के लिए अत्यन्त मधुर होकर पवित्रता का प्रवाह चलाइये, मैं अर्चना के मंदिर में प्रवेश कर रहा हूं।

— साम पूर्वार्चिक ५–१–६

महान प्रेमचंद के पत्र

[प्रभाकर माचवे और वीरेन्द्र कुमार जैन के नाम]

बनारस, 'हंस' कार्यालय,
१५-९-१९३५

प्रिय प्रभाकर,

मैं तुम्हें कई दिनों से पत्र लिखने का इरादा कर रहा था पर तुम्हारे पहले पत्र में तुम्हारा पता न था। कल तुम्हारे दोनों लेख मिल गये। मैंने श्री खांडेकरजी की कहानी पढ़ी। वास्तव में वहुत सुंदर चीज़ है। हां ! अंत में या तो अनुवाद में कुछ रह गया है या और कोई वात है। जमुना में ताज का प्रतिविम्ब कैसे कुछ और हो गया यह मैं न समझ सका। मगर इस कहानी को छापने के लिए मुझे श्री खांडेकरजी से अनुमति लेनी पड़ेगी। मुझे उनका ऐड्रेस मालूम नहीं। तुम लिख दो तो मैं उन्हें पत्र लिखूं। यदि वह अनुमति न देंगे तो कैसे छपेगी ? 'मराठी के तीन उपन्यासकार' मार्मिक आलोचना है। वह मैं अक्टूबर के अंक में दे रहा हूं। तुम्हें यदि धन्यवाद दूं तो गोया यह मेरा काम होगा, तुम्हारा काम नहीं। इसलिये धन्यवाद न दूंगा। पर तुम्हारी लगन सराहनीय है ! दूसरे तीसरे महीने हंस के लिए कुछ दिया करो। मैं तो समझता हूं अगर अनुवाद न करके तुम मराठी के अच्छे उपन्यासों की विस्तार से आलोचना कर दिया करो तो वह एक चीज़ हो जायेगी और संभव है पुस्तक वन जाये। मि. फडके, देशपांडे (पु. य.) और खांडेकर तीनों मास्टरों की सर्वोत्तम कृतियों की आलोचना तीन महीने में कर डालो। इसमें तुम्हें परिश्रम कम पड़ेगा और तुम्हारी पढ़ाई में बाधा न पड़ेगी।

तुम्हारी कहानी 'दूध का पानी' मुझे बहुत अच्छी लगी, लेकिन तुम जानते हो मैं खाली भावुकता नहीं चाहता, कहानी में कुछ मतलब की बात भी चाहता हूं।

वीरेंद्र कुमार ने अभी एक और संस्मरण भेजा है। किसी गुजराती युवती की प्रेम-कथा है। मेरा विश्वास आत्म-लग्न में नहीं है। विवाह एक कांट्राक्ट सही, लेकिन जब कांट्राक्ट पूरा हो गया तो बिना विशेष कारण के उसकी उपेक्षा को मैं बेईमानी समझता हूं—उसका हृदय से पालन होना चाहिये। मगर उनका आग्रह है कि वह कहानी अवश्य छपे। इसलिये छापूंगा।

शुभाकांक्षी—प्रेमचंद

०००

(१)

वम्वई

१४-१२-३४

प्रिय वीरेंद्र,

तुम्हारी कहानी मिल गई थी। उसे हंस में जल्द ही दूंगा।

शुभाकांक्षी-प्रेमचंद

(२)

सरस्वती-प्रेस, काशी

सं. २६२१ एच ता. १२-५-१९३५

प्रिय वीरेंद्र,

आशीर्वाद।

तुम्हारा पत्र, कविता और कहानी मिली। मैंने तुम्हारा लेख इसलिये नहीं दिया था कि मैंने तुम्हारे ऊपर कोई कृपा की थी। मैं इस विषय में कठोर हूं। मैं तो तुम्हारी कहानियों में छलकता पुरुषार्थ, उवलता हुआ आशावाद देखना चाहता हूं। 'कवि-हृदय' एक कवि का बड़ा मार्मिक चित्रण था। यहां तो लोगों ने यह मशहूर कर दिया कि वह शांतिप्रियजी द्विवेदी पर लिखा गया है। मैं कितना ही कहता हूं ऐसा नहीं है क्योंकि इसका लेखक शांतिप्रिय को जानता भी नहीं। मगर लोग मुझसे कहते हैं आपको नहीं मालूम, उसका निशाना उन्हीं पर है। वस ऐसी ही कोई चीज़ लिखो जिसमें केवल भावुकता और कल्पना न हो, बल्कि तथ्य भी हो, जिसे पढ़कर जीवन में बल उत्पन्न हो। यह कहानी केवल एक युवक हृदय की लहर है। कोई नई बात नहीं। कोई सुंदर कहानी लिखो। आजकल तो छुट्टियां होंगी, समय भी है। ग़लत मस्ती के चक्कर में न पड़ो। सच्ची मस्ती जीवन को कर्मशील और आत्मा को बलवान बनाती है। मैं प्रतीक्षा करूंगा।

शुभाकांक्षी-प्रेमचंद

(३)

हंस आफिस, बनारस केन्ट

२७-८-३५

प्रिय वीरेंद्र कुमार, आशीष!

तुम्हारी कहानी मिली। यह तो बड़ी 'सेन्टीमेन्टल' हो गई है और पता नहीं चलता किस मनोवैज्ञानिक सत्य का चित्रण करना चाहते हो। कहानी की सबसे मुख्य वस्तु वह

१९८१

(शेषांश पृष्ठ १५३ पर)
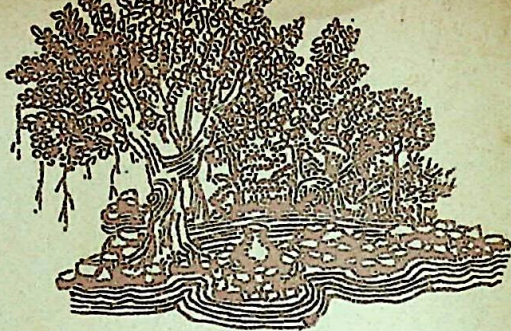
प्रफुल्लचंद्र ओझा मुक्त का एक संस्मरण-लेख

मेरे महान पिता और उनका ज़माना : यादें पुराने इलाहाबाद की

□

अपनी अनपहचानती आंखों से मैंने इस दुनिया को पहली बार २७ जनवरी १९१० को, दारागंज में देखा था। यह गंगा के किनारे बसा इलाहाबाद का एक छोटा-सा मुहल्ला है। ढाई-तीन साल तक की कोई स्मृति मुझे नहीं है, उसकी अपेक्षा भी नहीं की जा सकती। लेकिन थोड़ा होश संभालते ही मेरे अंतर्मन ने, निश्चय ही अनजाने, सबसे पहले जिस व्यक्ति को पहचाना, वह मेरे पिता साहित्याचार्य चंद्रशेखर शास्त्री थे, जो स्वयं सदा अपने को केवल चंद्रशेखर ही लिखते थे। वे संस्कृत के प्रकांड पंडित और विचारों से अत्यंत आधुनिक थे। उस समय भी, और १९३४ में उनके निधन के बाद भी, लोग आश्चर्य से यह चर्चा किया करते थे कि उस युग में संस्कृत का एक पंडित इतने प्रगतिशील विचारों का कैसे बन सका था।

पिताजी सच्चे अर्थों में एक सात्विक ब्राह्मण थे। ब्राह्मण-वंश में उत्पन्न होना ही उनके ब्राह्मणत्व की परिभाषा नहीं थी। ब्राह्मण वे उसे कहते थे, जो सच्चरित्र, सत्यव्रती, अपरिग्रही और तेजस्वी हो; जो किसी भी स्थिति में असत् से समझौता न करे; जिसके सिद्धांत अंगद के पांव की तरह अटल हों। और मेरे जीवन के चौबीस वर्ष साक्षी हैं, उनमें ये गुण अपनी पराकाष्ठा में थे। वे अत्यंत सादगी-पसंद, निरभिमान, विनयी और स्नेहालु थे। लेकिन उनमें एक दोष भी था। वे प्रचंड क्रोधी थे। बेशक, क्रोध उनका

तभी जागता था, जब कोई सन्मार्ग से रंचमात्र भी विचलित हो। यह विचलन उन्हें असह्य था। इसके लिए क्षमा उनके पास नहीं थी। अनौचित्य की ओर पांव बढ़ाने वाले की वे टांग तोड़ दे सकते थे-वह चाहे उनके परिवार का कोई अत्यंत प्रिय व्यक्ति हो, या पराया। इस तरह, क्रोध उनका असंगत नहीं था, आत्यंतिक जरूर था। जीवन में कितनी ही बार, मनुष्य को समझौता करना पड़ता है। इस शती के महत्तम पुरुष महात्मा गांधी को भी कई बार समझौता करना पड़ा था, लेकिन पिताजी के लिए यह असंभव था। वे टूट सकते थे, समझौता नहीं कर सकते थे। उन्होंने कभी नहीं किया।

मेरे पिता अपूर्व पुरुष थे। मैंने अपने जीवन में वैसा दूसरा व्यक्ति नहीं देखा। इलाहाबाद में पिताजी का बड़ा रोब था, बड़ा दबदबा था। उन्हें लोग इलाहाबाद का बे-ताज का बादशाह कहा करते थे। सभी वर्गों के लोग उन्हें अपना परम आत्मीय, अपना संरक्षक, अपना स्वामी मानते थे। सभी उनका सम्मान करते थे, उनके लिए कुछ भी करने को तैयार रहते थे और किसी अंश में, उनसे डरते भी थे। उनकी उपस्थिति में लोग स्वभावतः सचेत रहते थे कि उनके मुंह से कहीं कोई ऐसी बात न निकल जाये, ऐसा कोई काम न हो जाये, जिससे शास्त्रीजी नाराज हो जायें। उनकी नाराजी कोई मोल नहीं

चित्र : ठाकोर राणा

लेना चाहता था। मैंने जीवन में बार-बार सोचा है, आज भी अत्यंत आश्चर्य के साथ सोचता हूं, कि उस विद्या तपोधन व्यक्ति में, उस सीधे-सादे, सरल-निश्छल, आडंबर रहित और आत्मप्रचार-भीरु व्यक्ति में, वह कौन-सा तेज था, कौन-सा आकर्षण था, जो प्रत्येक व्यक्ति को इस तरह आकर्षित और श्रद्धा-नमित करता रहता था!

श्रद्धा के उल्लेख पर तुराब की याद आती है। तुराब—इलाहाबाद का प्रसिद्ध गुंडा। लंबा-तगड़ा छह-फुटा जवान। यत्न से संवारे केशों से चुहचुहाता सुगंधित तेल, अद्धी का चुन्नटदार कुर्ता, रंगीन लुंगी, ठनठनिया का चमकदार स्लीपर और अपने ही कद की, मोटी-सी लाठी—यह उसकी धज थी। शहर में उसका बड़ा आतंक था, अनेक अपराधों से उसका

संबंध जोड़ा जाता था, लकिन वह तो शेर था, सीना तानकर शहर में चलता था, किसी में उसका बाल बांका करने की हिम्मत नहीं थी। शायद पुलिस भी उस पर हाथ डालते हिचकिचाती थी।

लेकिन यही तुराब अगर राह-चलते पिताजी को देख लेता, तो अपनी शानदार पोशाक और सड़क की गलीज़-गंदगी का खयाल छोड़कर, सड़क पर पेट के बल लोट जाता और 'गुरु महाराज की जय हो' कहता हुआ उनके पैर पकड़ने की कोशिश करता था। कभी-कभी वह बचकर निकल जाते और कभी, उसकी पकड़ में आ जाने पर, उसे झिड़कते हुए कहते, 'चलो, हटो, रास्ता दो।' सदा पिताजी के साथ रहने वाला मैं, अनेक बार इसका साक्षी बना था।

उसी तुराब ने एक बार एक तमाशा खड़ा कर दिया था। दारागंज में एक नये दारोगा तबादले पर आये थे। शायद नये-नये भर्ती हुए थे, इसलिए अकड़ उनमें बहुत थी। फिर वह ज़माना भी ऐसा था, जब दारोगा तो दारोगा, पुलिस के सिपाही से भी लोग आतंकित रहते थे। सो, नये दारोगा आये तो मुहल्ले के प्रतिष्ठित लोग बारी-बारी से उनसे मिलने जाते रहे। जब यह हुजूम खत्म हुआ तो एक दिन दारोगाजी ने किसी से पूछा कि मुहल्ले में और कोई बड़ा आदमी नहीं है? उसने पिताजी का नाम लिया और कहा कि 'वह तो कहीं जाते नहीं, दूसरे लोग ही उनसे मिलने आते हैं।' दारोगाजी को यह बात अच्छी नहीं लगी और उन्होंने कह दिया—'अरे ऐसे शास्त्री-फास्त्री मैंने बहुत देखे हैं।'

यह बात जिन्होंने सुनी थी, उन्हीं तक सीमित न रही, बाहर फैली। किसी तरह तुराब के कानों में भी पड़ी। और एक शाम, जब दारोगाजी ने घोड़े पर सवार होकर गश्त पर निकलने की तैयारी में रकाब पर पांव रखा ही था कि अचानक तुराब का आविर्भाव हुआ। उसने एक हाथ से दारोगाजी को पकड़कर जमीन पर पटका, दूसरे हाथ से अपने पैर से ठनठननिया वाला मोटा स्लीपर निकाल कर उन पर प्रहार करना आरंभ किया। उसके मुंह से गालियों की वर्षा हो रही थी और वह चीख रहा था, 'साले, गुरु महराज के खिलाफ़ बोलेगा तो ज़बान खींचकर बाहर निकाल लूंगा।'

सरे बाज़ार दारोगाजी का इस तरह पिटना एक अनहोनी घटना थी। बाज़ार में तहलका मच गया। भीड़ जम गयी। दारोगाजी किसी तरह भागकर थाने में जा छिपे। तुराब सीना फुलाये अपने रास्ते लगा।

इस घटना की खबर पिताजी को दूसरे दिन सबेरे मिली। वह बहुत नाराज़ हुए। पहली बार उन्होंने किसी को भेज-कर तुराब को घर बुलवाया। वह फ़ौरन हाज़िर हुआ। पिताजी उस पर बरस पड़े। लेकिन उस पर उनके क्रोध की कोई

प्रतिक्रिया नहीं हुई। वह नाटकीय मुद्रा में दोनों हाथों से अपने दोनों कान पकड़-कर एक टांग पर खड़ा हो गया। अब पिताजी थे कि उसे डांटते जा रहे थे और वह था कि एक ही वाक्य दुहराये जा रहा था, 'आप चाहे मेरा सिर कलम कर लो गुरु महराज, लेकिन जो साला आपकी शान में गुस्ताखी करेगा, उसकी ज़बान मैं उखाड़कर रख दूंगा।'

लगता है कि तुराव के इस एकरस नाटक से शीघ्र ही पिताजी का धीरज जाता रहा। शायद उन्हें हंसी आने लगी थी। यह कहकर वह दूसरे कमरे में चले गये कि 'जाओ, भागो यहां से। मैं फिर कभी ऐसी बात नहीं सुनना चाहूंगा।'

तुराव भी यह कहता हुआ सीढ़ियां उतर गया कि 'नहीं गुरु महराज, लेकिन जो साला...'

भद्र समाज के सभ्य, सुसंस्कृत, शिक्षित लोग पिताजी पर श्रद्धा रखते थे, उनका सम्मान करते थे, यह बात तो समझ में आती है, लेकिन तुराव जैसे व्यक्ति के मन में भी पिताजी के प्रति ऐसी निष्ठा क्यों थी, यह मैं आज भी नहीं समझ पाया हूं।

०००

पिताजी कोई काम-धंधा, कोई रोजी-रोजगार नहीं करते थे। योगक्षेम राम-भरोसे चलता था, मगर ठाठ से चलता था। वासुदेव बनिये, बफ़ाती सब्ज़ीवाले और पूनी अहीर की याद मुझे आज भी है जिनके यहां से बरसों राशन-पानी

मुक्तजी

शाक-सब्जी और दूध आता रहता था और तीन-चार बरसों के बाद जब अचानक किसी दिन पिताजी को सुध आती कि कर्ज़ शायद बहुत ज्यादा हो गया है, तो कोई-न-कोई प्रकाशक, खुद-ब-खुद आकर और कोई अत्यंत साधारण-सी भी पुस्तक लिखने का आग्रह करके, कर्ज की राशि से अधिक रुपये दे जाया करता था।

पिताजी असंग्रही थे। जीवन में उन्होंने कुछ जोड़ा नहीं— न धन, न धरती, न और कुछ; उलटे, जो पैत्रिक ज़मीन-जायदाद थी, वह भी छोड़ दी। उनके पास जुड़ीं तो सिर्फ पुस्तकें, और उनको भी उन्होंने स्वयं नहीं जोड़ा। जैसे नदियों का जल स्वतः-प्रवृत्त सागर के पास जा पहुंचता है, पुस्तकें वैसे ही, विभिन्न स्रोतों से, विभिन्न मार्गों से उनके पास
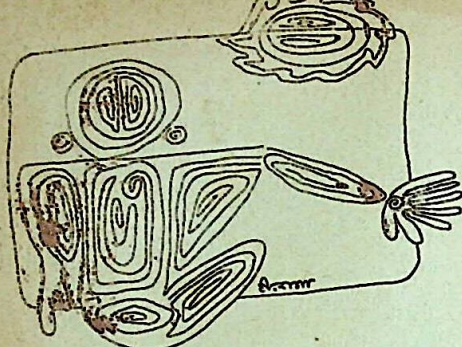
आती रहती थीं।

पिताजी के पास एक और चीज जुड़ती थी—गोष्ठी। उनकी प्रातः-सांध्य साहित्यिक गोष्ठी इलाहाबाद में मशहूर थी। लोग उसे 'शास्त्रीजी का दरबार' कहते थे। उनमें स्थानीय विद्वज्जनों के अतिरिक्त देश के विभिन्न भागों से और यदा-कदा विदेशों से भी, आनेवाले मनीषियों का जमाव हुआ करता था। विदेशी गौरांगों का लाल चेहरा मुझे किसी हद तक आतंकित करता था और सुरक्षा की सहज भावना से मैं पिताजी के कुछ और निकट हो जाया करता था।

मेरी स्मृति में वह दुमंजिला मकान आज भी यथावत् चित्रित है, जिसकी ऊपरी मंजिल के बड़े से कमरे में पिताजी का दरबार लगता था। एक बार मेरी मां मेरे अन्य भाई-बहनों के साथ अपने मायके काशी चली गयी थीं। पिताजी के साथ उस बड़े-से मकान में मैं ही रह गया था।

बहुत सवेरे पिताजी घर की सफ़ाई कर रहे थे। उन्होंने कमर में एक अंगौछा लपेट रखा था, शरीर का शेष भाग निर्वस्त्र था। मैं उनके पीछे-पीछे, सीढ़ियों से उतरता, सड़क के मुख्य द्वार तक पहुंच गया था। कूड़ा बटोरकर पिताजी ने एक रद्दी कागज़ में रखा ही था कि दरवाज़े के ठीक सामने एक फ़िटन आ खड़ी हुई और उस पर बैठे एक गौरांग व्यक्ति ने पिताजी से संस्कृत में कुछ पूछा। उन्होंने संस्कृत में ही उत्तर देकर उन्हें अपने पीछे आने का संकेत दिया। गौरांग-दर्शन से भयभीत मैं, पहले ही सीढ़ियां चढ़कर ऊपर पहुंच गया था और बैठक के बग़ल वाले कमरे में छिपकर देखता रहा था कि क्या होनेवाला है। संस्कृत का बोध न होने पर भी उनकी चेष्टाओं और भाव-भंगिमाओं से इतना तो मैंने भांप ही लिया कि वह पिताजी से कुछ पूछ रहे हैं और उनके उत्तर से आश्वस्त न होकर उसे अस्वीकार कर रहे हैं। पिताजी उन्हें बैठने को कहकर दूसरे कमरे में चले गये और धोती-कुर्ता पहनकर अपनी गद्दी पर आ बैठे। किंतु उस दिन पिताजी के पास जाने का साहस मैं नहीं जुटा पाया। छिपकर ही देर तक उनकी बातें सुनता रहा।

दूसरे दिन, प्रायः उसी समय, वह गौरांग सज्जन फिर पधारे और एक-डेढ़ घंटे की बातचीत के दौरान, मुझे लगा कि बीच-बीच में वह पिताजी से झगड़ते रहे। उस दिन उनके कंधे से काली और चौकोर, डिब्बे-जैसी, कोई चीज लटक रही थी, जिसे सहज कौतूहल से देखता मैं

मैं पिताजी के निकट पहुंच गया था।

कुछ बरसों के बाद बातचीत के सिलसिले में, मैंने इस घटना का उल्लेख करते हुए पिताजी से पूछा था कि वह गोरांग कौन थे और आपसे क्यों झगड़ रहे थे? पिताजी ने बताया कि वह जर्मनी के एक संस्कृत विद्वान् थे और मेरी पत्रिका 'शारदा' के पाठक भी। भारत-भ्रमण के लिए आये तो मुझसे मिलने चले आये। मुझे उन्होंने जिस रूप में पहली बार देखा, मुझे घर का नौकर समझा था! फिर जब उन्हें यह मालूम हुआ वे जिससे मिलने आये हैं वह मैं ही हूं तो पहले तो उन्हें विश्वास ही नहीं हुआ था और फिर वे आश्चर्य-चकित रह गये थे।

दूसरे दिन वह कैमरा लेकर पिताजी का चित्र खींचने आये थे। पिताजी को चित्र खिचवाने में सदा ही घोर आपत्ति रही थी।

चित्र : संतोष जड़िया

वस्तुतः जीवन में उनके कुल तीन ही चित्र खींचे जा सके थे और वे भी ऐसी परिस्थितियों में, जिनमें अस्वीकृति संभव ही नहीं थी। जर्मन महोदय को उन्होंने किसी तरह चित्र खींचने की अनुमति नहीं दी थी।

जर्मनी लौटकर उन सज्जन ने एक जर्मन पत्रिका में पिताजी के संबंध में एक विस्तृत लेख लिखा था। लेख का मूल स्वर यह था कि शास्त्री जी को देखे बिना यह कल्पना नहीं की जा सकती कि कोई इतना बड़ा विद्वान् इतना सरल, निरभिमान और आडंबरहीन हो सकता है। किसी विषय को समझाने की उनकी क्षमता अपूर्व है। संस्कृत-साहित्य के, विशेषतः पुराणों के, संबंध में मेरे मन में जो शंकाएं थीं, उनसे मिलने के बाद वे निर्मूल हो गयी हैं।

लेकिन इस विवरण की एक पूर्व-पीठिका है। पिताजी जब वाराणसी के क्वीन्स संस्कृत कॉलेज में पढ़ रहे थे और आचार्य के प्रथम खंड में थे तो वहां के प्रिंसिपल डॉ. वेनिस ने एक आदेश जारी किया था। पिताजी को वह आदेश अनुचित और असम्मानजनक प्रतीत हुआ। और न केवल उन्होंने स्वयं उसे अमान्य करने का निश्चय किया, बल्कि छात्रों का ऐसा जनमत तैयार किया कि सबने उस आदेश को ठुकराने का निर्णय लिया। जब प्रिंसिपल को इस बात का पता चला, उन्होंने पिताजी को बुलाकर बहुत झिड़का और अंत में धमकी देते हुए कहा, 'जानते हो, इसके लिए मैं तुम्हें कॉलेज से निकाल

भी सकता हूं।'

पिताजी ने शांतिपूर्वक प्रिंसिपल की बातें सुनीं और दृढ़-संयत स्वर में कहा—'आपको केवल मुझे नहीं, सभी छात्रों को निकालना होगा, क्योंकि इस अनुचित और असम्मानपूर्ण आदेश को कोई छात्र स्वीकार नहीं करेगा।' कहकर, प्रिंसिपल की प्रतिक्रिया की प्रतीक्षा किये बिना, पिताजी उनके कमरे से बाहर निकल आये।

दो-तीन दिन बाद डॉ. वेनिस ने फिर पिताजी को बुलवा भेजा। इस बार उनका रूप और स्वर, दोनों ही एकदम बदले हुए थे। वे बिलकुल मित्र भाव से मिले। उन्होंने कहा—'मैंने अपने निर्णय पर फिर विचार किया है और इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि तुम लोगों को पसंद नहीं है तो मुझे अपना आदेश वापस ले लेना चाहिये।' फिर वह घर-परिवार की बातें करने लगे और अंत में उन्होंने पूछा कि 'क्या वे दो-तीन जर्मन छात्रों को साहित्य और दर्शन पढ़ाना पसंद करेंगे? उनसे पैसे अच्छे मिल जायेंगे।'

डॉ. वेनिस की कृपा से पिताजी को तीन ज़र्मन छात्र मिल गये, जिन्होंने बड़ी रुचि और लगन के साथ विद्या अर्जित की। पिताजी कहते थे, वैसी सूझ-बूझ वाले और क़ोने-अंतरे तक कुरेदकर विषय को समझने की इच्छा रखने वाले विद्यार्थियों को पढ़ाने में आनंद आता है।

पढ़ाई खत्म करके वे छात्र जर्मनी लौट गये थे; और कालांतर में जब इलाहाबाद से पिताजी ने संस्कृत की मासिक पत्रिका 'शारदा' निकाली थी, तो उन लोगों ने जर्मनी में उसके १४०० ग्राहक बनाये थे, जब कि सारे भारत में उसके कुल ३५० के लगभग ग्राहक थे। प्रथम विश्व-युद्ध आरंभ होने पर, स्वभावतः 'शारदा' का प्रकाशन बंद हो गया था।

०००

उन्हीं दिनों की एक घटना और याद आती है। सीतामऊ के महाराज (प्रसिद्ध इतिहासज्ञ डॉ. रघुवीर सिंह के पिता, जिनका नाम मुझे याद नहीं आ रहा) एक बार तीर्थाटन करते हुए प्रयाग आये थे। एक दिन उनके सेक्रेटरी ने पिताजी के पास आकर कहा कि महाराज उनसे मिलना चाहते हैं। बारह वर्षों के श्रम से उन्होंने एक संस्कृत पुस्तक लिखी है। वे पिताजी को उसे दिखाना और उनकी सम्मति प्राप्त करना चाहते हैं।

पिताजी ने उत्तर दिया—'तुम्हारे महाराज राजा हैं, इसलिए मैं उनसे मिलने नहीं आऊंगा; लेकिन वे विद्या-व्यसनी हैं और इतनी दूर की यात्रा करके एक विद्या-व्यसनी से मिलने आये हैं तो मैं उनसे अवश्य मिलूंगा।'

अगले दिन आठ बजे सबेरे आने का वादा लेकर सेक्रेटरी चले गये।

पिताजी यथासमय महाराज के जार्ज टाउन स्थित निवास पर पहुंचे। वहां कोठी के फाटक पर, एक संगीनधारी सिपाही पहरे पर तैनात था। एक अलं

साधारण वेश-भूषा के व्यक्ति को अंदर जाने का प्रयास करते देखकर उसने पिताजी को रोका। पिताजी ने कहा कि उन्हें महाराज ने बुलवाया है तो उसने अविश्वास के साथ कहा—'महाराज पूजा पर हैं; अभी किसी से नहीं मिल सकते।'

पिताजी ने उससे कहा कि वह महाराज को खबर तो करा दे, लेकिन उसने उद्दंडतापूर्वक कहा कि यह उसका काम नहीं है। पिताजी वापस लौट आये।

शाम को सेक्रेटरी महोदय फिर आये। किंचित् उलाहने के, किंतु अत्यंत विनयपूर्ण स्वर में उन्होंने कहा—'आप सबेरे पधारे नहीं, महाराज आपकी प्रतीक्षा करते रहे।'

सेक्रेटरी की बात सुनते ही पिताजी का ब्रह्मतेज जाग उठा। वे सेक्रेटरी पर बरस पड़े। सेक्रेटरी ने बहुत अनुनय-विनय की, कहा कि ग़लती हो गयी, आप अभी मेरे साथ चलिये, या आज्ञा दीजिये तो मैं कल सबेरे स्वयं आकर आपको ले चलूं; लेकिन पिताजी पर कोई असर नहीं पड़ा। उन्होंने कहा—'जहां से मैं अपमानित होकर लौटा हूं, वहां फिर पांव नहीं रख सकता। जाकर अपने राजा से कह दो कि उन्हें गरज हो तो खुद आयें।' सेक्रेटरी बेचारा दुम दबाकर भाग खड़ा हुआ।

दूसरे दिन सबेरे सीतामऊ-नरेश ने यह साबित कर दिया कि वे केवल राजा ही नहीं विद्वान् भी हैं और विद्वान् ब्राह्मण का सम्मान करना भी जानते हैं। इस बार सेक्रेटरी को साथ लेकर वे स्वयं आये।

उस समय हम लोग जिस मकान में रहते थे, वह मुख्य सड़क से कुछ हटकर गली के अंदर था। सेक्रेटरी ने आकर महाराज के पधारने की सूचना दी। पिताजी ने कहला दिया कि इस समय उन्हें फ़ुर्सत नहीं है, वे किसी से नहीं मिल सकेंगे।

महाराज लौट गये, लेकिन शाम को फिर आये। उनकी सज्जनता और विनम्रता ने शायद पिताजी के क्रोध को गला दिया था। इस बार वे स्वयं बाहर जाकर महाराज को आदरपूर्वक अपनी बैठक में ले आये। उनके बैठ जाने पर पिताजी ने कहा—'महाराज, आप राजा हैं, मैं दरिद्र ब्राह्मण हूं। अब तक आपको 'सरकार, हुज़ूर और अन्नदाता' कहने वाले लोग ही मिले होंगे। एकमात्र चंद्रशेखर ही ऐसा व्यक्ति है, जो आपको बता सकता था कि दरवाज़े से लौटाये जाने पर किसी को कितना बुरा लगता है और केवल इसी कारण मैं सबेरे आपसे नहीं मिला था।'

महाराज ने बहुत-बहुत क्षमा-याचना की और थोड़ी देर तक पिताजी के साथ बातें करने के बाद वे उन्हें अपने साथ ले गये। इसके बाद वे दोनों आजीवन बड़े अच्छे मित्र बने रहे।

ये कुछ असंबद्ध स्मृतियां हैं जो अनायास मन में उभर आयी हैं। इनसे पिताजी के जीवन पर किंचित् प्रकाश पड़ता है। लेकिन ऐसी स्मृतियों की शृंखला अटूट है। अन्य लोगों के संदर्भ में उनकी चर्चा आगे भी आ सकती है।

□

उमा-महेश्वर : उदयगिरि पहाड़ों पर उत्कीर्ण प्रतिमा

भारतीय मंदिर-कला का उद्‌गम - तीर्थ : उदयगिरि की गुफाएं

□ दिनेशचन्द्र वर्मा

भारत में हज़ारों मंदिर हैं, इनमें से कुछ मंदिर आपने भी जरूर देखे होंगे, पर क्या कभी आपने यह जानने की कोशिश की कि भारत में मंदिरों के निर्माण की यह परंपरा कहां से शुरू हुई? भारतीय पुरातत्त्वशास्त्री बहुत खोजबीन के बाद इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि भारत में मंदिरों की परंपरा का श्रीगणेश विदिशा जिले में स्थित उदयगिरि पहाड़ी की गुफाओं से हुआ है। पुरातत्त्व एवं प्राचीन भारतीय इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान प्रोफेसर कृष्णदत्त वाजपेयी के अनुसार 'उदयगिरि की गुप्तकालीन गुफाओं से ही मंदिरों के निर्माण की प्रेरणा मिली होगी।' वस्तुतः उदयगिरि की गुफा क्रमांक एक के बारे में पुरातत्त्वशास्त्री निर्विवाद रूप से यह मानते हैं कि यह गुफा भारत में मंदिर-निर्माण-कला के

विकास के प्रारम्भिक रूप का प्रतिनिधित्व करती हैं।

उदयगिरि की ये गुफाएं विदिशा से केवल ६ किलोमीटर दूर पश्चिम में स्थित हैं। इन गुफाओं तक पहुंचने के लिए बेतवा अथवा बेस नदी को पार करना होता है। विश्वविख्यात बौद्ध तीर्थ सांची से इनकी दूरी ६ किलोमीटर उत्तर पूर्व में है। यह पहाड़ी बेसनगर से सिर्फ दो किलोमीटर पश्चिम में स्थित है। उदयगिरि की यह पहाड़ी बेसनगर एवं प्राचीन विदिशा के लिए सुरक्षा दीवार का काम करती थी। बेसनगर या प्राचीन विदिशा तीन ओर से बेतवा एवं बेस नदी से घिरा हुआ था, चौथी दिशा में उदयगिरि की पहाड़ी स्थित थी। इस प्रकार यह नगर बिना किले या दुर्ग के भी अन्य नगरों की तुलना में सुरक्षित था।

उदयगिरि की पहाड़ी की लंबाई डेढ़ मील है। यह दक्षिण पश्चिम से उत्तर पूर्व की ओर फैली हुई है। इसकी अधिकतम ऊंचाई ३५० फुट है। सबसे अधिक ऊंचाई उत्तर पूर्व में है। विख्यात पुरातत्त्वशास्त्री जनरल कनिंघम ने इन गुफाओं के उत्खनन का काम उत्तर पूर्व की ओर से शुरू किया था।

इस पहाड़ी का नाम उदयगिरि क्यों पड़ा और कब पड़ा, इसका कोई उल्लेख आज तक नहीं मिल पाया है। बौद्ध-साहित्य में विदिशा के समीप वेदिसगिरि नामक एक पहाड़ी स्थित होने का उल्लेख मिलता है। इस बात के भी स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं कि सम्राट अशोक के पुत्र महेन्द्र श्रीलंका जाने के पूर्व अपनी मां से मिलने आये थे और वे वेदिसगिरि पहाड़ी पर स्थित विहार में ठहरे थे। यहां मैं इस तथ्य का गौरव के साथ उल्लेख करना चाहूंगा कि महेन्द्र और संघमित्रा की माता देवीश्री या असंधिमित्रा विदिशा की एक श्रेष्ठि कन्या थी और जब अशोक मालवा के शासक नियुक्त किये गये थे तो उन्होंने इस श्रेष्ठि कन्या से विवाह कर लिया था।

जनरल कनिंघम ने जब इस पहाड़ी पर उत्खनन कराया तो उन्हें एक बौद्ध स्तूप के अवशेष मिले थे। इसलिए यह कहा जा सकता है कि विदिशा के समीप उदयगिरि की पहाड़ी उस समय वेदिसगिरि के नाम से प्रसिद्ध थी।

गुफा क्रमांक १९
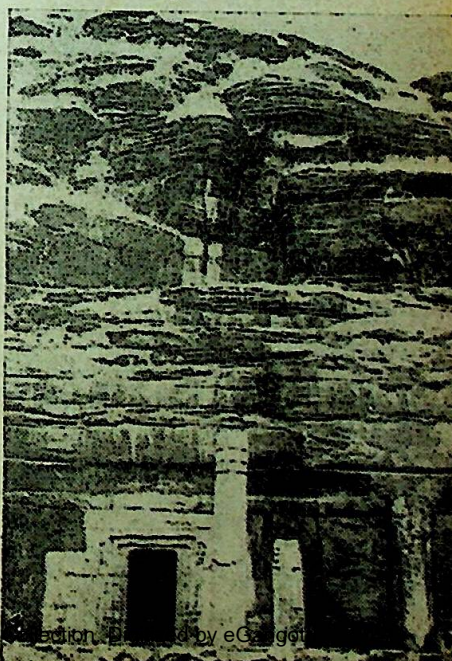
परमार वंश, जिसमें मुंज एवं भोज सरीखे प्रतापी सम्राट हुए थे, उसी वंश के एक राजा उदयादित्य ने विदिशा पर शासन किया था। इस राजा ने उदयपुर वस्ती बसायी। उदयपुर के सुंदर मंदिर का निर्माण कराया तथा उदयसमुद्र नामक एक तालाब भी बनवाया था।

इन्हीं राजा उदयादित्य ने विदिशा में भी कुछ निर्माण कार्य कराये थे। विदिशा के बहुचर्चित विजयामंदिर में मिले एक
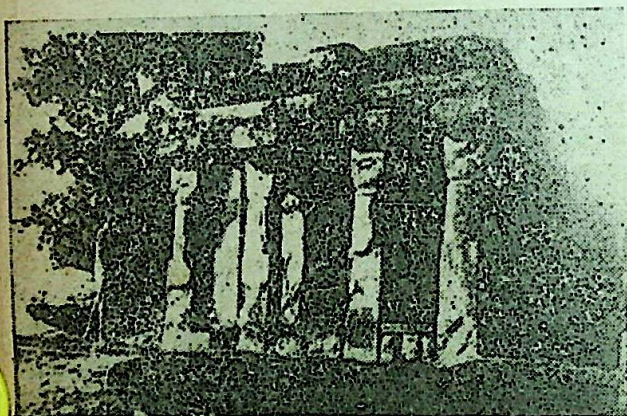
गुफा क्रमांक १

शिलालेख से यह ज्ञात होता है कि विजया-मंदिर का निर्माण भी राजा उदयादित्य ने कराया था। संभवतः इन्हीं राजा उदयादित्य ने इस पहाड़ी का नामकरण अपने नाम पर कर दिया हो जिस प्रकार उदयपुर, उदयेश्वर मंदिर एवं उदयसमुद्र का नामकरण उनके नाम पर हुआ था। राजा उदयादित्य ने ग्यारहवीं शताब्दी में विदिशा पर शासन किया था। इसके बाद से ही विदिशा की अवनति का दौर शुरू हुआ। विदिशा गुमनामी के अंधेरे में डूबता गया और इसके साथ ही उदयगिरि की ये गुफाएं गुमनामी के अंधकार में डूब गयीं।

लगभग सात सौ वर्ष बाद गुमनामी का यह अंधकार उस समय दूर हुआ जब जनरल कनिंघम ने इस पहाड़ी पर उत्खनन कार्य किया एवं मिट्टी तथा पेड़ों से ढंकी इन गुफाओं को खोज निकाला। सन १८७५-७६ में उनकी जो 'आर्क्योलाजिकल सर्वे रिपोर्ट' प्रकाशित हुई, उसमें इन गुफाओं का विस्तार से वर्णन था। जनरल कनिंघम की इस रिपोर्ट में इस पहाड़ी में १९ गुफाओं का उल्लेख था। बाद में ग्वालियर के सिंधिया वंश के शासकों के कार्यकाल में तत्कालीन पुरातत्त्व-विभाग ने एक और गुफा खोजी। इस प्रकार पुरातत्त्व-विभाग के कागजात में आज भी यह विवरण पढ़ने को मिलता है कि इस पहाड़ी में बीस गुफाएं हैं। वैसे इस पहाड़ी में चौबीस गुफाएं हैं।

इन गुफाओं का निर्माण-काल गुप्त काल माना जाता है। विभिन्न गुफाओं में प्राप्त शिलालेख एवं प्रतिमाओं की निर्माण शैली भी इस तथ्य की पुष्टि

करते हैं। गुफा क्रमांक १ एवं बीस जैनधर्म से संबंधित गुफाएं कही जाती हैं, शेष गुफाएं हिन्दू धर्म से संबंधित हैं।

इन गुफाओं में शिल्पशास्त्र की दृष्टि से गुफा क्रमांक एक को सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना जाता है। यह गुफा भारत के मंदिर निर्माण-शास्त्र के विकास के प्रारंभिक रूप का प्रतिनिधित्व करती है। इस गुफा को, एक पत्थर को तीन ओर से उत्कीर्ण करके बनाया गया हैं, छत भी उसी पत्थर की बनी हुई है। गुफा के सामने की दीवार पर सूर्य का एक चित्र हैं, इसलिए इसे 'सूरज गुफा' भी कहा जाता है। गुफा में जैन तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ की एक खड्‌गासन प्रतिमा है। गुफा के सामने वर्गाकार प्रवेश मंडप है जो तीन ओर से खुला हुआ है। प्रवेश मंडप में सादे स्तंभ लगे हुए है। इसी गुफा से लगी हुई एक खुली गुफा भी है।

गुफा क्रमांक २ एक तलघर के समान है। इसमें कोई प्रतिमा नहीं है। इस गुफा के सामने पहले एक दीवाल थी जो अब नष्ट हो गयी है।

गुफा क्रमांक ३ एक आयताकार गुफा है। इसकी भीतरी दीवालें खुरदरी हैं। भीतरी दीवाल पर एक प्रतिमा उत्कीर्ण है। यह प्रतिमा भगवान शंकर के पुत्र कार्तिकेय की है। यह प्रतिमा अब अस्पष्ट एवं खंडित है। प्रतिमा में दो हाथ एवं एक मस्तक दिखाया गया है। प्रतिमा दायें हाथ में दंड धारण किये हुए है, जब कि बायां हाथ खंडित है।
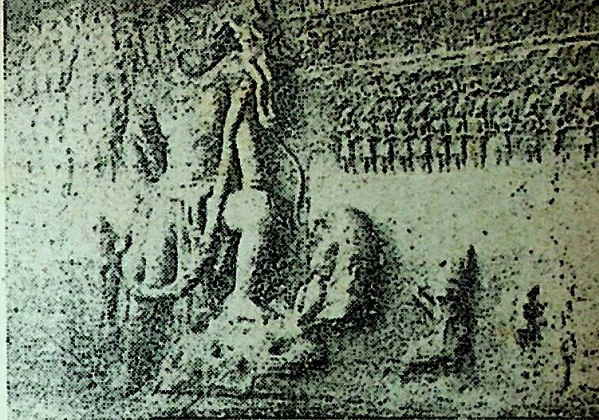
वराह अवतार: ध्रुवस्वामिनी का उद्धार

गुफा क्रमांक ४ का नामकरण जनरल कनिंघम ने 'वीणा गुफा' के नाम से किया है। इस गुफा के द्वार पर एक पुरुष आकृति को वीणा बजाते हुए उत्कीर्ण किया गया है। वैसे द्वार पर सारंगी एवं मृदंग के वादक भी उत्कीर्ण हैं। इस गुफा में एकमुखी शिवलिंग स्थापित है, जो २ फुट ५ इंच ऊंचा है। इसका व्यास १ फुट २ इंच है। लिंग पर भगवान शिव की आकर्षक मुखाकृति गोलाकार स्वरूप में उत्कीर्ण है। इस मुखाकृति में केशसज्जा पर विशेष परिश्रम किया गया है। भगवान शंकर का तीसरा नेत्र मस्तक के बीचोबीच में है। भगवान शंकर के गले में सर्प के स्थान पर हार है।

उदयगिरि की गुफा क्रमांक ५ सर्वाधिक चर्चित, प्रसिद्ध एवं विख्यात है। यह एक खुली गुफा है जो २२ फुट लंबी, धरातल से १२ फुट ८ इंच ऊंची तथा धरातल से ३ फीट ४ इंच गहरी है। इस गुफा में पुराण-प्रसिद्ध वराह अवतार को भव्य, विशाल एवं कलात्मक रूप से चित्रित किया गया है।

इस गुफा में भगवान वराह की जो विशाल प्रतिमा है, वह अपने बायें पैर को शेषनाग पर रखे हुए है। शेषनाग के तेरह फन हैं, जिनमें ७ फन आगे हैं एवं ६ पीछे हैं। भगवान वराह के गले में पुष्पों का विशाल हार है।

उदयगिरि की इस प्रतिमा में भगवान वराह पृथ्वी को अपने दाहिने दांत पर धारण किये हुए हैं। पृथ्वी को नारी-रूप में उत्कीर्ण किया गया है। प्रतिमा के पार्श्व में टेढ़ी-मेढ़ी पंक्तियों द्वारा समुद्र की लहरें अंकित की गयी हैं और इस

प्रकार भगवान विष्णु द्वारा वराह का अवतार लेकर प्रलय में से सृष्टि रचना की पौराणिक कथा चित्रित की गयी है। प्रतिमा के पार्श्व के ऊपरी भाग में देवता एवं राक्षस उत्कीर्ण किये गये हैं, जो इस महान विस्मयकारी दृश्य को देख रहे हैं। प्रतिमा की बायीं ओर गंगा तथा दायीं ओर यमुना नदी का स्वर्ग से अवतरण उत्कीर्ण किया गया है, जिसमें वे स्वर्ग की अप्सराओं के साथ समुद्र की ओर जा रही हैं। दोनों नदियों की प्रतिमाएं भगवान वराह के अभिवादन और अभिनंदन में कलश धारण किये हुए हैं। आगे समुद्र के देवता वरुण को चित्रित किया गया है, जो अभिवादन की मुद्रा में है।

वराह अवतार की यह प्रतिमा गुप्त-कालीन मूर्तिकला का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। कुछ पुरातत्त्व शास्त्रियों का यह मत है कि वराह अवतार का यह चित्रण चंद्रगुप्त विक्रमादित्य को भगवान विष्णु के समतुल्य बताने के लिए किया गया है।

उदयगिरि की अनेक गुफाओं का निर्माण चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के शासन काल में हुआ, इसका प्रमाण कुछ अन्य गुफाओं के शिलालेख से मिलता है। वराह गुफा के समीप गुफा क्रमांक ६ में ही एक शिलालेख है जिसमें महाराजाधिराज चंद्रगुप्त के शासनकाल में संवत्सर ८२ के आषाढ़ मास की शुक्ला एकादशी को महाराजा छागलिक के पौत्र महाराजा

विष्णुदास के पुत्र सनकादिक के दान का उल्लेख किया गया है।

गुफा क्रमांक ६ सनकादिक गुफा कहलाती है। इस गुफा में एक थोड़ा-सा ऊंचा चबूतरा है, जिस पर पहले शिवलिंग स्थापित था। गुफा के सामने २४ फुट लंबा एवं ६ फुट चौड़ा प्रवेश मंडप है। यह गुफा १४ फुट लंबी एवं १२ फुट चौड़ी है। गुफा का प्रवेश द्वार, प्रवेश मंडप से थोड़ा हटकर दक्षिण में है। प्रवेश द्वार कलात्मक रूप से अलंकृत है। द्वार पर दोनों ओर पांच प्रतिमाएं हैं। दो द्वारपालों तथा गंगा एवं यमुना की प्रतिमाएं भी द्वार पर अंकित हैं। दायीं ओर वाली प्रतिमाओं में भगवान विष्णु, महिषासुरमर्दिनी एवं द्वारपाल की प्रतिमाएं हैं। विष्णु प्रतिमा की चार भुजाएं हैं एवं वे सुदर्शनचक्र धारण किये हुए हैं। महिषासुरमर्दिनी की प्रतिमा खंडित है फिर भी उसमें बारह भुजाएं दिखती हैं। इन भुजाओं को ढाल-तलवार एवं त्रिशूल धारण किये हुए बताया गया है। गुप्तकाल में दुर्गा उपासना प्रारंभ होने का प्रमाण हमें इस प्रतिमा से मिलता है।

गुफा के प्रवेश मंडप की दक्षिणी दीवाल पर गणेशजी की एक दिगंबर प्रतिमा है। प्रतिमा कोई वस्त्र या आभूषण धारण किये हुए नहीं है। उ. प्र. के फतेहगढ़ जिले में भी गणेश की एक ऐसी ही प्रतिमा मिली थी। उदयगिरि के इन गणेश की प्रतिमा में, गुप्तांग भी उत्कीर्ण है। शायद
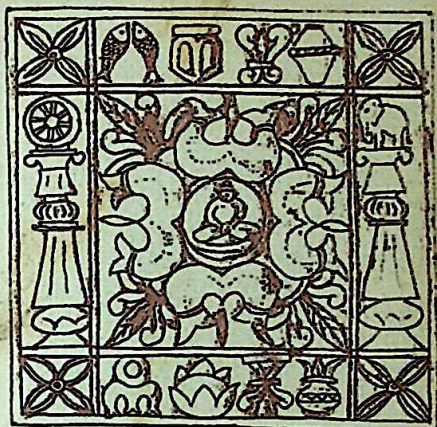
इस प्रकार की अन्य कोई प्रतिमा अभी तक प्राप्त नहीं हुई है। कुछ पुरातत्त्वशास्त्री, उदयगिरि की इस गणेश प्रतिमा को भारत की सर्वाधिक प्राचीन गणेश प्रतिमाओं में गणना करते हैं। उत्तर भारत में निर्विवाद रूप से यही गणेश-प्रतिमा सर्वाधिक प्राचीन है।

गुफा क्रमांक ६ की छत भी अलंकृत है। इस गुफा के समीप ही एक ही अन्य खुली गुफा है जो ९ फुट लंबी एवं ३ फुट चौड़ी है। इस खुली गुफा में अष्टमातृका प्रतिमाएं उत्कीर्ण हैं।

'तवा गुफा' के नाम से प्रसिद्ध गुफा क्रमांक ७ का आकार ऐसा है, जैसे किसी चूल्हे पर रोटी बनाने के लिए तवा रख दिया गया हो। इस गुफा में शिवलिंग स्थापित था, जिसका अब कोई पता नहीं है। गुफा की छत पर एक कमल का फूल उत्कीर्ण है, जिसका व्यास ४ फुट ६ इंच है। इस गुफा का निर्माण चंद्रगुप्त विक्रमा-

गुफा क्रमांक ७
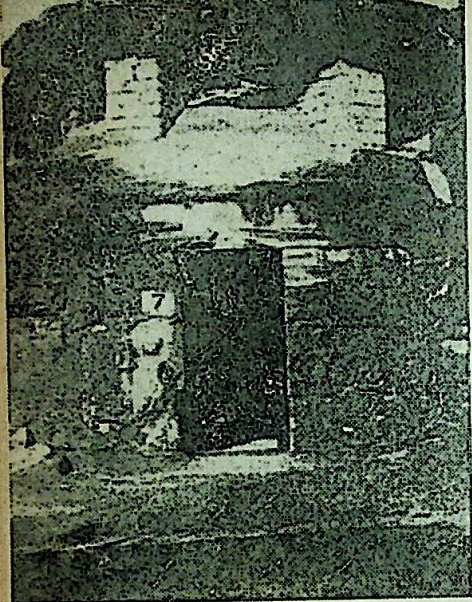
दित्य के संधि-विग्रह मंत्री वीरसेन ने कराया था, जैसा कि इस गुफा में मिले एक शिलालेख से प्रकट होता है।

गुफा क्रमांक ८ से १२ तक की गुफाएं सादी गुफाएं हैं। गुफा क्रमांक ९, १०, ११ एवं १२ में विष्णु प्रतिमाएं स्थापित हैं, जो अब लगभग खंडित अवस्था में हैं। ये सभी गुफाएं छोटी-छोटी हैं। गुफा क्रमांक १२ के द्वार पर द्वारपालों की प्रतिमाएं उत्कीर्ण हैं।

गुफा क्रमांक १३, वराह अवतार की गुफा क्रमांक ५ के समान ही खुली गुफा है तथा आकर्षक एवं कलात्मक है। इस गुफा में शेषशायी भगवान विष्णु की १२ फुट लंबी प्रतिमा है। भगवान विष्णु के मस्तक का ऊपरी भाग अब खंडित हो गया है। इस गुफा में भगवान विष्णु विशालकाय शेषनाग पर शयन कर रहे हैं। उनकी चार भुजाएं हैं। एक भुजा पर उनका मस्तक टिका हुआ है। पास में गरुड़ की आकृति उत्कीर्ण हैं। भगवान गले में पुष्पहार एवं रत्नजटित हार धारण किये हुए हैं। प्रतिमा की बायीं ओर एक कमल की अस्पष्ट आकृति है, जिसमें ब्रह्मा आसीन से दिखते हैं। लक्ष्मी तथा अन्य देवताओं की आकृतियां भी उत्कीर्ण हैं। गणेशजी की भी एक प्रतिमा उत्कीर्ण है, पर वह दिगंबर नहीं है।

गुफा क्रमांक १४, १५ एवं १६ भी सादी गुफाएं हैं। इनमें कोई प्रतिमा नहीं है। गुफा क्रमांक १६ के बीच में एक चट्टान को काटकर चबूतरा बनाया गया है। संभवतः उस पर शिवलिंग स्थापित रहा होगा।

गुफा क्रमांक १७ में भी इसी प्रकार का एक चबूतरा है। कनिंघम ने इसे गुफा क्रमांक ८ बताया है। इस गुफा का द्वार कलात्मक एवं अलंकृत है। द्वार के दोनों ओर द्वारपालों की प्रतिमाएं हैं। द्वार के दायीं ओर गणेश की एवं बायीं ओर महिषासुरमर्दिनी की प्रतिमाएं हैं।

गुफा क्रमांक १८ आयताकार है। इसमें कोई प्रतिमा नहीं है।

गुफा क्रमांक १९ का नामकरण जनरल कनिंघम ने 'अमृत गुफा' किया था। इस गुफा के द्वार के ऊपर अमृतमंथन

की पौराणिक गाथा चित्रित है। यह गुफा २२ फुट लंबी एवं २० फुट चौड़ी है। गुफा के भीतर छत को सहारा देने के लिए पत्थर के ४ विशाल स्तंभ हैं। ये स्तंभ ८ फुट ऊंचे तथा अलंकृत हैं। स्तंभ पर पशुओं की आकृति बनी हुई है।
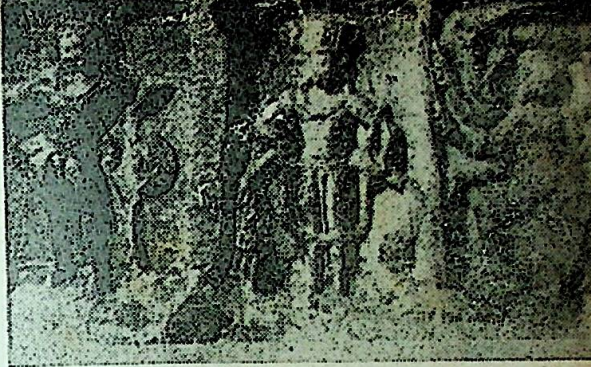
इस गुफा का द्वार बहुत कलात्मक है। द्वार पर उड़ते हुए गण, अश्वारोही पुरुष, नवग्रह एवं द्वारपाल चित्रित किये गये हैं। गुफा के भीतर एकमुखी शिवलिंग स्थापित है। इस गुफा के बाहर कभी प्रवेश मंडप भी था, जिसके कलात्मक स्तंभ आज भी मौजूद हैं।

गुफा क्रमांक २० जैन गुफा है। यह विशालकाय गुफा पांच हिस्सों में विभाजित है।

यह गुफा शिल्पकला की दृष्टि से तो महत्त्वपूर्ण है ही विदिशा में जैन धर्म के चरमोत्कर्ष का भी प्रमाण है। इस गुफा के एक कक्ष में ४ फुट २ इंच ऊंचे एक शिला-फलक पर भगवान पार्श्वनाथ की भूरे वर्ण की पद्मासन प्रतिमा प्रतिष्ठित है। यह प्रतिमा दसवीं शताब्दी में निर्मित की गयी थी, पर बाद में संभवतः मूर्ति-विध्वंसकों के भय से यहां स्थापित कर दी गयी। इस प्रतिमा के नाक-कान खंडित हो गये हैं, मस्तक के ऊपर सप्त फणावली (सर्प) है उसके ऊपर छत्र

द्वारपाल, विष्णु एवं महिषासुरमर्दिनी
गुफा क्रमांक ६

एवं दुंदुभिका है। प्रतिमा के दोनों पार्श्वों पर विभिन्न वाद्ययंत्र लिये गंधर्वों की प्रतिमाएं उत्कीर्ण हैं।

गुफा के दूसरे कक्ष की दीवार में दो पद्मासनासीन पार्श्वनाथ-प्रतिमाएं उत्कीर्ण हैं। इनका अंकन अब अस्पष्ट-सा दिखता है। सामने की दीवार में भगवान आदिनाथ की पद्मासन प्रतिमा उत्कीर्ण है। इस प्रतिमा के पास भगवान शीतलनाथ के चरण उत्कीर्ण हैं।

इस गुफा में एक शिलालेख भी है। इस शिलालेख का हिंदी अनुवाद इस प्रकार है–'सिद्धों को नमस्कार हो। प्रसिद्ध श्री संयुक्त एवं गुण सम्पन्न गुप्त-वंशीय राजाओं के समृद्धिमान राज्यकाल के १०६ वें वर्ष में कार्तिक कृष्णा पंचमी के शुभ दिन शम दम युक्त शंकर नामक व्यक्ति ने विस्तृत सर्व फणों से भयंकर दिखने वाली जिन श्रेष्ठ पार्श्वनाथ २३ वें तीर्थंकर की मूर्ति गुफा-मुख में बनवायी।

(शेषांश पृष्ठ १५५ पर)

वीरेन्द्र कुमार जैन का एक क्रान्तदर्शी लेख

कविता में लौकिक और परालौकिक का विभाजन नहीं

□ वसीयतनामा एक कवि का, आने वाली पीढ़ियों के नाम

[गतांक से आगे: लेखांक—२]

प्रिय प्रभाकर, बात को पिछले संदर्भ के दौर में ही आगे बढ़ाता हूं। प्रस्तुत प्रश्न है कि क्रांति पहले आती है या अति-क्रांति? क्रांति की आम धारणा यह है, कि अर्थ-राज-समाजगत सतही व्यवस्था को, सर्व कल्याण के हित में बदल दिया जाये। और इसी उद्देश्य से फ्रेंच क्रांति, अराजकवादी क्रांति, साम्यवादी क्रांति इतिहास में घटित हुई। लेकिन क्या हुआ फ्रेंच क्रांति की 'फ्रेटर्निटी, लिबर्टी, ईक्वा-लिटी' का, क्या हुआ साम्यवादी क्रांति द्वारा घोषित शोषणविहीन, वर्गविहीन समाज-व्यवस्था का? क्या शोषण खत्म हो सका, क्या वर्ग-प्रभुता समाप्त हो गयी? क्या सर्वहारा की प्रभुता क़ायम हो सकी? क्या फ़ौलाद, फ़ौज, क़ानून और दमन-चक्र में वर्ग-सत्ता और शोषण ही सक्रिय नहीं? उपलब्ध साम्यवाद में कोई एकत्वकारी शक्ति होती, या तत्त्व होता, तो रूस और चीन ही परस्पर कट्टर शत्रु क्यों हो जाते? क्या पूंजीवादी अमरीका और साम्यवादी रूस और चीन समान रूप से ही अन्य देशों को अपनी अधिकार-वासना और शोषण का हथियार नहीं बना रहे? क्या सर्वनाशी शस्त्रों और बमों के बल पर, सारे संसार की प्रजाओं को सदा खूनी युद्धों के आतंक में रखना, पूंजीवादी या साम्यवादी किसी भी खेमे के पक्ष में न्यायसंगत या उचित माना जा सकता है? जिस रास्ते से जा कर सभी वादी अंततः हिंसा, शोषण और विनाश पर ही पहुंचते हैं, वह रास्ता अपने आप में सही कैसे हो सकता है? यों तो हर रास्ता अपने आप में सही भी है। मगर उस रास्ते को आजमाने वाला मनुष्य पहले न बदल जाये, तो हर रास्ते का ग़लत उपयोग तो बना ही रहेगा।

इससे तर्कशः हम यहां पहुंचे, कि प्रक्रिया-गत रूप से पहले अंतश्चेतनिक अतिक्रांति अनिवार्य है, तभी सतहगत क्रांति संपूर्ण, अचूक और स्थायी हो सकती है। पहले आदमी की विजम चेतना न बदलेगी, तो उसके द्वारा लायी जानेवाली हर सतही साम्यवादी व्यवस्था, अंततः विषम

और विसम्वादी हो ही जायेगी। तमाम सतही क्रांतियों के अंजामों को खुली आंखों के सामने देखकर भी, हम सब किस हवाई क्रांति की फन्तासी में जी रहे हैं? एक खोखला निःसार शब्द भर रह गया है क्रांति। क्या है, कहां है उसकी कोई पार्थिव ठोस, बुनियादी मुकम्मल शक्ल हमारे सामने? भारत के क्रांतिवादी कम्यूनिस्टों ने क्यों नहीं की वह क्रांति?

हां, पहले अतिक्रांति को उपलब्ध होना होगा, तब क्रांति उसका एक अनिवार्य आनुषंगिक परिणाम होगी। और कोई विकल्प अभी सामने नहीं है। उस अतिक्रांति का न्यायसंगत या विधिविहित रास्ता है, प्रथमतः व्यक्तिगत रूप से, उपलब्ध आत्म-विज्ञानों द्वारा अपने सच्चे आत्म-स्वरूप या आत्मज्ञान तक पहुंचना, सत्ता की उत्सभूत किसी ध्रुव चट्टान को खोज निकालना, जहां से जीवन को बदलने के लिए कोई मौलिक रोशनी पायी जा सके। बाहर यह अतिक्रांति एक समीचीन शिक्षा-प्रणाली द्वारा हो सकती है। लेकिन शिक्षा का क्षेत्र भी तो राजसत्ताओं के निहित स्वार्थों के पंजे में है। ऐसे में इस सत्ता के तख्तों को कैसे उलटा जाये? तो संघर्ष या युद्ध तो अनिवार्य है। क्या हिंसक क्रांति या युद्ध परिणामकारी हो सके हैं, हो सकते हैं? अब तक यह प्रमाणित न हो सका है, इसका उलटा, जरूर हुआ है, जो उजागर है।

लेकिन संघर्ष और युद्ध की अनिवार्यता भी सामने है। तो उस युद्ध का एक स्वरूप मैं देख पाता हूं। भौतिक और आध्यात्मिक दोनों ही दृष्टियों से हम इस निश्चय पर पहुंचते हैं, कि जगत की संपदा तत्वतः ही किसी व्यक्ति या वर्ग की सम्पत्ति नहीं हो सकती। तो हमें निर्भय होकर, अपनी आवश्यकता की वस्तु को जहां है, वहां से उठा लेना होगा। अहिंसक सत्याग्रही सेना के सक्रिय अभियान के सिवाय,

इसका कोई और कारगर संगठनात्मक विकल्प अभी हमारे सामने नहीं है। आस्तिक और अहिंसक क्रांति का जो रास्ता गांधी ने बताया था, वह विफल हो गया है, यह अंतिम रूप से कहना अभी यथार्थ न होगा। क्योंकि गांधी को वक़्त ही कहां मिला कि सामाजिक क्षेत्र में वे अपनी क्रांति को आजमाते। सत्ता और संपत्ति का विकेंद्रीकरण, इस क्रांति के लक्ष्य में होगा। और तब स्वतंत्र ग्राम-स्वराज्य जैसी कोई चीज़। हर इकाई की स्वाधीन सत्ता। हर ग्राम या नगर अपने आप में स्वाधीन और स्वयम्-पर्याप्त। हर नगर और ग्राम में लोक-कल्याणकारी समानांतर सरकार की स्थापना। हर स्थानीय सरकार अपने आप में पर्याप्त और स्वतंत्र।

लेकिन इसका नेतृत्व कौन करे? गांधी को पूंजीवादी शोषकों ने इस्तेमाल नहीं किया, या वे शोषण के हथियार न बने, यह सिद्ध करना भी आसान नहीं। घूमकर बात फिर यहीं आती है कि पहले एक पूर्ण रूपांतरित, निस्पृह, आप्तकाम व्यक्ति विश्वमंच पर अवतरित हो। वह आत्मिक और जागतिक, वैयक्तिक और सामुदायिक अतिक्रांति और क्रांति की संयुक्त शक्तिमत्ता से ज्वलन्त हो। 'अनुत्तर योगी' में मेरे महावीर कहते हैं कि: 'योगी को एक दिन राज्यासन पर आना पड़ेगा!'

प्रसंगात् कहूं, कि 'अनुत्तर योगी' में रचना-प्रक्रिया और कलात्मक-सर्जना की राह मेरी अहिंसक क्रांति का यह विज़न महावीर के माध्यम से अनायास स्थापित हुआ है। गांधी की नैतिक अहिंसा की राह वहां पीछे छूट जाती है। 'अनुत्तर योगी' आत्मिक अहिंसा का एक क्रि[illegible] शक्तिगत विस्फोट है। वहां शब्द [illegible] नर्म नहीं रह पाया है। महावीर ने आग्नेय वाणी में न्यस्त-स्वार्थी ताक़तों के अस[illegible] और अन्याय का घट-स्फोट और भंज[illegible] किया है। इस लेख के दायरे में उस सां[illegible] प्रक्रिया को दुहराना संभव नहीं। 'अनुत्तर योगी' केवल अतिक्रांति पर ही नहीं रुका, सक्रिय संघर्ष, युद्ध और मूर्त क्रांति तक व्यापता है। हवाई क्रांति का लाल चश्मा उतार कर, आज के लक्ष्य-दिशाहीन विद्रोही उसे पढ़ेंगे, तो कम-से-कम नये सिरे से सोचने को उन्हें मजबूर होना ही पड़ेगा।

बाकी तो ऐसा है, कि सर्जना में कोई नुस्ख़ा या फार्मूला तजवीज़ नहीं किया जा सकता। सर्जन एक ईमानदार तलाश की सम्वेदनात्मक प्रक्रिया ही हो सकता है। वह कोई दावेदार दर्शन नहीं हो सकता। 'शून्य पुरुष' की कविताओं में कोई दर्शन नहीं है, बल्कि अनुभव, अनुभूति, सम्वेदन और सौंदर्य-बोध की राह, अपनी अंत[illegible] श्चेतना के निश्चल केंद्र तक पहुंचने की सर्जनात्मक अंतर-यात्रा (इन्वर्ड वॉयेज) है।

'योग और अध्यात्म' आदि शब्द किसी अर्थ या परिभाषा से सीमित नहीं। [illegible]

माने व्यष्टि का समष्टि या सर्व के साथ जुड़ना, तदात्म और एकतान होना। अध्यात्म माने अपनी इयत्ता (आयडेण्टिटी) या आत्म (सेल्फ़) की तलाश या पहचान। कविता अगर प्रथमत: और अंततः यह नहीं है तो क्या है? अपने को पहचानने का संवेदन या आत्मसंवेदन तो कवि का स्वभाव ही है। और समष्टि के साथ जुड़ाव या तादात्म्य न हो, तो समाजवाद या साम्यवाद का क्या अर्थ रह जाता है। कोई भी घटना पहले मानसिक या आत्मिक होती हैं, अपने सूक्ष्म रूप में। बाद को वही प्रकट होकर, जागतिक या लौकिक होती है। सूक्ष्म और स्थूल, मूर्त और अमूर्त भिन्न और विरोधी नहीं, सत्ता की संयुक्त मौलिक स्थिति के ही पूर्वापर स्तर हैं। प्रकट वृक्ष में अप्रकट बीज का इन्कार नहीं है। और अप्रकट बीज की सत्ता ही इसलिये है, कि वह वृक्ष में प्रकट होकर सार्थक हो, फलवंत हो। जैसा कि पहले कह चुका हूं, लौकिक और पारलौकिक का भेद सापेक्ष है, केवल स्तरगत है, मौलिक नहीं।

मौलिक सत्ता में लोकोत्तर कुछ नहीं है, प्रत्यक्ष-परोक्ष सब लोक में ही समाविष्ट है। कोई सिद्धालय, मोक्षधाम, वैकुण्ठ या स्वर्ग, लोक-सत्ता से बाहर नहीं है। ये सारी स्थितियां चेतनागत हैं, और अभिव्यक्ति में एक ही समग्र लोक के विभिन्न स्तरों पर हैं।

तुम्हारी धारणानुसार कविता को महज़ स्थूल लौकिक घटना के मोटे अर्थ में सीमित मान लिया जाये, तो वेद-उपनिषद्-गीता या बाइबिल की महान कविता, वर्जिल, होमर, दान्ते, मिल्टन, महाभारत और रामायण की कविता, कबीर का 'सुन्नमहल और अनहद ढोल' का अनुभव, संसार की आज तक की तमाम रोमानी-रहस्यवादी कविता, और भागवत-लीला तथा ब्रह्मानंद का गान करने वाला सारा संतकाव्य, कविता से बहिष्कृत हो जायेगा। अस्तु।

केवल जागतिक संबंधों की निरर्थकता या सीमांत जानने के लिए मैंने कोई कविता नहीं लिखी। हां, अपनी चरम वेदना में से इन तक पहुंचकर, इन्हें अतिक्रांत कर, मानवीय आत्मीयता को इस पृथ्वी पर ही पूर्ण सार्थक, पूर्णकाम, असीम बनाने का संवेदन-विजन-दर्शन मेरी कविता में अवश्य आविर्भूत हुआ है। यातना और शोषण सह लेने की सलाह मैंने तो कहीं मनुष्य को नहीं दी; मेरे कवि ने सदा दुःखवाद, यातनावाद, क्रूस और शोषण मात्र को रुद्र क्रोध के साथ ललकारा है। 'शून्य पुरुष' में ही 'कल्की' कविता इसका सचोट प्रमाण है। पूर्वगामी संग्रहों में तो यह पुण्य-प्रकोप विप्लव के डमरू-घोष की तरह व्यक्त हुआ है। 'अनुत्तर योगी' के महावीर तो आततायी के विरुद्ध वीतराग तलवार उठा लेने तक का आदेश देते हैं, विधान

करते हैं। मुझे आश्चर्य हुआ, कि उपरोक्त ग़लत आरोप और कल्पित इल्ज़ाम तुमने क्यों कर मुझ पर चस्पां किये होंगे।

अंततः कविता का कविता होना ही माने रखता है। चाहे उसकी विषय-वस्तु कुछ भी हो। क्या भागवत कवियों और रहस्यवादियों का काव्य केवल वैयक्तिक होकर ही रह गया? क्या वह सदियों के आरपार असंख्य मानवों द्वारा संवेदित नहीं हुआ? यही वैयक्तिक अनुभूति के सामुदायिक अनुभूति होने की स्वतःस्फूर्त प्रक्रिया है। और फिर कविता किसी धारणा की चौहद्दी के फार्मूले से तो नहीं रची जाती। कविता यदि आत्मानुभूति और सर्वानुभूति के सच्चे उन्मेष से आयी हो, तो वह सम्वेद्य, आस्वाद्य और सार्वभौमिक अपने आप हो जाती है।

'आलोक का यूटोपिया': बड़ा खूबसूरत जुमला बनाया है तुमने! लेटिन उद्गम के शब्द 'यूटोपिया' का अर्थ होता है—'ड्रीम-कन्ट्री' यानी स्वप्न-देश। स्वप्न और विज़न तो सूक्ष्म आलोक-तत्त्व से ही निर्मित होता है, स्थूल मिट्टी से नहीं। मिट्टी भी अपने सूक्ष्मतम रूप में द्युतिमान ही होती है। अंतरिक्ष में व्याप्त आणविक नीहारिकाएं चमकीली ही होती हैं, यह वैज्ञानिक तथ्य है। भौतिक द्रव्य भी अपने महीनतम रूप में ज्योतिर्मय ही होता है। रास्ते चलते धरती की धूल पर निगाह डालो, तो धूप में बारीक रजकण चमकते दीख पड़ते हैं।

ध्यातव्य है कि हर महान निर्माण का प्रथम प्रारूप स्वप्न या विज़न में ही आकृत होता है। वह स्वप्न, भाव-कल्पना और ज्ञान की संयुक्त सृष्टि होता है। और ज्ञान एक प्रकाशमान तत्त्व है। वह एक अंतरिक्षीय आविर्भाव है। कोई भी वैज्ञानिक आविष्कार, वास्तु, स्थापत्य, शिल्प, नगर-रचना या देश-रचना पहले सृष्टा मनुष्य के स्वप्न में ही रूपायमान होती है। उपनिषद् कहता है, कि मनस्तत्त्व से ही मूर्त जगत प्रकट होता है। मन का हर भाव या विचार भी एक सूक्ष्म 'सब्स्टंस' (Substance) या पदार्थतत्त्व होता है, वह कोई वायवीय अपदार्थ चीज़ नहीं। यह एक वैज्ञानिक तथ्य है। परमाणु-विज्ञान के क्षेत्र में तो आज ठोस भौतिक मैटर भी हाथ से निकल गया है। मूलतः और अंततः मैटर भी ऊर्जा-तरंगों के सिवाय और कुछ नहीं है। फ़िज़िक्स और मेटाफ़िज़िक्स के बीच की दीवार आज ढहती नज़र आ रही है। अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी का वैज्ञानिक भौतिकवाद

वाद हमारे समय में अपनी ठोस जमीन खो चुका है। विज्ञान ने स्वयम् आज अपने ही को अतिक्रांत किया है। उसके पुराने आधार इस वक्त 'आउट-मोडेड' हो चुके हैं। मार्क्स जीवित होते तो इस समय उन्हें अपने वैज्ञानिक भौतिकवादी दर्शन के आधार ही बदलने को बाध्य होना पड़ता। आश्चर्य है कि हमारा तथाकथित प्रगतिवादी साहित्यकार अभी तक, गत शताब्दी की व्यर्थ हो चुकी वैज्ञानिक अवधारणाओं से ही चिपटा हुआ है।

चित्र : विलियम ब्लेक

यूटोपिया चाहे आत्मवादी का हो, चाहे भौतिकवादी का, वह रौशनी का ही होता है। क्योंकि ज्ञान और तज्जन्य भाव, सम्वेदन, कल्पन अपने प्रकृत नेचर में ही रौशनी हैं। 'एन्लाइटन्मेण्ट' शब्द उसी का द्योतक है। यूटोपिया आत्मवादियों ने ही नहीं रचा, भौतिकवादियों ने भी रचा है। फ्रेंच क्रांति, अराजकवाद, मार्क्सवाद—सबका प्रथम आविर्भाव व्यक्ति विशेष के स्वप्न-विज्ञनगत यूटोपिया में ही हुआ था। गांधीवाद भी यूटोपिया ही था, प्रसाद की 'कामायनी' भी वही है। सभी ने वर्ग-भेद, राज्य-सत्ता, और मुद्रा-वाणिज्य-विहीन एक स्वतंत्र मानव-समाज का ही सपना देखा था। क्या इन सबका यूटोपिया धरती पर मूर्त हो गया? यूटोपिया किसी भी वादी का हो, वह एक आदर्श मॉडेल ही होता है। और आदर्श मॉडेल हर नयी प्रगति के साथ नव्यतर रूप में, अपने स्थान पर सदा प्रतिष्ठित होता ही रहेगा। ठीक क्षितिज के मण्डल की तरह। हर उपलब्धि के बाद, एक और उपलभ्य चेतना का नया क्षितिज सामने आता ही रहेगा। अनादि अनंत सृष्टि में, विकास-प्रक्रिया इसी तरह चक्राकार चलती है।

देश-काल में किसी भी वाद या आदर्श की विफलता भले ही सामने आये, पर उनके परमार्थिक मूल्य को नकारा नहीं जा सकता। मार्क्स, गांधी, अरविंद,

अध्यात्म, विज्ञान—सारे रास्ते अपने परिप्रेक्ष्य में सही हैं। उनके पीछे ईमानदारी है, मानव विकास के इतिहास में उनमें से हरेक का यथास्थान एक महत्त्वपूर्ण योगदान है। श्री अरविंद ने एक बार कहा था कि 'बोलशेविक क्रांति से फलित व्यवस्था चाहे बदल भी जाये, मगर मानव-विकास में उसका चेतनागत योगदान एक स्थायी महत्त्व की चीज़ है।' हर वाद की एक सीमा अवश्य हाथ आती है। एक सर्वांग संपूर्ण मुकम्मल रास्ता अभी भी तलाश की प्रयोगशाला में है। अब तक के तमाम सीमा-स्तम्भों और प्रकाश-स्तंभों को एकाग्र दृष्टि में रखते हुए, हमें उनको अतिक्रांत करते हुए आगे बढ़ते ही जाना है। लब्धि कब मिलेगी, कहना इतना आसान नहीं है।

यह खुली आंखों देखना होगा, कि मार्क्सवादी और आत्मवादी, दोनों ही आचार और निर्माण के स्तर पर समान रूप से भ्रष्ट होते दिखायी पड़ते हैं। इसी से कहता हूं, कि पहले व्यक्ति को बदलना होगा, व्यक्ति न बदलेगा तो हर रास्ता एक हद के बाद विफल और विकृत होकर ही रहेगा। इसकी संगति में यह स्वतःसिद्ध है, कि पहले आत्मगत उपलब्धि तक पहुंचना होगा, उसके बिना व्यक्तित्व और काव्य—दोनों स्तरों पर सामान्यीकरण संभव नहीं है। सत्ता और इतिहास की यही स्वाभाविक स्थिति है, यही स्वतः प्रमाणित तर्क है।

अध्यात्मिकता कोई जातीय लक्षण नहीं है। वह एक सार्वभौमिक चेतना है। सभी कालों और देशों में सर्वत्र उसका उदय, विकास और उत्कर्ष क्रमोत्तर दिखायी पड़ता है। भारतीय धर्म-अध्यात्म के आर्ष वाङ्मय में आततायी या आसुरी शक्ति के प्रतिकार का खुला विधान है। संघर्ष और युद्ध का नकार वहां नहीं है। रामायण और महाभारत इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। गीता में प्रभु ने स्पष्ट आदेश दिया है कि: 'हे अर्जुन, उठ और युद्ध कर।' आत्यंतिक अहिंसावादी जिनेश्वरों के धर्म-दर्शन तक में यह स्पष्ट आदेश मिलता है कि: 'आततायी के अनिवार आक्रमण की स्थिति में आत्मा-रक्षा और प्रजा की रक्षा के लिए क्षत्रिय और गृहस्थ को तलवार उठा लेनी चाहिये। वैसा न करे, तो वह अपने धर्म से च्युत होता है।' अतः अध्यात्म को बतौर से भारत का जातीय लक्षण मानना भी एक ग़लतफहमी है, और यह भी ग़लत है कि अध्यात्म में पूंजीवाद द्वारा उसका शोषण के हित में उपयोग किये जाने की गुंजाइश है। क्राइस्ट की तरह कृष्ण ने कभी न कहा कि: 'अगर कोई तेरे एक गाल पर तमाचा मारे, तो तू दूसरा गाल भी उसकी ओर फेर दे। यदि कोई तेरा अंगा छीन ले, तो उसे तू अपनी दोहर भी दे दे।' कृष्ण ने अत्याचारी और शोषक को मारने का स्पष्ट आदेश दिया है। और क्रिश्चियन यूरोप ने सब

क्राइस्ट के उपरोक्त आदेश से उलटा ही वर्तन किया है। इससे प्रमाणित है कि धर्म-अध्यात्म, विज्ञान या मार्क्सवाद, किसी पर भी शोषण या रक्तपात का दोष मढ़ना, एक सतही और सपाट नज़रिया है।

०००

एकान्त अध्यात्मिक या एकान्त भौतिक का अतिरेक समान रूप से एक हद के बाद, अभीष्ट प्राप्ति में विफल होगा ही। पश्चिम भौतिक भोग में आचूड़ डूबकर और उससे ऊबकर ही अध्यात्म की ओर उन्मुख हुआ है, यह सही है, मगर यह कोई आदर्श रास्ता नहीं है। भारत ने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों को क्रमशः यथास्थान समान महत्त्व दिया है। ऐहिक सुख-भोग की कथाओं से तथा काम-भोग के आख्यानों से भारत के पुराण भरे पड़े हैं। आदि पुराणकार आचार्य जिनसेन ने तो यहां तक कहा है, कि भौतिक भोगों को चरम तक भोग कर ही, मनुष्य मोक्ष-पुरुषार्थ की ओर उन्मुख हो पाता है। धर्म- (आत्म-भाव में जीना) पूर्वक अर्थ और काम का पुरुषार्थ करते हुए, मोक्ष की ओर बढ़ना ही भारत के द्रष्टाओं का अनुभूत और विधि-विहित यानी वैज्ञानिक रास्ता है। भारतीय काव्य-पुराण में भी मनोवैज्ञानिक और रचनात्मक स्तर पर, यही परिणति दिखायी पड़ती है। कालिदास के 'कुमार-सम्भवम्' में भोग और योग का यह सन्तुलन और सामंजस्य स्पष्ट रूप से सृजित हुआ है। 'शृंगारशतक' लिखकर ही भर्तृहरि 'वैराग्यशतक' लिख सके।

अध्यात्म की जरूरत पूंजीपति और सर्वहारा दोनों को समान रूप से होती है। सर्वहारा को शायद और भी ज्यादा। क्योंकि सर्वहारा की प्रभुता के दावेदार तो राजनीति, रक्तपात और युद्धों के दुश्चक्र में इतने उलझ गये हैं, कि उनकी क्रान्ति तो मरीचिका की तरह दूर-दूर सरकती जा रही है। और जो क्रान्ति हुई, उसमें सर्वहारा के नाम पर राज-नीतिकों की तानाशाही प्रभुता ही तो स्थापित हो सकी है। मुट्ठी भर लोग सत्ता हथियाने के लिए खूनी खेल खेल रहे हैं, और सर्वहारा वर्ग उनके दमन की फ़ौलादी एड़ी तले पराधीन-बेबस सिस-कियां ही तो भर रहा है। अपने उस अनिश्चित, असूझ लाचार अकेलेपन में, सर्वहारा के पास अपनी आत्मा के सिवाय और क्या बच रहता है। उस आत्मा और ज्ञान की शक्ति को जगा कर ही तो सर्व-हारा जीवित रह सकता है। उसके लिए अपने आत्म के ज्ञान और शक्ति को जान-कर और जगाकर ही तो, अस्तित्व में रहना सम्भव हो सकता है। उसी में से वह अपने दलनकारियों से टक्कर लेने की पहल, प्रज्ञा, और अजेय शक्ति पा सकता है।

०००

लवेण्डर की खुशबू, वॉयलिन की रागिनी, स्वप्न-सुन्दरी, और समुद्र पर

झूलती बालकनी को अपने एकान्त अधिकार की वस्तु बनाकर, क्या पूंजीपति उसे जड़ और असुन्दर ही नहीं बना देता ? इस वैभव को पाकर भी, इसे भोगने का अवकाश ही उसके पास कहां होता है ? इसे पाने और इसको अधिकृत रखने के हिंसक षड्यंत्र में ही तो वह सदा उलझा रहता है। तब इस त्यागरहित भोग में आकण्ठ डूबकर, ऊब के सिवाय उसके पल्ले और क्या पड़ सकता है ?

इस सारे वैभव को सर्वसुलभ बनाने की परमार्थिक सम्वेदना और अभीप्सा जो स्वप्नद्रष्टा कलाकार रखते हैं, वही इनका सौन्दर्य-स्वप्न देखने और रचने में भी समर्थ हो सकते हैं। क्योंकि उनमें अधिकार-वासना नहीं होती। आत्म-वासना का वैश्विक आलोड़न होता है। शमशेर ने आजीवन कष्टों और अभावों में जीकर ही, विशुद्ध सौन्दर्य के काव्य की महीन जालियां बुनी हैं। महान दान्ते ने अपने निर्वासन की खानाबदोश भटकनों और सन्त्रासों के बीच जीते हुए ही, अपनी 'कॉमेडिया डिविना' में स्वर्गोद्यान के तट पर अपनी प्रिया बीट्रिस से मिलने का उदात्त स्वप्न रचा था। कीट्स ने कष्टों से चलनी हो गये फेफड़ों के क्षय में घुटते हुए ही 'मैजिक केसमेण्ट्स' का सपना अपनी कविता में संजोया था। और अपने प्रेम की सर्वस्वहारी निष्फलता और पीड़न के दौरान ही उसने जंगल में निद्रामग्न गड़रिये के ऊपर, उसकी स्वप्न-प्रिया देवी डायना के छा जाने का दिव्य सौन्दर्यलोक अपनी कविता 'एण्डीमियॉन' में मूर्त किया था। सांसारिक, सामाजिक, मानसिक, आत्मिक सभी स्तरों पर मानुषोत्तर यातना भोगते हुए ही वीरेन्द्र ने वॉयलेट रोशनी, वॉयलिन के संगीत, स्वप्न-सुन्दरी और समुद्री बालकनी की कविता लिखी है। सर्वहारा कवि ही विशुद्ध, निरालम्ब सौन्दर्य के प्रकाश-महलों का साक्षात्कार कर सकता है। क्योंकि वह भोग से ऊबा हुआ नहीं है, भोग का अभीप्सुक, पारगामी और उत्तीर्ण भोक्ता है। उसकी वासना स्वार्थिक नहीं, सार्विक और पारमार्थिक है।

अपने स्वयम् के और बाहरी संसार के घटाटोप 'अंधेरे में' जीते हुए, उन अंधेरे के हत्यारे षड्यंत्रों, अपराधों और प्रेतों की भयावहता की कविता लिखना तो आसान हो जाता है। लेकिन उस

अभेद्य अन्धकार को अपनी अभीप्सा और यातना की शलाखों से भेद कर, उसमें रोशनी के वातायन खोलना, असम्भव को सम्भव बनाने का एक अतिमानुषिक पराक्रम ही कहा जा सकता है। नरकों के शाश्वत तमसलोक में, स्वर्ग-तट पर बीट्रिस के दिव्य सौंदर्य को मूर्त करने का पुरुषार्थ दान्ते जैसा शलाका-पुरुष कवि ही कर सकता है। मुझसे भी वही करते बना, यह मेरी चरम लाचारी ही रही। एक तो जीवन में रात-दिन नारकीय यंत्रणा को जीना, और फिर उसी को कविता में भी उलीचना, मुझे अपने वमन में खदबदाने और उसे चाटने जैसा ही ग्लानिजनक लगता है। इसी से अपने और जगत के संत्रासों को कविता में रोनागाना, एक हद के बाद मेरे कवि को कभी मंजूर न हो सका। शोषकों और अत्याचारियों के साथ तो, सड़क-सड़क लड़कर निपट लेना ही कारगर हो सकता है। उनकी क्रूरता का व्यंग-काव्य लिखना, कवि के आत्म-दैन्य का ही सूचक हो सकता है। हां, दुष्ट-संहारक रुद्र हुंकार की कविता, यथा प्रसंग निश्चय ही अनिवार्य हो जाती है।

लेकिन कविता में उस विभीषिका को अतिरेकपूर्वक रुजाना और दुहराना, मुझे लाचार सर्वहारा की नपुंसक चीत्कार लगती है। वह मनुष्य और उसकी आत्मा का अपमान है। उससे उत्पन्न क्रोध मनुष्य की आत्म-शक्ति को नहीं उभारता, उसे आत्म-ज्ञान से रौशन नहीं करता, उसे और भी निर्वीर्य, निष्क्रिय, बेबस और अनाथ बना देता है। यह आत्महीनता, पराजय और ह्रास का उद्योतक और प्रेरक कवि-कर्म है। वास्तव की विभीषिका, रचना का माध्यम तो हो सकती है, पर उसका विष-मन्थन पारद्रष्टा और प्रॉफ़ेट कवि की सीमा कैसे हो सकता है।

स्वप्न पलायन नहीं है, वह आत्मा का पराग है। वह राग-सम्वेदनात्मक चेतना का 'चन्द्रोदयी' रसायन है। वह लोहवेध और आत्मवेध कर के, मनुष्य के क्षयग्रस्त भौतिक जीवन को आत्मा के सुवर्ण में रूपान्तरित करने वाली अल्केमी (कीमियागीरी) की रसायनशाला है। सृष्टि का प्रथम अविर्भाव मन के तरंगिम स्वप्न में ही होता है। खजुराहो, दक्षिण भारत का अप्रतिम मन्दिर-शिल्प और मूर्ति-शिल्प, ताजमहल, अजन्ता, पिरामिड, आदि जगत के सारे महानतम स्थापत्य, और यह सृष्टि तक स्वयम् पहले स्वयंभू कवि-सिर्जनहार के स्वप्न में ही आविर्भूत
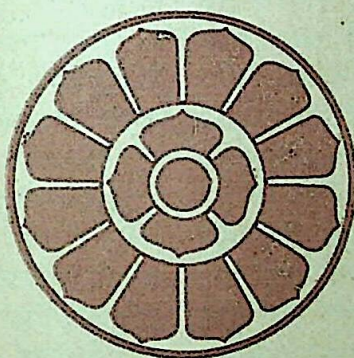
होते हैं। जैसा भाव, वैसा भव। सुखद सपनों के साहित्य से भावक में सुख, शान्ति, सौन्दर्य, आशा, अभीप्सा, हार्मनी और शक्ति के वायब्रेशन (प्रकम्पन) जागते हैं। तो वही काल पाकर जीवन-जगत में मूर्त होते हैं। दुःख-सन्त्रास, पीड़न-शोषण की घटाटोप अंधेरी कविता एक सदा दुखी मनुष्य और जगत की ही रचना करती है। यही कारण है कि अस्तित्ववादी साहित्य ने मनुष्यको अन्तिम रूप से हताश, पराजित, दुःखवादी बना दिया। उसने निपट अन्तहीन ट्रैजेडी की रचना कर, मनुष्य को चिरकाल के लिए एक ट्रैजिक हीरो बनाकर छोड़ दिया। सेम्युअल बैकेट ने 'वेटिंग फॉर गो दो' रचकर मनुष्य से उसका स्वप्न और मिथक छीन लिया और उसे अन्तिम रूप से निराश कर दिया, दुःखजीवी बना दिया। आज की तरुण पीढ़ी उसी घटाटोप अंधेरे की सन्तान है। और हिप्पी में उसकी चरम परिणति दिखायी पड़ रही है।

'अनुत्तर योगी' एक सूक्ष्म और मुश्किल किताव है। फिर भी क्या कारण है, कि वह तेजी से लोकप्रिय हो रही है? इसलिये कि उसने व्यक्ति-मनुष्य और समुदाय दोनों को आशा, उल्लास और परमकाम-भोग का स्वप्न दिया है, उसने मनुष्य को इतिहास की अन्ध शक्तियों के घमसान के अधीन न छोड़कर, उसे उसके स्वाधीन आत्म के ज्ञान, सौन्दर्य, प्रेम और सर्वंजयी शक्ति का भान कराया है। उसने मनुष्य को हर विषमता के बीच भी, अपने आत्म के सम्वाद (हार्मनी) में जीने की स्वाधीन सामर्थ्य का एक अचूक प्रत्यय और बोध प्रदान किया है। वीरेन्द्र ने अपने युग का संत्रास आकण्ठ पीते हुए भी, उससे अतिक्रमण करके दुःखजयी मृत्युजयी 'अनुत्तर-योगी' को रक्त-मांस में जीवन्त और मूर्त किया है। यह पलायन है, या कि ठोस पदार्थ-जगत् के हत्यारे लोहे को गलाकर उसे जीवन के सर्वकामपूरन सुवर्ण में रूपान्तरित करने का अचूक रसायन है, इसका निर्णय तो भविष्य ही करेगा। वर्तमान के रक्तास्त कुहासे में उसकी पहचान सम्भव न भी हो, तो आश्चर्य नहीं। मगर आश्चर्य तो यह है, कि कई अन्तर्दृष्टि सम्पन्न रचनाकार, समीक्षक, और सच्चे सहज प्रबुद्ध भावक पाठकों के भीतर 'अनुत्तर योगी' पानी की तरह जज्ब होता जा रहा है, उनकी चेतना का अंश वनता जा रहा है; तमाम ईर्ष्यालु अवरोधों और विरोधों के पूर्वग्रही किलों को भेद कर भी, वह एक अलग पहचान का सुमेरु-शिखर खड़ा कर रहा है।

०००

अध्यात्म तो अपने स्वरूप में ही सत्य-निष्ठ, आत्म-बलिदानी, सर्व का त्राता, वर्गों और भेदों का ध्वंसक, और सर्वभक्षी आसुरी शक्तियों की भंजक एक क्रान्तिकारी शक्ति है। क्या सारे ही अवतारों ने अपने समय के लोक-पीड़क आततायियों का

विनाश नहीं किया? दुष्ट-दुष्कृतों के विनाश के लिए ही तो वे भगवान 'सम्भवामि युगे युगे' हुए। रामायण, महाभारत, और भागवत में, तथा 'देवीभागवत' और शिव-ताण्डव की लीला में, दुष्ट-निदलन तो पग-पग पर दृष्टव्य है। अध्यात्म का कोई अन्यथा सन्दर्भ मूल में ही नहीं तो उसकी कल्पना तुम्हें कैसे सूझी? आत्मज्ञान से फलित आत्म-तेज ही तो, असुर-संहार का अमोघ अस्त्र हो सकता है। इसे भारत का जातीय संस्कार आदि कहना, और जाति विशेष के चरित्र के साथ नकारात्मक रूप से नत्थी करना, अब एक 'आउट-मोडेड' इतिहास-दर्शन हो चुका है। राम, कृष्ण, परशुराम, प्रलयंकर शंकर, महिषासुर मर्दिनी दुर्गा, शिवाजी, छत्रसाल, गुरु गोविन्द सिंह और तेग़बहादुर की दुष्ट-संहारक परम्परा जिस संस्कृति में हो, उसे भारत के सर्वदलित, आक्रान्ता और सर्वहारा होने का कारण तुम कैसे कह सके, मेरे आश्चर्य की सीमा नहीं है!

दुःख-द्वंद्वों से ऊपर उठाने वाले समदर्शी आत्मज्ञान, और समवादी (साम्यवादी) समुदायगत मांगलिक रचना करने वाली आत्मशक्ति में परस्पर विरोध हो ही कैसे सकता है। मूलतः ही ये दोनों एक ही आत्म के दो संयुक्त पहलू हैं। स्थिति और गति दोनों ही अपनी जगह सही, स्वाभाविक और अनिवार्य हैं। वे परस्पर पूरक और अविनाभावी हैं। आत्मज्ञान (अध्यात्म) के विना, आत्म-शक्ति (विधायक भौतिक पुरुषार्थ) का विस्फूर्जन सम्भव नहीं। ये दोनों तो सत्ता में स्वभावतः संश्लिष्ट रूप से विद्यमान और सक्रिय हैं। इनका बाहर से कोई नया संश्लेष करने का प्रश्न ही कहां उठता है। ज़रूरी यह है कि इस संश्लिष्ट सत्ता का सम्यक् साक्षात्कार किया जाये। और वह प्रथमतः आत्म-साक्षात्कार और आत्मज्ञान यानी अध्यात्म के विना सम्भव नहीं। आत्म-निर्माण और लोक-निर्माण एक ऑर्गेनिक (अंगांगी) प्रक्रिया है। स्वस्थ आत्म-निर्माण के विना, स्थायी समवादी लोक-निर्माण एक सतही आरोपण ही होगा, जो प्रतिक्रियाग्रस्त होकर अन्ततः विफल हो ही जायेगा।

'अल्टीमेट रियालिटी' ही 'इमिजियेट रियालिज़्म' में व्यक्त होती है। सो उसे ठीक-ठीक साक्षात करके ही, व्यक्त 'रियलिज़्म' को सम, समंजस और सम्वादी बनाया जा सकता है। इसके लिए 'सोल-फ़ोर्स' को ही सीधे 'वर्ल्ड-फोर्स' हो जाना पड़ेगा। 'स्प्रीच्युअल इनर्जी' और 'एटोमिक इनर्जी' का भेद आज—भौतिकी (फिजिक्स) के क्षेत्र में ही समाप्तप्राय है। इस वैज्ञानिक उपलब्धि का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करके, जीवन-जगत के स्तर पर आत्मिक ऊर्जा को ही सीधे भौतिक ऊर्जा में परिणत कर देना होगा। तब भौतिक परमाणु-ऊर्जा सर्वनाशी अस्त्रास्त्र नहीं बनेगी, विधायक महाशक्ति बनकर

मांगलिक लोक-रचना करेगी। परमाणु-क्षेत्र में हर परमाणु की स्वतंत्र और संयुक्त सत्ता एक साथ होती है। वैसे ही जगत्-जीवन में स्वतंत्र व्यक्ति, वस्तु और सामासिक समुदाय की एक पारस्परिकता निरंतर विद्यमान और सक्रिय है। अतः व्यष्टि और समष्टि दोनों की स्वतंत्र सत्ता स्वीकारते हुए भी, दोनों में एक सामंजस्य लाना होगा। मौलिक सत्ता में तो इनका अद्वैत एकत्व और सामंजस्य मौजूद ही है। लेकिन जीवन के स्तर पर, उसे साक्षात् करके उसकी तरतमता को मूर्त अभिव्यक्ति में निर्बाध आने देना होगा। समवादी, सम्वादी, शोषण-संघर्ष-हीन लोक-रचना और समाजरचना का पाया यही हो सकता है।

तुम्हारे लेख में यह स्पष्ट झलकता है कि तुमने व्यष्टि और समष्टि, व्यक्ति और समाज, वैयक्तिकता और सामुदायिकता, संस्कृति और संसृति को अलग करके देखा है। वहीं पर मूल में ही भूल हो गयी। सही व्यक्ति से ही सही समाज बन सकता है। पहले सही समाज बना कर, उसमें से सही व्यक्ति पैदा करने की कोशिश विफल हो चुकी है। बल्कि यह कहें, कि आत्म-निर्माण और लोक-निर्माण एक संयुक्त-समानान्तर प्रक्रिया है। दोनों ही पक्षों पर एक साथ काम करना होगा। सही आत्म-निर्माण के लिए, सही लोक-निर्माण के अभियान को स्थगित नहीं रखा जा सकता। वैसे ही सही लोक-निर्माण के लिए सही आत्म-निर्माण को मुल्तवी नहीं किया जा सकता।

तुम्हारे लेख में बराबर ही यह झलकता है, कि व्यक्ति और विश्व को तुम विभाजित करके देखते हो। अनजाने ही उसमें वैयक्तिक अनुभूति का इन्कार और सामुदायिकता का एकान्त आग्रह है। लेकिन अनुभूति के केंद्र में व्यक्ति है। वो अनुभूति प्रथमतः वैयक्तिक होकर ही, वैश्विक हो सकती है। व्यक्ति मार्क्स की अनुभूति-सम्वेदना में ही प्रथमतः तमाम इतिहास की लोक-वेदना सन्निहित और साक्षात्कृत हुई थी। 'शून्य पुरुष' की कविताओं में, कल्पक ऊर्जा के जोर से, सौंदर्य-बिम्ब्रों द्वारा, विशुद्ध आत्म-स्वरूप और आत्मानुभूति के साक्षात्कार के लिए एक जबरदस्त कशमकश है। सर्वातीत होकर, एक बार उस निश्चय आत्म-केंद्र तक पहुंचने के लिए, शून्य अंतरिक्ष में खो जाने का खतरा भी उठा लिया गया है। और मेरी अनुभूति-यात्रा

में मेरे सैकड़ों-हजारों पाठक सहभागी हुए हैं, तो मानना होगा कि मेरी अनुभूति कोरी वैयक्तिक ही नहीं रही, सामुदायिक भी हुई है।

एकांत सामुदायिकता में वैविध्य का अभाव होता है। वैयक्तिक अनुभूति के आत्यंतिक निजत्व से ही, ताज़गी, मौलिकता और वैविध्य संभव है। एकान्त समुदायवादी आग्रह के कारण ही, आज का हमारा अधिकांश साहित्य वैविध्यहीन, एकरस (मॉनोटोनस), उबाऊ और कृत्रिम तक हो गया है। मुक्तिबोध में आत्यंतिक निजानुभूति तो बहुत तीव्र थी, लेकिन समुदायवादी आग्रह के अवरोध की वजह से, उनकी कविता में समग्रता और विविधता की सृष्टि न हो सकी है। फलतः वे एक-आयामी कवि के रूप में ही सामने आते हैं। इस संदर्भ में पूछना चाहूंगा, कि जब तक सामुदायिक मुक्ति उपलब्ध न हो, तब तक वैयक्तिक मुक्ति या व्यक्ति की आंतरिक सुख-शांति को क्या अनिश्चित काल तक स्थगित ही रहना होगा? इतिहास के दुश्चक्र का तो अंत नहीं। कब सारा लोक समंजस होगा, इसकी गारंटी तो किसी के पास नहीं। क्योंकि यह अभियान, इतिहास के बेशुमार परिबलों (फोर्सेज़) के संकुल उलझावों, टकरावों से गुज़र कर ही आगे जा सकता है। तब तक व्यक्ति क्या प्रवाह के थपेड़ों में पड़े तिनके की तरह ही जीने को अभिशप्त रहेगा? अध्यात्म के पास तो इसका अचूक जवाब है कि परिस्थितियों के तमाम वैषम्यों के बीच भी, व्यक्ति अपने भीतर के 'स्टिल-सेंटर' में विश्राम या शांति-लाभ कर सकता है। बल्कि वही व्यक्ति लोक में स्थायी शांति और समता ला सकता है, जो महज़ इतिहास की अंध-शक्तियों के संघात का खिलौना न हो, बल्कि जिसने अपने में आत्मस्थ होकर, अपने साथ शांति स्थापित कर ली हो।

० ० ०

प्रसाद के नाटकों और 'कामायनी' के साथ, मेरे स्फुट कवितासंग्रहों की तुलना ही एक ग़लत और असंगत बात है। प्रसाद के नाटकों का भी एक एपिक-

कैरेक्टर है—यानी उनमें प्रबंध-काव्यों की गुणवत्ता है। और 'कामायनी' की तो रचना ही एक महाकाव्यात्मक स्तर पर की गयी है। उसमें प्रतीक-रूपक द्वारा समग्र जीवन-समस्याओं को तात्त्विक पात्रों के माध्यम से सुलझाने की कोशिश की गयी है। मेरे कविता-संग्रहों को समग्रता में देखोगे, तो उनमें भी एक संयुक्त सर्वांगीण जीवन-दृष्टि और 'एपिक'-स्तर हाथ आता है। तुम्हारे लेख में केवल 'शून्य पुरुष' को सामने रखकर ही मेरे पूरे कवि-कर्म का मानो अंतिम मूल्यांकन कर दिया गया है। इसी से पक्ष विशेष में, कवि के साथ न्याय नहीं हो पाया है।

'कामायनी' की तुलना में 'अनुत्तर योगी' को ही रखा जा सकता है। गद्य की उपन्यास-विधा में होकर भी, 'अनुत्तर योगी'—बुनियादी तौर पर काव्य है, और अपनी सर्वांगीणता के कारण वह महाकाव्य (एपिक) के स्तर पर अनायास ही उत्क्रांत हो गया है। तुम्हारी प्रस्तुत समीक्षा जब लिखी गयी, तब 'अनुत्तर योगी' का कम-से-कम प्रथम खण्ड तो निकल ही चुका होगा। उसे तुमने पढ़ा होता, तो तुम्हें पता चलता, कि 'कामायनी' से भी आगे जाकर उसमें लोक-यथार्थ को सीधे अध्यात्म से टकराया गया है। उस एक खण्ड में ही 'एपिक-कैरेक्टर' भरपूर उभर आया है। राज-समाज-अर्थगत तमाम लौकिक संघर्षों और समस्याओं को राजपुत्र महावीर ने, उसमें तह-दर-तह उधेड़ा और खोला है, और अपने आत्म-केंद्र से उनका संभाव्य समाधान देने का एक महाप्रयत्न भी किया है। पूरे इतिहास को उसमें उल्टा-पल्टा है महावीर ने। अपने समकालीन संसार के वैषम्यों पर उन्होंने बड़ा निर्मम प्रहार किया है। जड़-रूढ़ हो गये धर्मों की विकृतियों को भी, उन्होंने सीधे उधेड़ कर रख दिया है।

इस संदर्भ में यह भी स्पष्ट कर दूं, कि 'अनुत्तर योगी' के महावीर ने संघर्ष और युद्ध को नकारा नहीं है। गांधी की तरह उन्होंने महाभारत के युद्ध को रूपक नहीं कहा है, उसे यथार्थ युद्ध के रूप में स्वीकारा है। यदि अहिंसक प्रतिकार लोक-जीवन में कारगर न हो, तो मेरे महावीर ने वीतराग तलवार उठा लेने का निर्मम विधान भी किया है। वासुदेव कृष्ण के सुदर्शन चक्र को उन्होंने वीतराग और अहिंसक कहकर स्वीकृति दी है। सर्वहिताय, सर्वसुखाय, सर्वत्राणाय शस्त्र उठा लेने का उन्होंने खुला आदेश किया है। हां, अहिंसक प्रतिकार को तर्जीह अवश्य दी है, लेकिन अशक्यानुष्ठान या आपात-स्थिति सामने आने पर, क्षत्रिय और गृहस्थ के लिए शस्त्र-चालन को उन्होंने धर्म और कर्तव्य माना है, और उसे एक विधायक स्वीकृति दी है। आगे अंतिम पांचवें खण्ड में तो वे शोषित श्रमिक वर्ग को, लोक की सम्पत्ति को अपनी ही मानकर, उस पर बलात् गई

अधिकार कर लेने का निर्देश भी देते हैं। अतः निवेदन है कि 'कामायनी' की तुलना में 'अनुत्तर योगी' को आद्योपांत पढ़ कर ही आलोच्य कवि पर अंतिम फ़ैसला देना सही और संगत हो सकेगा।

अनिवार्य, अकारण, अस्तित्वगत संत्रास का तो परम पुरुषार्थ के साथ, अग्नि-परीक्षा के रूप में ही सामना किया जा सकता है। मनुष्यकृत पीड़न को परीक्षा के तहत सह जाने का विधान मैंने तो कहीं नहीं किया। तुमने वह कहां से खोज निकाला, मुझे तो पता नहीं। वैसा होता तो 'यातना का सूर्य-पुरुष' और बुद्ध को संबोधित लंबी कविता मैं न लिखता। भौतिक यातना को मैंने अध्यात्मिकता में रूपान्तरित करके झुठलाया नहीं है, हां उसका निराकरण मैंने अवश्य आत्मज्ञान, आत्म-तेज और आत्मिक क्रिया-शक्ति में खोजा है। एकान्त भौतिक क्रांति की विफलता तो उजागर है: सो मैं मुक्तिबोध की तरह उस पिटेपिटाये रास्ते को न दोहरा सका। भौतिक क्रांति को ठीक भौतिक जीवन-स्तर पर, मूलगत आत्म-शक्ति के अग्नि-संचार से अमोघ बनाने का नया रास्ता भी मैंने अवश्य तलाशने की कोशिश की है। 'क्रांति की तेजस्क्रिय' मणियों का कल्पन भी उतना ही हवानी और स्वप्निल है, जितना कि 'मोती की नाव के भीतर छुपी किसी समुद्र-सी इटर्निटी' का कल्पन या बिम्ब-विधान। सवाल तो यह है कि 'क्रांति की उन तेजस्क्रिय मणियों' को वर्तमान जीवन की धरती पर कैसे अचूक रूप से कार्यकारी बनाया जाये। केवल 'क्रांति' शब्द के विनियोग से ही कोई कवि अधिक क्रांतिकारी नहीं हो जाता।

'अनुत्तर योगी' में मैंने अपने विज़न के अनुसार उस भौतिक क्रांति की अचूक सफलता के लिए, आत्मिक परमाणु-बम का विस्फोट किया है। उसी में वह नया रास्ता भी खोलने का एक साहसिक और जोखिम भरा प्रयत्न मैंने आत्मिक-भौतिक की संयुक्त भूमि पर किया है, जिसकी प्रत्याशा तुम मुझसे करते हो। वह न तो परम्परागत आत्मवाद है, न रूढ़ वैज्ञानिक भौतिकवाद है। सही माने में वह यथार्थ पदार्थवाद और बुनियादी सत्तावाद है।

बात को चरम प्रत्यय तक ले जाये बिना चैन न पड़ा, सो निःशेष कथन करने में विस्तार पर काबू संभव न हो सका। फिर भी यह दावा नहीं है कि अंतिम बात कह सका हूं, (जो कि शब्द में संभव भी नहीं), न यही दावा है कि तुम्हें और आज के लोक को पूर्ण समाधान या प्रत्यय दे सका हूं। तुमने मेरे कवि के भीतर के समुद्र-पुरुष को पहचाना, स्वीकारा, इसके लिए मैं तुम्हारा चिरकाल ऋणी रहूंगा।

—तुम्हारा प्रिय वीरेन दा

११ फरवरी १९८१

वीरेन्द्र कुमार जैन

□

प्रमाण

□ संजय खाती

जनवरी के महीने में वहां बर्फ पड़ती है तो सचमुच विचित्र वातावरण होता है। हरे-भरे चीड़ के पेड़ बर्फ से लद जाते हैं। सारी धरती सफेद चमकती चादर तले गुम हो जाती है। तब उस बस्ती का बाहरी जगत से संपर्क टूट ही जाता है। अलकनंदा वाला रास्ता बंद हो जाता है और डाक तथा रसद हफ्तों तक नहीं पहुंच पाती। वे लोग पहले ही पर्याप्त रसद और लकड़ी का भंडार बना डालते हैं। फिर उन बर्फीले दिनों में वे लोग आतिशदान के करीब बैठे गप्पें मारते रहते हैं या किस्से कहानियों में समय गुज़ारते रहते हैं। सच में वे उनके क़ैद के दिन होते हैं। जब सौभाग्य से आसमान साफ हो जाता है या केवल बादल घिरे रहते हैं तो बर्फ धीरे-धीरे पिघलती है। कहीं फिर तापमान गिर जाये तो कुछ न पूछो।

उस साल की जनवरी में फिर एक बार मैं भूपेंद्र की बचकानी ज़िद के आगे झुक गया। 'बस दाज्यू, कल लौट जाओगे। आज कौन-सी अर्जेंट मीटिंग है तुम्हारी। कल मैं ही खुद तुम्हें पहुंचा दूंगा।'

'कल फिर मौसम खराब न हो जाये?' मैंने शंका प्रकट की, लेकिन उत्साह से वह बोल उठा था –

'नहीं दाज्यू, अभी बर्फ नहीं गिरने की।'

कहने को तो मैं रुक गया। लेकिन हृदय में संकोच की घटाएं उमड़ रही थीं। पि[illegible] वर्ष भी तो भूपेंद्र के बचकाने अनुरोध ने मुझे महीने-भर इस दुस्सह कैद में घोंट कर रख दिया था। एक बार फिर शा[illegible] को काले मेघों को देखकर मुझे अपनी कमज़ोरी पर झुंझलाहट हो आयी। सच तो यह है कि उस स्नेही किशोर का अनु‑रोध मुझे कमज़ोर कर देता था।

मन मारकर रेस्ट हाउस के बरामदे से उठकर अंदर गया ही था कि गूंजती हुई के साथ ओलों की बौछार ने सारी प्रकृति को झकझोर कर रख दिया। कुछ ही देर में असमय ही छा गये घने अंधकार ने सारे दृश्यों को घनी कालिमा में ढंक दिया। तड़ातड़ पड़ती ओलों की बौछार टिन पर कर्णकटु शोर उत्पन्न कर रही थी। बीच-बीच में ओलों की निर्मम बौछार थमती, लेकिन तत्काल मूसलाधार वर्षा का शोर निरंतर गूंजने लगता।

एक बार अकस्मात गिर गया ता[illegible] मान मुझे शीत से कंपा गया। बिस्तर में घुसते मेरा अनुमान पक्का हो गया कि [illegible]

जब मैं सवेरे जागूंगा तो अपने आपको फिर एक बार इस निविड़ कैद में फंसा पाऊंगा। फिर आतिशदान में जलते बड़े-बड़े ठूंठों के सामने निरुद्देश्य बैठे जीवन की निस्सारता पर विचारने के सिवा और काम ही क्या रह जाता है ? बाहर रेस्ट हाउस के बरामदे से दिखते दूर-दूर तक बर्फ से ढंक गये पर्वत शिखर और नीचे दूर अलकनंदा की दर्पण-सी चमकती निर्मल जलधारा जिसे देखत ही उसकी भयावह शीतलता का अनुमान मात्र ही रीढ़ की हड्डी में कंपकंपी की लहर दौड़ा देता है। तब मैं अनुभव करने लगता हूं कि अलकनंदा का वह कच्चा पुल बंद हो गया होगा। और खड़े समाधिस्थ तपस्वियों-से वृक्षों के कंधों से निरंतर बर्फ झरती होगी। कभी सहसा बादलों को चीरकर निकल आये सूर्य की चमक सारे दृश्य को दर्पण की-सी चकाचौंध से भर देती। लेकिन फिर तत्काल लपक आये किसी मेघ-खंड की छाया उसे फिर धूमिल छायाओं से भर देती। सीधे हिमालय से बही आ रही बयार की शीतलता पल भर भी खले में नहीं रहने देती। बाहर लान में चलने पर ही घुटने तक पैर धंस जाते। लेकिन फिर भी उस बर्फ को किसी नट की-सी कुशलता से लांघता भूपेंद्र भागा-भागा आ मुझे किसी तरह अपने घर लिवा ले जाता।

न जाने आज क्यों फिर भूपेंद्र की बचकानी ज़िद के सम्मुख मैंने आत्मसमर्पण कर दिया था ? क्या मुझे वहां के सनकी मौसम का अनुभव नहीं था? पल भर में ही निर्मल आसमान पर न जाने कहां से घने बादल घिर आते और जो सवेरे आंख खुले

तो बाहर सारा दृश्य मानो रातोंरात किसी अदृश्य जादूगर की छड़ी का स्पर्श पा सर्वथा परिवर्तित हो उठता।

चौकीदार मुझे भोजन दे, भागता हुआ, अपने गांव चला गया था। बड़ा जीवट का आदमी था वह। कैसा भी मौसम क्यों न हो, रेस्ट हाउस लौट आता था। रात घिर आयी तो वर्षा और ओले थम गये। प्रकृति मानो एकबारगी समाधि की जड़ता में स्थित हो गयी हो। केवल कभी हवा का कोई झोंका लान पर खड़े वृक्षों को बुरी तरह झकझोर देता।

रात गये आतिशदान में भड़कते शोलों की आनंददायी तपिश अनुभव करता मैं अभी विचारों में खोया ही था कि दरवाज़ा मानो हवा का कोई झोंका खड़का गया। लेकिन मैं चौंक उठा था। दरवाज़े पर फिर थपथपाहट हुई। स्पष्ट रूप से अबकी बार किसी ने दरवाज़ा थपथपाया था। कौन हो सकता है इस समय? भूपेंद्र या चौकीदार? लेकिन इस समय? एक बार में संशय और विस्मय के तूफान में फंसकर रह गया।

दरवाज़े को एक बार फिर किसी ने खटखटाया।

बाहर प्रकृति शांत थी। ऐसी निस्तब्धता जो मनुष्य को दहला देती है।

मैंने दरवाज़ा खोला। प्रकाश की एक चौड़ी रेखा उस आकृति को दो भागों में बांटने लगी। कोई बाहर खड़ा था। लंबी आकृति आधे अंधकार में डूबी हुई।

'कौन?' मैंने पूछा था।

'नमस्ते ब्रदर।' अपरिचित नारी[...] के उस अभिवादन ने मुझे एक पल [...] विस्मित कर दिया।

'अंदर तो आ सकती हूं न?'

'जी...! हां! ज़रूर...। ज़रूर।' संशय और अस्थिरता से लड़खड़ाते कदमों से मैं एक ओर हट गया।

वह अंदर आयी। अब मैंने उसे प्रकाश में ध्यान से देखा। लंबी देह, कंधों पर पिट्ठू। सारे वस्त्र भीगकर देह से लिपट रहे थे। सुनहरे बालों के प्रभामंडल से घिरा वह विदेशी गौरवर्ण चेहरा और उस चेहरे पर नगीने-सी जड़ी गहरी नीली आंखों की अनजानी अलौकिक चमक।

'थैंक्यू, थैंक्यू ब्रदर।' कहती वह [...] से आतिशदान के समीप खिसक आयी: 'ओह, कितना सर्द देश है यह तुम्हारा!' वह फिर हंसी और उस बेबाकी से स्तंभित-सा मैं दरवाज़ा बंद करना ही भूल गया।

'अरे आप ब्रदर! आइये, आइये, दरवाज़ा तो बंद कर लीजिये। देखिये, [...] समझती हूं, आप कुछ नर्वस हो रहे हैं। [...] आइये, बैठिये। मैं सब समझती हूं।' मेरी उलझन को समझती वह खिलखिला[कर] हंस पड़ी थी। निर्दोष, उन्मुक्त हंसी [की] बौछार सारे वातावरण को रंग गयी थी।

एक ऊहापोह में फंसा मैं बेवजह [...] जलते कुंदों को ठकठकाने लगा था। [...] मिनट में ही वह बाथरूम से कपड़े बदल कर चली आयी थी।

'ओह ब्रदर, हम कैसे मित्र हैं, जो एक-दूसरे का परिचय भी नहीं जानते। मुझे कैरोलीन कहते हैं।'

कुछ देर फिर एक मौन मानो कमरे में रेंग आया। फिर उस निस्तब्धता को वह स्वयं ही काटने लगी—

'मुझे मालूम है, ब्रदर। ऊपर पहाड़ी पर किसी योगी का मठ है, कितनी दूर होगा वह. . . . ?'

एकबारगी मैं बुरी तरह चौंक उठा। पहाड़ी पर रहने वाले उस योगी के अविश्वसनीय चरित्र की कितनी ही कथाएं भूपेंद्र ने मुझे ऐसी ही रातों में सुनायी थीं। सच में उस योगी के उन किस्सों पर मुझे विश्वास ही नहीं था। भूपेंद्र बताता था कि वह महीनों तक बर्फ में निराहार और अकेले रहता है।

'यही कोई तीन मील की भीषण चढ़ाई है अब।'

मेरे चेहरे पर छाये विस्मय और कौतूहल को परखती वह मुस्कराकर बताने लगी थी।

'मैं वहीं जा रही हूं, ब्रदर . . । मैं तुम्हें अपनी कहानी बता दूं, वर्ना मुझे कोई हिप्पी न समझ लो तुम।' फिर मेरी झेंप पर हंसती वह बताने लगी थी।

'मैं अमेरिकन हूं, ब्रदर। मेरे पिता स्टेट्स के एक शहर के नामी वकील थे। वे ही बताते थे कि पामिस्ट ने मेरे बारे में बचपन में ही बताया था—यह कन्या आश्चर्यजनक रूप से गंभीर और तत्वान्वेषी होगी। मेरे पिता को ज्योतिष पर असीम अनुराग था। सच ही मैं बचपन से ही धीर और गंभीर रही। बचपन के क्रीड़ा-कौतूहलों में कभी मेरा अनुराग नहीं रहा। चुपचाप किसी निर्जन में बैठ न जाने क्या सोचती रहती। मैं . . . । बचपन के उत्साह भरे दिनों की मेरी इस अस्वाभाविक अन्यमनस्कता ने मेरे पेरेंट्स को सचमुच बहुत चिंतित कर दिया था। वैसे मैं काफी प्रतिभा संपन्न बालिका थी। बाद में मैं सेना में डॉक्टर बन गयी और वर्षों वियतनाम के मोर्चे पर रही।'

उसकी आवाज़ यकायक धीमी हो गयी। एक बार फिर बाहर फैली निविड़ता का एक टुकड़ा कमरे में पैठ आया। कुछ देर उसकी आंखें आतिशदान में जलते शोलों को घूरती रहीं। लगता था कि वह फिर एक बार उस भयानक युद्ध के मोर्चे पर पहुंच गयी है।

'ब्रदर, उस अल्प अवधि में मैंने मौत से निकटतम साक्षात्कार कर लिया। मोर्चों पर घायल कराहते . . . दम तोड़ते. उन असंख्य सैनिकों का साहचर्य मुझे बहुत कुछ सिखा गया। मैंने वहां बहुत कुछ देखा, ब्रदर . . . । मैंने विचारा क्यों मनुष्य अपने शरीर के अंगों के छिन जाने पर भी अपना दुस्सह जीवन जी सकने की हिम्मत संजो लेता है? क्यो मानव की जिजीविषा उसे मौत के मुंह से खींच लाती है? कैसे अपना प्रिय संसार जल जाने पर भी मानव बड़े ही साहस से नया संसार बनाने की

चेष्टा में रत हो जाता है ? कैसे लाखों शरणार्थी, बेसहारा विधवाएं, अनाथ अपना जीवन चलाते हैं ? कैसे एक बुलबुले-सा ही क्षण-भंगुर मानव इस विश्व के सर्वनाशी अंधड़ों के विरुद्ध लौह-दीवार बनकर खड़ा हो जाता है ? इन्हीं विचारों में मैंने उस 'सुप्रीम पावर' का अनुभव किया, ब्रदर . . । लेकिन वहीं युद्ध से मुझे घृणा हो गयी । वहां से लौटकर मैं एक सेवा-संस्थान की सदस्या बन गयी । रोगियों और कोढ़ियों की सेवा करते हुए मैंने एक प्रकार से अपना जीवन सभी के भीतर रहने वाले उस दैवीय तत्त्व को ही समर्पित कर दिया ।

उस कम उम्र युवती की गाथा समाप्त होते ही मैंने पूछ लिया था–

'लेकिन सिस्टर, आप यहां क्यों आयी हैं ?' उस युवती की कहानी ने मुझे कौतूहलाक्रांत कर दिया था ।

'ब्रदर, जिस 'सर्वोच्च शक्ति' की उपस्थिति को मैंने अनुभव किया, उसके निकट साक्षात्कार की मेरी लालसा अदम्य होती गयी, हमारी संस्था की अध्यक्षा मदर मरीना ने ही मुझे इस काम के लिए ज्ञान के इस देश जाने का निर्देश दिया । और उन्होंने ही मुझे इस स्थान का पता दिया । मैं आज सवेरे से ही पैदल चली आ रही हूं । लेकिन नीचे से ही यह तूफान शुरू हो गया । उससे मैं रास्ता भटक गयी । लेकिन अचानक ही यह रेस्ट हाउस नज़र आ गया । सहायता की आशा से ही मैं इधर चली आयी ।'

उसकी आत्मकथा सुनते ही अचानक पूछ बैठा मैं–

'लेकिन, सिस्टर . . . क्या ईश्वर है . .. ?'

कैरोलीन अनायास ही हंस पड़ी । ब्रदर यह शंका तो मानव को होनी ही नहीं चाहिये । जैसे किसी को भी अपने अस्तित्व के विषय में शंका नहीं है । वैसे ही अगर हम हो सकते हैं तो 'वह' क्यों नहीं . . .?'

'लेकिन, सिस्टर . . . ।' मैं तर्क की मुद्रा में उतर आया था । लेकिन मेरी ज़िद को अपनी स्निग्ध हंसी से बुहारती वह कहने लगी थी–'हर भौतिकवादी अपने अंदर के उस ईश्वर को नकार कर सच में स्वयं के अस्तित्व पर ही शक करता है । अच्छा, पहले मेरे प्रश्न का तो जवाब दो । तुम जीवन से क्या समझते हो . . .?'

'सिस्टर, सीधी-सी बात है, जीवन के जो गिनेचुने साल हैं, जिन्हें मनुष्य भोगता है । इन सीमित सालों को क्यों व्यर्थ गंवाया जाये भला ? इस सीमित अवधि में जीवन का भरपूर आनंद लिया जाये । जीवन के एक-एक पल को भोगा जाये . . .।'

एक बार फिर वह मानो मेरी नादानी पर तरस खाकर हंस पड़ी । 'यह तो खाओ-पियो-मौज करो और एक दिन मर जाओ वाली थ्योरी हुई ना ? लेकिन सोचो अगर खा-पीकर एक दिन यूं ही मर जाना मात्र जीवन होता तो शायद इस संसार में बहुत

थोड़े आदमी ही जीवित रहते। और बाकी लोग इस निरुद्देश्य, निरर्थक जीवन से ऊबकर ही आत्महत्या कर लेते। जानते हो, केवल भोग ही जीवन का ध्येय होना सच में भोगी के लिए ही एक भयावह स्थिति होती है। अपने जीवन की व्यर्थता कोई सहन नहीं कर पाता। केवल भोग ही नहीं, निर्माण भी तो जीवन है। नहीं, ब्रदर, जीवन, जो तुम कहते हो, वह नहीं है...। जरा सोचो, क्यों बार-बार ठोकर खाकर मनुष्य निर्माण में संलग्न होता है? कौन-सी वह भावना है? कौन-सी वह आशा है, जिससे मनुष्य कठोर परिश्रम कर-करके दिन रात एक करता है? भोगों की ओर मुंह भी नहीं करता क्यों....?'

'कभी सोचा ब्रदर, तुमने? केवल खाना-पीना ही जीवन होता तो विश्व के इतने सुंदर, प्रशंसनीय कार्य शायद ही हुए होते। आदमी शायद ही भोग का लक्ष्य छोड़कर निर्माण की बात सोचता। मानव इस दुनिया को निरंतर अधिक उन्नत बनाने में नहीं जुटा रहता। कोई शक्ति तो है ही, जो उसे भोग के आनंद से विमुख करती है। तो कौन-सी शक्ति है वह? बार-बार विनाश के बाद भी टिकी वह जिजीविषा क्यों है? क्या इन्हीं निरुद्देश्य सालों के लिए...?'

मैं चुप रह गया। कहता भी क्या? उसकी तीक्ष्ण दृष्टि मेरे चेहरे पर निबद्ध हो गयी। 'ब्रदर, बता सकते हो आविष्कारक अपने आविष्कार का कौन-सा उपभोग करता है? अपना जीवन जिस काम के पीछे वह खपा देता है वह अगली पीढ़ी के भोग के लिए ही तो काम आता है। ब्रदर, वही जिजीविषा के पीछे जो आशा और इच्छा होती है, वही तो वास्तव में ईश्वर-शक्ति है, जो हमारे जीवन को नियंत्रित करती है। जानते हो, जब वही आशा किसी के अंदर भर जाती है तो मानव केवल चलती-फिरती लाश मात्र बनकर रह जाता है। वही आशा और जीवनी-शक्ति तो हमें निर्माण में संलग्न रखती है। वही एक ही तत्त्व के बीज हम सब में समाये हैं। कभी सोचा है तुमने कि क्यों किसी अपरिचित का कष्ट भी हमें तड़पा देता है? क्यों मैंने सर्वथा अपरिचित तुमसे आशा की कामना की? क्यों तुमने एक अनजान को आश्रय दिया?'

कुछ देर खामोशी के बाद वह कहने लगी। 'ब्रदर, सारे नक्षत्र, ग्रह, सूर्य और चांद, इस प्रकृति का कण-कण सभी तो उसी 'सुप्रीम पावर' के अनुशासन में बंधे हैं। उसी पावर का अंश तो हम सब में जीवनी-शक्ति का संचार कर रहा है। ब्रदर.....। सभी के अंदर वह है.....। सभी तो वह है....... हम सब एक ही मूलभूत तत्त्व के अंश हैं। इसी भावना से तो मानव-मानव का दुख महसूस कर पाता है। क्राइस्ट....मुहम्मद तो उसी जीवनी-शक्ति के सूचक नाम हैं। वास्तव में देखो तो पृथक रूप से ईश्वर कुछ नहीं, वह आशा ही है जो हम सब में है। वैसे

यह धारणा नास्तिकता भी है और आस्तिकता भी......।'

फिर बड़ी देर तक हम दोनों मानो अपने अंदर कुछ खोजते हुए बैठे रह गये। बाहर हवा ऐसे गूंज रही थी मानो प्रकृति आहें भर रही हो। शायद बाहर चुपचाप बर्फ गिरने लगी थी।

'आप फिर क्या करेंगी, सिस्टर?' मैंने धीमे से पूछा था कि कहीं उसकी समाधि भंग न हो जाये।

'ज्ञान प्राप्त होते ही मैं उन्हीं दुखियों के बीच लौट जाऊंगी।'

'कहीं इन्हीं गुफाओं में तो समाधि नहीं लगा लेंगी?' मैंने मजाक में पूछा।

'नहीं, समाधि लगा लेना भी तो जीवन का उद्देश्य नहीं होना चाहिये। अपने को समझने का अर्थ तो तभी है, जब औरों का कष्ट कम करने में मदद दी जाये।' उसने कहा था।

'बर्फ गिर रही है सिस्टर, और कल सारे रास्ते बंद हो जायेंगे। आपको रुकना पड़ेगा।'

'नहीं, ब्रदर। मेरे पास समय कम है। मैं कल ही चली जाऊंगी ऐसे ही।'

'लेकिन आप जानती नहीं, सिस्टर। ज़मीन खिसकने से रास्ता सचमुच मौत का स्वरूप बन जाता है। हिमनद की भयावहता तो सचमुच दिल दहला देने वाली है। फिर पर्वतारोहण का सामान भी नहीं है आपके पास।'

उसकी दुग्ध-धवल हंसी में साहस और दृढ़ता की स्पष्ट खनक थी। 'मैंने क्या कहा, ब्रदर? मनुष्य अपनी अदम्य जीवनी-शक्ति से निरंतर मौत से जूझता जा रहा है।' वह हंसी और उसका निर्णय मैं समझ गया।

'अच्छा ब्रदर, अब आप सो जायें। देखती हूं काफी थके-से लग रहे हैं आप।' उसने कहा और जबरदस्ती ही मुझे सुला स्वयं भी स्लीपिंग बेग में सिमट गयी। उस अद्भुत युवती की बातों का जादू शायद मुझे सोने नहीं देता, लेकिन पता नहीं कैसे उस रात मुझे नींद आ गयी।

०००

सबेरे जगा तो देखा उस अद्भुत अतिथि का कोई चिह्न भी कमरे में नहीं था। एक बारगी में चौंककर उठ बैठा। क्या वह इस हिमपात में ही निकल गयी! उसके इस दुस्साहस ने मेरा कलेजा हिम कर दिया। झपटकर उस शीत को अनदेखा कर मैं बाहर आ गया। कल का सारा दृश्य मिट चुका था। दूर-दूर तक उस फुट भर हिम की निविड़ता का एकांत राज था। अब तो पहाड़ी पर हो रहे निरंतर हिम-स्खलन ने उसे सचमुच मौत की राह बता दी होगी। बड़ी देर तक मैं बरामदे में ही चेतनाशून्य-सा खड़ा रह गया। तो कहीं वह मेरा स्वप्न मात्र तो नहीं था? लेकिन नहीं वह स्वप्न कैसे हो सकता है? उसका वह भावपूर्ण सफेद चेहरा मुझे अभी तक याद है। शब्द मानो अब भी कमरे की खामोशी

में भटक रहे हैं। लेकिन कोई प्रत्यक्ष चिह्न तो कहीं नहीं......। कहीं, नहीं....।

'अरे आप यहां बेहोश से क्या पड़े हैं? मेरा तो खून ही जमा जा रहा है।' जब भूपेंद्र ने आकर मुझे छुआ तो मेरी समाधि भंग हुई। अंगुलियां ठंड के मारे मानो निष्प्राण हो गयी थीं।

आतिशदान के सामने बैठे चाय पीता भूपेंद्र बोलता ही जा रहा था, लेकिन मैं तो मानो वहां था ही नहीं। कल्पना में ऊपर उस दुष्कर मार्ग पर बड़ी ही सहजता से वह एकाकी चली जा रही है। मानो मानव की वही अपराजिता जीवनी-शक्ति ही अब मूर्त हो बर्फ में भटक रही थी। सच तो ईश्वर के विषय में उसकी नयी परिभाषा को मैं मानूं या न मानूं, लेकिन उसके इस साहस को क्या कहूं! क्या इससे भी मैं इन्कार कर सकता हूं? मानो मेरे संशय का प्रमाण देने वह स्वयं निकल पड़ी थी। क्या अब भी उस शक्ति, उस ईश्वर पर अविश्वास कर सकता हूं मैं?

'आप कहां खो गये, दाज्यू? लगता है नाराज हो। इस बार भी मैंने आपकी महीने भर की छुट्टी जो कर दी। बाप रे.....। कैसी बर्फ पड़ी है इस साल! वह तो अच्छा हुआ घर समीप है, वरना यहां आने में शायद बचता भी नहीं।'

और भी न जाने क्या-क्या कहता रहा भूपेंद्र। लेकिन मैं एक बार फिर उसी प्रश्न से उलझ कर रह गया। हो सकता है वह भी उसी बर्फ की शान्ति में विलीन होकर रह जाये, लेकिन यह भी तो उस अपराजेय जीवनी-शक्ति की विजय ही होगी। उस शक्ति के अस्तित्व का प्रमाण ही तो है।

मैं सोचने लगा हूं—देवदार के वृक्षों के कंधों से बर्फ झर रही होगी। नीचे अलकनंदा की शीतल जलधारा अब हिम से ढंक गयी होगी। हिम-स्खलन से मार्ग भयावह हो गया होगा। नीचे अलकनंदा का पुल बंद हो गया होगा। और मीलों फैली बर्फ की इस स्तब्धता को अपने अपराजेय कदमों से कुचलती वह कहां होगी?

—द्वारा सुरेन्द्रसिंह खाती,
५३, डूनागिरी—२६३६५३,
अल्मोड़ा, उ. प्र.

□

लालबहादुर शास्त्रीजी पत्रकार-संघ की एक सभा में गये, जहां उसकी रजत-जयंती मनायी जाने वाली थी। सभा में श्री दुर्गादास ने अपने भाषण में पत्रकार-संघ के पिछले पचीस वर्षों की गतिविधियों का परिचय देते हुए खूब प्रशंसा की।

जब शास्त्रीजी बोलने के लिए उठे, तो उन्होंने कहा, 'क्रिकेट के मैदान में सेन्चुरी पूरी होने पर दाद दी जाती है। पत्रकार-संघ ने तो अभी चौथाई सदी ही पूरी की है। सो, मैं क्या दाद दूं?'

विष्णु प्रभाकर की आत्मकथा का एक और मार्मिक प्रसंग

मुझ पर विश्वास नहीं है आपको

सहसा वह तड़प उठी और मेरी आंखों में आंखें डालकर बोली, 'मुझ पर विश्वास नहीं है आपको !'

उसकी आंखों में तब दर्प और आरोप की चिंगारियां स्फुरित हो रही थीं। नितांत असमर्थ उसे सह पाने में, मैं दो क्षण निर्वाक् देखता रहा, टूटता रहा फिर किसी तरह अपने को बटोरकर इतना ही कह सका, 'इसमें विश्वास-अविश्वास का प्रश्न कहां आता है। मैं तो केवल पूछ रहा था ....'

'जी हां, पूछ रहे थे। हो तो आखिर आप भी पुरुष ही।' उसका दर्प और भी तीव्रता से हुंकार उठा।

एक मित्र बहुत बार कह चुके थे, 'भाभी जी ! मेरे साथ चलिये न इलाहाबाद। मुझे तो पास मिलता है। किराया भी नहीं देना होगा आपको।'
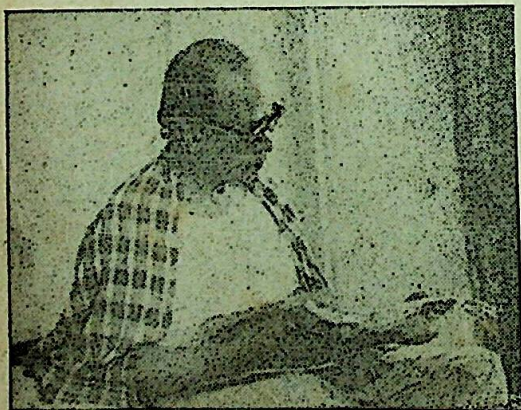
उसने मेरी ओर देखा। मैंने कहा 'तुम चाहो तो जा सकती हो।'

और उस बार वह चली ही गयी।

और उसी यात्रा के संस्मरण सुना रही थी वह मुझे, 'जानते हो कैसे हैं ये तुम्हारे दोस्त। उस रात प्रथम श्रेणी के कूपे में यात्रा की हम दोनों ने। कहने लगे, 'भाभी जी ! जब आप चल ही रही हैं तो क्यों न अकेले में बातें की जायें...'

क्या बातें की उसने ?

अपनी प्रेम कहानियां सुनाना चाहते थे मुझे। मैंने डांट दिया, 'मुझे नहीं सुननी हैं आपकी प्रेम कहानियां।' बोले, 'क्यों नहीं सुननी हैं ?' मैं बोली, 'क्योंकि सब पुरुषों की प्रेम कहानियां एक जैसी होती हैं वैसे ही, जैसे तुम सब पुरुष एक जैसे होते हो।'

वह एक के बाद एक उनकी हरकतों का वर्णन कर रही थी। उसकी भाषा तीखी और व्यंग्य से पूर्ण थी। और मैं सुन रहा था निर्वाक्, अंदर के ज्वालामुखी को प्राणपण से दबाने की चेष्टा करता हुआ। वह कह रही थी 'फिर भी उन्होंने न जाने कहां-

रचनाकार विष्णु प्रभाकर

कहां की कहानियां सुना डालीं। मैं पढ़ती रही, सुनती रही, मुस्कराती रही। उन्होंने आगे बढ़ने की चेष्टा की तो डांट दिया, 'खबरदार जो कोई हरकत की। थप्पड़ मारूंगी गाल पर। बातें मुंह से की जाती हैं, हाथों से नहीं।'

वह तब मेरे लिए चाय बना रही थी। प्याला मेरी ओर बढ़ाकर बोलीं, 'ऐसे हैं तुम्हारे दोस्त। मैं सचमुच थप्पड़ मार देती।'

कई क्षण हम चाय पीते रहे। अंतर में घुटते रहे। फिर मौन उसी ने तोड़ा, 'औरलौटती बार तो उन्होंने हद कर दी... ।'

स्वभाव से विवश मैं कह उठा, 'अगले दिन भी तुम कूपे में ही आयीं उसके साथ, यह सब होने पर भी ?'

यहीं वह तड़प उठी थी, 'आपको विश्वास नहीं है मुझ पर....'

दो क्षण बाद फिर सहज होकर उसी ने कहानी को आगे बढ़ाया, 'दूसरी रात उन्होंने बहुत बकवास की। जब मैंने डांट-डपटकर उन्हें ऊपर भेजा तो जानते हो क्या कहा उन्होंने... जाने दो क्या करोगे सुनकर... मानसिक विकृति भाषा को कितना विकृत कर देती है। डर तो कुछ था नहीं, इसलिये हंसी ही आती रही।

'सवेरे जब आंख खुली तो पाया कि मेरी चादर के ऊपर उनकी शाल पड़ी है। पूछा, 'यह शाल आपने डाली है ?'

'जी हां। रात को उठा तो देखा आप सिकुड़ी-सिकुड़ी-सी लेटी हैं। तब ...।'

नारी तुम केवल श्रद्धा हो...

'शाल ऊपर की बर्थ पर फेंककर मैं तुरंत बाथरूम चली गयी। लौटकर आयी तो वे किसी अधिकारी से बातें कर रहे थे। आप तो जानते ही हैं मैं सदा मुस्कराती रहती हूं। उन अधिकारी महोदय ने मुझे देखा। नमस्कार किया और उनसे बोले, 'अच्छा तो आपकी श्रीमतीजी भी हैं आपके साथ...'

मैंने कहा, 'तुमने प्रतिवाद नहीं किया..'

बीच में ही बोल उठी, 'लो, प्रतिवाद करती और अपवाद मोल लेती। चुप रहने में ही कल्याण था। क्योंकि गलती तो हमारी थी ... लेकिन जब वे मुझे घर छोड़ने आये तो क्षमा मांगने लगे, बोले, 'भाभीजी ! देवर-भाभी की ये बातें हमारे ही बीच में रहें। किसी और

को पता न लगे।'

लेकिन तुमने मुझे बता दिया है।

तुरंत बोली, 'किसी 'और' को बताने की मनाही थी, 'आपको' नहीं।'

मैं फिर निर्वाक् उसे देखता रहा और वह मुस्कराती रही। उस प्रेमाकुल मुस्कान ने मुझे एक नयी अनुभूति से आप्लावित कर दिया।

यह घटना हमारे वैवाहिक जीवन के सांध्यकाल की है। (मेरा 'कूपे' नाटक इसी घटना पर आधारित है।)

उसने प्रारंभ में ही जिस अटूट विश्वास और एकात्मभाव की शपथ ली थी, जीवन के अंतिम क्षण तक वह उस पर अटल रही। महायात्रा पर जाते हुए भी उसने यही कहा था, 'हां, लंबी यात्रा पर जा रही हूं पर, आपके बिना जा रही हूं।'

परिणय-बंधन के तुरंत बाद उसने लिखा था, 'आज से दो महीने पहले बहुत-सी प्रतिज्ञाएं कर चुके हैं। वे अटल हैं। खैर, यदि उनमें श्रद्धा नहीं है तो जिसे एक बार 'प्राण' कहकर पुकार चुके हैं तो, क्या बिना प्राण के शरीर रह सकता है...'

तार्किक हाथ उठाकर कह सकता है, 'यह यौवन के उच्छ्वास की भाषा है। उस आयु में सभी स्वप्नों में खोये रहते हैं और ठोस धरती पर आने पर सभी के स्वप्न बिखर जाते हैं।'

लेकिन मैं बयालीस वर्षों के उस संघर्ष-मय जीवन में जिधर भी झांकता हूं, उस साधारण लड़की की भाषा में मुझे वही असाधारण प्यार और वही अनिर्वचनीय माधुर्य परिलक्षित होता है।

'सोचती हूं क्या मेरे से सैकड़ों मील दूर पर मेरा कोई है। सच बताइये आप मेरे क्या लगते हैं....?' (१९३८)

'कल पत्र में अपने को 'जीवन साथी' लिखा जाने पर मन में कुछ गर्व हुआ। क्या यथार्थ में ही आप मुझे इस रूप में पायेंगे। ऐसी मैं आशा भी रखती हूं।' (१९४२)

'यह बात न जाने क्यों बहुत समय से मेरे दिमाग में चक्कर काट रही थी। उसे निकाल देने में ही अपना हित समझा। वह भी वहां, जहां दोनों हृदय एक दूसरे को कुछ जानते हों...' (१९४३)

'...स्वप्न में तो आप मेरा पीछा छोड़ दीजिये। बड़ी परेशान हूं।' (१९४५)

'... सारी रात आपके साथ बितायी। बड़ा मजा रहा। न जाने कहां-कहां की बातें होती रहीं। ये सब सुख-स्वप्न देखने के बाद आंख खुली तो अपने को उसी चारपाई पर चंद्रा के साथ सोये पाया...' (१९५३)

'... और क्या हालचाल हैं। मेरे तो दो दिन से कुछ ठीक नहीं हैं। कल अचानक इतना रोना आया कि चुप नहीं हुआ गया। बेबी इत्तफाक से इधर आ गयी। कहने लगी, 'ताईजी, क्या बात है? ताऊजी की याद आ रही है क्या?' मुझे बड़ी शर्म आयी...' (१९६५)

'... खैर, यह तो चलता रहता है।

वैसे ही आपको लिख बैठी। यहां तो तंग करती ही थी, बाहर भी चैन नहीं लेने दे रही हूं। आप खुश रहिये। मेरा मन तो आधा पागल है, यों ही चलता रहता है...' (१९७४)

'... घर तो आपके बिना एकदम सूना हो जाता है। एक पल भी मन नहीं लगता...' (१९७४)

'... घर में इतनी चहल-पहल होने के बाद भी आपके बिना सूना लगता है।' (१९७८)

'... जाने के बाद कोई पत्र नहीं मिला। ३० मई (हमारे विवाह की तिथि) को आपकी बहुत याद आयी...।' (जून १९७९ अंतिम पत्र)

सन १९३८ से १९७९ तक की इस अवधि में शब्द जरूर बदले हैं, पर अर्थ कभी नहीं बदला। बार-बार प्रौढ़ होने का अहसास उसे हुआ है, पर सामीप्य की चाह भी उसी अनुपात में बढ़ती रही है। एक बार हम दोनों में कुछ तेज झगड़ा हो गया। उतना तेज न पहले कभी हुआ था, न फिर कभी हुआ। लेकिन उसके कारण एक दूसरे के प्रति हमारी भावना में तनिक भी अंतर नहीं पड़ा, बल्कि सामीप्य की तड़प और उग्र हो उठी।

मैं उन दिनों दक्षिण की लंबी यात्रा पर था। प्रवास में उसे पत्र लिखना मेरा नियम था, लेकिन उस बार नहीं लिख पाया। उसका कारण मन की खिन्नता ही थी। उसका सदा यह आग्रह रहा था कि हर बात में पहल मेरी ओर से हो लेकिन उस बार वह मौन न रह सकी। लिखा, '... आप जानते हैं अब पहले वाली बात तो है नहीं कि जैसे भी रहे, रह लिये। इधर आने के बाद जब आपका पत्र नहीं मिला तो कई बार उषा ने पूछा, 'क्या अब की बार आप तलाक दे कर आयी हैं जो कोई भी पत्र नहीं मिला...' (४-६-५७)

'... पता नहीं आपके दिमाग में क्या है, क्योंकि आप तो मुझे लिख नहीं रहे हैं कुछ। पर मैं किससे कहूं। मन में ही कुढ़ती रहती हूं। रात को नींद भी नहीं आती। पड़ी-पड़ी घंटों सोचती रहती हूं, क्या करूं। रात तो बिलकुल ही नहीं सोई, रोई भी, सोचती रही कम से कम पहुंचने का पत्र तो अवश्य ही देते...

'बस बच्चों की मां को सूचना दी जा रही है। क्या मेरे नाम से भी आप परिचित नहीं हैं...' (१०-६-५७)

'... अच्छा अब क्या कहूं। कहने की बात है भी तो नहीं। अब तो हम कुछ बड़े हो गये हैं।' (११-१-६५)

लेकिन आठ दिन बाद ही लिखा—

'... कल अचानक इतना रोना आया कि चुप नहीं हुआ गया।' (१६-१-६५)

इस प्रेमिल आत्मा का, जिसने मेरे जीवन के मरुस्थल में प्रेम की गंगा प्रवाहित की थी, अविश्वास कैसे और क्यों करता। अपने सभी अनुभव मुझे सौंप कर वह मुक्त हो रहती थी। एक बार

(शेषांश पृष्ठ ८२ पर)

मदनमोहन तरुण
की कविता

□

पूर्णिमा की मदनगंधा रात

चित्र : संतोष जड़िया

चांदनी की मदनगंधा रात का यह दूधिया
सपना चतुर्दिक बह रहा है।
दुग्ध के तरु, दुग्ध के पथ

औ' तरल स्टील से इस झील-जल पर
सरसरायी चांदनी में
संगमर्मर-सी सचेतन दूधिया काया
लहर-सी उठ, जम्हाई ले
तनिक फिर झुक रही है।

औ' गगन की डालियों को छू महक जाती हवा
जैसे किसी की सांस।
दूर मेरे गांव की छत पर खड़ी नागिन
सरीखी
मालती की लता डंसने को मुझे फूत्कारती है।
झील की इन सीढ़ियों पर आज मेरा मौन
चंद्रमा में मुग्ध दर्शन-सा विमोहित छप
गया है।

एक खल्ली की सुनहली लीक जैसा पथ
चांदनी की चेतना से नप गया है।
आज कोई अंधेरे की अर्गला को खोलता है,
कौन मुझसे मौन ही यूं बोलता है!
एक नन्हीं क्षीणप्राणा किरण
नस-नस में उमस कर टूटती है
किस अदेखी चेतना से कौन मुझको जोड़ती
है!

झील के सारे किनारे टूटते हैं
झील की सब लहरियों को ज्वार से वे
जोड़ते हैं

चन्द्रमा नीलाभ नभ का बंधु, लो अरुणा गया
दुग्ध का हर वृक्ष कुमकुम ये सहज नहला
गया।

रमेश दवे की कविता

□

अगली शताब्दी

जल !
किसी भी महासमुद्र से उठो /
मेघ-मालाओं के अट्टहास में / समा जाओ /
पृथ्वी / सूर्यमय है / वायुमय है /
तुम / करुणा हो /
उसके तप्त-अंतर की /
वनस्पतियों ने / श्वास / लंबी कर दी है /
आकाश तक।

मेघपुत्र !
सूर्य के अर्घ्य में / अभिषेक की धारा जोड़ो /
वायु / मंत्रोच्चार करेगा /
पृथ्वी जीवित रही /
हो सकता है /
किसी आकाश की / पर्त्त में दबा / कोई नक्षत्र
मनुष्यवान हो उठे / वाणीवान हो उटे /
और / अगली शताब्दी /
पृथ्वी-पुत्रों के / आकाश-पुत्रों से।
मिलन की हो।
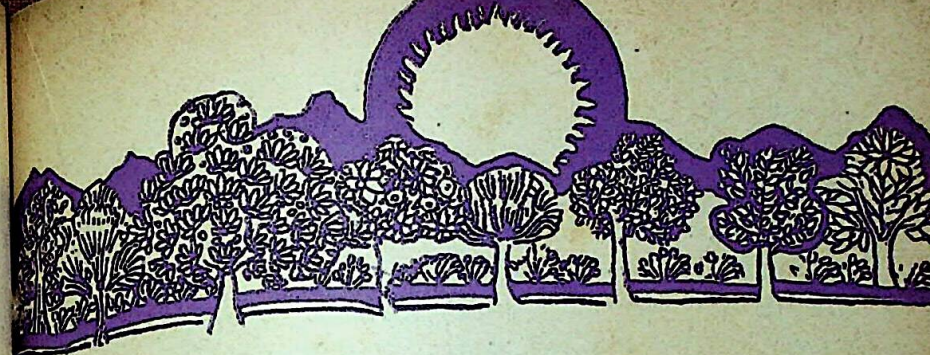
सूर्य !
किसी भी / आकाश पर रहो /
पृथ्वी पर / अर्घ्य नहीं दोगे
सूर्य / . . .
सूर्य नहीं कहलाओगे /
पृथ्वी / ऋचावान होती है /
रश्मियां आती हैं /–
मंत्र-शक्तियों-सी /
और खिलता है–
एक वाणी-मय पुष्प /
मनुष्य है / नाम उसका।

वायु !
वनस्पतियों का दुशाला / ओढ़े /
किसी भी / आवरण में रहो /
तुम /
प्राणवान / हो नहीं सकते /
पृथ्वी ने / तुम्हें /
प्रार्थना की तरह / गाया है।
सौर-मंडल में / कोई /
और / पिंड नहीं /
जो प्रार्थना गाये /
और तुम उसे / प्राणवान कर सको।

□

(पृष्ठ ७९ का शेषांश)

कानपुर से लौटी तो बोली, 'सुनो, जब दिल्ली से गयी थी तो गाड़ी बहुत लेट हो गयी थी। रात के ग्यारह बज गये। कहां जाती तब ! जूही का रास्ता कितना खतरनाक है। मैं प्लेटफार्म पर खड़ी-खड़ी सोच रही थी कि साथ में जो एक अधेड़ सज्जन थे वे मेरे पास आये, बोले, 'बहन! मेरा घर स्टेशन के पास ही है। आप रात भर वहीं रहें। सबेरे चली जायें।'

'मैंने सकपकाकर उनकी ओर देखा। डर भी रही थी मैं, पर और कोई रास्ता भी तो नहीं था। उनके साथ उनकी बेटी थी। यही आश्वासन था। मैं उनके साथ चली गयी।

'और रात-भर वहीं रही।

'हां, सवेरे उठकर जूही चली गयी।'

बहुत गहरे कोई प्रश्न कुरेद गया। क्यों हम नारी के बारे में यह सब सोचते रहते हैं। क्यों हम उसे सदा अपवादों के घेरे में ही घिरा देखना चाहते हैं। क्यों जीवन का एक बहुत बड़ा अंश वह इन अपवादों के चक्रव्यूह में फंसने और बाहर निकलने में बिता देने को विवश कर दी जाती है। नर-नारी के संबंधों में सहजता क्यों नहीं आ पाती....।

'सुनो, आज बस में क्या हुआ ?'

क्या हुआ ?

'एक बूढ़े ने मुझे कोहनी मारी।'

तुम चाहती थीं कोई जवान मारता।

'हटो। आप तो बस... भला कोई बात है। आदमी औरत को देखता है बस...'

०००

'जानते हो आज क्या हुआ ? [illegible] रोड से बाराखंभा रोड जा रही [illegible] बीच के मार्ग से होकर। अंधेरा [illegible] चला था। छुट्टी के कारण सन्नाटा [illegible] था। तभी पीछे से साइकल पर एक सज्जन आये। बिलकुल पास आकर रुके, बोले 'अरे आप पैदल जा रही हैं। आइये [illegible] आगे साइकल पर बैठ जाइये। [illegible] कहेंगी छोड़ दूंगा...'

बैठ गयीं तुम ?

वह व्यंग्य से मुस्करायी, 'एक बार तो सोचा कि आपने तो कभी बैठाया नहीं, इसी को धन्य कर दूं। लेकिन [illegible] डर गयी, कह दिया, नहीं भाई, मैं [illegible] पास ही जा रही हूं।... और तेजी से आगे बढ़ गयी। पसीना आ रहा है [illegible] भी मुझे।'

मैंने कहा, 'पर मुझे तो बहुत खुशी होती है ऐसी बातें सुनकर। लोग मेरी पत्नी को इतना सुंदर समझते हैं कि...'

तड़प उठी, 'खाक सुंदर समझते हैं। आदमी को तो बस औरत चाहिये, [illegible] पत्थर की हो, चाहे काठ की।'

इन अनुभवों का कोई अंत नहीं था। छोटे-मोटे झगड़ों का भी कोई अंत नहीं था। एक दिन मैं कुछ अधिक क्रुद्ध [illegible] आया तो उसकी आंखें डबडबा आयीं। बोली, 'यदि मैं अभिमान करती हूं [illegible]

यही सोचकर कि कोई अपना है जो मुझे मना लेगा। अपनों से ही तो नाराज़ हुआ जाता है, लेकिन आप हैं कि ...'

हर बार मैं पराजित ही रहता, हर बार एक नयी प्रतीति होती मुझे। वह अत्यंत सरल, भोलेपन की सीमा तक सरल थी। इसी सरलता के कारण वह गलतियां कर बैठती थीं, इसी सरलता के कारण क्षमा मांग लेती थी। उसके मान-अभिमान, उसके निश्छल प्रेम का आधार भी यही सरलता थी। इसी सरलता के कारण वह बहुत शीघ्र कहीं भी किसी से भी एक रूप हो रहती। भाषा, वर्ण, वर्ग और धर्म कुछ भी उसके रास्ते की बाधा न बन पाता। निस्सीम आकाश की तरह उसके परिचय का क्षेत्र विस्तृत, और विस्तृत होता रहता।

और कभी-कभी यही सरलता बड़ी अटपटी स्थिति भी पैदा कर देती। एक दिन किसी संदर्भ में हंसते-हंसते मैंने कहा, मैं भी अब एक और शादी करना चाहता हूं।

उसने तुरंत उत्तर दिया, 'तो कर लो न, कौन रोकता है ?'

'लेकिन लड़की तुम्हें ही ढूंढ़नी होगी।'

'वह भी ढूंढ़ दूंगी। सभी काम तो करती हूं आपके, वह भी सही।'

कहते-कहते वह अंदर जाने को मुड़ी कि जैसे वज्रपात हुआ हो। मेरी ओर आग्नेय नेत्रों से देखा। बोली, 'सुनते हो, मेरे स्थान पर किसी को लाकर बैठाया तो पत्थर मार-मारकर सिर तोड़ दूंगी।'

मान लूंगा, एक बार तो मैं हतप्रभ अवाक् रह गया था, इस आकस्मिक आक्रमण से लेकिन, दूसरे ही क्षण जो हंसी फूटी तो अपने को संभालना कठिन हो गया। बाप रे! कैसा उत्कट प्यार है, कैसा भोलापन है। इस भोलेपन पर सर्वस्व निछावर किया जा सकता है।

आज उसी भोले प्यार के अभाव में मन उमड़-उमड़ आता है, बेचैन हो उठता हूं उसे पाने के लिए। संतोष यही है कि अभाव के इस अंधेरे में असंख्य मित्र, परिजन साथ हैं। कहते हैं कि मैं उस प्रेम को श्रद्धा का रूप दूं और 'प्रसाद' के शब्दों में कहूं –

देवी (नारी) तुम केवल श्रद्धा हो,
विश्वास रजत नग पगतल में।
पीयूष स्रोत-सी बहा करो
जीवन के सुंदर समतल में।

प्राणपण से वही करने की चेष्टा मेरी है। रहेगी भी।

–८१८, कुण्डेवालान,
अजमेरीगेट, दिल्ली–११०००६

□

हे भगवन्, मनुष्य विनम्र होकर तेरा रूप धारण करता है, तब तू सहारा देता है। हमें आशीर्वाद दो भगवन्, हम उस नारायण से विमुख न हो जायें, जिसकी मित्र या सेवक के रूप में हम सेवा करना चाहते हैं। हे प्रभु, हमें आत्मसमर्पण और सद्गुणों से भर दो।

–महात्मा गांधी

लोहारजंग में स्थित मंदिर से गुजरते हुए पार्श्व में नन्दाघुंटी पर्वत
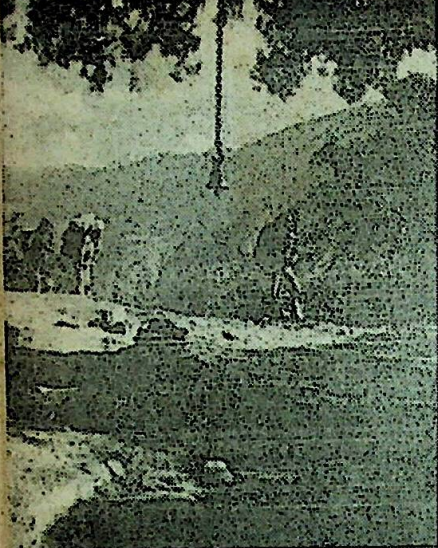
हिमालय के दुर्गम्य रहस्यमय शिखरों के आरोही और अज्ञात हिम-सरोवरों के खोजी

विपिनचन्द्र शाह

का साहसिक यात्रा-वृत्तान्त

□

रूपकुंड की यात्रा

सिंधुतल से १६००० फुट की ऊंचाई पर स्थित एक निर्मल जल का सरोवर अपने आप में न जाने कितने रहस्य छुपाये है। न जाने कितने पर्वतारोहियों, नृतत्व-शास्त्रियों व जिज्ञासु इतिहास लेखकों ने इस रहस्य को सुलझाने की चुनौती स्वीकार की है और न जाने कितने लोग इसके आमंत्रण पर अपनी जान की वाजी लगा बैठे हैं। आज यही रहस्यमय सरोवर रूपकुंड के नाम से विख्यात है जिसके वारे में एक दिलचस्प पौराणिक गाथा प्रचलित है कि जब भगवान् शंकर विवाह के पश्चात् पार्वती को लेकर घर लौट रहे थे तो रास्ते में पार्वती ने पानी की मांग की। चूंकि इस रास्ते में पानी का नामोनिशान नहीं था, इसलिए शंकरजी ने वहीं भूमि पर त्रिशूल गाड़ दिया जिसकी परिणति पानी के फौव्वारे के रूप में हुई। पल-भर में ही जल के फौव्वारे ने निर्मल जलाशय का रूप ले लिया और जैसे ही पार्वती पानी पीने के लिए झुकीं, उन्हें अपनी रूप राशि का प्रतिबिंब दिखाई दिया। अपने रूप से मो-

सम्मोहित पार्वती ने उक्त जलाशय का नाम रूपकुंड रख दिया।

गढ़वाल के चमोली जिले के उत्तर-पूर्वी भाग में स्थित रूपकुंड का अस्तित्व सन १९४४ में अंग्रेजी शासन काल के समय ही सामने आया जब एक भारतीय वन-अधिकारी ने उस कुंड पर पायी जाने वाली लाशों के बारे में अंग्रेज अधिकारियों को बतलाया। इस सत्य को अंग्रेजों ने कई वर्ष तक गुप्त रखा, पर बाद में जब भंडा फूट ही गया तो इन लाशों के बारे में अंग्रेज अधिकारियों ने यह शंका व्यक्त कर दी कि कहीं ये लाशें नेताजी सुभाषचंद्र बोस के सैनिकों की न हों, जो चीन के रास्ते भारत में गुप्त रूप से प्रवेश करने में असफल होने के कारण वहीं बर्फ में दफन हो गये हों। अंग्रेजों की यह शंका निराधार ही साबित हुई और इसके बाद आशंकाओं व अटकलों का एक नया सिलसिला शुरू हो गया। किसी का दावा था कि ये शव सन १८४१ के सिख सेना नायक जोरावर सिंह के तिब्बत पर किये गये विफल आक्रमण के बाद भारत की सीमा पर शरण लिए हुए सैनिकों के हैं। किसी का खयाल था कि कहीं ये शव मुहम्मद तुगलक के सैनिकों के न हों जो चीन पर आक्रमण करने गये और रास्ते में ही ढेर हो गये। कन्नौज के राजा जसधवल की नंदादेवी की तीर्थयात्रा पर गये उन यात्रियों को भी इससे जोड़ा गया जो रास्ते में ही दुर्घटनाग्रस्त हो गये थे।

तपाली बुग्याल (धरातल से १२५०० फुट ऊंचा)

इस आखिरी अनुमान का संबंध उत्तराखंड में आज तक चली आती उस प्रसिद्ध 'जात्रा' से है जो नंदाजात के नाम से मशहूर है। नंदाजात उत्तराखंड की सबसे लंबी (२६४ किलो मीटर) पैदल नंगे पांव यात्रा है जो नौटी गांव से होमकुंड (रूपकुंड से आगे) तक बाईस पड़ावों में तय की जाती है। यह यात्रा हर बारहवें साल सितंबर माह में होती है और अत्यंत जोखमभरी है। 'नंदाजात' नौटी गांव से शुरू होती है। देवी की पूजा राजघरानों के सदस्यों द्वारा ही होती है। ऐसा समझा जाता है कि हर बारहवें वर्ष किसी न किसी गांव में एक चौसिंघा (चार सींगवाला) मेढ़ा पैदा हो जाता है। यह मेढ़ा जहां पैदा होता है वहां देवी का वाहन शेर तब तक आता रहता है जब तक कि उसका मालिक

वाण ग्राम की एक महिला

मेढ़े को चढ़ाने की मनौती नहीं मान लेता। उक्त चौसिघा नंदाजात का अगुवा होता है। इसके पीछे देवी का डोला तथा उसके वाद श्रद्धालु भक्तों की भीड़। कई दिनों की लंवी यात्रा में रास्ते में दूर-दराज़ के गांव से छतोलिया, डोली व देवी की कटार भी शामिल होती है। उक्त यात्रा-मार्ग का अंतिम गांव 'वाण' है। वाण गांव में लाटू देवता के कपाट भी उसी अवसर पर खोले जाते हैं और फिर अगली जात तक बंद कर दिये जाते हैं। इस प्रकार वाण तक कुल २९४ देवी-देवताओं की डोलियां, निशान तथा छतोलियां इस जात में शामिल हो जाते हैं। इस गांव से आगे एक स्थान पर वाजे-गाजे, जूते तथा चमड़े की वनी वस्तुओं का परित्याग कर दिया जाता है और यह स्थान 'रिणाम की धार' के नाम से प्रचलित है। जात्रा रूपकुंड, शिला समुद्र से जयघोष करती हुई चौसिंघे के पथ प्रदर्शन में होमकुण्ड पहुंचती है जहां पर नंदादेवी की पूजा व यज्ञ किया जाता है। श्रद्धालु भक्तजन भेंट-स्वरूप रुपया, पैसा मेढ़े पर वांध देते हैं और यह मेढ़ा मानो दैवी प्रेरणा से धीरे-धीरे नंदादेवी शिखर (२५६४५ फुट ऊंचा) की ओर वढ़ने लगता है। उसके वाद उसका क्या होता है यह किसी को मालूम नहीं। हां, वापस वह नहीं लौटता यह दावे के साथ कहा जाता है। छतोलियों का उसी स्थान पर विसर्जन कर दिया जाता है।

रूपकुंड का पौराणिक पहलू जितना दिलचस्प है, उतना ही दिलचस्प है उसका वैज्ञानिक पहलू। और इस पहलू को उजागर करने में स्वामी प्रणवानंद का योगदान भी कुछ कम नहीं है। इन्होंने उस स्थान पर रहकर अलग-अलग समय पर जाकर वहां से कई नरकंकाल, अस्थियां व अन्य सामग्री इकट्ठा कर निरीक्षण हेतु भेजा। कलकत्ता व लखनऊ विश्वविद्यालय के विद्वानों ने उक्त हड्डियों का अध्ययन कर अपने निरीक्षण की पुष्टि हेतु कुछ नमूने बाहर भेजे। जहां कार्बन डेटिंग पद्धति द्वारा वे नरकंकाल ६५० वर्ष पुराने साबित हुए। इससे राजा जसधवल की यात्रा की पुष्टि होती है और उन प्रचलित आशंकाओं का खंडन होता है जो सैनिकों से जुड़े हुए हैं। क्योंकि अस्त्र-शस्त्र जैसी

कोई भी सामान यहां पर नहीं मिला। हां, कुछ स्त्री-आभूषण व पूजा की सामग्री वहां पर अवश्य मिली है। हर वर्ष जिज्ञासुओं के आने से शव तो अब लगभग समाप्त ही हो गये हैं। हां, कुछ हड्डियां इधर-उधर खोदने पर अवश्य मिल जाती हैं। वर्ष के दो महीनों (जुलाई-अगस्त) में यह कुंड पानी से भरा होता है। अन्यथा बाकी दस महीने यह बर्फ से ही अंटा रहता है।

नंदाघुंटी और त्रिशूल चोटियों के पादस्थल पर जो कगार दिखलाई पड़ती है, उसी में है यह रहस्यमय कुंड जो कि लगभग १३५-१५० मीटर की गोलाई में स्थित है।

रूपकुंड की यात्रा के लिए ग्वालदम तक बस द्वारा पहुंचा जा सकता है। इस स्थान पर पहुंचने के लिए अल्मोड़ा, रानीखेत व नैनीताल से सीधी बस सेवा है। ग्वालदम से फिर पांच दिन की पैदल यात्रा के बाद रूपकुंड पहुंचा जा सकता है।

मैं जब नैनीताल पर्वतारोहण क्लब के अन्य दो सदस्यों दीप साह और दिनेश विष्ट के साथ इस यात्रा पर निकला तो उस समय मौसम अनुकूल नहीं था। अक्तूबर के अंतिम सप्ताह में हमारी योजना अचानक बनी और मौसम की प्रतिकूलता के बावजूद उसे क्रियान्वित करने में कोई भी अड़चन नहीं आयी। हमें तो यह मौसम ज्यादा रास आया। बर्फ में धंसते-भीगते हम लोग कुंड पर पहुंचे। वैसे जड़ी-बूटी व असंख्य जंगली फूलों की बहार देखने का असली मजा सितंबर माह में आता है। अक्तूबर माह में तो बर्फ के कारण सभी पौधे ठिठुर जाते हैं और कुछ ही समय बाद बर्फ की मोटी तह के नीचे दफन हो जाते हैं।

ग्वालदम में रात्रि विश्राम के फलस्वरूप हम लोग तड़के ही अपनी पैदल यात्रा पर निकल पड़े। पिंडर नदी के किनारे-किनारे १२ किलोमीटर का यह खूबसूरत रास्ता 'देवाल' नामक स्थान पर पहुंचता है। वैसे उस स्थान पर भी धराली नामक जगह से मोटर द्वारा भी जाया जा सकता है पर वह काफी लंबा व उबाऊ रास्ता है। इसीलिए लोग ज्यादातर ग्वालदम से ही पैदल देवाल की ओर लुढ़क पड़ते हैं।

गांवनुमा यह कस्बा (देवाल) ग्वालदम के इतने करीब होते हुए भी काफी

बर्फ के गर्भ में स्थित बगुड्यार में ठिठुरे हुए यात्री (यात्रियों के साथ बायीं ओर लेखक)
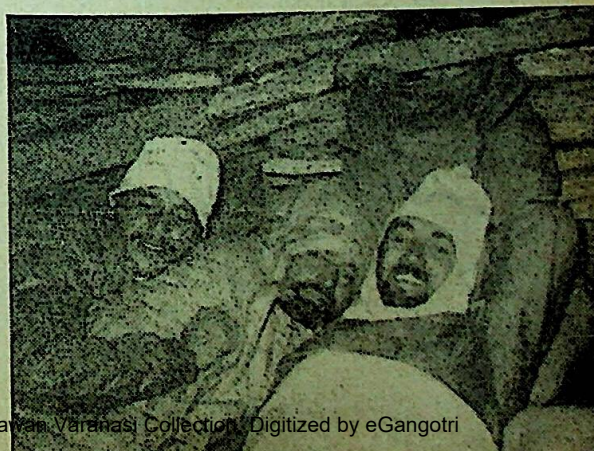
वीरान-सा है। रूपकुंड की यात्रा से लौटते हुए हमने एक दिन का रात्रि विश्राम यहां पर किया। भाग्यवश वह दशहरे का अंतिम दिन था। हम लोग भी खाली थे इसलिए रावण वध देखने के लिए चल दिये। उस छोटे से कस्बे में इतनी सारी भीड़ देखकर हम लोग स्तब्ध रह गये। हम नवागंतुकों की परेशानी जल्द ही एक युवक की समझ आ गयी, जो वहीं अध्यापक थे। उनके अनुसार गांव में मनोरंजन का कोई भी साधन नहीं है। बस यही रामलीला के चंद दिन हैं जब दूर-दराज़ के गांव वाले इस कस्बे में इकट्ठा होते हैं। एक दूसरे की समस्या व निराकरण के लिए सुझावों का आदान-प्रदान भी हो जाता है और गांव के विकास की गतिविधियों से परिचय भी।

देवाल में कुछ क्षण विश्राम के बाद हम लोग चल पड़े अपने अगले पड़ाव मुंदोली के लिए। हालांकि देवाल से मुंदोली गांव की दूरी १२ कि. मी. बतलाई जाती है। पर अब मुंदोली तक मोटर-मार्ग बन जाने से (जो कि अभी अधूरा ही है) इसकी दूरी बढ़ गयी है। २० कि. मी. की यह लंबी यात्रा बड़ी उबाऊ है। खैर मुंदोली गांव पहुंचते-पहुंचते हमें रात हो चुकी थी।

मुंदोली से डेढ़ कि. मी. की खड़ी चढ़ाई के बाद लोहारजंग नामक स्थान है जहां एक डाक बंगला अभी निर्माणाधीन है। हमने तुरंत निर्णय लिया कि-मुंदोली रुकने के बजाय लोहारजंग ही में रात्रि विश्राम किया जाये तो अच्छा रहेगा। कम से कम अगले दिन की यात्रा की शुरुआत चढ़ाई से तो न होगी। हममें न तो शक्ति थी और न ही किसी की इच्छा एक कदम भी आगे बढ़ने की।

रात्रि ९ बजे हम लोग लोहारजंग पहुंच ही गये। यहां पहुंचकर हमारी जो हालत थी, वह देखने लायक थी। अपने शरीर के साथ जो अन्याय हमने किया उसका फल भी हमें भुगतना ही था, रात-भर पैरों को इधर-उधर मोड़ते हुए कराहते रहे। पर कब अचानक आंख लग गयी पता ही नहीं चला। सुबह लंगड़ाते-लंगड़ाते एक साथी को कैमरा लिये बाहर जाते देख हम लोग भी बाहर निकल पड़े। क्या अपूर्व दृश्य था! हिमधवल नंदाघुंटी पहाड़ों के बीच सिर निकाले मानो हमें विस्मय से निहार रही हो। उसको निहारते हुए हम भी इतने मुग्ध हो गये कि अपनी सुध-बुध ही खो बैठे। होश हमें तब आया जब देखा कि सूर्य की किरणें हमें पूरा भिगोती हुई नीचे घाटी की ओर दौड़ रही हैं। अचानक जैसे हमारी तंद्रा भंग हुई। आंखें तो बार-बार हटाने पर भी हटने का नाम हीं न लेतीं। नंदाघुंटी तब तक सूर्य की किरणों से नहाकर और भी चमक गयी थी। पर ज्यादा मोह अब ठीक नहीं है। हमें आगे और भी आगे जाना है।

सुबह ९ बजे के करीब हम लोग अपने अगले पड़ाव 'वाण' के लिए रवाना हो गये। इस रास्ते में भालुओं का खतरा रहता है।

है इसलिए देर से ही चलना अच्छा रहता है। लोहार-जंग से वाण तक का ढलवां रास्ता (१४ कि. मी.) काफी आरामदायक है। थकान तो महसूस ही नहीं होती। इस पगडंडी के बारे में कहा जाता है कि सन १९०१ में तत्कालीन वायसराय लार्ड कर्जन के आने के लिए इसका निर्माण हुआ था। बीच

रहस्य-कथाओं से आवृत्त रूपकुंड के तट पर खड़े यात्री

रास्ते में एक जगह है अखोड़ी-घराट, जहां से एक रास्ता दिदिणा गांव होते हुए बुग्याल के लिए निकल जाता है और सीधा रास्ता वाण के लिए। दिदिणा के लिए एकदम सीधी चढ़ाई है। और हम लोगों की हिम्मत उस रास्ते जाने की बिलकुल भी नहीं थी। इधर वाण ग्राम का भी लालच था जो कि चमोली ज़िले का सीमांत गांव होने के कारण अपने आप में कई खूबियां लिये हुए था।

८००० फुट की ऊंचाई पर तीन पहाड़ों की गोद में बसा यह गांव जनसंख्या और क्षेत्रफल की दृष्टि से काफी बड़ा है। यहां लड़की के जन्म पर खुशी मनायी जाती है; क्योंकि विवाह पर लड़कों से लड़की की कीमत मांगी जाती है। विवाहित लड़की पहला पति पसंद न आने पर दूसरे घर जा सकती है, बशर्ते दूसरा आदमी उसके पहले आदमी को उसके मन मुताबिक पैसा दे दे। अगर पहला घर छोड़ते समय उसके बच्चे हों तो लड़की को वह अपने अधिकार में कर लेती है और लड़के को पति को सौंप देती है। तीन हज़ार से पांच हज़ार तक लड़की की कीमत आंकी जाती है।

वाण में रहने के लिए वन-विभाग का एक विश्राम-गृह देवदार वृक्षों से घिरा एक टीले पर बना है। इसकी बगल से ही एक रास्ता कुछ नीचे उतरकर फिर चढ़ाई की शुरुआत करता हुआ वैदिनी बुग्याल को निकल जाता है

वैदिनी बुग्याल। हरी हरी-घासों के लंबे-चौड़े मैदान जो हिमशाद्वल के नाम से भी जाने जाते हैं। 'वाण' गांव से १४ कि. मी. की दूरी पर १२५०० फुट की ऊंचाई पर। रास्ता अत्यंत मनोरम, और नीरवता ऐसी कि जिसमें नदी का कलरव भी मनुष्य को चौंका दे। गांव से कुछ ही चढ़ाई चढ़ने के बाद हम लोग उतर पड़े एक घाटी में, जहां से लकड़ी के चरमराते पुल की मदद से एक गधेरे (पहाड़ी नाला) को पार

किया। क्षणिक विश्राम के बाद बेहद लंबी चढ़ाई का जो सिलसिला शुरू हुआ उसका अंत फिर डोल्याधार में ही हुआ। चारों ओर से रिंगाल के पेड़ों से घिरा हुआ यह स्थल थके हुए यात्री के लिए वरदान है।

अब अंधेरा होने में ज्यादा देर नहीं थी। दूर ही से सपाट मैदानों का सिलसिला शुरू हो गया था। बड़े-बड़े वृक्ष मानो अपने-अपने स्थानों पर ठिठक गये हों। यहां से फिर मखमली घासों का साम्राज्य शुरू हो जाता है और यही मैदान 'बुग्याल' के नाम से जाने जाते हैं जो अपने गर्भ में न जाने कितनी महत्त्वपूर्ण जड़ी-बूटियों को समाहित किये हुए हैं। यहां पर कस्तूरा मृग बहुतायत में विचरण करते हैं। पर लालची शिकारी लोग पैसे की खातिर इन मासूम मृगों की हत्या करने से भी बाज़ नहीं आते।

बुग्याल में टीन की बनी दो टापूनुमा झोपड़ियां हैं, जो यहां निर्वासित-सी लगती हैं। कुछ ही दूर पर पत्थरों से निर्मित दो मंदिर हैं। चारों ओर से पत्थरों से घिरा एक तालाब भी। पर उसमें पानी नाममात्र को भी नहीं है। हां, कुछ आगे पानी की मोटी-सी धार पत्थरों पर फिसलती-सी दिखलाई पड़ती है। यही पानी की धार वैतरणी नाम से जानी जाती है और यही उसका उद्‌गम-स्थल है।

सुबह हम लोग जल्दी ही जाग गये थे। सूर्य निकलने से पूर्व ही सामने की ओर चांदी के दो टुकड़े चमकने लगे थे जो क्रमशः नंदाघुंटी और त्रिशूल की चोटियां थीं। सूर्य-किरणें चुपके-चुपके अब उन पर सरकने लगी थीं। माथे को सहलाते-सहलाते सुर्ख लाल होती हुई इन चोटियों का जो दृश्य हमने देखा, वह अभूतपूर्व था।

हमारे बायें हाथ की ओर चौखंबा, नीलकंठ, हाथी पर्वत अलग ही इठला रहे हैं। लुभा रहे हैं हमें! आगे का लंबा रास्ता सामने है! मौसम का भी कोई भरोसा नहीं। जल्दी से पेट में कुछ ठूंसकर कंधों पर पिठ्ठू लटकाये मखमली घासों को रौंदते हम आगे बढ़ गये—अपने अगले पड़ाव के लिए। बुग्याल से आगे के रास्ते में ज्यादा चढ़ाई तो नहीं है: पहाड़ों के सीने को चीरती हुई एक पतली-सी पगडंडी है। पैर जैसे भारी होते जा रहे हों। एक-एक कदम आगे बढ़ना मुश्किल होता जा रहा है।

घोड़ालटचूण पर विश्राम के बाद हम लोग पातरनाचनी के लिए चल पड़े। पातरनाचनी से जब हम लोग आगे बढ़ने लगे तो हिमपात शुरू हो गया था। बुग्याल के बाद अब सभी स्थान हिमरेखा से ऊपर, वनस्पति-विहीन हिमक्षेत्र में हैं। पातरनाचनी से कैलवा विनायक तक की एकदम खड़ी चढ़ाई ने तो हमारी कमर ही तोड़ दी। कैलवा एक छोटा-सा समतल मैदान है जो गणेश की एक भव्य प्रस्तर प्रतिमा संजोये है और इसीलिये इसका नाम कैलवा विनायक पड़ा है। अचरज हुआ कि १४००० फुट की ऊंचाई पर विनायक यहां कैसे लाये गये होंगे, जबकि आदमी का आना

गई

यहां मुश्किल हो जाता है।

गणेशजी को प्रणाम कर हम लोग वग्गुवासा की ओर बढ़ने लगे। हिमपात जारी था। रास्ता बर्फ की मोटी तह के नीचे न जाने कहां विलीन हो चुका था। घवराहट में कभी-कभी पैर फिसल जाते। बैठे-बैठे ही हमें १ कि. मी. का बर्फीला रास्ता तय करने में घंटा लग गया। एक विशाल चट्टान बर्फ से सिर निकाले झांक रही थी। शायद यही वह गुफा है जो वग्गुवासा या वगुड्यार के नाम से जानी जाती है।

गुफा का प्रवेश द्वार नदारद था। चारों ओर बर्फ ही बर्फ। थोड़ी ही देर में एक साथी ने बर्फ को काटकर प्रवेशद्वार खोज लिया था। पूरा शरीर ठंड से अकड़ने लगा था। पैर तो जैसे लकवाग्रस्त हों। जल्दी ही हम लोग गुफा के अंदर हो लिये। हिमपात अभी भी जारी था। प्रवेश द्वार फिर से न ढंक जाये, इसलिये बारी-बारी से बर्फ हटाने का काम हमने एक-दूसरे को सौंपा।

खैर, हिमपात रात्रि में कब बंद हुआ, पता ही नहीं चला। प्रवेश द्वार भाग्य से ही खुला था। बर्फ को गलाकर कुछ पानी साथ में लेकर अब लोग चल पड़े यात्रा के अंतिम पड़ाव के लिए। बर्फ को रौंदते, जगह जगह फिसलते, करीबन दो घंटे की दुर्गम यात्रा के बाद अब हम रूपकुंड के कगार पर खड़े थे। १६००० फुट की ऊंचाई पर स्थित कगार के एक ओर ज्यूरागली है तो दूसरी ओर मीलों लंबा बर्फीला मैदान। ज्यूरागली के बारे में कहा जाता है कि लोग इस कगार से नीचे कुंड में कूदकर आत्मघात करते थे, पर मुझे नहीं लगता कि आत्महत्या करने के लिए लोग इतनी दूर आते रहे होंगे। यहां पहुंचकर तो कृतसंकल्प आत्मघाती भी अपना संकल्प पलट ही देगा।

३०० फुट गहरा यह कुंड पूरी तरह बर्फ से ढंका था। हम लोग पानी की तलाश में कुंड में उतरे तो निराशा ही हाथ लगी। ऊपरी तह में ताजा बर्फ व उसके नीचे काली ठोस बर्फ की परतें ही हमें नजर आयीं। एक जगह इसी तलाश में हमें आदमी के कूल्हे का हिस्सा दिखाई दिया। मांस भी हड्डियों से चिपका पड़ा था, पर एकदम भूरा पड़ गया था। मेरे दो साथी खोजबीन में लगे थे कि शायद कोई महत्त्वपूर्ण चीज हाथ लग जाये। पर इस बर्फ के स्तूप में उन वस्तुओं को खोज पाना समुद्र में सीपी खोजने जैसा ही था। इसलिए मैं तो एक चट्टान पर बैठा-बैठा इस मायावी सरोवर के इतिहास के बारे में सोचने लगा।

ज्योरागली से उतरकर शिला समुद्र होते हुए होमकुंड (त्रिशूली के पाद प्रदेश) जाने की भी योजना हम लोगों की थी। पर अत्यधिक हिमपात से सारा रास्ता ही अस्तव्यस्त हो गया था। अब और ज्यादा दुस्साह करना मौत को निमंत्रण देना था। इसलिये हम लोगों ने और आगे जाने का विचार वहीं पर त्याग दिया।

—नेशनल इंटरकालेज, रानीखेत-२६३६४५

□

डॉ. एम. ए. मार्शेट्टी का एक भविष्यदर्शी लेख

□

विज्ञान और चेतना का भविष्य

भौतिकवादियों का दावा है कि ब्रह्मांड में कोई जीवन नहीं है, सिर्फ़ पदार्थ है। जीवन वास्तव में गतिमान पदार्थ ही है। भौतिकवादियों का जगत से 'सचेत-बुद्धि की मध्यस्थता' को हटाने का प्रयास कपिल नाम के निरीश्वरवादी दार्शनिक के साथ आरंभ हुआ था। (ये कपिल भगवान के वे अवतार नहीं थे, जिन्होंने ईश्वरवादी सांख्य दर्शन का प्रतिपादन किया था।) तब से यूनानी परमाणुवादियों और हाल ही में मार्क्स ने जगत के सम्बन्ध में ऐसे ही विचारों का प्रतिपादन किया है। हकीकत यह है कि आज भौतिकवादी दर्शन के अधिकांश प्रस्तावक या तो वैज्ञानिक हैं, या कम्यूनिस्ट।

वैसे, यह बात स्पष्ट करनी आवश्यक है कि सब वैज्ञानिक भौतिकवादी दर्शन के समर्थक नहीं है, और इस दर्शन का विज्ञान से कोई सम्बन्ध है भी नहीं। अधिकांश शिक्षार्थियों को विद्यालयों में वैज्ञानिक भौतिकवाद का सिद्धांत सिखाते समय उस विभेद-रेखा के बारे में नहीं बताया जाता, जो दर्शन और विज्ञान के बीच में अभी तक बनी हुई है, मगर इतनी अस्पष्ट नहीं है। तथापि ऐसे दार्शनिक भी हैं, जिन्हें वैज्ञानिक भी माना जा सकता है, क्योंकि उनके निर्णय प्रयोगों पर आधारित होते हैं।

वैज्ञानिक भौतिकवादी सिद्धांत को मान्यता नहीं देते; क्योंकि उन्हें इस सिद्धांत का परिचय दर्शन के रूप में नहीं, एक वैज्ञानिक तथ्य के रूप में कराया जाता है। इस प्रकार, चिन्तन में विकृति आती है, और फलस्वरूप चूक होती है, तर्कणा दोषपूर्ण हो जाती है, और संकुचित दृष्टिकोण पर आधारित प्रयोगों के आधार पर सिद्धांत का समर्थन करने का एक प्रयास होता है।

उदाहरणार्थ, सर्वाधिक प्रत्यक्ष प्रेक्षण यह है कि हम चेतन हैं और हमारी चेतनता उन पदार्थों से सम्बन्धित है, जो हमें चारों ओर दिखायी देते हैं। हमारे सामने ऐसे प्रमाण नहीं हैं, जिनके बल पर हम यह मान सकें कि हमारा व्यक्तित्व अमानवीय परमाणुओं और अणुओं में परिणत हो सकता है। यह विशुद्धरूप से कुछ दर्शकों का एक मानसिक पूर्वाग्रह है। सारे ब्रह्माण्ड में, और कम-से-कम पृथ्वी पर तो हम जीवन (चेतना) और पदार्थ दोनों को देखते हैं।

मार्च

भौतिकवादी चेतना को भी मानते हैं, और पदार्थ को भी। उनकी अभिधारणा है कि चेतना का जन्म भौतिक तत्त्वों के संयोजन से होता है। किन्तु, कोई भी प्रयोग भौतिकवाद के केन्द्रीय सिद्धांत का समर्थन नहीं करता। ना ही ऐसा कोई संकेत या स्पष्टीकरण ही मिलता है, जो यह समझा सके कि जड़ एलेक्ट्रॉन और प्रोटोन आदि कैसे सचेतन बोध को जन्म दे सकते हैं। इसके बाद हमारे सामने यही मानने का विकल्प शेष रह जाता है कि यह कथन, जिसे अभी तक समझाया नहीं जा सका है कि चेतना का जन्म पदार्थ से होता है, महज़ एक सिद्धांत है, कोई वैज्ञानिक निष्कर्ष नहीं।
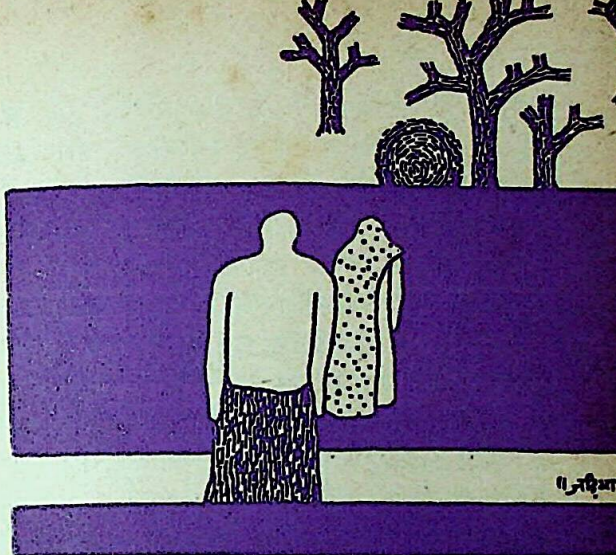
वास्तविकता यह है कि हमें प्रकृति में जीवन (चेतना) और पदार्थ दोनों के दर्शन होते हैं। पदार्थ की हमारी व्याख्या यह है कि वह अचेतन है, और जीवन चेतन है। इन दोनों व्याख्याओं का अंतर ही इस बात का परिचायक है कि दोनों अस्तित्व की अलग-अलग श्रेणियां हैं। गणितीय दृष्टि से देखा जाये तो जीवन का पदार्थ से जन्म लेना असम्भव ही है। किसी वैज्ञानिक प्रयोग को इस कथन के समर्थन में पेश नहीं किया जा सकता। रसायनों की पारस्परिक क्रिया के परिणामस्वरूप रसायनों का ही जन्म होता है, चेतना का जन्म होते आज तक नहीं सुना गया। फिर वैज्ञानिकों के मन में यह बात आयी कैसे कि जीवन का जन्म पदार्थ से हुआ।

जीवन और पदार्थ की पारस्परिक क्रिया

यदि हम इस पूर्वानुमान से आरंभ करें कि जीवन और पदार्थ एक ही स्रोत से निकलने वाली दो पृथक ऊर्जाएं हैं, तो ब्रह्माण्ड में होने वाले प्रत्येक अनुभव को जीवन और पदार्थ की पारस्परिक क्रिया के रूप में समझा जा सकता है। हमारा शरीर परमाणुओं से बना एक ऐसा यंत्र है, जो प्राकृतिक नियमों के अनुसार कार्य करता है। चेतना का सम्बन्ध शरीर में विद्यमान एक अ-पदार्थ कण से है, ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार एलेक्ट्रानों का सम्बन्ध वैद्युत और चुम्बकीय क्षेत्रों से होता है। यह अध्ययन कि मस्तिष्क की कोशिकाएँ चेतना, चिन्तन, भावना या संकल्प को कैसे जन्म देती हैं, उतना ही व्यर्थ है,

जितना रेडियो के अंगों का अध्ययन करके यह जानने का प्रयास करना कि वे समझदारी से भरी बातचीत कैसे पैदा कर सकते हैं। यह समझदारी रेडियो तक पहुंचाने का कार्य एक चेतन कर्ता करता है। ऐसा ही सम्बन्ध चेतना और शरीर के बीच है।

हम जो उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं, उसमें प्रकृति के सम्पूर्ण विनिर्देशन के लिए इन पांच तत्वों की आवश्यकता पड़ती है: ऊर्जा का स्रोत, चेतना, पदार्थ, काल और कर्म। चूंकि भौतिकवाद का सम्बन्ध पदार्थ (मूलभूत कण), काल और कर्म (क्रिया के क्वान्टम) से ही है, इसलिए भौतिकवाद में जो भी सत्य है, वह इस नये उदाहरण में सुरक्षित है। यह सत्य हमारी समझ में एक नये आयाम की वृद्धि भी करता है।

भौतिकवादियों के अनुसार, पदार्थ प्रत्येक तात्कालिक और योग्य कारण के मूल में है। पर यह कथन विरोधाभासपूर्ण है, क्योंकि यदि हम यह कहते हैं कि पदार्थ ऊर्जा है (भौतिक ऊर्जा) तो हमें उस ऊर्जा से स्रोत की बात भी करनी होगी। स्रोत के बिना ऊर्जा की कल्पना भी नहीं की जा सकती। दूसरे शब्दों में प्रकाश का स्रोत या तो बिजली का बल्ब होना चाहिये, या सूरज। ताप कुण्डल से आता है, और गतिज ऊर्जा गतिमान प्रस्तर से। आज के विज्ञान का सबसे भयंकर दोष यही है कि वह बिना स्रोत के भौतिक ऊर्जा की बात करता है।

अग्नि को लीजिये। उसमें एक ही स्रोत से दो ऊर्जाओं—ताप और प्रकाश—का जन्म होता है। दोनों मूलतः अलग-अलग ऊर्जाएं हैं। अब, जिस प्रकार अग्नि में इन दोनों ऊर्जाओं के लक्षण मौजूद हैं, उसी प्रकार अचेतन (पदार्थ की ऊर्जाओं) में उसकी दोनों ऊर्जाओं के लक्षणों का होना लाजिमी है। इससे यह संकेत मिलता है कि ऊर्जाओं के स्रोत में 'कौन' के अलावा 'क्या' का भी समावेश है।

हम एलेक्ट्रॉन्स को कभी सीधा नहीं देख पाते। मात्र पदार्थ के साथ उनकी पारस्परिक क्रिया से ही, जैसे मेघ-कक्ष में, हमें उनकी उपस्थिति का संकेत मिलता है। चेतना का संकेत भी हमें इसी प्रकार पदार्थ के साथ उसकी निराली पारस्परिक क्रिया से ही मिलता है। आधुनिक विज्ञान में भी, पदार्थ-तत्त्वों की अ-पदार्थ तत्त्वों से पारस्परिक क्रिया असाधारण नहीं है। 'प्राकृतिक नियमों' का अस्तित्व किसी भौतिक तत्त्व के रूप में नहीं है, फिर भी इस बात से कौन इन्कार करेगा कि उनका अस्तित्व नहीं है, या वे पदार्थों को प्रभावित नहीं करते। अतएव चेतना की, अ-पदार्थ होते हुए भी, पदार्थ के साथ पारस्परिक क्रिया हो सकती है, और इसमें किसी भी मान्य वैज्ञानिक व्यवहार का उल्लंघन नहीं होता। इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि नयी-नयी धारणाएं सामने आती जा रही हैं, तथापि सुपरिचित वैज्ञानिक सिद्धांतों का स्थान ज्यों-का-त्यों है। चूंकि प्रतिमान बदल

गया, इसलिए विज्ञान को बाहर फेंक देने का कोई डर पैदा नहीं होता। विज्ञान के इतिहास पर दृष्टिपात करने पर, हमें इस बात का पता चल जाता है। हमें डर है सिर्फ़ उन असंगत पूर्वाग्रहों से जो वैज्ञानिक अपने मन में पाल लेते हैं। इस संदर्भ में मैक्स प्लान्क के इस प्रसिद्ध कथन की याद अनायास आ जाती है। 'किसी नये वैज्ञानिक सत्य की विजय उसके विरोधियों को क़ायल कर देने से नहीं होती, वह तब होती है, जब इन विरोधियों का अंत हो जाता है, और एक नयी पीढ़ी बड़ी होकर उससे परिचित होती है।' भौतिकवाद भी उतना ही प्रतिकूल है, जितना अध्यात्मवाद; नास्तिकता भी आस्तिकता के समान ही एक 'धर्म' है। हर वैज्ञानिक को सब पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर, तर्क और दर्शन के आधार पर अपने निष्कर्षों को निश्चित करना चाहिये। जब तक उसे उपयुक्त सूचना न मिले, उसे समस्या के दोनों पक्षों को युक्तियुक्त समझना होगा।

जीवन का अवमूल्यन

यह दावा कि जीवन की उत्पत्ति पदार्थ से हुई है और जीवन की रचना किसी प्रयोगशाला में कुछ रसायनों द्वारा हो सकती है, मानव-समाज के सारे ढांचे को ही गड़बड़ा देते हैं। आज अमरीका में जितने जन्म होते हैं, उससे कहीं अधिक गर्भपात होते हैं। गर्भपातों में वृद्धि और वैज्ञानिकों की इस मान्यता में कि जीवन साधारण रसायनों का योग ही है, कोई सम्बन्ध न देख पाना न सिर्फ़ अंधापन है, बल्कि पागलपन भी है। अमरीकी अब 'वैज्ञानिक' रूप से यह सोचने लगे हैं कि भ्रूण को एक मामूली कील की भांति हटाया जा सकता है।

१९७५ में एक अमरीकी मनोवैज्ञानिक डाक्टर पी. कैमरन ने वाशिंगटन के निकट स्थित एन्ड्रूज़ एयर फोर्स के पास रहने वाले प्रायः २०० व्यक्तियों से, और मेरीलैण्ड स्थित सेंट मेरी काउन्टी के ४५२ व्यक्तियों से यह प्रश्न पूछा था—'एक काले बक्से के अंदर एक आदमी बंद है। आप एक बटन दबाकर उसे आसानी से इस प्रकार मार सकते हैं कि किसी को उसका पता न चले। बताइये, आप इस काम के लिए, कम-से-कम, कितनी राशि लेना चाहेंगे?'

अपने इस प्रश्न के उत्तर में डाक्टर कैमरन को जो उत्तर मिले, उनसे पता चलता है कि अमरीकी समाज में जीवन को कितना सस्ता और तुच्छ समझा जाने लगा है। लोगों ने २०,००० डॉलर से लेकर ५०,००० डॉलर तक की अपेक्षा व्यक्त की। जीवन का यह अवमूल्यन वैज्ञानिक भौतिकवादी सिद्धांतों के अधिकाधिक प्रसार का ही सीधा परिणाम है। आज हम स्कूलों में अन्य वैज्ञानिक दर्शनों की शिक्षा देने के स्थान पर, इन्हीं सिद्धांतों की शिक्षा देना ज्यादा पसंद करते हैं।

हिप्पी जैसा हताश-निराश वर्ग आज के उसी अमरीकी समाज की ही देन है, जो इन
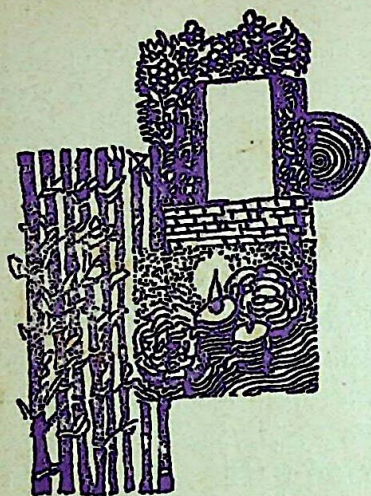
सिद्धांतों में विश्वास करता है। युवावर्ग में यह कुंठा और निराशा इसलिए व्याप्त है कि आध्यात्मिक संस्कृति के अभाव में (जिसका नकार भौतिकवादी शिक्षा करती है) उन्हें अपने जीवन में कोई उद्देश्य दिखायी नहीं देता। और, आध्यात्मिक संस्कृति की इस वर्ग को आवश्यकता है, यह इसी बात से सिद्ध होता है कि अमरीका में धार्मिक और सांस्कृतिक संस्थानों की लहर-सी आ गयी है, और वे युवा-वर्ग में बहुत लोकप्रिय हैं।

इसके अतिरिक्त, हमें यह भी याद रखना होगा कि अति समृद्ध अमरीकी समाज की स्थापना ही एक दृढ़ आध्यात्मिक वचन-बद्धता के आधार पर हुई थी। 'हमारी भगवान में आस्था है,' यह वचनबद्धता बाद में भुला दी गयी, और उसको मन में प्रतिष्ठित करने के स्थान पर डॉलर-बिल पर प्रतिष्ठित कर दिया गया। वैसे, सैद्धांतिक रूप से, अमरीका की सामाजिक और नैतिक संरचना इसी वचनबद्धता पर आधारित है। भारत की प्राचीन वैदिक संस्कृति में मंदिर समुदाय के कलात्मक, सांस्कृतिक, आर्थिक, सामाजिक और नैतिक मूल्यों का केन्द्र था। मध्यकाल में यही बात चर्च के साथ भी सच थी।

वस्तुतः, मानव ने जो लंबी प्रगति-यात्रा की है, उसकी शुरुआत ही आध्यात्मिक आधार से हुई थी। और आज हमें विश्व में जो राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक अशांति और अव्यवस्था दिखायी देती है उसका कारण यही है कि उस आध्यात्मिक आधार पर कई बार कुठाराघात हुआ है। उदाहरणार्थ, अंग्रेजी राज ने वैदिक संस्कृति को समूल नष्ट करने का प्रयास किया, और आज भारत को जिन अनगिनत समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है, कारण उसका यही है कि भारत में वैदिक संस्कृति का ह्रास हो गया था।

जॉन स्टीनबैक ने भौतिकवाद के उदय और मानवीय संस्कृति के सहवर्ती ह्रास को 'हमारे असंतोष का शीत-काल' कहा है। नवीन आशा का शुभचिह्न यही है कि मानव-इतिहास के इस शीत-काल की शीघ्र ही समाप्ति हो जायेगी, और उसके स्थान पर एक नयी आध्यात्मिक संस्कृति की वसंत ऋतु आयेगी।

अमरीकी दार्शनिक माइकेल पोलान्यी ने वैज्ञानिक भौतिकवादी सिद्धांत के सर्व-

(शेषांश पृष्ठ १५७ पर)

रवीन्द्रनाथ त्यागी का परिहास-लेख

विज्ञापन कविता

हिंदी कविता और विज्ञापन का बड़ा पुराना संबंध है। सुमित्रानंदन पंत अपने काव्यग्रंथों की भूमिका को विज्ञापन के नाम से ही लिखा करते थे। उनके द्वारा लिखे विज्ञापनों में 'कला और बूढ़ा चांद' का विज्ञापन सर्वथा प्रखर और अमर है और इस परम रहस्य का कारण यह है कि यह विज्ञापन मात्र एक पंक्ति का है। पंतजी के अतिरिक्त कुछ शहरों के टैक्सी या स्कूटर-चालक भी कविता और विज्ञापन का पारस्परिक संबंध काफ़ी खुले तौर पर प्रकट करते हैं जो कि हिंदी के हित में है। दिल्ली में एक भाड़े के स्कूटर पर लिखा था : 'खुश रहो अहले वतन, हम तो सफर करते हैं।' इसी प्रकार जहां काफ़ी लोग 'बुरी नजर वाले, तेरा मुंह काला' का भरत-वाक्य लिखते हैं, वहां ऐसे काव्य-प्रेमी स्कूटर वाले भी हैं जो कवि की पूरी कविता को ही आपके लिए लिख डालते हैं। एक टैक्सी पर लिखा था : 'लाई हयात आये कजा ले चली चले। अपनी खुशी न आये न अपनी खुशी चले।' इसी प्रकार एक और टैक्सी पर लिखा था : 'हमें खो के क्या आप कुछ पाइयेगा, कमी एक महसूस फ़रमाइयेगा। हमीं जब न होंगे तो क्या रंगे महफ़िल, किसे देखकर आप शरमाइयेगा।'

चित्र : सतीश चव्हाण

मुझे आपको यह सूचना देते हुए हर्ष होता है कि विज्ञापनों में हिंदी कविता का प्रयोग इधर काफ़ी ज़ोर पकड़ रहा है। जिस भांति विदेशों में स्थित हमारे दूतावासों को हिंदी की प्रगति के लिए दिये गये अनुदानों का सही इस्तेमाल देखने के लिए काफ़ी संसद-सदस्य व आला अफ़सर विदेश गये, ठीक उसी प्रकार विज्ञापनों में कविता का प्रयोग भी हिंदी के हित में एक ठोस क़दम होगा। विदेशों में स्थित हमारे दूतावासों को लगभग तीन लाख रुपयों की राशि प्रतिवर्ष दी जाती है, ताकि
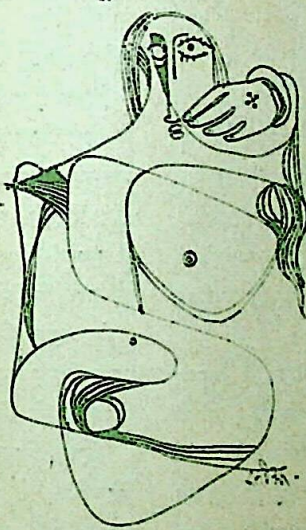
वे हिंदी की प्रगति कर सकें, जब कि ऊपर बताये गये शिष्टमंडल ने अपने दौरों पर केवल पचहत्तर लाख रुपये ही खर्च किये। अब आप ही बताइये कि हिंदी की प्रगति के लिए सरकार और विपक्षी दल इससे ज़्यादा और क्या कर सकता है? तीन लाख रुपये का सही इस्तेमाल दखने के लिए सिर्फ़ पचहत्तर लाख का खर्चा?

जब सरकारी क्षेत्र हिंदी में इतनी रुचि ले रहा हो तो गैरसरकारी क्षेत्र ही क्यों पीछे रहे? उसने विज्ञापनों में कविता का प्रयोग शुरू कर दिया। जिसके कुछ गिने-चुने उदाहरण मैं नीचे प्रस्तुत करता हूं। इन उदाहरणों से प्रकट होगा कि छायावादी कविता, रहस्यवादी कविता, प्रयोगवादी कविता, नयी कविता और अ-कविता के बाद अब जो नयी कविता लिखी जायेगी वह विज्ञापन कविता होगी।

एक बैंक ने अपने विज्ञापन में लिखा है: 'एक ने कही दूजे ने मानी। दोनों का लाभ, दोनों ज्ञानी। दोनों ने अब बचत की ठानी।' एक बस की बाडी पर लिखा था: 'कुदरत की बनायी चीज नहीं, इंसानी अक्ल पर एतबार न कर। गर हो जाये कहीं लेट गाड़ी, नाराज न हो, तकरार न कर।' एक बिस्किट कंपनी के विज्ञापन में छपा है: 'कोई कहे मीठे हैं कोई कहे नमकीन। क्रैक जैक के स्वाद में खो जायें सब लेकिन!'

माथे पर लगाने की बिंदी के विज्ञापन में दो हसीन लड़कियां खड़ी हैं और एक जो अनुभव वाली है वह दूसरी अज्ञा[त]-यौवना को बता रही है: 'जब मन है शोख अदाओं से लुभाने का। तभी व[क्त] है ये मासूम बिंदिया लगाने का।' खादी ग्रामोद्योग कमीशन द्वारा मान्यता प्राप्त एक पापड़ की फैक्टरी ने नरेंद्र शर्मा की 'गीतमेघ' नाम की पूरी कविता उनके नाम के साथ उद्धृत की है, जो पापड़ से भी शायद ज़्यादा स्वादिष्ट है। नरेंद्र शर्मा का नाम देखकर लगता है कि भविष्य में बाकी कवि भी विज्ञापन-कविता लिखेंगे जिससे कि आंदोलन शुरू [हुआ] है वह जड़ पकड़ेगा। इसी प्रकार राज-स्थान सरकार के एक विज्ञापन में छपा है: 'उत्तर धरा पर इंद्रधनुष जब आता है सतरंगी। कृष्ण-नयन नारियां नाचें होकर निपट मलंगी।' इस पंक्ति के तुरंत बाद लिखा है कि जो लोग ज़्यादा जानकारी चाहते हों वे राजस्थान टूरिज़्म विभाग से निकट संपर्क स्थापित करें।

मेरा विचार है कि हिंदी कविता का विज्ञापन के क्षेत्र में अभी बहुत उपयोग होना है। शराब की दुकानें बच्चन की मधुशाला का और पांच सितारों वाले होटल बच्चन की मधुबाला का खुलकर इस्तेमाल कर सकते हैं। ऐसा करने से शायद बच्चनजी भी काफ़ी खुश होंगे। मोमबत्ती की फ़ैक्टरियां महादेवी की 'मदिर-मदिर मेरे दीपक जल। प्रियतम का पथ आलोकित कर' वाली कविता का

उपयोग कर सकती हैं। छाता या बरसाती बेचने वालों के लिए तो अज्ञेय लिख ही गये हैं : 'कल मैंने बसंत में वर्षा को देखा। छाता एक, एक बरसाती। साथ-साथ जाते बतियाते।' आंखों के डाक्टर भी धर्मवीर भारती के अंधायुग से प्रेरणा ले सकते हैं; क्योंकि 'वह कथा ज्योति की है अंधों के माध्यम से'। खाद बेचने वाली कंपनियां तो जगदीश गुप्त पर ज़रूर ध्यान देंगी—खासकर उस गीत पर जहां उन्होंने कछार के खेतों का वर्णन किया है। 'हरे खेत कछार के। कुछ धार के इस पार के, कुछ धार के उस पार के। हरे खेत कछार के।' मिल्क फूड वाले जगदीश गुप्त का चित्र भी छाप सकते हैं और कह सकते हैं कि हमारा मिल्क फूड खाइये और जगदीशजी जैसे तगड़े कवि बनिये। कुछ देर हो गयी वर्ना 'पीयर्स सोप' और 'विक्स इनहेलर' वाले पंतजी का चित्र भी छाप सकते थे और कह सकते थे कि पंतजी के काव्य सौंदर्य का रहस्य उनके साबुन और इनहेलर में छिपा है। जैसे ही उन्होंने पीयर्स सोप छोड़ा वैसे ही वे लोकायतन लिखने बैठ गये।

मेरा निश्चित मत है कि 'विज्ञापन कविता' चलेगी और ख़ूब चलेगी। वैसे भी विज्ञापन और कविता में जो अंतर था, वह भी धीरे-धीरे मिटता ही जा रहा है। यह उचित ही होगा कि इस शोध-प्रबंध का अंत मैं एक विज्ञापन कविता से ही करूं। यह विज्ञापन रंग बनाने वाले एक कारखाने ने दिया है और 'हर ऋतु के रंग। इमल्शन के संग' का नारा बुलंद करते हुए यह कहता है :

खेल खेल में पूछ बैठी राधा
हमारे मिलन में बनती है जो बाधा
वो कितनी सुंदर है? एक सवाल सादा
जिसमें ईर्ष्या थी आधी और विश्वास आधा
फेर लिया मुंह, लाल-पीला हो उठा श्याम
युग समान दिन तपता गया और तपी शाम
झुलस रहे थे दोनों लिये मन में संग्राम
युगों-युगों से चलता आया ग्रीष्म जिसका नाम
बात-बात में रूठे हैं, श्याम कहो या राम
विश्वास है मेरा, फिर बरसेगा घनश्याम

—सी. डी. ए. (वायुसेना) का दफ्तर,
१०७ राजपुरा रोड, देहरादून

□

गांधीवाद ग़लत हो तो उसका अवश्य ध्वंस हो। सत्य और अहिंसा कालजयी हैं। गांधीवाद अगर किसी संप्रदाय विशेष का ही नाम हो तो उसका ध्वंस होना ही उचित है। मृत्यु के बाद अगर मुझे पता चले कि जिंदगी में मैंने जो कुछ किया, वह महज़ संप्रदाय बन गया तो इसके लिए मुझे गहरा दुःख होगा। हमें मूक भाव से अपना कार्य करना चाहिये। कोई अपने आपको गांधी का अनुयायी न बताये। खुद मैं ही अपना अनुयायी बन पाऊं, यही बहुत है। मैं स्वयं ही अपने आपका कितना कमज़ोर अनुयायी सिद्ध हुआ हूं, यह बात मैं ही जानता हूं। मैं अपनी मान्यताओं के अनुसार व्यवहार नहीं कर पाता। आप सब मेरे अनुयायी नहीं, बल्कि सहयात्री हैं, सहशोधक हैं, साथी हैं। —महात्मा गांधी

तुलसी :
अनेक रोगों की एक चमत्कारिक औषध

☐ सदाजीवतलाल बहल

०

अपनी उपमा को स्वयं अनुपम होने से सहन न कर सकने वाली तुलसी 'विष्णु प्रिया' तो हैं ही, अनेक साधारण तथा महारोगों का निवारण करने वाली चमत्कारिक महा-औषधि भी है। तुलसी के सेवन से किन-किन रोगों का किन-किन विधियों से उपचार संभव है, पढ़िये इस ज्ञानवर्धक और उपयोगी लेख में।

०

आठ साल का एक रोगी इण्ट्रा टेकियल कैंसर से पीड़ित था। शल्यक्रिया और कोवाल्ट बम के उपचार के बाद भी जब उसे कोई लाभ नहीं हुआ, तो डाक्टरों ने उसके रोग को 'असाध्य' घोषित कर दिया।

रोगी ने फिर भी आशा नहीं छोड़ी। एक और विशेषज्ञ के पास गया। इस डाक्टर ने कहा, 'यकृत खराब हो रहा है, और यक्ष्मा ने भी अपना प्रभाव दिखाना आरंभ कर दिया है।'

सब ओर से हताश और निराशान्ध रोगी, एक वैद्य की सलाह पर तुलसी की शरण में आया। पांच सप्ताह तक तुलसी का इलाज करने के बाद, वह इतना स्वस्थ हो गया कि एक मील तक चल सके।

कैंसर के ही एक अन्य रोगी का घाव रेडियम-चिकित्सा और शल्यक्रिया के बाद भी भरने में नहीं आ रहा था। सब ओर से निराश होकर यह रोगी भी तुलसी की शरण में आया। तुलसी के इलाज से उसका घाव भरना आरंभ हो गया।

योनि-कैंसर से पीड़ित, एक साठ वर्षीय महिला को भी डाक्टरों ने रेडियम और कोबाल्ट-चिकित्सा द्वारा रोग-मुक्त न होता देखकर, असाध्य रोगियों की सूची में शामिल कर लिया। तुलसी के इलाज ने ऐसा चमत्कार दिखाया कि दस दिन के इलाज के बाद, उनका रक्त स्राव और कष्ट काफ़ी कम हो गया। और इलाज के पचास दिन बीत जाने पर, कष्ट और रक्तस्राव तो बिलकुल बंद हुए ही, श्लेष्मा और रिसता घाव भी ठीक हो गया।

इन तीन उदाहरणों से यह निष्कर्ष निकालना तो बड़ा कष्टकल्पित होगा कि

चित्र : चंदुलाल सांकला

तुलसी से कैंसर का इलाज संभव है, पर यह मानने में कोई हर्ज नहीं दिखायी पड़ता कि कैंसर के असाध्य हो जाने पर भी, तुलसी का उपचार उसके कष्टों और लक्षणों को काफ़ी कम कर देता है।

कैंसर के अलावा अन्य कष्टदायक और असाध्य माने जाने वाले रोगों में भी तुलसी के सेवन से आश्चर्यजनक लाभ दिखायी पड़ा है।

तुलसी के उपचार से हृदयरोग से पीड़ित कई रोगियों का उच्च रक्तचाप सामान्य हुआ, हृदय की दुर्बलता कम हुई, और रक्त में चर्बी की वृद्धि कम होनी आरंभ हुई। ऐसे कुछ रोगियों को पहले पहाड़ी स्थानों पर जाने की मनाही थी, पर तुलसी के उपचार के बाद, वे मज़े से पहाड़ी स्थानों पर रहने गये।

पचास वर्ष का एक रोगी श्वास रोग (Asthma) वृहदांत्र-शोथ (Colitis) और सितकोशातिवृद्धि (Leucocytosis) इन तीन गंभीर रोगों से पीड़ित था। उसकी आंतें भी खराब हो गयी थीं। तुलसी के इलाज से उसके स्वास्थ्य में बड़ी तेज़ी से सुधार हुआ।

जीर्ण अर्धशिरपीड़ा (Chronic migraine) का इलाज डाक्टरों के पास नहीं है, पर तुलसी के पास है। तुलसी के नियमित सेवन से यह व्याधि क्रमशः दूर होने लगती है।

सबको समानरूप से लाभकारी

तुलसी पुरुषों, महिलाओं और बच्चों तीनों के रोगों में समानरूप से लाभकारी है। इसका सबसे बड़ा गुण यह है कि इसके सेवन से लाभ ही-लाभ होता है, हानि बिलकुल नहीं। कोई उत्तर-प्रभाव हुआ हो, ऐसा कभी सुनने में नहीं आया।

सात साल की एक लड़की को दवाओं से प्रत्यूर्जता (एलर्जी) थी। कोई दवा लेते ही, उसके सारे शरीर पर नीले दाग हो जाते थे, और खून कम होने लगता था। काफ़ी इलाज किया गया, पर कोई लाभ न हुआ। तुलसी के इलाज से उसकी यह एलर्जी बिलकुल दूर हो गयी।

रक्तक्षीणता को मिटाने के लिए तुलसी गंभीर दवा है। उसके सेवन से रक्तकणों में बड़ी तेज़ी से वृद्धि होती है।

तुलसी के इलाज से हर प्रकार के घाव बड़ी तेज़ी से भरने आरंभ हो जाते हैं, और टूटी हुई हड्डी भी बड़ी जल्दी जुड़ जाती है।

ज़ुकाम कैसा भी हो, सामान्य या एलर्जी वाला, तुलसी उसे और उसके कारण आने वाले बुख़ार को प्रायः कुछ ही दिनों में दूर कर देती है। साधारण ज़ुकाम और बुखार को दूर करने के लिए, दिन में दो-दो या तीन-तीन घंटे से सोंठ, कालीमिर्च, तुलसी और गुड़ का काढ़ा बनाकर चूल्हे से उतारकर उसमें नींबू का रस डालकर पीना चाहिये। इस काढ़े में दूध का प्रयोग वर्जित है। इसे पीकर कम्बल ओढ़कर सो जायें। यह काढ़ा मलेरिया भी दूर करता है।

एक प्रौढ़ को जन्म से एलर्जी वाला ज़ुकाम था। तुलसी के सेवन से वह ठीक हो गया। एक युवक को अनेक वर्षों से हर महीने ६-७ दिनों के लिए बुखार आता था। उसने तीन महीने तक उपरोक्त काढ़े का प्रयोग किया। बुखार आना बिलकुल बंद हो गया।

एक सज्जन पंद्रह वर्षों से सिरदर्द से पीड़ित थे। तुलसी के सेवन से उनका सिरदर्द सदा के लिए जाता रहा।

वज़न कम हो या ज्यादा, तुलसी के सेवन से शरीर स्वस्थ और सुडौल होता है। मंदाग्नि, बद्धकोष्ठता, गैस, अम्लता, आदि रोगों के लिए तुलसी रामबाण औषधि सिद्ध हुई है।

तुलसी द्वारा अल्पबुद्धिता का उपचार

एक लड़का बचपन से ही मनोवैकल्य का शिकार था। सोलह वर्ष तक उसके इलाज होते रहे, पर उसकी अल्पबुद्धिता दूर नहीं हुई। तुलसी के इलाज से, दो महीने में ही उसमें बुद्धिमत्ता के लक्षण दिखायी देने लगे। जैसे-जैसे इलाज बढ़ता जाता है, वह अधिक बुद्धिमान होता जाता है।

वैद्यों के अनुसार यदि दांत निकलने से पूर्व, बच्चे को तुलसी का सेवन कराया जाये, तो उसके दांत आसानी से निकलते हैं, और दांतों के निकलते समय, उसे कोई कष्ट नहीं होता।

बच्चों को ज़ुकाम, नज़ला, कफ़ और खांसी

उल्टियां या टट्टियां होने लगें, तो उन्हें तुलसी देने से लाभ होता है।

गठिया, संधिशोथ और स्नायुओं के दर्द में तुलसी के सेवन से तत्काल सुधार दिखायी देने लगता है, और दीर्घ उपचार से वह स्थायी रूप से दूर हो जाता है।

गुर्दे के रोगों में भी तुलसी का प्रयोग अत्यन्त लाभप्रद सिद्ध हुआ है। एक रोगी की गुर्दे की पथरी, तुलसी के छह महीनों के इलाज के बाद, चूरा होकर बाहर निकल गयी। रोगी को तुलसी के साथ दही के स्थान पर शुद्ध मधु दिया गया था, क्योंकि दही उसके माफ़िक नहीं आ रहा था।

जब गुर्दे का काम मंद हो जाता है तो वहां सूजन आ जाती है, और कभी-कभी पेशाब कम हो जाता है, और बड़े कष्ट के साथ निकलता है। इससे सारा शरीर पीड़ित रहता है। तुलसी के इलाज से सूजन तो दूर होती ही है, और पेशाब भी सही मात्रा में और स्वाभाविक ढंग से निकलने लगता है।

जिन तरुणों को साइनस की तकलीफ़ होती है, उन्हें वर्षा में सर्दी-ज़ुकाम हो जाता है। डॉक्टरों के पास इस रोग का एक ही इलाज है—शल्यक्रिया। एक ऐसे तरुण को, जो डॉक्टर की सलाह मानकर शल्यक्रिया कराने जा ही रहा था, तुलसी का सेवन दो सप्ताह तक कराया गया। इतना ही इलाज काफ़ी था, उसे शल्य-क्रिया से दूर रखने और उसकी साइनस की तकलीफ दूर करने के लिए।

सफ़ेद दाग या कोढ़ के अनेक रोगियों को तुलसी के उपचार से अद्भुत लाभ हुआ है। उनके दाग कम हुए, और त्वचा सामान्य बनती गयी।

प्रॉस्टेट ग्रंथि के कष्ट को दूर करने में भी तुलसी सहायक हुई है।

तुलसी का नियमित सेवन करने वाले वृद्ध व्यक्ति दुर्बलता अनुभव नहीं करते, और अपने को शक्ति और उत्साह से भरा पाते हैं। उनकी रोग-निरोधक शक्ति भी बढ़ती है।

आंख आने पर, या आंखों के दुखन पर, तुलसी का प्रयोग तत्काल लाभ दिखाता है।

स्त्रियों का रक्तस्राव बंद न होने पर तुलसी का सेवन रक्तस्राव को क्रमशः कम करके, बिलकुल बंद कर देता है।

तुलसी का सेवन कैसे?

स्वाद में तीखी, कड़वी और थोड़ी-सी कसैली, सुगंधित और रुचिवर्द्धक तुलसी को आयुर्वेद में वात-कफ़ का नाश करने वाली, विषघ्न, रक्तविकार, कोढ़, चर्म-रोग, मूत्रकृच्छ, पसली दर्द को दूर करने वाली माना गया है।

तुलसी के इलाज का तरीका बहुत आसान है। बच्चों के लिए पांच से पच्चीस तक पत्ते पर्याप्त होते हैं। वयस्कों को उनके रोग, स्वभाव, क्षमता और ऋतु के अनुसार (शीतकाल में अधिक और ग्रीष्म काल में कम) पच्चीस से लेकर सौ तक पत्ते दिये जाते हैं। पत्तों को साफ़

पत्थर पर पीस लेना चाहिये, या उनका रस प्रयोग में लाया जा सकता है। रोगी की प्रकृति के अनुसार इसे आधे से लेकर एक तोले तक लिया जा सकता है। मंजरी भी एक ग्राम तक साथ में ली जा सकती है। तुलसी की मंजरी पेशाब साफ़ करती है, और शक्ति बढ़ाती है। ताज़ी पत्तियां न मिलें, तो सूखे पत्तों के चूर्ण से भी काम चलाया जा सकता है।

यहां यह बताना आवश्यक है कि श्यामा (कृष्ण) और श्वेता दोनों प्रकार की तुलसियों के गुण समान होते हैं। श्यामा काले पत्तों वाली होती है, और श्वेता हरे पत्तों वाली।

तुलसी का सेवन दही (रोगी की क्षमता के अनुसार पचास ग्राम से लेकर तीन सौ ग्राम तक) या शुद्ध मधु या शुद्ध गुड़ के साथ करना चाहिये। दूध का प्रयोग तुलसी के साथ भूलकर भी न किया जाये।

तुलसी की दवा सुबह को शौच-मंजन के बाद, कुछ भी खाने-पीने से पहले, दिन में साधारणतया एक ही बार ली जाये। लेकिन, कष्ट अधिक हो, तो दिन में दो-तीन बार उसका सेवन किया जा सकता है।

बवासीर के रोगियों को चाहिये कि वे तुलसी और काली मिर्च का प्रयोग एक साथ न करें।

जो लोग चाय और तम्बाकू के व्यसनों से मुक्त होना चाहते हैं, उन्हें चाहिये कि वे चाय या तम्बाकू के स्थान पर तुलसी के काढ़े का, जिसके बनाने की विधि ऊपर दी गयी है, प्रयोग करें, तुलसी के साथ काली मिर्च चबायें। इस प्रकार, तुलसी के सेवन से शराब की आदत से भी छुटकारा मिल सकता है।

तुलसी का उपचार तब और अधिक प्रभावशाली बन जाता है, जब उसके साथ प्राणायाम, योगासन आदि का प्रयोग भी किया जाये। तुलसी के इलाज के साथ प्राकृतिक चिकित्सा और होम्योपैथी भी लाभदायक होती है। तुलसी का सेवन करते समय भगवान का स्मरण करने से भी उसका प्रभाव कई गुना बढ़ जाता है। ऐसा उन लोगों का कथन है, जिन्होंने तुलसी का प्रयोग अनेक रोगों के लिए चमत्कारिक औषधि के रूप में किया है।

अपने नाना औषिधीय गुणों के कारण, तुलसी नाना नामों से प्रसिद्ध है। उत्तम रस के कारण, उसे 'सुरसा' कहा जाता है। प्रत्येक गांव में सुलभता से उपलब्ध होने के कारण, उसे 'सुलभा' और 'ग्राम्या' कहा जाता है। चूंकि उसमें बहुत मंजरियां होती हैं इसलिए उसे 'बहुमंजरी' कहते हैं। उसे 'देव-दुंदभि' भी कहा जाता है क्योंकि वह विद्वानों को दुंदभि जैसा हर्ष देती है। अनेक व्याधियों का नाश करने के कारण उसे 'शूलघ्नी' भी कहते हैं।

(श्री नागजी भाई पटेल, डॉ. उपेन्द्रराय सांडेसरा, अहमदाबाद, और श्री कार्तिकेय महादेविया, बम्बई द्वारा वितरित सामग्री पर आधारित)

□

हम सब विद्यार्थी एक-दूसरे की धार्मिक मान्यताओं का बहुत आदर करते थे। कॉलेज में होने वाले दो उत्सवों में कॉलेज के सभी विद्यार्थी कई दिनों तक व्यस्त रहते थे। गणपति-उत्सव के लिए हम मुस्लिम विद्यार्थी ड्राइंग-पेपर के बड़े-बड़े पन्नों पर डिजाइन बनाकर काटा करते थे। डिजाइन बनाने वालों में थे, मेरे भाई अहमुदुल्लाह, कामता प्रसाद तथा दूसरे विद्यार्थी। हम लोग, जिनमें हिंदुओं, मुसलमानों के अलावा ईसाई और पारसी भी शामिल रहते थे, छेनी से काटकर कागज़ पर जालियां बनाते थे। गणपति-विसर्जन की शोभा-यात्रा में हम सब विद्यार्थी सम्मिलित होते थे, और बारी-बारी से मूर्ति को उठाते थे।

इसी प्रकार ईद-मिलाद के शुभावसर पर, मुस्लिम विद्यार्थी कॉलेज हॉल में ही मिलाद करते थे। और, मैं बढ़ा-चढ़ाकर कुछ नहीं कह रहा हूं, जब कहता हूं कि कॉलेज का प्रायः प्रत्येक हिंदू, मुस्लिम, ईसाई और पारसी विद्यार्थी और शिक्षक उसमें बड़े उत्साह से भाग लेता था। संख्या में कम होते हुए भी कॉलेज के मुस्लिम छात्र अपने अन्य सहपाठियों से काफ़ी चंदा पाने में सफल हो जाते थे।

०००

मेरे वालिद ऑल इंडिया मुस्लिम एजूकेशनल सोसायटी के सेक्रेटरी थे। वे नागपुर के अंजुमन हाईस्कूल से भी जुड़े थे। वे मुझे बताया करते थे कि हाई-स्कूल की इमारत नागपुर के राजाराम दीक्षित ने, मुसलमानों द्वारा जमा किये गये चंदे की राशि जमा होने से पहले ही बनवानी शुरू कर दी थी। धर्म-निरपेक्ष राज्य भारत के कितने लोग इस लोकोप-कारी हिंदू के इस सदिच्छापूर्ण कृत्य से परिचित हैं?

मेरे अलावा, मेरे परिवार के अन्य सदस्य भी सार्वजनिक जीवन से संबद्ध रहे हैं। मेरे बड़े भाई इकरामुल्लाह फ्रांस में पाकिस्तान के राजदूत थे। और,

मेरे वालिद सेंट्रल असेंबली के एक स्वतंत्र सदस्य थे। दूसरे चुनाव में वे हार गये थे; क्योंकि कांग्रेस ने उनके खिलाफ़ सिद्दीक अली खान नाम के एक उम्मीदवार को, जिसे कांग्रेसी मंत्रियों का समर्थन प्राप्त था, खड़ा किया था। उनके हारने की एक वजह यह भी थी कि वे सरकारी नौकर थे, और अंग्रेज़-सरकार से खिताब पा चुके थे। बाद में, सिद्दीक अली खान को भी अंग्रेज़ों ने खानबहादुर का खिताब दिया, और वे कांग्रेस छोड़कर मुस्लिम लीग में शामिल हो गये। और अंत में, भारत छोड़कर पाकिस्तानी नागरिक भी बने। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि कांग्रेसी नेता कितने अदूरदर्शी थे।

मेरे वालिद जब असेंबली के सदस्य थे, तो अक्सर सरकार की ओर से वोट दिया करते थे। पर, ऐसा हमेशा नहीं होता था। एक बार सरकार की तरफ़ से बहुत कोशिश चल रही थी कि मेरे वालिद एक बिल के लिए उसकी तरफ़ से वोट दें। जब वोटों की गिनती शुरू हुई, तो विपक्ष के सदस्य स्व. हरविलास शारदा ने वालिद साहब के पास आकर यह शेर सुनाया :

आया करो इधर भी मेरी जां कभी-कभी
निकलें हमारे दिल के भी अरमां कभी-कभी

एक तो मौज़ूं शेर, और दूसरे मेरे वालिद का काव्य-प्रेम। दोनों का असर यह हुआ कि उन्होंने शारदा साहब को गले लगा लिया, और उनके साथ ही वोट दिया। सिर्फ़ एक वोट से सरकार हार गयी। मगर, सरकारी पक्ष को आखिर तक पता न चला कि उसकी हार की असली वजह क्या थी?

जब मेरा मौक़ा आया, तो मैंने भी यही तय किया कि सरकार का अंधानुकरण नहीं करूंगा।

यूं मैं एक विशिष्ट लॉ-प्रोफ़ेसर और वकील माना जाता था, मगर मेरा खयाल है कि मेरी कामयाबी में किस्मत का बड़ा हाथ है। १९४३ में गवर्नर ग्लाइनस ने मुझे एडवोकेट-जनरल नियुक्त किया, हालांकि मेरा नाम ६ उम्मीदवारों की सूची में आखिरी था। चीफ़ जस्टिस सर फ्रेडरिक ग्रिल को यह अच्छा नहीं लगा। मगर सरकार का कृपा-पात्र होने के बावजूद, मैं सरकार को वही राय देता था, जो मुझे न्यायोचित लगती थी। उसे खुश करने की नीति मैंने कभी नहीं अपनायी।

जब सरकार ने 'इंडिया इन १९२९' नामक एक सरकारी प्रकाशन के आधार पर, एक समाचारपत्र द्वारा 'गढ़वाली गदर' का विवरण प्रकाशित करने पर, उसके खिलाफ़ कार्यवाही करनी चाही, तो मैंने उसका विरोध किया। गवर्नर को लाचार होकर मेरी राय माननी पड़ी, और कार्यवाही रोक दी गयी।

महायुद्ध के दिनों में, गवर्नर महोदय वर्धा-स्थित गांधी आश्रम का राज-सात्करण करना चाहते थे। उन्होंने मेरी राय जानने के लिए संबंधित फाइल मेरे [illegible]

पास भेजी। मैंने इस दलील पर इस प्रस्तावित कार्यवाही का विरोध किया कि कांग्रेस को तब तक गैरकानूनी संस्था घोषित नहीं किया गया था, और आश्रम द्वारा कोई हानिकर या प्रतिकूल कार्य नहीं किया गया है। गवर्नर मेरी राय से संतुष्ट नहीं हुए, और उन्होंने फाइल दुबारा मेरे पास अपने हाथ से लिखी इस टिप्पणी के साथ भेजी: 'क्या एडवोकेट-जनरल दुबारा ग़ौर करेंगे?' मैंने वह फाइल इस टिप्पणी के साथ लौटा दी, 'मुझे कुछ और नहीं कहना है।' गवर्नर ने फाइल भारत-सरकार के पास भेजी। भारत-सरकार ने गवर्नर को मेरी सलाह मानने की सलाह दी और इस प्रकार गांधीजी के आश्रम का राज्यसात्करण मेरे कारण होते-होते बचा।

उसी वर्ष (१९४६) में यद्यपि मैं जज भी बना, और मुझे ओ. बी. ई. का खिताब भी मिला, तथापि गवर्नर इस घटना के बाद मुझसे अप्रसन्न ही रहे। उसी वर्ष उनका तबादला हो गया, और विदाई-समारोह पर हम दोनों ने हाथ तक नहीं मिलाया। वे अपना पद छोड़ने से पूर्व, गांधी-आश्रम को ज़ब्त करने का 'श्रेय' पाना चाहते थे, मगर मैंने उनकी यह इच्छा पूरी नहीं होने दी।

०००

जब देश का विभाजन हुआ, तो हमारे छह मुस्लिम पड़ोसियों में से दो ही का परिवार भारत में रहा। जिन्ना, जफ़रुल्लाह खान और गुलाम मुहम्मद ने मुझे पाकिस्तान जाने के लिए बहुत फुसलाया—जफ़रुल्लाह खान ने तो मुझे पाकिस्तान की फेडरेल कोर्ट का जज फ़ौरन बनाने का प्रस्ताव भी रखा, और यहां तक कहा कि भारत में मुझे आगे बढ़ने का अवसर कभी नहीं मिलेगा—मगर उनके सब प्रयास निष्फल सिद्ध हुए। जब मैं भारत का मुख्य न्यायाधीश बना, तब उन्हें मालूम हो गया होगा कि भारत में ऐसी नियुक्तियों के मामले में धर्म आड़े नहीं आता।

मैंने अपने कार्यकारी जीवन में अनेक महत्त्वपूर्ण मामलों में निर्णय दिये हैं। ऐसा ही एक मामला मुझे याद आता है, जो काफ़ी दिलचस्प है। सेहोर (जहां का मैं हूं) चुनाव-क्षेत्र से एक पराजित उम्मीदवार ने, जो जनसंघ का सदस्य था, एक वर्तमान मंत्री के विरुद्ध याचिका प्रस्तुत की थी, इस आधार पर कि उसने चुनाव में सरकारी नौकरों की सेवाएं प्राप्त की थीं। मंत्रीजी मुस्लिम थे, और मेरे परिवार से उनका घनिष्ठ संबंध था। पराजित उम्मीदवार को आशंका थी कि मुस्लिम और परिचित होने के कारण, मैं मंत्री महोदय का समर्थन करूंगा। मेरे साथी जज थे श्री सेन, मगर उनसे उसे ऐसी आशंका नहीं थी। उम्मीदवार के वकील ने अनेक कारण बताते हुए, मामले के स्थगन की याचिका दी, जिसे मैंने नामंजूर कर दिया।

मंत्रीजी के विरुद्ध जो साक्ष्य प्रस्तुत किये गये थे, उनमें से एक ऐसा था, जो मामले के निर्णय को निश्चित-सा करता लगता था। चुनाव के दिनों में भोपाल से सेहोर और सेहोर से भोपाल के बीच मंत्रीजी और सेहोर के डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट के बीच जो फोन-वार्ताएं हुई थीं, उनका बिल अत्यधिक था, और यह संकेत देता लगता था कि मंत्रीजी ने इस अधिकारी की सहायता अवश्य ली होगी। एक निर्णायक बात यह थी कि इस अधिकारी से मंत्रीजी को कोई सीधा सरकारी कार्य नहीं हो सकता था, क्योंकि उनके जिम्मे जो विभाग था, उससे अधिकारी का कोई संबंध नहीं बैठता था। मंत्री महोदय इस प्रश्न का संतोषजनक उत्तर नहीं दे पाये कि उन्हें चुनाव के दिनों में उस अधिकारी से फोन पर इतनी ज्यादा बातें करने की आवश्यकता क्यों आन पड़ी? फ़ैसले के कारण, मंत्रीजी को पदत्याग करने को बाध्य होना पड़ा। मेरे इस निर्णय से वे लोग भी संतुष्ट हुए, जिन्हें आशंका थी कि मैं मुस्लिम मंत्री के पक्ष में निर्णय दूंगा।

०००

श्री जाकिर हुसैन के निधन के पश्चात् जब उप-राष्ट्रपति श्री गिरि ने राष्ट्रपति पद के लिए चुनाव लड़ने का निश्चय किया, तो मैं ३५ दिनों तक राष्ट्रपति रहा। मगर, मैंने इस अवधि में राष्ट्रपति भवन जाकर रहने से इंकार कर दिया। मैं सिर्फ़ दो दिनों के लिए वहां तभी गया, जब अमरीकी राष्ट्रपति निक्सन भारत-यात्रा पर आये थे।

मैं जब नागपुर उच्च न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश था, तब भारत के तत्कालीन मुख्य न्यायाधीश श्री. एस. आर. दास ने मुझसे पूछा था कि कलकत्ता उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश पद के बारे में मेरा क्या खयाल है? मैंने उत्तर दिया, 'मेरा कोई खयाल नहीं है।' बात वहीं खत्म हो गयी, और आयी-गयी हो गयी। पर कुछ दिन बाद उनके दामाद और विधि-मंत्री श्री ए. के. सेन ने मुझसे खास तौर पर पूछा कि क्या मैं कलकत्ता के मुख्य न्यायाधीश श्री के. सी. दासगुप्ता से अपना स्थान बदलने को तैयार हूं। उन्होंने यह भी कहा कि सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश श्री इमाम के रिटायर होने पर मुझे उनका स्थान मिल जायेगा। दूसरे शब्दों में मुझे सर्वोच्च न्यायालय में एक मुस्लिम न्यायाधीश के लिए सुरक्षित स्थान दिया जाने वाला था, मैंने इस प्रस्ताव को वहीं का वहीं ठुकरा दिया। श्री सेन कुछ नहीं बोले।

बाद में मैं दासगुप्ता से पहले सर्वोच्च न्यायालय में गया, और वहां न्यायाधीश इमाम के साथ दूसरा मुस्लिम न्यायाधीश बना। एक प्रकार से मैं पहला मुस्लिम न्यायाधीश था, जो सर्वोच्च न्यायालय में मुस्लिम न्यायाधीश की बारी से अलग होकर आया।

□

पुरातात्विक अवशेषों से हो पाया है।

आगे चलकर स्तूप निर्माण की परंपरा का विकास हुआ, जिसके फलस्वरूप भरहुत, बोधगया, सांची, अमरावती, नागार्जुनकोंड, सारनाथ, तक्षशिला आदि विभिन्न स्थानों पर बौद्ध स्तूपों का निर्माण हुआ। भरहुत, सांची तथा अमरावती के महास्तूप इस परंपरा के चरम विकास के द्योतक हैं। जिन अलंकृत बौद्ध स्तूपों के ध्वंसावशेष हमें अब तक उपलब्ध हो सके हैं उनमें सर्वाधिक प्राचीन भरहुत का स्तूप है। यह मध्य प्रदेश में सतना के निकट स्थित नागौर रियासत में था। इसकी खोज सर्वप्रथम कनिंघम ने सन १८७३ ई. में की थी। उस समय तक इस स्तूप के प्रस्तर-खंडों को गांववालों ने उठाकर अपने-अपने मकानों में लगा लिया था। कुछ को धोबी लोग अपने घाटों पर उठा ले गये थे और उन पर कपड़े धोने लगे थे। जिस समय कनिंघम ने इसे देखा, उस समय इसकी गोलाकार वेदिका का तथा एक तोरण का कुछ ही अंश अवशिष्ट था। उन्होंने इस संपूर्ण अंश को तथा कुछ इधर-उधर से उपलब्ध स्तूप-खंडों को एकत्र करवाकर कलकत्ता संग्रहालय को सौंप दिया। बाद में इस स्तूप के जो प्रस्तर फलक और मिले, उन्हें काशी के भारत कला-भवन, इलाहाबाद संग्रहालय तथा स्थानीय रामवन संग्रहालय में रख दिया गया है।

मध्यप्रदेश में सतना के निकट भरहुत और विदिशा के निकट सांची–दोनों उत्तर-दक्षिण के महापथों पर स्थित थे। एक उत्तर के नगर श्रावस्ती और कोशांबी को दक्षिण में नर्मदा तट पर

नागराज चक्रवाक

स्थित चेदि एवं दक्षिण कोसल जनपद से मिलाता था और दूसरा तक्षशिला-मथुरा को विदिशा और प्रतिष्ठान से जोड़ता था। इन महापथों पर गुज़रने वाले श्रेष्ठिवणिक बौद्ध धर्म से अनुप्राणित थे। उनकी तथा जन-मानस की श्रद्धा भावना ने भरहुत तथा सांची में महास्तूपों की स्थापना का मार्ग प्रशस्त किया।

भरहुत स्तूप का अंड ईंटों से बना था। इसका व्यास २०.४ मीटर था। इसके चारों ओर चुनार-पत्थर की गोल वेदिका थी, जिसमें ८० स्तंभ थे। इन स्तंभों को तीन-तीन आड़ी सूचियों से जोड़ा गया था। वेदिका-शीर्ष पत्थर के चौड़े तथा ढोलकाकार टुकड़ों को जोड़कर बनाया गया था। सूचियों तथा वेदिका स्तंभों पर चक्रों तथा अर्धचक्रों को तथा शीर्ष के संपूर्ण क्षेत्र को उत्कीर्ण शिल्प से अलंकृत किया गया था। तोरण के स्तंभ, शीर्ष और बडेरियों को भी सांची के समान उकेरा गया था। इस उत्कीर्ण शिल्प के विषय अनेक हैं। इनमें यक्ष-यक्षणियां हैं, नाग-नागिनियां हैं, किन्नर-अप्सराएं हैं, राजा-रानी से लेकर सेवक-सेविकाएं तथा विभिन्न वर्गों के नर-नारी हैं, ऐतिहासिक एवं धार्मिक व्यक्ति हैं। बुद्ध के प्रतीक हैं। उनके पूर्व जन्म से संबंधित जातक कथाएं हैं, राजप्रासाद, मंदिर, चैत्य और कुटियां हैं, नाना प्रकार के शयनासन हैं, तरुगुल्म-लताएं हैं, पशु-पक्षी हैं, संक्षेप में तत्कालीन जन-जीव[illegible] का सर्वांग चित्रण है।

भरहुत स्तूप के वेदिका-स्तंभों [illegible] यक्ष-यक्षणियों की आदमकद प्रतिमा[illegible] को उकेरा गया था। इन प्रतिमाओं [illegible] साथ उपलब्ध अभिलेखों के आधार [illegible] उनकी पहचान संभव हो सकी है। भर[illegible] में जिन यक्ष-यक्षणियों की प्रति[illegible] उत्कीर्ण की गयी थीं, उनमें सुपवस [illegible] कुपिरो (कुबेर) यखो, अजकालको [illegible] सुदसना यखो, चंदा यखो, सिरि[illegible] (श्रीमां) देवता, चुलकोका देवता [illegible] महाकोका देवता के नाम उल्लेखनीय हैं।

यक्ष-यक्षणियों की इन प्रतिमा[illegible] से तत्कालीन संभ्रांत स्त्री-पुरुषों की वे[illegible] भूषा का पता चलता है। सकच्छ धो[illegible] दोनों पहनते थे। धोती के ऊपर [illegible] या कटिबंध बांधा जाता था जिस[illegible] दोनों छोर प्रायः आगे की ओर लट[illegible] रहते थे। शीश पर लट्टूदार [illegible] भांति की कामदार पगड़ियां पहनी जा[illegible] थीं जिन्हें पुष्पहार या मोतीमाल से सजा[illegible] थे। पुरुष गहने भी पहनते थे। उन[illegible] कानों में गोल-गोल कुंडल, गले में [illegible] वक्ष पर कई-कई लड़ियों के हार और हा[illegible] में जड़ाऊ कंगन होते थे। स्त्रियां प्रा[illegible] कमर में मनकों से बनी सतलड़ी कर[illegible] भी पहनती थीं। उनके कमरबंद फू[illegible] और दानेदार बेल से सजे होते थे। [illegible] एवं पुरुष दोनों का कमर से ऊपर [illegible] भाग प्रायः अनावृत्त रहता था। [illegible]

चंदा यक्षी के स्तनों के नीचे पतले चादर की धारियां स्पष्ट हैं। पुरुषों के समान ही स्त्रियों के भी शीश चादर से ढंके रहते थे जो प्राय: कानों के ऊपर से होकर पीठ की ओर जाता था। वे कभी-कभी पगड़ी और उत्तरीय भी धारण करती थीं। स्त्रियों के गले में प्राय: पचलड़ी या छैलड़ी तौंक रहती थी, उनके वक्ष पर स्तनों के बीच लटकती हुई टिकरेदार मोहनमाला, कानों में विविध आकार के कर्णफूल और मांग में टीका सुशोभित रहता था। उनके हाथ कंगन या शंख की चूड़ियों से कोहनी तक ढंके रहते थे। कोई-कोई नारी सपत्र भुजवंध भी धारण करती थी। उनके पैरों में भी हाथों की तरह कड़े और झाझर होते थे। इस प्रकार, भारी भरकम आभूषण उस युग की वेशभूषा के मुख्य अंग थे।

नाग-नागिनियों का अंकन प्राय: मानव रूप में हुआ है। पहचान के लिए शिल्पी ने उनके शीश पर पीछे से नागफन जोड़ दिया है। चक्रवाक तथा एलापत्र नागों के शीश पर पंचमुखी नागफन हैं। लोकपाल के रूप में चक्रवाक की आदमकद प्रतिमा दर्शनीय है। उसकी वेशभूषा शुंगयुगीन राजाओं जैसी ही है। चक्रवाक के मुख पर मानव-सौंदर्य की पूर्ण छवि है, नाग की भयंकरता लेशमात्र भी नहीं। एक झलक में एलापत्र नामक नाग को एक वार वास्तविक पंचमुखी नाग के रूप में जल से निकलता हुआ तथा दूसरी और तीसरी वार मानव रूप में बुद्ध की अर्चना करते हुए उत्कीर्ण किया गया है। इस फलक में अभिलेख इस प्रकार है—'एरापतो नागराज भगवतो वंदते।' प्राय: नाग-नागिनियों को कमर के नीचे जल में खड़ी हुई या निकलती हुई देखकर कलाकार ने उस मान्यता का प्रदर्शन किया है जिसमें नागलोक को पाताल में स्थित माना गया है।

किन्नर या विद्याधर अर्धमानव, अर्धपक्षी के रूप में, हाथों में पुष्पमाला लेकर बुद्ध-प्रतीकों के अगल-बगल अंतरिक्ष में उड़ते हुए दिखाई देते हैं। तपस्या भंग करने के लिए इंद्र की अप्सराएं गौतम बोधिसत्व के आगे नाच-कूदकर हार गयी थीं। एक फलक में सुभद्रा, सदर्शना, मिश्रकेशी तथा अलंबुषा नामक अप्सराओं को नृत्य करते हुए भावपूर्ण मुद्राओं में उत्कीर्ण किया गया है। यह इंद्रसभा का दृश्य जान पड़ता है।

भरहुत के उत्कीर्ण फलकों में कोशल-नरेश प्रसेनजित को चार घोड़ों से जुते रथ पर बैठे हुए तथा अजातशत्रु को बुद्धपद की वंदना करते हुए अपने दल-बल के साथ अंकित किया गया है। बाद वाले फलक के साथ अभिलेख है—'अजातसत्तू भगवतो वंदिते' एक अन्य फलक में शुद्धोधन के अंत:पुर का प्रकोष्ठ प्रस्तरांकित है। फलक में मायादेवी को एक पलंग पर सोते हुए दिखाया गया है। रात का समय है, यह दिखाने के लिए
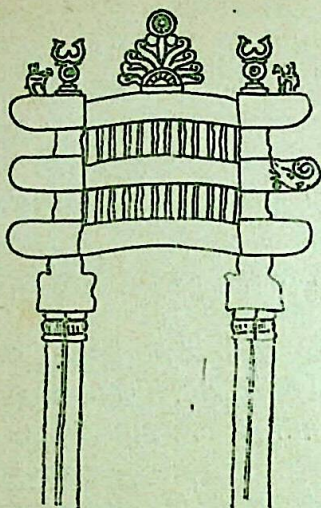
कलाकार ने एक कोने में जलता हुआ दीपक और पलंग के पास ऊंघती हुई दासियों को अंकित कर दिया है। आकाश से आता हुआ हाथी मायादेवी के स्वप्न की कहानी को साकार करता है।

श्रावस्ती के श्रेष्ठि अनाथ पिंडक ने तथागत बुद्ध के आवास के लिए राजकुमार जेत के उद्यान (जेतवन) को उपयुक्त समझा, भले ही उसे जेतवन के लिए उतनी ही मुद्राओं का मूल्य चुकाना पड़ा जितनी उसमें बिछाई जा सकीं। एक चक्र-फलक में एक बैलगाड़ी से ढोकर लायी गयी मुद्राओं को उद्यान में बिछाने का अंकन है। दृश्य में कंठाभरण पहने राजकुमार जेत और कमंडलु लिये अनाथ पिंडक भी उत्कीर्ण हैं। फलक में दो कुटिय भी उत्कीर्ण हैं जिनके ऊपर 'गंधकुटी' है और 'कोसंबकुटी' के अभिलेख हैं। फलक के नीचे वाले अभिलेख से जेतवन के क्रय और दान की कहानी स्पष्ट हो जाती है—'जेतवन अनाथपिंडको देति कोटि संथतेन कोति' अर्थात् करोड़ों मुद्राओं की सतह बिछाकर अनाथ पिंडक ने जेतवन का दान दिया।

जातक कथाओं का प्राचीनतम अंकन हमें भरहुत स्तूप पर उपलब्ध होता है। भारतीय कला में भरहुत, सांची, बोधगया, मथुरा, अमरावती आदि स्तूपों के उत्कीर्ण शिल्प में अनेक जातकों का अंकन उपलब्ध हुआ है। इन जातक कथाओं में तत्कालीन लोकजीवन की बड़ी ही सजीव झांकी प्रतिबिंबित होती है। भरहुत में सबसे अधिक जातक कथाओं को उत्कीर्ण किया गया था। अब तक २४ जातकों की पहचान की जा चुकी है। इनमें से १८ जातकों के शीर्ष अभिलेख पाये भी गये हैं। इन जातकों में छदंत जातक, इसिसिंगिय (ऋषि शृंग) जातक, दशरथ जातक, मिग (मृग) जातक आदि उल्लेखनीय हैं।

जातक कथाओं के अलावा भी अन्य अनेक प्रसंग भरहुत के उत्कीर्ण शिल्प में पाये गये हैं। कहीं तपोवन में ऋषि तपस्या रत हैं, कहीं वे अपनी कुटियों के आगे पर्यंकबद्ध मुद्रा में ध्यानासीन हैं, कहीं अध्यापक बालकों को पढ़ा रहे हैं, कहीं मछुए जाल बुन रहे हैं। एक दृश्य

(शेष पृष्ठ १४५ पर)

भारतीय विद्या भवन से प्रकाशित एम. सी. छागला की विख्यात संस्मरणात्मक पुस्तक 'रोज़ेज इन डिसेंबर'

दिसंबर में गुलाब

का हरिमोहन शर्मा द्वारा प्रस्तुत सार-संक्षेप

'परमात्मा ने हमें स्मृति दी, ताकि, हमें दिसंबर में गुलाब मिल सकें।'

कोई अपनी आत्मकथा क्यों लिखता है? अपनी आत्मकथा लिखने से पहले, इस प्रश्न का उत्तर पाना आवश्यक है। आत्मकथा कैसी सफ़ाई के लिए लिखी जाती है? अपने प्रति अपनी सफ़ाई के लिए या अपने समकालीनों के प्रति अपनी सफ़ाई के लिए या भावी पीढ़ियों के प्रति अपनी सफ़ाई के लिए?

एक अर्थ में, आत्मकथा सामान्य मानवीय अहम्मन्यता की ही प्रशाखा है। आत्मकथा लिखने वाला नहीं चाहता कि जो कुछ उसने अपने जीवन में अब तक किया है, उसकी स्मृति नष्ट हो जाये; मुद्रित शब्दों के रूप में यह स्मृति अमिट हो जाती है। वैसे, आत्मकथा लिखने वाले के मन में यह विचार रहता ही है कि मरणोपरांत उसकी निधन-सूचना प्रकाशित होगी ही, मगर दुर्भाग्य से वह उसे पढ़ने के लिए मौजूद न होगा।

अनेक स्थलों पर मेरी आत्मकथा भी आपको अहम्मन्यतापूर्ण लगेगी। मगर वह मेरी लाचारी है। आदमी जब अपने बारे में लिखता है, तो अहम् के लेखन में अनधिकार प्रवेश की चेष्टा निरंतर कायम रहती है।

आत्मकथा आरंभ करने से पूर्व, जिस एक और समस्या से आत्मकथा लिखने वाले को जूझना पड़ता है, वह यह है कि कितना कहा जाये? आत्मकथा लिखने वाला अपने जीवन में जिन व्यक्तियों के संपर्क में आया है, क्या उनके बारे में सब कुछ पूरी सचाई से कहना उचित है? क्या उन अप्रिय बातों का ज़िक्र भी ज़रूरी है, जिनसे दूसरों की भावनाओं को ठेस पहुंचती हो, या जिन्हें लोग भूल गये हैं या भूलना पसंद करेंगे?

इस संबंध में मेरी धारणा यह है कि आत्मकथाकार को सच, और सिर्फ़ सच ही लिखना चाहिये, मगर उसे पूरा सच नहीं लिखना चाहिये, क्योंकि बहुत से मामलों में उसका निर्णय एकतर्फ़ा और पूरे तथ्यों पर आधारित नहीं होगा, इस बात की पूरी संभावना है। एक बड़ी अजीब बात मैं इस प्रसंग में कहना चाहूंगा, और वह यह कि बीस वर्ष तक निर्णय-कर्त्ता जज रहने के बाद, मैं निष्पक्ष रूप से यह अनुभव करता हूं कि किसी को दूसरों के बारे में निर्णय देने का कोई अधिकार नहीं है।

इतिहास में एक ऐसी निस्संगता और वास्तविकता है, जो इतिहास लिखने का दावा करने वालों में साधारणतया नहीं पायी जाती। इसलिए, समकालीन व्यक्तियों और घटनाओं के बारे में लिखने वालों को सिर्फ़ तथ्यों का ही वर्णन करना चाहिये, श्रेय और प्रशंसा का काम इतिहास पर छोड़ देना चाहिये।

अपने बीते जीवन पर निगाह डालता हूं, तो पाता हूं कि कुछ घटनाओं के, जिन्हें न मैं चुनौती दे सकता था, और न जिनके

मैं

खिलाफ़ कोई अपील कर सकता था, महत्त्वपूर्ण परिणाम सामने आये। मैं आगे ऐसी ही कुछ महत्त्वपूर्ण घटनाओं का वर्णन करूंगा, जिन्होंने न केवल मेरे भविष्य का निर्माण किया, अपितु उन कुछ सफलताओं और उपलब्धियों का श्रेय भी मुझे प्रदान किया, जो मेरे नाम के साथ जुड़ गयी हैं।

०००

मेरे बचपन की स्मृतियां कोई बहुत अधिक प्रीतिकर या सुखकर नहीं हैं। पांच वर्ष का ही था कि मेरी मां का निधन हो गया था, इसलिए बचपन बड़ा एकाकी बीता। मैं अपनी ही दुनिया में रहता था, और अपने सपनों और खयालों में ही खोया रहता था। मां को खोकर मुझे लगता था, जैसे मैंने अपनी सबसे क़ीमती चीज़ खो दी है।

मां की मृत्यु के बाद, मैं एक वर्ष तक कलकत्ता में अपने नाना के घर रहा। वहां से वापस बम्बई लौटा, तो पाया कि मेरा परिवार अपना पुराना घर, जो शहर में था, छोड़कर दादर रहने लगा है। आज तो दादर बम्बई का एक समृद्ध उपनगर है, मगर उन दिनों—१९०६ या १९०७ में—एक गांव-सा ही था। वहां मैं एंटोनियो डिसिल्वा हाई स्कूल में भर्ती हुआ। मैं इस स्कूल के एक अध्यापक का बहुत कृतज्ञ हूं। वह मुझे बहुत चाहता था, और पढ़ाई का मेरा शौक़, जो आज तक चला आ रहा है, उसी के कारण जागृत हुआ। उसने पुस्तकों का जो एक नया वातायन मेरे जीवन में खोला, उसमें झांक-झांककर, मैंने प्रज्ञा और सौंदर्य के नये-नये आयामों और क्षितिजों के दर्शन किये हैं।

इस स्कूल की एक घटना मुझे आज तक याद है। मैं स्कूल में अपने सहपाठियों से बहुत कम मिलता-जुलता था, और अपनी सीट से ही चिपका रहता था। स्कूल में सुबह-शाम ईसाई विद्यार्थी प्रार्थना करते थे। ग़ैर-ईसाई छात्र इन प्रार्थनाओं में भाग नहीं लेते थे। मगर उस समय आदरपूर्वक खड़े अवश्य हो जाते थे। एक दिन मैं एक पुस्तक पढ़ने में इतना लीन हो गया कि मुझे प्रार्थनाओं का कोई होश न रहा। अध्यापक ने बतौर सज़ा के मेरी दोनों हथेलियों पर छह-छह बार छड़ियां मारीं। मैंने सज़ा तो चुपचाप स्वीकार कर ली, मगर उससे मेरे आत्म-सम्मान को बड़ी ठेस पहुंची। मुझे लगा कि अध्यापक को सज़ा देने से पूर्व, मुझसे न उठने का कारण पूछना चाहिये था।

वर्षों बाद, जब मैं भारत का शिक्षा-मंत्री बना, तब मुझे एक पुराने छात्र की हैसियत से उसी स्कूल में आमंत्रित किया गया। मैंने अपने भाषण में इस घटना का उल्लेख करते हुए, उस अध्यापक की ओर देखा, जो वहां अपनी वृद्धावस्था के बावजूद, मौजूद था। वह काफ़ी सहमा हुआ नज़र आ रहा था। मैंने अपने भाषण में आगे कहा कि यद्यपि

'इस किताब को लिखने का विचार मुझे मेरे छोटे लड़के इक़बाल ने दिया। मेरी आंख का आपरेशन हुआ था, जिसके एक महीने बाद तक, मुझे पढ़ने-लिखने की सख्त मनाही थी। खाली बैठना मेरे मिजाज में नहीं है, इसलिए मैं उन दिनों काफ़ी क्षुब्ध-सा रहता था। इक़बाल ने मुझे व्यस्त रखने के लिए एक टेपरेकार्डर मेरे पास लाकर रख दिया, और कहा कि मैं इसमें अपनी आत्मकथा का डिक्टेशन शुरू कर दूं। काफ़ी हिचक के बाद, मैंने यह काम शुरू किया। किताब के पहले ७५ पृष्ठ इसी प्रकार 'लिखे' गये। शेष पृष्ठ अन्य स्टेनोग्राफरों को, जिनमें श्री पालखीवाला के स्टेनो श्री पीठावाला का उल्लेख आवश्यक है, दिये गये डिक्टेशन के फलस्वरूप लिखे गये।

'इस डिक्टेशन में ६० घंटों से अधिक का समय लगा, मगर उससे दुगुना समय मुझे उन भाषणों, कतरनों, पत्रों आदि को तरतीब देने और उनका चयन करने में लगा, जिसका संग्रह मेरी पत्नी ने, जिसकी पतिभक्ति एक मधुर स्मृति के रूप में सदा मेरे साथ रहेगी, और जिसे मैंने यह पुस्तक समर्पित की है, बड़े प्रयत्न से किया था।

'मैं श्री मोरारजी देसाई सहित उन सभी महानुभावों का कृतज्ञ हूं, जिनके पत्रों और संभाषणों का उपयोग मैंने इस पुस्तक में किया है। मैं भारतीय विद्या भवन, उसके जनक और अपने परम मित्र डॉ. के. एम. मुंशी, श्री रामकृष्णन् और प्रोडक्शन मैनेजर श्री एम. के. राजगोपालन् का भी कृतज्ञ हूं।

'इस पुस्तक के माध्यम से, मुझे आशा है, पाठकों को भारत के इतिहास के पिछले पचास वर्षों की एक झांकी मिल सकेगी। वही विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है, मैंने क्या किया, और क्या कहा, वह इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है।' (प्रस्तावना से)

तब उस घटना से मुझे बहुत तकलीफ़ हुई थी, तथापि उस घटना से, नियमों का पालन करने और सदा अनुशासित करने का जो पाठ मैंने सीखा था, वह मुझे सदा याद रहा, और आगे चलकर जीवन में मेरे बहुत काम आया।

०००

दादर की उन दिनों की एक और घटना भी मुझे आज तक याद है।

१९०८ में बम्बई उच्च न्यायालय के एक भारतीय न्यायाधीश डावर ने राजद्रोह के अपराध में तिलक को छह वर्ष की सख़्त क़ैद की सजा सुनायी थी, जिसके विरोध में दादर और परेल में दंगे हुए थे। छोटा होते हुए भी, मैं इस बात को लेकर काफ़ी उत्तेजित था। मेरी पूरी सहानुभूति उन लोगों के साथ थी, जो दंगों के माध्यम से इस कड़ी सजा के प्रति अपना विरोध व्यक्त कर रहे थे।

जब बैरिस्टर जिन्ना ने तिलक की ओर से इस सज़ा के खिलाफ़ अपील दायर की थी, तो मैं देखने गया था कि अदालत क्या फ़ैसला देती है? तब मैंने जिन्ना को पहली बार देखा था। बाद में मैं जिन्ना के घनिष्ठ संपर्क में आया, और मैंने पाया कि तिलक के प्रति जिन्ना के मन में सदा एक आदरभाव रहा, उन दिनों में भी जब वे घोर संप्रदायवादी हो गये थे। गांधीजी और नेहरू आदि के बारे में आगे चलकर जिन्ना ने कड़वी से कड़वी बातें कहीं, मगर तिलक और गोखले के प्रति कभी किसी अपशब्द का प्रयोग नहीं किया। दोनों के लिए उनके मन में गहरा आदरभाव था। और दिलचस्प बात यह थी कि तिलक भी जिन्ना का आदर करते थे।
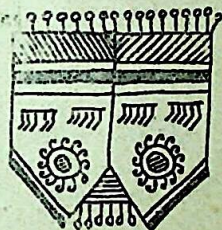
चित्र : आलोक जैन

जिस न्यायाधीश डावर ने तिलक को सज़ा सुनायी थी, उसे बाद में ब्रिटिश सरकार ने 'सर' की उपाधि से विभूषित किया था, और जब बम्बई न्यायालय की बार एसोसियेशन ने न्यायाधीश डावर को इस उपलक्ष्य में एक भोज देना चाहा, तो जिन्ना उस भोज में शामिल नहीं हुए। एसोसियेशन के सचिव को लिखे अपने पत्र में उन्होंने कहा, 'एसोसियेशन को ऐसे न्यायाधीश का सम्मान करते हुए शर्म आनी चाहिये, जिसने यह उपाधि सरकार की इच्छा का पालन करके प्राप्त की है।' इससे पता चल सकेगा कि जिन्ना उन दिनों कितने उत्कट राष्ट्रवादी थे।

१५ जुलाई, १९५६ को, इस घटना के पचास वर्ष बाद, बम्बई उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश के रूप में, मैंने न्यायालय के बाहर एक फलक लगवाया था, जिस पर भावोत्तेजक शब्द अंकित हैं, जो तिलक ने अपने मुकदमे के दौरान कहे थे :

'ज्यूरी के पंच-निर्णय के बावजूद, मैं यह मानता हूं कि मैं निर्दोष हूं। ऐसी उच्चतर शक्तियां मौजूद हैं, जो मानवों और राष्ट्रों की नीति को नियंत्रित रखती हैं, और शायद नियति को यही मंजूर है कि जिस हेतु का मैं प्रतिनिधित्व कर रहा हूं; उसकी सिद्धि मेरे मुक्त रहने की अपेक्षा पीड़ित होने से ही संभव है।'

इस अवसर पर, मैंने अपने भाषण में कहा था :

'यदि आज स्वतंत्र भारत में यह उच्च न्यायालय सक्रिय है, और यदि इस न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश एक भारतीय है, तो हमें याद रखना होगा कि इसका श्रेय, काफ़ी हद तक, तिलक के त्याग और दुःखभोग को जाता है।'

०००

सेंट ज़ेवियर कॉलेज, बम्बई से अपनी उच्च शिक्षा पूरी करके, १९ वर्ष की

आयु में मैं आक्सफोर्ड गया। जिन्ना भी उन दिनों लंदन में एक फ्लैट लेकर रहते थे। वे उस मुस्लिम स्टूडेंट्स यूनियन के अध्यक्ष थे, जिससे मैं भी जुड़ा था। वे यूनियन के सदस्यों से प्रायः कहा करते थे कि उन्हें हिंदुओं और मुसलमानों के बीच सौहार्द स्थापित करना चाहिये, और जब तक ऐसा सौहार्द स्थापित नहीं होगा, भारत गुलाम देश बना रहेगा।

जिन्ना उन दिनों युवावर्ग के प्रिय नेता और बम्बई के 'बेताज बादशाह' माने जाते थे। वे होमरूल लीग के अध्यक्ष थे, और अंग्रेज़ सरकार की नीतियों के विरुद्ध शांताराम चाल में, जहां उन दिनों आम सभाएं हुआ करती थीं, भाषण दिया करते थे। वकालत की पढ़ायी के लिए इंग्लैंड जाने से पूर्व मैंने उनसे प्रार्थना की थी कि इंग्लैंड से लौटने के बाद, मैं उनके साथ काम करना चाहूंगा। उन्होंने मुस्कराकर कहा था, 'पहले कड़ी मेहनत करके इम्तहान पास कर लो, फिर मेरे पास आना।'

उन दिनों राजनीति और कानून दोनों क्षेत्रों में जिन्ना मेरे आदर्श-पुरुष थे। उस समय कोई यह सपने में भी नहीं सोच सकता था कि एक खरे राष्ट्रवादी से जिन्ना एक दिन एक कट्टर संप्रदायवादी बन जायेंगे, और देश की एकता का यह कट्टर समर्थक एक दिन देश के विभाजन में सहायक होगा। मैं आरंभ में जिन्ना के बहुत निकट था, मगर जब उन्होंने दो राष्ट्रों के सिद्धांत का समर्थन आरंभ कर दिया, तो मैं उनसे पूरी तरह और हमेशा-हमेशा के लिए अलग हो गया।

ऑक्सफोर्ड से बम्बई लौटने के बाद, मुझे बम्बई में प्रैक्टिस आरंभ करते समय बहुत परेशानी हुई। मेरे पास कोई काम न था, और मैं काफ़ी दिनों तक बेकार बार-एट-लॉ बना रहा। मगर, आज मैं सोचता हूं कि इससे मुझे लाभ ही हुआ; क्योंकि इस बेकारी ने मुझे प्रगति और सफलता के लिए प्रेरित किया। और इस सफलता को प्राप्त करने के लिए मुझे काफ़ी श्रम करना पड़ा। आज भी मेरे लिए कठोर श्रम ही जीवन का वास्तविक आराम है।

उन दिनों बम्बई उच्च न्यायालय में जो प्रमुख एडवोकेट प्रैक्टिस कर रहे थे, उनमें सर जमशेद कांगा, जिन्ना, तारा-पोरवाला, भूलाभाई देसाई, कन्हैयालाल मुंशी, मोतीलाल सेतलवाड, भगवती, एम. वी. देसाई, एम. पी. अमीन तथा दफ्तरी आदि उल्लेखनीय हैं। मुंशी बड़े मामलों को जीतने में माहिर थे। वे बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। उन जैसे उच्च कोटि के साहित्यकार और शिक्षाशास्त्री भारत में कम ही हुए हैं। यदि वे विधि और राजनीति को अधिक समय न देते, तो भारतीय साहित्य को और अधिक समृद्ध कर सकते थे।

भूलाभाई देसाई जैसा वाक्पटु एड-वोकेट उन दिनों बम्बई में कोई और न...

था। वे राजनीति में भी सक्रिय थे, और असहयोग-आंदोलन में खुलकर भाग लेते थे। एक बार उन्होंने कहा, 'मैं तुम्हारे चेम्बर का प्रयोग कुछ कांग्रेसी कार्यकर्ताओं से मिलने के लिए करना चाहता हूं। लेकिन, पुलिस को पता चल गया, तो तुम सीधे जेल चले जाओगे। बोलो, क्या कहते हो?' मैंने कहा, 'आप जब देश के लिए इतना त्याग कर रहे हैं, तो क्या मैं थोड़ा-सा त्याग भी नहीं कर सकता?' मगर, मुझे अपने देश की खातिर कभी जेल जाने का अवसर नहीं मिला, दुर्भाग्य से या सौभाग्य से, कह नहीं सकता।

मैंने १९२२ से १९४१ तक प्रैक्टिस की। इसके बाद में जज बना। १९६७ में मैंने फिर प्रैक्टिस आरंभ की, और १९७३ में, इन पंक्तियों के लिखे जाने के समय तक, प्रैक्टिस कर रहा हूं। कानून के साथ इतने दीर्घकाल से जुड़े रहने के बाद, मैं कह सकता हूं कि कानून मन को अनुशासित करने का एक महान माध्यम है, और स्पष्ट, तर्कसंगत और अचूक चिंतन में सहायक होता है।

एक प्रश्न प्रायः मुझसे पूछा जाता है। वह यह कि 'यदि मैं राष्ट्रवादी था तो मैं मुस्लिम लीग का सदस्य क्यों बना?' बात यह है कि जिन दिनों, मैं लीग का सदस्य था, उन दिनों वह हिंदू-मुस्लिम एकता में विश्वास करती थी, और उसके नाम के अलावा, उसका स्वरूप पूर्णतः धर्मनिरपेक्ष था। लीग से जुड़े जिन्ना और मज़रुल हक जैसे नेता धर्मांध मुसलमानों से अलग रहते थे। खिलाफ़त आंदोलन से संबद्ध मुस्लिम नेता ऐसे ही कट्टर और धर्मांध मुस्लिम थे, और मुझे लगता था कि उनके हितों का समर्थन कर, हिंदू-मुस्लिम एकता स्थापित करने का गांधीजी का प्रयास ग़लत है। सब खिलाफ़ती पहले मुस्लिम थे, बाद में राष्ट्रप्रेमी। मुस्लिम लीग उनका विरोध करती थी, और धर्मनिरपेक्षता में आस्था रखने वाली लीग के साथ कंधे से कंधा मिलाकर देश को आज़ाद करने का संघर्ष करने को तैयार थी।

जब तक जिन्ना राष्ट्रवादी रहे, लीग ने इसी नीति को अपनाया। पर, जैसे ही जिन्ना संप्रदायवादी हुए, मैं उनसे अलग हो गया। मेरे लिए यह बात आज तक पहेली बनी है कि जिन्ना जैसे राष्ट्रवादी नेता सांप्रदायिक क्यों बने? शायद इसका एक कारण जिन्ना का जबर्दस्त अहं था। वे सर्वोच्च नेता बने रहना चाहते थे, और गांधीजी के अभ्युदय के बाद उन्हें लगा होगा कि अब उनके ऐसे पद पर बने रहने की संभावना नहीं है। जहां गांधीजी की आस्था धर्म, अहिंसा और नैतिकता में थी, वहां जिन्ना एक निष्ठुर और व्यावहारिक राजनीतिज्ञ थे। दुर्भाग्य से जिन्ना जवाहरलाल नेहरू के भी विरोधी थे। जवाहरलाल नेहरू भी जिन्ना को 'असंस्कृत और अशिक्षित'

मानते थे। उनका खयाल था कि जिन्ना की पढ़ायी अखबारों तक सीमित है, और उनके मन में कोई बौद्धिक विचार आ ही नहीं सकता। जिन्ना और मोतीलाल नेहरू की आपस में खूब पटती थी, शायद इसलिए कि दोनों जाने-माने वकील थे, और समान रूप से व्यावहारिक थे।

जब जिन्ना को तीसरे गोलमेज सम्मेलन से अलग रखा गया, तो उन्हें यह विश्वास हो गया कि संप्रदायवादी मुसलमानों का नेता बनकर ही वे प्रकाश में रह सकते हैं। और एक बार वे स्वयं संप्रदायवादी बन गये, तो उन्हें अपने अनुयायियों को भी अपने रंग में ढालने में देर न लगी।

एक बार, जब पाकिस्तान के निर्माण का आंदोलन ज़ोरों पर था, तब मैंने जिन्ना से पूछा था, 'आपके पाकिस्तान में वे राज्य तो आ जायेंगे, जहां मुसलमान बहुसंख्यक हैं, लेकिन तब उत्तर प्रदेश के मुसलमानों का क्या होगा, जो अल्पसंख्यक हैं?' जिन्ना ने कुछ क्षण सोचकर कहा, 'वे अपनी जानें। मुझे उनकी कोई परवाह नहीं है।' उनके इस उत्तर से मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ था।

देश का विभाजन एक ऐसी दुखांत घटना थी, जिसे टाला जा सकता था। मेरा विश्वास है कि पाकिस्तान से न देश की किसी समस्या का हल हुआ, न मुसलमानों की; उल्टे समस्याएं बढ़ी हैं, और ज्यादा गंभीर हो गयी हैं।

इन पंक्तियों के लिखने के समय तक बांगलादेश अस्तित्व में आ चुका है। बांगलादेश का जन्म प्रजातंत्र और जनता के अपने भविष्य को निर्धारित करने के अधिकार की महान विजय है। उसके जन्म से पूर्व, हमने पाकिस्तान जैसे धर्मांध मुस्लिम देश को लाखों मुसलमानों का क़त्लेआम करने का, और भारत ने उनका उद्धार करके एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना करने का, अजीब नज़ारा देखा।

भारत के संविधान में धर्मनिरपेक्षता अमिट अक्षरों में लिखी है। वैधानिक धारणा के रूप में, धर्मनिरपेक्षता के अर्थ हैं कि प्रत्येक भारतवासी समान है और उससे परिचय करते समय, हम यह नहीं देखते कि वह हिंदू, मुसलमान या ईसाई है, हम उसे एक मानव के रूप में ही देखते हैं।

जब मैं अमरीका में भारतीय राजदूत की हैसियत से गया था, तब सर्वप्रथम पत्रकार-सम्मेलन में मुझसे पूछा गया, 'क्या आप मुस्लिम हैं?' मैंने उत्तर दिया, 'मेरे धर्म से आपका क्या सरोकार है? वह मेरा निजी मामला है। आप मुझसे सिर्फ़ यह पूछ सकते हैं कि क्या मैं भारतीय हूं, तो मैं गर्व से कहूंगा कि मैं भारतीय हूं। हम भी किसी अमरीकी से यह नहीं पूछते कि क्या वह कैथलिक, प्रोटेस्टेंट या यहूदी है? हमारे लेखे हर अमरीकी सिर्फ़ अमरीकी है।'

जब कोई मुझसे यह कहता है कि चूंकि

मैं मुस्लिम हूं, इसलिए थोड़ा कम भारतीय हूं, तो मुझे बहुत बुरा लगता है। मेरे लिए पाकिस्तान उतना ही विदेशी राज्य है, जितना तर्की, ईरान, ब्रिटेन या अमरीका। मैंने सदा पाकिस्तान की नीतियों को भारतीय दृष्टिकोण से ही समझने-परखने का प्रयास किया है।

०००

मैं शौकिया पत्रकार भी रहा हूं। ब्रेलवी जैसे खरे राष्ट्रवादी संपादक के 'बॉम्बे क्रानिकल' में मैंने संपादक द्वारा सुझाये गये विषयों पर कई बार कलम उठायी है। यह बात अलग है कि उन लेखों का कोई पारिश्रमिक मुझे कभी नहीं मिला। हां, चिंतामणि द्वारा संपादित 'इंडियन डेली मेल' ने अवश्य, जहां तक मुझे याद आता है, मुझे उसमें प्रकाशित लेखों के लिए पारिश्रमिक दिया था। उन दिनों 'टाइम्स ऑफ इंडिया' अग्रणी समाचारपत्र था, पर उसके कॉलमों में मेरा कोई प्रवेश न था, कारण मेरे राष्ट्रवादी विचार उसके विचारों के एकदम खिलाफ़ जाते थे। मेरे लेखों के विषय राजनैतिक ही होते थे। मैं उन दिनों राजनीति में सक्रिय था भी।

अपने कागज़ों से मुझे पता चलता है कि ४ अप्रैल, १९२६ को मैंने इंडियन नेशनल पार्टी की एक समिति की एक सभा में श्री जयकर के विरुद्ध निंदा का प्रस्ताव रखा था। मैंने कहा था कि जयकर और जिन्ना एक ही दल के टिकट पर खड़े हुए हैं, और विधान सभाओं में सांप्रदायिक दलों की कोई आवश्यकता नहीं है। पर चुनावों के बाद नेशनल पार्टी जितनी जल्दी शुरू हुई थी, उतनी जल्दी ही खत्म हो गयी।

साइमन कमीशन १९२९ में भारत आने वाला था। भारत के भावी संविधान के निर्धारण के लिए १९२७ में मुस्लिमों ने हिंदू-मुस्लिमों की संयुक्त निर्वाचन-पद्धति का समर्थन किया—इस शर्त के साथ कि सिंध को उस काल की बम्बई प्रेसीडेंसी से अलग कर दिया जाये, और उ. प्र. सीमान्त सूबे और बलूचिस्तान में सुधार-कार्य किये जायें।

बात अविश्वसनीय लगेगी, मगर तब के हिंदू दलों ने संयुक्त निर्वाचन-पद्धति के प्रस्ताव को तो मान लिया, पर दोनों शर्तों को नहीं माना। यह पहला अवसर था, जब मुस्लिमों ने संयुक्त निर्वाचन-पद्धति को स्वीकार किया था, और उनकी दोनों शर्तों को न मानकर हिंदुओं ने भारी ग़लती की, ऐसा मेरा विश्वास है। इससे इसके बाद मुस्लिमों की मांगें उत्तरोत्तर बढ़ती गयीं, और पाकिस्तान का जन्म इन्हीं मांगों की परिणति था।

०००

फरवरी, १९४१। रविवार का दिन। मैं बार जीमखाना में कांगा के दरबारियों के साथ बैठा था कि फोन आया कि मुख्य न्यायाधीश सर जॉन ब्यूमां मुझसे मिलना चाहते हैं। जब मैं उनसे

मिला, तो उन्होंने कहा, 'मैं चाहता हूं कि तुम बम्बई उच्च न्यायालय के एक न्यायाधीश बन जाओ। ४००० रुपये वेतन होगा, पर्याप्त अवकाश और प्रतिष्ठा अलग'। अपनी पत्नी से विचार-विमर्श करने के बाद, मैंने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। मेरी शुरुआत चेंबर जज के रूप में हुई।

मेरे जज बनने से पहले यह प्रथा थी कि जज अदालत में आने से पहले दोनों पक्षों की दलीलों के काग़ज़ पढ़कर आते थे। मैंने इस प्रथा को समाप्त किया, क्योंकि मुझे लगा कि यह ग़लत प्रथा थी।

१५ अगस्त, १९४७ को, जिस दिन भारत स्वतंत्र हुआ, मैं बम्बई उच्च-न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश नियुक्त हुआ। मैं बम्बई उच्च न्यायालय का पहला भारतीय मुख्य न्यायाधीश था, और अपनी जिम्मेदारियों से बेखबर नहीं था।

मैं तत्कालीन बम्बई सरकार को इस बात पर राज़ी करने में सफल हो गया कि जजों की नियुक्तियों का सूत्रपात मुख्य न्यायाधीश को करना चाहिये, सरकार को नहीं। सरकार ने मेरे इस प्रस्ताव को मान तो लिया, पर बाद में इसको लेकर तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री मोरारजी देसाई से मेरी दो बार बड़ी दिलचस्प टक्करें हुईं। मैं बार के एक ऐसे सदस्य को सीधा जज नियुक्त करना चाहता था, जो हिंदू महासभा का सदस्य था। श्री देसाई ने इसका विरोध किया। उनके विरोध के उत्तर में मैंने कहा कि मुझे उन सज्जन के राजनैतिक विचारों से कोई लेना-देना नहीं है। मुझे खुशी है कि वे अंत में एक योग्य जज सिद्ध हुए।

एक सहायक जज की नियुक्ति की सिफ़ारिश करते समय मैंने एक वरिष्ठ मुस्लिम जज की उपेक्षा करके एक ग़ैर-मुस्लिम जज की सिफारिश की। इस पर मोरारजी देसाई मुझसे बहुत अप्रसन्न हुए कि मैंने एक अल्पसंख्यक जज के दावे की उपेक्षा क्यों की? मैंने अपनी सिफा-रिश का औचित्य समझाते हुए कहा कि सिफारिश करने का आधार योग्यता थी, सांप्रदायिक भावना नहीं।

यद्यपि श्री देसाई से मेरे अनेक मतभेद थे, और कई अवसरों पर हम दोनों के बीच तीखा पत्र-व्यवहार भी हुआ, तो भी मैं यह कहना चाहूंगा कि वे एक दृढ़ और योग्य मुख्यमंत्री थे। उनमें कोई सांप्रदा-यिक पक्षपात की भावना न थी।

मोरारजी को ब्रिज खेलने का बहुत शौक़ था, और वे मेरे साथ ब्रिज खेलने के इच्छुक थे। मगर उनका सिद्धांत था कि वे दांव के साथ नहीं खेलते थे, और मेरा सिद्धांत था कि दांव के साथ ही खेला जाये। और चूंकि हम दोनों ही सिद्धांत-प्रेमी थे, इसलिए हमारा ब्रिज का खेल कभी नहीं हो पाया।

मैं ग्यारह वर्षों तक बम्बई न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश रहा, और ये वर्ष मेरे जीवन के सर्वश्रेष्ठ वर्षों में थे।

४ अक्तूबर, १९५६ को मैं पं. नेहरू के आमंत्रण पर बम्बई का कार्यकारी राज्यपाल बना। यद्यपि मैं बहुत कम समय के लिए कार्यकारी राज्यपाल था, तथापि इस दौरान, मुझे जिन विशिष्ट व्यक्तियों का राजभवन में स्वागत करने का सौभाग्य मिला, उनमें चीन के तत्कालीन प्रधान-मंत्री चाऊ-एन-लाई भी थे। जब उनके सम्मान में एक संस्कृतिक कार्यक्रम प्रस्तुत किया गया, तो उन्होंने एक अभिनेत्री से 'आवारा' फिल्म का वह गाना गाने को कहा, जो उन दिनों चीन में बहुत लोकप्रिय था। जब यह गाना गाया गया, तो चाऊ-एन-लाई बहुत प्रसन्न हुए।

चाऊ-एन-लाई के अलावा, राजभवन में, इथोपिया के सम्राट हेल सेलासी, ब्रिटेन के भूतपूर्व प्रधानमंत्री एटली, बर्मा के प्रधानमंत्री और दलाई लामा आये थे। दलाई लामा को राजभवन से दिखायी देने वाला सागर बड़ा आह्लादक लगा।

इसी अल्प अवधि में मैंने बैंक ऑफ इंडिया की स्वर्ण-जयंती के समारोह की अध्यक्षता की। बैंक की शुरुआत के समय से ही मेरा खाता इस बैंक में था। इस अवसर पर भाषण देते समय, मैंने कहा, 'जब मैं एक बेकार बैरिस्टर था, तब मैंने किसी को एक चेक लिखकर दिया था, जो मेरे हिसाब में जमा राशि से एक रुपया अधिक का था। बैंक ने फ़ौरन उस चेक को अस्वीकार कर दिया। मैं बैंक से अपील करता हूं कि वे भविष्य में बेकार बैरिस्टरों के प्रति उदार रहें; क्योंकि ऐसा ही कोई और बेकार बैरिस्टर भविष्य में उनके अन्य जयंती समारोहों की अध्यक्षता कर सकता है।'

१० दिसंबर को नये राज्यपाल श्री-श्रीप्रकाश को कार्यभार सौंपकर मैं पुनः उच्च न्यायालय में आ गया, मुख्य न्यायाधीश के रूप में ही।

मैं दिल्ली में सेतलवाड का मेहमान था कि तत्कालीन गृह-मंत्री पंडित गोविंद वल्लभ पंत ने मुझे रात्रि-भोजन के लिए आमंत्रित किया। वहां उन्होंने मुझसे कहा, 'छागलाजी, आपने देश की अनेक सेवाएं की हैं। पंडितजी (प्रधानमंत्री पं. नेहरू) एक मामले को विशेष महत्त्व देते हैं, और उस संबंध में देश को आपकी सेवाएं दरकार हैं।'

मेरे यह उत्तर देने पर कि मैं देश की हर सेवा के लिए प्रस्तुत हूं, पंतजी ने कहा, 'संसद में जीवन बीमा निगम के कार्य-कलापों को लेकर काफी बहस हुई है। हम चाहते हैं कि आप एक-सदस्यीय आयोग के रूप में उसके कार्यकलापों की जांच करें।'

हम बात कर ही रहे थे कि वित्तमंत्री श्री कृष्णमाचारी भी वहां आ गये। जब पंतजी ने उन्हें बताया कि मैं एक-सदस्यीय आयोग के रूप में जीवन बीमा निगम के कार्यकलापों की जांच करूंगा, तो श्री कृष्णमाचारी की मुद्रा से मुझे लगा कि यह खबर सुनकर उन्हें कोई खुशी नहीं हुई। पता नहीं वे मुझसे नाखुश थे, या जांच के

फ़ैसले से।

जांच से पूर्व, मैंने दो बातें स्पष्ट कर दीं। पहली—अटर्नी-जनरल सेतलवाड सरकार की ओर से पैरवी करेंगे, और दूसरी—जांच-कार्य खुले आम होगा।

इस जांच की, जिसे देशव्यापी लोकप्रियता मिली, तफ़सील में मैं जाना नहीं चाहूंगा। मुझे सिर्फ़ यह निर्णय करना था कि वित्तमंत्री की संसद में इस घोषणा के बाद कि निगम की राशि अच्छी और प्रतिष्ठित कंपनियों के शेयरों में ही लगायी जायेगी, निगम की एक करोड़ की राशि हरिदास मूंदड़ा की ६ लिमिटेड कंपनियों में क्यों लगाया गया? खास तौर पर जब १९ सितंबर, १९५७ को प्रधानमंत्री पं. नेहरू ने, जो टी. टी. कृष्णमाचारी की अनुपस्थिति में वित्तमंत्री का कार्यभार संभाल रहे थे, मूंदड़ा की फाइल पर लिखा था, 'जहां तक मैं जानता हूं इन महाशय की इज्जत कोई खास अच्छी नहीं है।' वास्तव में मुझे उस व्यक्ति या उन व्यक्तियों का पता लगाना था, जिन्होंने एक करोड़ रुपये मूंदड़ा की कंपनियों में लगाने के आदेश दिये थे।

मेरा निर्णय यह था—सारा सौदा संदेहास्पद स्थितियों में किया गया, और नियमानुसार नहीं किया गया। सौदे के निर्देश वित्त-सचिव ने दिये थे, मगर उसकी अंतिम जिम्मेदारी वित्तमंत्री की है। सारा सौदा, निगम के हितों को ध्यान में रखकर नहीं, वरन् मूंदड़ा के हितों को ध्यान में रखकर और उसकी मदद के लिए किया गया था। मैंने निर्णय के अंत में, कुछ सिद्धांत भी प्रस्तुत किये, जो भविष्य में ऐसे सौदों के आधार बनने चाहिये।

मेरे इस निर्णय से, जिसके फलस्वरूप कृष्णमाचारी को त्यागपत्र देने को बाध्य होना पड़ा, नेहरू काफ़ी अप्रसन्न थे। जब कृष्णमाचारी त्यागपत्र देकर, हवाई जहाज़ से जाने लगे, तो वे स्वयं उन्हें विदा करने गये।

मगर, डॉ. राजेंद्रप्रसाद इस निर्णय से बहुत प्रसन्न हुए। श्री हुमायूं कबीर ने उन्होंने कहा, 'यदि विश्व के छह श्रेष्ठतम जजों को इस जांच काम का सौंपा जाता, तो वे भी ऐसा तर्कसंगत और न्यायपूर्ण निर्णय नहीं दे सकते थे।'

०००

सितंबर १९५७ में मुझे अंतरराष्ट्रीय अदालत का तदर्थ न्यायाधीश नियुक्त किया गया। अदालत के सामने पुर्तगाल का वह मामला पेश था, जिसमें उसने दावा किया था कि उसे दमन और दादरा, नगर हवेली के बीच आने-जाने का पूरा अधिकार है, और भारत को उसे यह अधिकार देना होगा।

अंतरराष्ट्रीय अदालत का जज बनना एक नया-निराला अनुभव था, मेरे लिए।

कृष्णमाचारी-कांड के बाद पं. नेहरू के साथ मेरे संबंध थोड़े ठंडे हो गये थे, इसलिए जुलाई, १९५८ की एक शाम को जब मैं विलिंगडन क्लब में ब्रिज खेल [illegible]

रहा था, मुझे राजभवन से यह फोन मिला कि पंडितजी मुझसे मिलना चाहते हैं, तो मुझे थोड़ा अचरज हुआ।

बड़ी गर्मजोशी के साथ मेरा स्वागत करके पंडितजी मुझसे बोले, 'छागला, तो तुमने फैसले बहुत कर लिये। अब एक फैसला मेरा सुनो। तुम मुख्य न्यायाधीश के पद से इस्तीफ़ा देकर वाशिंगटन चले जाओ, अमरीका में भारतीय राजदूत के रूप में। यह जिम्मेदारी तुम्हें फ़ौरन संभालनी है।'

मेरे सामने कोई चारा न था, इस प्रस्ताव को स्वीकार करने के अलावा। मेरे सामने एक ही समस्या थी – मेरे विशाल पुस्तकालय का क्या होगा? मेरी यह समस्या राज्यपाल श्री श्रीप्रकाश ने हल कर दी। उन्होंने कहा, 'आप अपनी सब पुस्तकें राजभवन में छोड़ जायें, और अमरीका से वापस आने पर ले लें।'

राजदूत की मेरी नियुक्ति को लेकर लोकसभा और राज्यसभा दोनों में प्रश्न उठे। कुछ सदस्यों ने यह एतराज़ किया कि जजों को राजदूत बनाने की परंपरा आरंभ करके सरकार न्यायपालिका को अपने पक्ष में प्रभावित करने का प्रयास कर रही है। इसका उत्तर पंतजी ने इन शब्दों में दिया, 'यह नियुक्ति श्री छागला की प्रामाणिकता, स्वतंत्रता और योग्यता को प्रमाणित करती है। यदि उनके स्थान पर कोई कमजोर या वशवर्ती जज होता, तो सदस्यों का यह आक्षेप कुछ उचित भी होता, मगर छागला जैसे न्यायप्रिय और स्वतंत्र वृत्ति के जज के बारे में यह अनुचित ही प्रतीत होता है।'

१९४६ के उस अल्पकाल को छोड़कर, जब मैं राष्ट्रसंघ में अफ्रीका की वर्णभेद नीति का विरोध करने वाले प्रतिनिधि-मंडल का एक सदस्य था, मुझे कूटनीतिक कोई अनुभव न था। मेरा अब तक का जीवन न्यायपालिका में बीता था।

अमरीकी विदेश-सचिव श्री डलेस से मिलने पर, मैंने उन्हें यह समझाने की कोशिश की कि पाकिस्तान जैसे भारत-विरोधी देश को सैनिक सहायता देकर अमरीका ख्वामख्वाह भारत के साथ अपने संबंधों को बिगाड़ रहा है। डलेस मेरे तर्कों से राज़ी तो न हुए, मगर मुझसे विदा लेते समय, उन्होंने कहा, 'मिस्टर एंबैसेडर, यदि आप भविष्य में भी ऐसे ही स्पष्टवादी रहे, तो हमारे-आपके संबंध ठीक चलते रहेंगे।'

तत्कालीन अमरीकी राष्ट्रपति आइसनहॉवर सज्जन व्यक्ति थे, मगर वे डलेस के हाथों का खिलौना बने हुए थे। निक्सन उनके सहायक थे, और मुझे वे पहली ही दृष्टि में ठीक नहीं लगे, हालांकि राजदूत के रूप में मैंने अपनी अरुचि उन पर व्यक्त नहीं होने दी। मुझे निक्सन बड़े आत्म-केंद्रित और पाखंडी लगे।

कैनेडी के राष्ट्रपति चुने जाने से मुझे बड़ी खुशी हुई, क्योंकि वे भारत के अलावा प्रधानमंत्री पं. नेहरू का बड़ा

सम्मान करते थे। अपने उद्घाटन-भाषण में उन्होंने पं. नेहरू के कुछ कथनों को उद्धृत किया था, जिसको लेकर उनकी अमरीका में काफ़ी आलोचना हुई थी।

राष्ट्रपति बनने के बाद, कैनेडी ने अधिकृत रूप से जिस समारोह में भाग लिया था, वह था सत्यजीत रे की 'अपूर संसार' का उद्घाटन-समारोह। इस फिल्म के एक दृश्य में एक स्नातक ७० रुपये महीने पर एक प्रेस में नौकरी करता है। कैनेडी ने मुझसे पूछा, '७० रुपये अर्थात कितने डॉलर?' जब मैंने बताया, तो उन्हें विश्वास नहीं हुआ। मैंने उन्हें सूचित किया कि देश में लाखों स्नातक बेकार हैं, और इससे गरीबी की उस समस्या का अनुमान लगाया जा सकता है, जो हमारे देश के सामने मौजूद है।'

मेरे सेवा-काल में ही नेहरू राष्ट्रसंघ की एक सभा में भाग लेने आये थे। राष्ट्रसंघ के उसी सुप्रसिद्ध अधिवेशन में, ख्रुश्चेव ने मेज़ पर जूता बजाया था और क्रेस्टो अपना राजदूतावास हरलेम (नीग्रो लोगों की एक बस्ती) में ले गये थे।

०००

अपना सेवा-काल पूरा करके जब मैं भारत लौटा, तो मेरे सामने सबसे बड़ी चिंता निवास-स्थान खोजने की थी। फ्लैट ढूंढ़ने के लिए, मुझे बम्बई के मुख्यमंत्री से लेकर प्रधानमंत्री के घर तक के चक्कर लगाने पड़े। अंत में, बड़ी परेशानी के बाद—क्योंकि मैं 'पगड़ी' देने को तैयार न था—मुझे एक फ्लैट मिला। पर इस फ्लैट में आने के कुछ दिन बाद ही, मेरी पत्नी का देहांत हो गया। यह एक ऐसा आघात था, जिससे मैं आज तक नहीं उबर सका हूं, कारण मेरी पत्नी मेरे जीवन का एक अभिन्न अंग बन गयी थी।

एक दिन जब मैं विलिंग्डन क्लब में ब्रिज खेल रहा था, मेरे पास मुख्यमंत्री का फोन आया कि वे मुझसे फ़ौरन मिलना चाहते हैं। जितने महत्त्वपूर्ण सरकारी संदेश मुझे मिले, वे इसी क्लब में मिले। मिलने पर, मुख्यमंत्री श्री चव्हाण ने मुझे बताया कि पं. नेहरू चाहते हैं कि मैं शीघ्र ही ब्रिटेन के लिए रवाना हो जाऊं—हाई कमिश्नर की हैसियत से। मैं इस महत्त्वपूर्ण पद को स्वीकारने के मूड में बिलकुल नहीं था, मगर यह याद करके कि जिम्मेदारी से बचना, देश की सेवा के अवसर से बचना होगा, मैंने इच्छा न होते हुए भी, इस पद को स्वीकार कर लिया।

ब्रिटेन के अपने सेवा-काल की तीन महत्त्वपूर्ण घटनाएं मेरे ज़ेहन में हैं। पहली—चीनी आक्रमण, दूसरी—राष्ट्र-मंडलीय प्रधानमंत्री सम्मेलन और तीसरी—राष्ट्रपति डॉक्टर राधाकृष्णन् की ब्रिटेन-यात्रा।

चीनी आक्रमण के समय, ब्रिटेन ने हमें पूरी मदद पहुंचायी। स्वयं ब्रिटेन का हित इस बात में था कि भारत जैसा प्रजातंत्रीय देश एक कम्यूनिस्ट देश के आक्रमण का शिकार न हो।

जब राष्ट्रमंडलीय प्रधानमंत्री सम्मेलन में भाग लेने के लिए पं. नेहरू ब्रिटेन आये तो मेरे पास ही ठहरे थे। उस दौरान, मैंने उन्हें मुल्कराज आनंद कृत एक पुस्तक दिखायी 'द हिंदू फिलॉसफ़ी ऑफ एरोटिसिज्म'। यह पुस्तक भारतीय मूर्तियों से संबंधित थी। पंडितजी पुस्तक देखकर बहुत प्रसन्न हुए, मगर जब उन्हें पता चला कि इस पुस्तक पर भारत में मोरारजी ने प्रतिबंध लगा दिया है, तो उन्होंने इस बारे में कुछ करने का आश्वासन दिया।

राष्ट्रपति डॉक्टर राधाकृष्णन् की यह-यात्रा कई अर्थों में अविस्मरणीय थी। यह पहला अवसर था, जब राष्ट्रमंडल के एक गणतंत्र-राज्य के प्रमुख ने ब्रिटेन-यात्रा का निश्चय किया था। जब भी वे बाहर जाते थे, मैं उनके साथ रहता था। एक बार वे घर लौटते समय, अचानक बोले, 'मैं अपने प्रकाशक से मिलना चाहता हूं।' मैंने कहा, 'मैं इसकी उचित व्यवस्था कर दूंगा।' पर, राधाकृष्णन् ने कहा कि इसमें व्यवस्था की क्या बात है, कार को एलेन एंड अनविन के कार्यालय की ओर मोड़ दो। ऐसा ही किया गया, और इस प्रकार हम उस कार्यालय में पहुंचे। वहां जाकर उन्होंने पहला सवाल यह किया, 'मेरी पुस्तकें कैसी बिक रही हैं?' इस घटना से अनुमान लगाया जा सकता है कि डॉक्टर राधाकृष्णन् कितने सरल और निरभिमानी थे।

ब्रिटेन से लौटने के बाद मुझे कई दिनों तक दिल्ली में पं. नेहरू का मेहमान रहना पड़ा। दो-तीन दिन बाद, उन्होंने सहसा मुझसे पूछा, 'मैं मंत्रिमंडल में कौन-सा विभाग लेना पसंद करूंगा!' मैंने कहा—'विधि-विभाग के अलावा कोई भी विभाग।' नेहरू को यह उत्तर बड़ा दिलचस्प और आश्चर्यजनक लगा।

अंत में मुझे शिक्षा-मंत्री बनने को कहा गया। यह मुझे बहुत बाद में ही पता चला कि बहुत से कांग्रेसी मेरे जैसे गैर-कांग्रेसी के मंत्री बन जाने से प्रसन्न नहीं थे, और नेहरू को उन्हें मनाने में काफी कठिनाई आयी थी। उनकी परेशानी दूर करने के लिए मैं कांग्रेस का साधारण सदस्य बन गया, और खादी भी पहनने लगा। पर खादी न केवल असुविधाजनक थी, महंगी भी थी। मैं पंडितजी के कहने पर तत्कालीन कांग्रेस-अध्यक्ष श्री संजीव रेड्डी से भी मिला, जो मेरे समान 'न्यू स्टेट्समैन' के पाठक थे। इससे उनकी राजनीतिक जागरूकता का परिचय मिलता था।

मेरे अनुरोध पर, प्रधानमंत्री ने शिक्षा विभाग में विज्ञान और संस्कृति के वे विभाग भी दुबारा शामिल कर दिये, जो मौलाना आज़ाद के निधन के बाद शिक्षा-विभाग से अलग कर दिये गये थे।

शिक्षा-मंत्री बनने के बाद, मैंने सब राज्यों को यह समझाने की बहुत कोशिश की कि वे शिक्षा की पूरी ज़िम्मेदारी केंद्र को सौंप देने को तैयार हो जायें, ताकि

संविधान में उचित संशोधन करके इस व्यवस्था को कानूनी रूप दिया जा सके। पर पंजाब को छोड़कर कोई राज्य इसके लिए राज़ी न हुआ।

मैंने एक राष्ट्रीय शिक्षा की स्थापना भी की, जिसके अध्यक्ष थे सुप्रसिद्ध शिक्षा-विद् और वैज्ञानिक डॉक्टर कोठारी। इस आयोग ने जो रपट प्रस्तुत की, वह बहुत मूल्यवान थी, मगर मेरे शिक्षा-विभाग से जाने के बाद, उसका क्या हश्र हुआ, मुझे नहीं मालूम।

भाषा के प्रश्न को लेकर, मुझे कई बार संसद में सदस्यों की तीखी आलोचना सहन करनी पड़ी। मेरा मत है कि जब तक हिंदी पूरी तरह से अंग्रेज़ी का स्थान लेने योग्य न हो जाये, और जब तक बंगाल और दक्षिण उसे स्वेच्छा से अपनाने को तैयार न हो जायें, तब तक हम अंग्रेज़ी को अपनाने के लिए बाध्य हैं। मैं हिंदी का हिमायती हूं, और मैंने अपने मुस्लिम भाइयों से उर्दू भाषा के लिए देवनागरी लिपि अपनाने का बारं-बार अनुरोध भी किया है। मैंने उन्हें बताया कि ग़ालिब के दीवान की जितनी प्रतियां हिन्दी में बिकी हैं, उर्दू में नहीं।

मेरे ही सेवा-काल में डाक्टर राधाकृष्णन् के जन्म-दिवस को शिक्षा-दिवस के रूप में मनाने का निश्चय किया गया, क्योंकि मैं शिक्षक को अतीत जैसी गरिमा और प्रतिष्ठा दिलाना चाहता था। इस अवसर पर योग्य शिक्षकों को पुरस्कार देने की प्रथा भी आरंभ हुई।

०००००

एक दिन मैं अपने कार्यालय में अपने विभाग के कुछ अधिकारियों से बात कर रहा था कि कृष्णमाचारी ने सहसा वहां आकर, अकेले में, मुझे सूचित किया कि प्रधानमंत्री चाहते हैं कि मैं सुरक्षा-परिषद् की सभा में भाग लेकर कश्मीर संबंधी बहस में, भारत का प्रवक्ता बनूं। मैं इसके लिए तैयार न था, मगर प्रधानमंत्री की इच्छा मेरे लिए सर्वोपरि थी।

मुझे संतोष है कि सुरक्षा-परिषद् में मैंने जो भाषण दिये, उन्हें भारत में काफ़ी सराहा गया, और उनसे श्री भुट्टो की झूठी शिकायत का कि कश्मीर में भारत के खिलाफ़ विद्रोह पनप रहा है, मुंहतोड़ जवाब मिला।

श्री नंदा के गृहमंत्री पद से त्यागपत्र देने के बाद, मंत्रिमंडल में हेरफेर हुए, और प्रधानमंत्री श्रीमती गांधी ने मुझे विदेश-विभाग सौंपा। इससे पूर्व, श्री लालबहादुर शास्त्री भी मुझे यह विभाग सौंपना चाहते थे, किंतु उनके कुछ सलाहकारों ने उन्हें यह सलाह दी थी कि मेरे पाकिस्तान के विरुद्ध कड़ा रुख अपनाने के कारण, मेरे विदेश-मंत्री बनने पर पाकिस्तान से अच्छे संबंध स्थापित होना कठिन हो जायेगा।

मैंने विदेश-मंत्री बनते ही, पाकिस्तान के हाई कमिश्नर श्री अजीज अहमद से सम्पर्क किया—और उनसे व्यापार, हवाई

उड़ानें आदि समस्याओं को हल करने में सहयोग करने का अनुरोध किया। मगर उनकी एक ही रट थी—जब तक कश्मीर-समस्या हल नहीं होती, तब तक कुछ नहीं हो सकता।

३१ अगस्त, १९६७ को मैंने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया, क्योंकि श्रीमती गांधी के मंत्रिमंडल ने शिक्षा के माध्यम के बारे में जो नीति अपनायी, वह उस नीति के विरुद्ध थी, जो शिक्षा-मंत्री के रूप में मैंने निर्धारित की थी।

०००

प्लेटो ने जिस दार्शनिक राजा की कल्पना की थी, डॉक्टर राधाकृष्णन् ने उसे साकार किया था। मैं कई बार उनसे राष्ट्रपति भवन में मिला, और हर बार उनसे अधिकाधिक प्रभावित होकर लौटा। वे देश में व्याप्त और बढ़ रहे भ्रष्टाचार से वहुत दुखी थे, और अपनी कुंठा को अपने भाषणों में व्यक्त भी करते रहते थे, जिसके कारण उनकी वड़ी आलोचना भी हुई थी कि वे अपनी संवैधानिक सीमाओं का उल्लंघन कर रहे हैं।

राष्ट्रपति जाकिर हुसैन न डॉ. राधाकृष्णन् के समान दार्शनिक थे, न उनके स्तर के शिक्षा-शास्त्री। अपने उप-राष्ट्रपति और राष्ट्रपति पद पर रहते हुए, उन्होंने शेक्सपियर के एक नाटक का अनुवाद उर्दू में किया था। धार्मिक वृत्ति के होते हुए भी वे, कट्टर राष्ट्रवादी थे।

मैंने तीन प्रधानमंत्रियों के नीचे काम किया—पं. नेहरू, श्री लालबहादुर शास्त्री और श्रीमती इंदिरा गांधी। पं. नेहरू ने प्रधानमंत्री पद को एक अनूठी गरिमा प्रदान की; वे स्वयं एक महान मानव थे, पक्के मानवतावादी और सच्चे प्रजातंत्री। और यद्यपि वे कभी-कभी संसदीय प्रणाली और न्यायपालिका के धीमेपन से परेशान हो उठते थे, किंतु उनकी अवहेलना करने का विचार उनके मन में कभी नहीं आया।

श्री लालबहादुर शास्त्री एक सरल और विनम्र इन्सान थे। उनकी सरलता और विनम्रता दिखावटी नहीं, खरी थी। अलीगढ़ मुस्लिम विधेयक संबंधी बहस के दौरान, मैंने पाया कि किस प्रकार वे अल्पसंख्यकों के हितों का ध्यान रखते थे। और पाकिस्तान के साथ हुए युद्ध में, जो वस्तुत: भारत पर लादा गया था, अपने देश का सफल नेतृत्व कर उन्होंने दिखा दिया कि संकट के क्षणों में वे किस प्रकार दृढ़ और निर्भय हो सकते हैं।

प्रधानमंत्री बनने से पूर्व, श्रीमती गांधी बहुत शर्मीले स्वभाव की थीं, मगर प्रधानमंत्री वनते ही वे जिस प्रकार सहसा प्रभावशाली भाषण देने लगीं, और आत्म-विश्वासपूर्वक बातें करने लगीं, वह मेरे लिए आश्चर्य का विषय था। उनके पिता एक श्रेष्ठ राजनेता थे, मगर इतने अच्छे राजनीतिज्ञ नहीं थे। मगर श्रीमती गांधी में जो राजनीतिक सूझबूझ है, वह
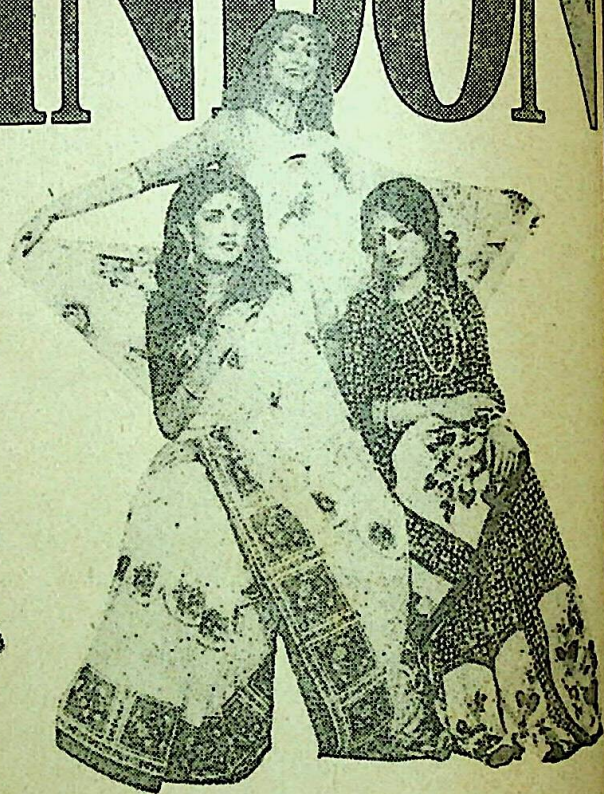
बड़े से बड़े राजनीतिज्ञों के लिए ईर्ष्या का विषय हो सकती है।

०००

तो, यह है धूप-छांह, सुख-दुख, आशा-निराशा से भरी मेरी कहानी, एक ऐसे आदमी की कहानी, जिसने जीवन में मीठे-कड़वे सब अनुभव हासिल किये हैं।

जीवन से मैंने क्या सीखा है? कृपालु होना, सहानुभूतिशील होना। दूसरे से टूटना नहीं, जुड़ना। गलतफ़हमियों और संघर्षों की बाधा को आपसी समझ कर सौहार्द के पुल से पाटना। मैंने सीखा है कि जीवन का सबसे महान दर्शन यह है कि जीवन और उसके रागों के प्रति तटस्थ रहा जाये, ताकि जब अंत आये, तो कोई कष्ट न हो। इस संदर्भ में मैं गीता का प्रशंसक हूं।

काम के नशे के अलावा मुझे कोई और नशा नहीं है। इसलिए दिल्ली से आने के बाद जब मैंने अवकाश-प्राप्त आदमी का जीवन बिताना आरंभ किया, तो मुझे लगा, मैं पागल हो जाऊंगा। इसलिए स्वयं को व्यस्त रखने के लिए, मैं सर्वोच्च न्यायालय का एक एडवोकेट बन गया। आज तक मैं इस पेशे को अपनाये हुए हूं।

मेरी कहानी पढ़कर आपने यह अनुमान तो लगा ही लिया होगा कि मैं अन्तर्मुखी स्वभाव का इंसान हूं। ब्रिज के अलावा, मैं और कोई खेल अच्छी तरह नहीं खेल सकता। जब मैं काम में व्यस्त नहीं रहता तो या तो ब्रिज खेलता हूं या पढ़ता हूं। मुझे न पैदल घूमना पसंद है, न कारों में घूमना। अपने साथी जजों के साथ जब मैं कभी-कभी गोल्फ खेलता था, तो मेरी गेंद ५० या ६० गज़ से आगे नहीं जाती थी, और मेरे साथी मुझे चिढ़ाया करते थे कि मैं जीवन में सीधे और संकरे मग पर चलने का आदी हूं। मगर मैंने उनसे यह कभी नहीं कहा कि इस पथ पर चलना कितना नीरस है।

मैं ज़रूरत से ज्यादा संवेदनशील हूं, और मेरी रुचि के खिलाफ कुछ कह दिया जाये, तो मेरा मूड एकदम ग़ायब हो जाता है। मगर ऐसे क्षणों में मुझे उन कृपाओं की कृतज्ञतापूर्वक याद आने लगती है, जो मेरे प्रति मेरे परिचितों और अजनबियों ने प्रदर्शित की थी।

मैं जीवन में बौद्धिक ईमानदारी को सर्वोपरि मानता आया हूं। अपनी अंतरात्मा के विरुद्ध कुछ करने से बड़ा पाप मेरी दृष्टि में दूसरा नहीं है।

संगीत से मुझे प्रेम है, भले ही वह पाश्चात्य हो या भारतीय। भारतीय संगीत में शास्त्रीय संगीत का रसास्वादन मैं नहीं कर पाता। पाश्चात्य संगीत में सिम्फनियों ने मुझे बड़ा आनंद दिया है।

जीवन के विभिन्न पक्ष हैं, विभिन्न आयाम हैं, विभिन्न मूड हैं। यह हम पर निर्भर करता है कि हम उसे एक 'एडवेन्चर' मानें, या मृत्यु के क्षण तक की जा रही एक कष्टपूर्ण यात्रा।

□

(पृष्ठ १२४ का शेषांश)

में हिरन के बंधन को उसका मित्र कछुआ काट रहा है। कुछ दृश्य फलकों में बंदर, हाथी, नट आदि के माध्यम से शिल्पी ने हास्यरस की सृष्टि भी की है।

भरहुत हीनयान युग की कला है। उसमें बुद्ध का मानव-रूप नहीं अंकित किया गया है। हीनयान विचारधारा में जो निर्वाण पा चुका हो, जो मुक्त हो चुका हो, उसे आकार देकर पुनः बंधन में डालना वर्जित था।

फलतः तत्कालीन हीनयानियों ने बुद्ध की मूर्ति नहीं बनायी, परंतु भगवद्गीता के भक्ति-आंदोलन तथा वैष्णव मूर्ति-पूजन से बौद्ध अनुयायी प्रभावित हुए बिना न रह सके। उनमें चिंतन कम, भक्ति भाव अधिक था। अस्तु, उन्होंने भी देखा-देखी तथागत के शारीरिक, उद्देशक और पारिभौमिक प्रतीकों की पूजा का प्रावधान किया। बुद्ध के अवशेषों, अस्थि, नख, केश आदि को संपूज्य समझा जाने लगा। उनके जीवन की प्रमुख घटनाओं महाभिनिष्क्रमण, संबोधि, धर्म-चक्र-प्रवर्तन और महापरिनिर्वाण का क्रमशः छत्र लगे अश्व, बोधि-वृक्ष, चक्र एवं स्तूप के रूप में प्रतीकांकन किया जाने लगा। वेदिकामय आसन, पदचिह्न, छत्र और त्रिरत्न भी ऐसे ही बौद्ध-प्रतीक थे। प्रारंभिक बौद्धकला में बुद्ध की उपस्थिति के लिए इन्हीं प्रतीकों का उपयोग हीन-यान कलाकार ने किया था। स्तूप में बोधिवृक्ष, धर्मचक्र आदि प्रतीकों के निकट हाथ जोड़े, श्रद्धावनत नर-नारियों के झुंड और अंतरिक्ष में उड़ते किन्नर तो हैं ही, पशु-जगत भी बुद्ध-पूजा में पीछे न था।

भारतीय कला का सबसे अधिक महान प्रतीक पद्म है। पद्म पृथ्वी का द्योतक है। पृथ्वी की आठ दिशाएं उसके अष्टदल हैं। पृथ्वी की समृद्धि श्रीपद्म पर ही स्थित है। पद्म पवित्रता और विवेक का प्रतीक है। पद्म को भरहुत एवं सांची की शुंगयुगीन कला में जितने विविध रूपों में आंका गया है संसार की किसी भी अन्य कला में उतना नहीं आंका गया।

भरहुत की उत्कीर्ण कला में तत्कालीन भवनों के बहुरूपी अंकन भी उपलब्ध हैं। अलंकृत स्तूप, बहुभौमिक चक्रम्, बोधिचक्र और त्रिरत्न-मंडप तो हैं ही, देव-सभा-गार के रूप में इंद्र का बहुभौमिक विजयंत प्रासाद उल्लेखनीय है। एक फलक में नीचे अप्सराओं का नृत्य हो रहा है और कुछ दर्शक उसका आनंद उठा रहे हैं। ऊपर, एक ओर गोल छत वाले चैत्याकृत मंडप के नीचे आसन पर बुद्ध की चूड़ा आसीन है जिसके ऊपर छत्र तथा मालाएं लटक रही हैं और दूसरी ओर तीन मंजिल वाला एक भवन है, जिसमें नर-नारी अथवा देवतागण उपस्थित हैं। जेतवन वाले दृश्य में कौसंब और गंधकुटी उत्कीर्ण हैं।

भरहुत की कला प्रारंभिक भारतीय लोककला है। जिसमें विदेशी तत्त्वों का

नितांत अभाव है। इस कला की शैली मूर्तिकला से भिन्न थी। मूर्तिकला में मूर्ति को चारों ओर से तराशा जाता था, परंतु उत्कीर्ण कला में फलक में केवल एक ओर ही कुछ गहराई देकर दृश्य उकेरा जाता है। भरहुत की उत्कीर्ण कला चपटी है इससे 'लो-रिलीफ' शैली कहा जाता है। इसकी अपेक्षा सांची के विशाल स्तूप की उत्कीर्ण कला में गहराई बढ़ गयी थी। इसीलिए उसे 'हाई रिलीफ' कहते हैं।

भरहुत-स्तूप की वेदिका और तोरण पर दो सौ से अधिक छोटे-बड़े अभिलेख पाये गये हैं। ये अभिलेख शुंगयुगीन ब्राह्मी लिपि में हैं। इनमें कुछ दानवाची हैं जिनमें दाताओं के नाम और कभी-कभी उनके निवास स्थान और धंधे का उल्लेख भी पाया गया है। कुछ अभिलेख दृश्य फलकों के शीर्ष अभिलेख हैं, जो केवल भरहुत में ही पाये गये हैं। यदि ये शीर्ष अभिलेख न पाये गये होते तो प्रसेनजित और अजातशत्रु जैसे राजाओं के अंकन की पहचान नहीं की जा सकती थी। शुंग राजा धनभूति की समकालीनता भी भरहुत के अभिलेखों से ही संभव हो सकती है। कला-शैली, अभिलेख, उनकी लिपि तथा उनके कथ्य के आधार पर यह निर्विवाद है कि भरहुत स्तूप के तोरण और वेदिका का निर्माण ईस्वी पूर्व द्वितीय शती में हुआ था।

—१३६, तुलाराम बाग, इलाहाबाद

□

मां की याद

वर्षों पहले की घटना है। मेरी मां दमा रोग से ग्रस्त थीं। उनकी चिकित्सा अच्छे डाक्टरों की देख-रेख में हो रही थी। मैं उन दिनों घर पर नहीं था। रात्रि के दो बजे थे। मैंने स्वप्न देखा कि माताजी दमे में तड़फड़ाती हुई कह रही हैं कि—'बेटा! जल्दी आओ। मैं अब नहीं बचूंगी। मैं इतनी दूर चली जाऊंगी कि तुम कभी देख नहीं सकोगे।'

मैंने वह बात पत्नी को बतायी तो उसने कहा कि 'स्वप्न की बातें कहां सत्य होती हैं।' हम लोगों ने उस स्वप्न को निराधार समझकर टाल दिया। दिन के बारह बजे गांव से शोक समाचार आ गया कि माताजी चल बसीं। मैं बच्चों की तरह फूट-फूटकर रो पड़ा और अपनी पत्नी को धिक्कारने लगा। काश! मैं स्वप्न की सच्चाई पर विश्वास करके घर चला गया होता और मां का दर्शन करके कृतार्थ हो जाता। जब भी मैं उस घटना को याद करता हूं तो बड़ी बेचैनी मालूम होती है और आंखों से अश्रुधारा बह निकलती है। आज भी सोचता हूं कि मां की मृत्यु का पूर्वाभास स्वप्न में कैसे हो गया?

—कैलाश त्रिपाठी, सेवरही,
(देवरिया) उ. प्र.

०००

'वह नहीं आयेगा...'

दस साल पहले मैं अपने मित्र के साथ तीर्थराज पुष्कर में घूम रहा था। ब्रह्माजी के घाट के पास कुछ सटोरिये एक योगी को घेरकर उसके आस-पास खड़े हुए थे। देखते ही देखते उस योगी के इर्द-गिर्द काफी लोगों का जमघट हो गया। योगी चुपचाप खड़ा हुआ था। मेरे मित्र को देखकर उसने उसे अपने पास बुलाकर कहा, 'बेटा पूर्वजन्म में मैं तेरा ऋणी हूं। तू जो चाहे वह मुझसे मांग सकता है।'

मित्र ने यों ही कह दिया, 'बाबाजी, अगर आप चाहें तो मुझे विश्वविद्यालय में प्राध्यापक का पद दिलवा दीजिये। मैंने इस पद के लिए आवेदन-पत्र भेजा है।'

मित्र की बात सुनकर पागल की तरह हंसते हुए उस योगी ने कहा, 'बेटा, तूने मांगा भी तो क्या... साधारण सी बात! अपनी आत्मा का कल्याण क्यों नहीं मांगा? खैर! यह पद तेरी किस्मत में नहीं है। लेकिन विधाता से लड़कर मैं इस वचन को पूरा करूंगा।' इतना कहकर उस योगी ने एक कंकर उठाकर दक्षिण दिशा की ओर फेंकते हुए कहा, 'वह नहीं आयेगा, तेरा काम हो जायेगा।'

हमने तो उस योगी को पागल ही मान

लिया था, लेकिन कुछ समय बाद मुझे मालूम हुआ कि मेरे मित्र को वह पद मिल गया था। आश्चर्यजनक बात तो यह थी कि जिस पद पर जिस व्यक्ति का चयन हुआ था, वह व्यक्ति दक्षिण भारत का था। उसने इस पद को स्वीकार नहीं किया। अतः उसके स्थान पर पैनल में मेरे मित्र को लिया गया था। उस योगी की दक्षिण दिशा की ओर कंकर फेंकने की चेष्टा कितनी अद्‌भुत थी!

—डा. चन्द्रकांत त्रिवेदी, अजमेर

०००

मौत एक पहेली

१६ जुलाई १९८० की बात है। उस दिन रात को मैंने स्वप्न में देखा कि मेरे छोटे भाई की, जो उन दिनों गुमला में कार्यरत था, दुःखद मृत्यु हो गयी है। स्वप्न कुछ इस कदर भयावह था कि मैं स्वयं पर नियंत्रण नहीं रख पाया और अगली ही सुबह पहली बस द्वारा रांची से गुमला के लिए रवाना हो गया। सफर के दूसरे पड़ाव कुडु तक पहुंचते-पहुंचते एक अजीब-सी बेचैनी से मुझे उबकाई आने लगी। बस के पड़ाव पर रुकते ही मैं समीप के एक होटल में पानी लेने गया। मेरे आश्चर्य का उस समय कोई ठिकाना न रहा, जब मैंने होटल में पानी के लिए अपने उस भाई को भी खड़ा पाया, जिसके बारे में मैंने स्वप्न देखा था। पिछले ही दिन वह मुझसे मुलाकात कर सीधा गुमला लौटा था। इसलिए उसकी उस समय वहां होने की कोई संभावना न थी। मुझ पर नज़र पड़ते ही उसकी आंखों में एक विचित्र-सा भाव तैरा। करीब आकर उसने मुझे बताया कि पिछली रात उसने स्वप्न में जब यह देखा कि एक भयंकर दुर्घटना में मेरी दुःखद मृत्यु हो गयी है तो वह स्वयं पर नियंत्रण नहीं रख पाया और मुझसे मिलने को रवाना हो गया और यों रास्ते में संयोगवश हमारी मुलाकात हुई। मैंने भी जब उसे अपने स्वप्न के बारे में बताया तो सुनकर वह स्तब्ध रह गया। मौत की यह पहेली हमारी समझ में तो नहीं आयी थी, परंतु हमारी आशंकाओं का उन्मूलन हो गया था।

तभी हम दोनों ने निश्चय किया कि जब यहां तक आ ही गये हैं तो समीप के गांव जाकर, जहां हमारी बहन की ससुराल थी, उससे भी भेंट कर लें। जब हम गन्तव्य स्थान के करीब पहुंचने को हुए तो वहां एक विचित्र-सी हलचल देखकर हमारा माथा ठनका। नज़दीक आने पर देखा, वहां सफेद कपड़ों में लिपटी हमारी बहन की लाश पड़ी हुई थी। लोग हमें संभालने को आगे बढ़े, परंतु इसके पहले ही मैं चेतनाहीन होकर गिर पड़ा था। आज भी जब मुझे अपने और अपने भाई के उस स्वप्न के साथ जुड़ी अपनी बहन की मौत की उस घटना की याद आती है, मेरा रोम-रोम सिहर उठता है।

—विनोद कुमार लाल,
रामगढ़ कैंट (हजारीबाग)

पूर्वाभास

बात फरवरी के द्वितीय सप्ताह की है। मुझे मेरी कविताओं की रिकॉर्डिंग हेतु आकाशवाणी, रामपुर से अनुबंध प्राप्त हुआ। रिकॉर्डिंग ११ फरवरी को थी। एक मित्र से भी मिलना था। अतः मैं १० फरवरी को रात में रामपुर पहुंचा। बातें करते-करते हम सो गये। उसी रात मैंने सपना देखा कि तीन हवाई जहाज आकाश में बड़ी तेजी से उड़े जा रहे हैं। अचानक एक जहाज लुप्त हो जाता है और शेष दो जहाजों में भीषण विस्फोट होता है। बांस के जंगल के पास कुछ झोपड़ियों पर दोनों जहाज़ गिर पड़ते हैं और पुन: तीन बार विस्फोट होता है।

इतना देखकर मेरी आंख खुल गयी। थोड़ी ही देर में प्रात: रेडियो पर समाचार था–'मद्रास से १९९ किलोमीटर दूर तीन ट्रेनों में भयंकर टक्कर हो गयी है।'

यह टक्कर ठीक उसी समय हुई, जब मैं स्वप्न में वायुयान दुर्घटना का दृश्य देख रहा था। –राजकुमार पाण्डेय, मुरादाबाद

०००

नया मोड़

आगरा विश्वविद्यालय से इंजीनियरिंग की डिग्री प्राप्त करने के तुरंत बाद ही बड़ौत के जैन पालिटैक्निक में मुझे लेक्चरर का पद मिल गया। कालेज में 'हीट-इंजन' एवं 'वर्कशाप टैक्नॉलाजी' मेरे प्रिय विषय थे। इन दोनों विषयों पर मेरा अधिकार समझा जाता था। मुझे याद नहीं पड़ता कि कभी इन विषयों में मुझे ८५ प्रतिशत से कम अंक प्राप्त हुए हों। पालीटैक्निक में मुझे जब यही विषय पढ़ाने को मिले तो मेरी प्रसन्नता की सीमा नहीं रही।

पढ़ाने का क्रम चल निकला। धीरे-धीरे मैं पालीटैक्निक में लोकप्रिय हो चला। मेरे पढ़ाने की चर्चा प्रिंसिपल साहब के कानों में भी पड़ी। एक-दो बार तथ्य को परखने के लिए वे मेरी कक्षा में आये। कुछ देर बैठकर बिना कुछ कहे चले गये।

कुछ दिनों पश्चात् उन्होंने मुझे आफ़िस में बुलाया–'जहां तक थ्योरी की बात है–मुझे लगता है कि आप छात्रों के साथ न्याय कर रहे हैं, किंतु 'वर्कशाप-टैक्नालॉजी' का वास्तविक संबंध वर्कशाप के यथार्थ से है। सीमित साधनों के चलते हमारे यहां बहुत-सी मशीनें नहीं हैं। मैं सोचता हूं कि आप छात्रों को टूर पर ले जाइये और एक-दो अच्छी 'मशीन शॉप्स' और कच्छे कारखाने दिखाइये।'

प्रस्ताव व्यावहारिक था। छात्रों ने भी इसे पसंद किया। हम रांची के हैवी इंजीनियरिंग कार्पोरेशन की 'मशीन शाप्स' में गये। टिस्को की गमरिया (जमशेदपुर) स्थित 'मेंटेनेंस शॉप' में गये।

'मेंटेनेंस शॉप' की एक मशीन के सामने मैं अटक गया, वह एक विशालकाय मशीन थी।

'यह कौन-सी मशीन है ?'

'डब्ल्यू डी-२०० हॉरीज़ेंटल बोरिंग

मशीन।'

'और यह?'

'गीयर-शेपर.....'

तभी अपराध भाव की एक घटा सहसा मेरे मस्तिष्क में घुमड़ने लगी। जिन मशीनों को मैं पहचानता नहीं—उन मशीनों की साधिकार जानकारी में छात्रों को देता हूं, उन मशीनों की कार्यप्रणाली मैं छात्रों को समझाता हूं, कैसी विडंबना है!

कभी ऐसा भी होता है
मन की अंधेरी कंदरा में
दीपक की एक लौ
अचानक जल जाती है
जिसका एहसास होते ही
सांसों का प्रवाह थम जाता है
अगली सांस लेने में भी
मन घबराता है
इसी सोच में डूब जाता है
कहीं ऐसा न हो जाये
सांसों के झोंके में
दीपक की वह टिमटिमाती
लौ न बुझ जाये।

(सत्यकाम विद्यालंकार)

'लौ' के बुझ जाने से पूर्व मैंने त्यागपत्र दे दिया। वर्कशाप टैक्नालॉजी अवश्य पढ़ाऊंगा, किंतु वर्कशाप में काम करने के बाद मशीनों की कार्यप्रणाली अवश्य समझाऊंगा, किंतु मशीनों पर हाथ काले करने के अनंतर।

हैवी इंजीनियरिंग कार्पोरेशन, रांची के एक रूसी विशेषज्ञ का कथन याद आता है—'अपने देश में इंजीनियरिंग कालेजों में शिक्षण का रास्ता उद्योग से होकर जाता है। हमारे यहां के शिक्षकों एवं डिज़ाइनरों को उद्योग की व्यावहारिक जानकारी अनिवार्य है।' —सत्य स्वरूप दत्त, जमशेदपुर

□

(पृष्ठ ३५ का शेषांश)

पत्र है, मगर मैं उसका आशय न समझ सका। उनका हिंदी अनुवाद हो जाने से कदाचित कहानी में कुछ तत्त्व आ जाये। सभी के बचपन में प्रायः ऐसी घटनाएं हुआ करती हैं। उसका हमारे जीवन पर क्या प्रभाव होता है, हमें यह देखना है। युवती के पत्र से उसके मनोसत्य तो प्रकट हो जायेंगे। लेकिन नायक के जीवन ने आगे चलकर इस प्रेम के फलस्वरूप क्या रंग पकड़ा? आखिर इस प्रेम की कथा क्यों सबको सुनायी जाये, जब तक उसमें कोई खास बात या विशेषता या नयापन न हो। अगर हम सभी अपनी जवानी की प्रेम-कथाएं लिखने बैठें, तो सोचो कितना बड़ा दफ्तर हो जाये।

तुम पहले गुजराती पत्र का अनुवाद भेज दो।

१ अक्टूबर को हंस नये रूप में निकल रहा है। यह तो तुम्हें मालूम है।

श्री प्रभाकर माचवे ने तुम्हारी दोनों प्रकाशित कहानियों की सराहना की है।

शुभाभिलाषी—प्रेमचंद

□

(पृष्ठ ५१ का शेषांश)

ये शंकराचार्य भद्रकुल भूषण तथा आर्य कुलोत्पन्न गोशर्म्म मुनि के शिष्य थे। इनकी माता का नाम पद्मावती तथा पिता का नाम संघिल था। संघिल एक शूर अश्वपति थे एवं शत्रुओं से अजेय होने के कारण अपने को रिपुघ्न मानते थे। शंकर ने विधिवत यति मार्ग स्वीकार किया है। इनका जन्म उत्तर कुरु के समान श्रेष्ठ उत्तर देश में हुआ और उन्होंने कर्मरूप शत्रुओं के क्षयार्थ धर्म-कार्यों में श्रेष्ठ इस प्रतिमा के निर्माण का कार्य किया है।'

जनरल कनिंघम ने जब उत्खनन कार्य किया तो उसे इस पहाड़ी के ऊपरी हिस्से पर कई भवनों के अवशेष मिले। उसे एक अशोककालीन बौद्ध स्तंभ भी मिला, जो खंडित था। इस स्तंभ के शीर्ष भाग पर सिंहों की आकृति थी। यह शीर्ष भाग बाद में ग्वालियर के संग्रहालय में ले जाया गया।

भंडारकर के उत्खनन

जनरल कनिंघम के बाद पुरातत्त्व-शास्त्री श्री भंडारकर ने नवंबर १९१३ से फरवरी १९१४ तक इस पहाड़ी पर उत्खनन कार्य कराया। इस उत्खनन में उन्हें ११८ फुट लंबा एवं ७० फुट चौड़ा एक चबूतरा मिला। भंडारकर का अनुमान है कि इस चबूतरे पर एक विशाल मंदिर था। इस चबूतरे के उत्तर एवं दक्षिण में लघु मंदिरों के अवशेष मिले हैं।

चित्र : आलोक जैन

उनका यह भी अनुमान है कि किसी आक्रांता ने इन मंदिरों को पूरी तरह ध्वस्त किया था।

भंडारकर ने जिस चबूतरे की खोज की, उसी के पूर्व में बौद्ध स्तूप के अवशेष मिले थे। इस स्तूप का व्यास १६ फुट ८ इंच था।

उदयगिरि की पहाड़ी के आसपास अनेक हिन्दू, जैन एवं बौद्ध अवशेष बिखरे पड़े हैं। इस पहाड़ी के पीछे एक विशाल शिला पर नरसिंह अवतार चित्रित किया गया है। इन पहाड़ियों से ३ किलोमीटर दूर विघन नामक गांव है, जहां एक बौद्ध स्तूप के अवशेष मिले हैं। सांची, विदिशा और बेसनगर पुरातत्त्व अवशेषों के अथाह सागर हैं, जहां जितनी खोज की जाये कम हैं।

उदयगिरि की यह पहाड़ी बड़ी रमणीक है। यहां की प्राकृतिक सुषमा देखते ही बनती है। इस पहाड़ी के उत्तर में बेस एवं दक्षिण में बेतवा नदी बहती है। थोड़ी ही दूर चलकर इन दोनों नदियों का संगम है। यह संगम और कलकल बहती हुई नदियां, प्राकृतिक सौंदर्य की अद्भुत छटा बिखेरती हैं।

□
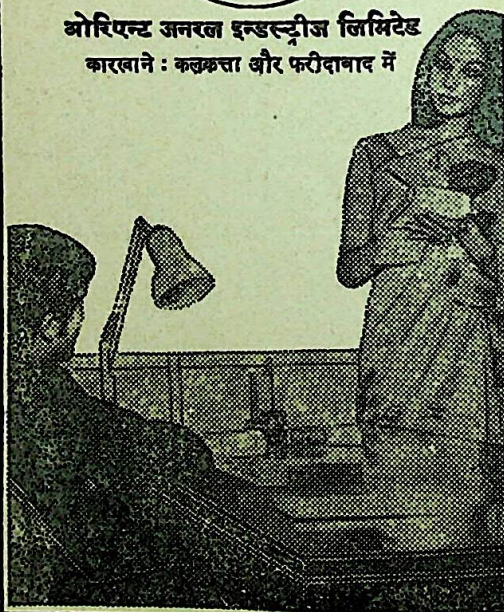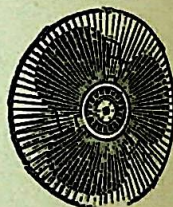
(पृष्ठ ९६ का शेषांश)

सत्तात्मक परिणामों की ओर इंगित करते हुए कहा है :

'आज का जीवविज्ञान इस पूर्वानुमान पर आधारित है कि जीवन-प्रक्रिया को रसायन-शास्त्र और भौतिकी की भाषा में समझाया जा सकता है। और भौतिकी तथा रसायन-शास्त्र दोनों की अंतिम अभिव्यक्ति परमाणु के कणों की पारस्परिक क्रिया के रूप में होती है। चूंकि हमने आदमी को या तो भूखों का एक बंडल बना दिया है, या जड़ स्वचालित यंत्र, इसलिए मानव की मूल धारणा एकदम भ्रष्ट हो गयी है। यही कारण है कि विज्ञान व्यक्तिगत उत्तरदायित्व की स्वीकृति की संभावना से इन्कार करता है। और यही कारण है कि विज्ञान को सर्वसत्तात्मक हिंसा के समर्थन के लिए प्रवृत्त किया जा सकता है, और विज्ञान आज खतरनाक भ्रान्तियों का सबसे बड़ा स्रोत बन गया है।'

वे आगे कहते हैं, 'आधुनिक सर्वसत्तावाद, जो विशुद्ध रूप से आदमी की भौतिकवादी धारणा पर आधारित है, किसी भी सांस्कृतिक मत के सत्तावाद से कई गुना अधिक निरंकुश और दमनात्मक है। जहां सर्वसत्तावाद में सारे गुप्त निर्णय कुछ चुने हुए और खास लोगों द्वारा लिये जाते हैं, वहां सांस्कृतिक सत्तावाद का आधार प्राचीन धार्मिक ग्रंथों में वर्णित सनातन सिद्धांत हैं।'

वैज्ञानिकों का खयाल है कि उन्होंने समाज और दर्शन की उपेक्षा करके उनकी समस्याओं का हल ढूंढ़ लिया है। वैज्ञानिक न दार्शनिक हैं, न प्रज्ञावान्। चिन्तक होने के स्थान पर वे महज़ ठठेरे हैं। समाज का कल्याण किस बात में है, इसका निर्णय करने योग्य दृष्टि उनमें नहीं है. वैज्ञानिक को सत्य की शोध रहती है, पर उसे यह चिन्ता नहीं रहती कि उस सत्य से समाज को लाभ होगा या नहीं। मगर, सत्य क्या है, इसका ज्ञान उनमें कम ही होता है। दार्शनिकों और धार्मिक जनों को उस सत्य की खोज रहती है, जिससे सारे समाज का भला हो। सुकरात ऐसे ही दार्शनिक थे। उनका कहना था कि परम सत्य वही है, जो शुभ है, और जो सारी मानव-जाति का कल्याण करे।

हम जिस बात पर जोर डालना चाह रहे हैं, वह बहुत सीधीसादी है। यह दावा करने से पूर्व कि जीवन की उत्पत्ति पदार्थ से हुई है, हमें इस दावे का सतर्क और संयत विश्लेषण करना चाहिये। तब हमें पता चलेगा कि यह दावा उस समझ का विरोध करता है, जिसने हजारों वर्षों तक मानवता का सही मार्ग-दर्शन किया है। चूंकि मानव के सारे भावी कार्यकलाप इसी मुद्दे पर निर्भर हैं, इसलिए यह बहुत महत्त्वपूर्ण है कि इस दावे से संबंधित सारे वैज्ञानिक साक्ष्यों और तर्कों की पूरी जांच-पड़ताल होनी आवश्यक है। ('भक्तिवेदांत इंस्टिट्यूट बुलेटिन' से साभार)
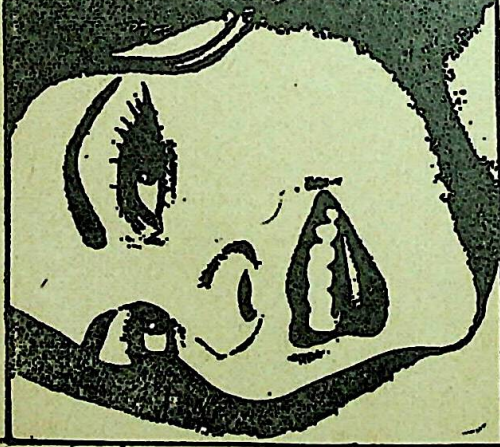
□
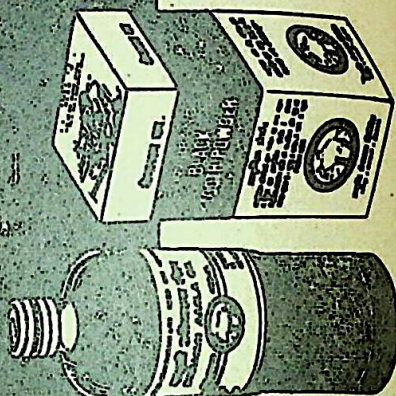
दो क्षण तो हँस लें

उपदेशक आया और साइनबोर्ड पर लिखा—'मैं सबके लिए प्रार्थना करता हूं।'

इसके नीचे वकील ने लिखा—'मैं सबका बचाव करता हूं।'

डाक्टर ने लिखा—'मैं सबको स्वस्थ करता हूं।'

साधारण नागरिक ने लिखा—'मैं सबका भुगतान करता हूं।'

ooo

बनवारीलालजी की लाटरी निकली थी, खुशी में झूमते चले जा रहे थे। सड़क पर एक भिखारी दिखायी दिया। उसे बुलाकर सौ रुपये उसके हाथ में रख दिये और सहानुभूतिपूर्ण स्वर में उससे पूछा, 'तुम्हारी यह हालत कैसे हो गयी?'

'इसी तरह सौ-सौ रुपये भिखारियों को देते रहोगे, तो बहुत जल्द ही तुम्हारी भी यही हालत हो जायेगी!'

ooo

एक इजराइली कहावत है—'कुत्ता दुम इसलिए हिलाता है कि कुत्ते में दुम से ज्यादा ताकत होती है। अगर दुम ज्यादा ताकतवर होती, तो वह कुत्ते को हिलाया करती।'

ooo

'फटाफट एक पान लगाना। सुपारी थोड़ी ज्यादा डालना। एक लौंग डाल देना, एक इलायची डाल देना, थोड़ी-सी, पिपरमिन्ट डाल देना, सौंफ डाल देना, गुलकन्द डाल देना.........'

'और बाबूजी, जो आपने तीस पैसे दिये हैं, उन्हें भी इसी में डाल दूं क्या?'

ooo

मटरूमल और उनकी बीवी मिलकर मक्खी मार रहे थे। 'कितनी मारी?' उनकी पत्नी ने थोड़ी देर बाद उनसे पूछा।

'छह—तीन नर और तीन मादा।'

'तुम्हें कैसे पता चला कि कौन-सी नर है और कौन-सी मादा?'

'उनमें से तीन चीनी पर थीं और तीन शीशे पर। इसी से पता चल गया!'

—दीपक दीक्षित

कुछ साहित्यकार उर्दू के एक कवि के बारे में बातें कर रहे थे। एक ने कहा—'साहब, बहुत बड़े शायर हैं। सरकारी खर्च पर यूरोप भी हो आये हैं।'

हरीचंद अख्तर भी वहीं बैठे थे। उन्होंने कहा—'जनाब, अगर किसी दूसरे मुल्क में जाने से ही कोई शायर बड़ा बन जाता है, तो मेरे पिताजी दूसरी दुनिया में जा चुके हैं। लेकिन खुदा गवाह है कि वे कभी एक शेर भी ठीक से नहीं कह सके।'

—डा. गोपालप्रसाद 'वंशी'

□

मु. रामकृष्णन् द्वारा भारतीय विद्याभवन, क. मा. मुन्शी मार्ग, बंबई-४००००७ के लिए प्रकाशित तथा श्रीवेंकटेश्वर प्रेस, ३६/४८ खेमराज श्रीकृष्णदास मार्ग, बंबई-४००००४ में मुद्रित ।

ताज़गी की एक लहर!

जियाजी सूटिंग, शर्टिंग और कॉटन प्रिंट्स आजकल मिलने वाले आम कपड़ों से बिल्कुल भिन्न हैं। **जियाजी** यानी सही **सूटिंग, शर्टिंग और कॉटन प्रिंट्स** की तलाश में देर तक भटकने के बाद एक ताज़गी की लहर। आप अपने आपको कुछ और ज़्यादा पसंद करने लगेंगे।

क्योंकि **जियाजी सूटिंग, शर्टिंग और कॉटन प्रिंट्स** विशेष आपके लिए ही तो बनाए गये हैं। जियाजी आस पास बिखरे सूनेपन में ताज़गी भर देते हैं।

MAPP

अक्तूबर १९७६

नवनीत हिंदी डाइजेस्ट

मूल्य : २॥ रु.

वर्ष २५ : अंक ४

*** इस अंक में ***

अप्रैल १९७६

संस्थापक	संपादक	सहसंपादक	व्यापार-व्यवस्थापक
स्व. श्रीगोपाल नेवटिया	नारायण दत्त	सुरेश सिन्हा	महेंद्र महेता
प्रबंध-संचालक	उपसंपादक	उपसंपादक	प्रबंधक : सोहनराज पारेख
हरिप्रसाद नेवटिया	गिरिजाशंकर त्रिवेदी	डा. विष्णु भटनागर	सज्जा : ठाकोर राणा

★

आवरण-चित्र : दीनानाथ वाली

चित्रसज्जा : जेराल्ड स्कार्फ, रोनाल्ड सर्ल, ओके, शेणै, नागदेव, एन. सी. नाथ, शर्मा, चव्हाण, राणा, नवनीत, भटनागर।

संपादकीय पत्र-व्यवहार का पता : नवनीत हिंदी डाइजेस्ट, ३४१, ताडदेव, बंबई-३४. फोन : ३७२८४७

व्यवस्था-संबंधी पत्र-व्यवहार का पता : नवनीत प्रकाशन लिमिटेड, अशीष बिल्डिंग, ३३५, बेलासिस रोड, ताडदेव, बंबई-३४. फोन : ३९२८८७

चंदे की दरें : (भारत में) एक वर्ष २४ रु.; दो वर्ष ४६ रु.; तीन वर्ष ६६ रु.।
विदेशों में : (समुद्री डाक से) एक वर्ष ६० रु.; दो वर्ष १०५ रु.; तीन वर्ष १५० रु.।
(हवाई डाक से) एक वर्ष १२० रु.; दो वर्ष २१० रु.; तीन वर्ष ३०० रु.।
भारत में नवनीत का आजीवन सदस्यता-शुल्क ४०० रुपये है।

श्री हरिप्रसाद नेवटिया द्वारा नवनीत प्रकाशन लिमिटेड, ३४१, ताडदेव, बंबई-३४ के लिए प्रकाशित तथा श्री वेंकटेश्वर प्रेस, ३६/४८ खेमराज श्रीकृष्णदास मार्ग, बंबई-४ में मुद्रित।

अपने लेखकों से

श्री संपादकजी, कृपया मुझे बतायें कि नवनीत में आप कैसी रचनाएं लेते हैं? इस आशय के अनेक पत्र हमें प्रतिदिन मिलते हैं। नवनीत के कुछ अंक देखने से भी इस प्रश्न का उत्तर मिल जायेगा। फिर भी यदि आप हमसे ही जानना चाहें, तो हम कहेंगे कि निम्नलिखित ढंग की रचनाएं हमें नहीं चाहिये।

क. जो जीवन में अनास्था जगायें, देश के विभिन्न समुदायों में स्नेहसूत्र तोड़ें, व्यक्तिगत आक्षेप करें, सहज-स्वस्थ सुरुचि को ठेस पहुंचायें; या जो कैलेंडर देखकर पर्वों, जयंतियों और पुण्यतिथियों के उपलक्ष्य में लिखी गयी हों।

ख. आपके अन्यत्र प्रकाशित लेख का नया संस्करण, कश्मीरी कविता का वाया तमिल उल्था, अल्बर्तो मोराविया के 'रोम की औरत' का भारतीय रूपांतर 'कौशांबी की कामकन्या,' सर्वविदित हास्योक्तियों का श्रेय आपके जिला-महाकवि या तहसील-राजनेता को देने वाले विनोद-प्रसंग।

ग. इन विषयों से हमें परहेज है — वेदों में हृदय-प्रतिरोपण, कोसी कलां के जंगल में जिराफ और बबरशेर की मुठभेड़, कामायनी में क अक्षर का प्रयोग, महावानर पुराण में मिर्जापुर का उल्लेख, कड़वी लौकी के रस से सर्वरोगों का उपचार, इत्यादि-इत्यादि।

* लेखमालाएं या मास-भविष्य लिखने के आश्वासन कृपया हमें न दें; न एक साथ सवा सत्ताईस कविताएं भेजें।

* रचना पर्याप्त हाशिया और पंक्तियों के बीच पर्याप्त स्थान छोड़कर साफ अक्षरों में कागज के एक ओर लिखकर या टाइप करवाकर भेजें। भेजने से पहले उसे एक बार पूरे मनोयोग से अवश्य पढ़ लें, भले उस दिन के बजाय अगले दिन की डाक में भेजनी पड़े। कार्बन-कापी न भेजें। लेख के आरंभ या अंत में अपना पूरा डाक-पता दें।

* रचना के साथ टिकट लगा और पूरा पता लिखा लिफाफा अवश्य रखें; अन्यथा रचना लौटायी नहीं जायेगी, न उसके बारे में पत्र-व्यवहार होगा।

* रचनाएं किसी व्यक्ति के नाम पर नहीं, निम्नलिखित पते पर भेजें:

संपादक—नवनीत हिंदी डाइजेस्ट,
नवनीत प्रकाशन लिमिटेड, ताडदेव, बंबई—३४
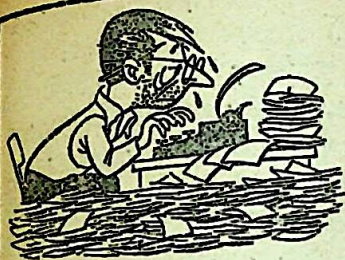
दिसंबर अंक में ताज बलोच की कहानी 'नीला निशान' में पुरुष के अंदर विद्यमान अंतःपुरुष (जो उसका पीछा करता है) की भूमिका का चित्रण सार्थक बन पड़ा है। कहानी उच्चकोटि की है। 'धिक्कार महिला वर्ष' में जर्मेन ग्रीयर ने दुनिया में महिलाओं की सही स्थिति का लेखाजोखा प्रस्तुत किया है। उनके ये शब्द 'हजारों स्त्रियों को उन देशों में जहां यह जघन्य परंपरा अब भी कायम है, जननेंद्रिय को विक्षत कराना पड़ेगा। लाखों करोड़ों स्त्रियों को फुसलाकर दवाइयों और सर्जन के चाकू-कैंचियों के माध्यम से जनसंख्या-नियंत्रण की बलिवेदी पर अपने प्रजनन-अंगों को चढ़ाना पड़ेगा, जैसे यह एकमात्र उन्हीं की जिम्मेवारी हो।' बहुत मार्मिक है, बड़े ही कटु सत्य को उजागर करते हैं।

—एस. एन. त्रिवेदी, कानपुर

०००

श्री बालकवि बैरागी को धन्यवाद कि उन्होंने अपने लेख 'सूरज के राजदूत' (अक्तू. ७५) के माध्यम से इंदौर की कुछ 'खूबियों' से परिचित करवाया। जो बाकी रह गयीं (शायद बैरागीजी की जानकारी में न हों) उन्हें मैं पूरा किये देता हूं।

इंदौर में बड़वाली चौकी के समीप एक पान की दुकान है। उसका मालिक अक्सर दुकान से गायब रहता है या वहां बैठना जरूरी नहीं समझता। आपको किसी भी सामान की आवश्यकता है, तो मालिक की राह देखने की जरूरत नहीं, माल ले लीजिये या बना लीजिये, रेटलिस्ट के अनुसार गल्ले में पैसे डाल दीजिये। यदि पैसे नहीं भी हैं तो घबराने की कोई आवश्यकता नहीं; समीप ही कोई छोटी-सी डायरी रखी होगी—अपने नाम-पते सहित रकम उधार-खाते में लिख दीजिये।

इसी प्रकार एक भोजनालय है—सर सेठ हुकुमचंदजी की नसिया में। उसका नाम है महावीर भोजनालय। वहां सैकड़ों माहवारी सदस्य भोजन करते हैं। लेकिन वहां कोई हाजिरी रजिस्टर नहीं रखा जाता। महीने में आपने जितने वक्त खाना खाया, उस हिसाब से आपसे पैसे ले लिये जाते हैं वह भी आपके विश्वास पर। पैसे भी आम भोजनालयों की तरह मांगे नहीं जाते; आप अपनी सुविधा से दे सकते हैं। पर हां, वहां जोर से चिल्लाना, डांटना, भोजन फेंकना सख्त वर्जित है। यदि आपने ऐसा किया तो आपका खाना उसी वक्त से बंद। सदस्य

बनने के लिए भी 'रिकमन्डेशन' करानी पड़ती है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि वहां लंबी क्यू लगती है और बहुत संस्कारी लोग खाना खाने आते हैं।

—हीराचंद्र सेठी, इंदौर-४

०००

कुछ अंकों से शिकार-कथाओं का नितांत अभाव हो गया है, जबकि पहले प्रायः प्रत्येक अंक में शिकार-कथा रहती थी। कुछ पुस्तक-संक्षेप, जैसे 'चीता : मेरी बेटी' (डेस्मांड वेराडे) व 'बाघों के साम्राज्य में' (तहावर अली खां) आपने बहुत अच्छे छापे थे। आजकल आप इस ओर से उदासीन क्यों हैं? 'सार-सरोवर' (समाचारों का संक्षिप्त विवरण) स्तंभ भी उपयोगी था, उसे बंद कर दिया गया। क्या आप इस ओर ध्यान देंगे? —डी. जी. सरल, मद्रास

* १. बहुधा शिकार पशुहत्या बनकर रह जाता है। आज आवश्यकता है, वन्य पशुओं के संरक्षण की। २. नवनीत की सामग्री प्रायः हमें डेढ़ माह पूर्व प्रेस भेजनी पड़ती है। इस दृष्टि से समाचार बहुत बासी हो जाते हैं। यों भी 'दिनमान' का 'पिछले सप्ताह' स्तंभ इस आवश्यकता की पूर्ति बखूबी कर रहा है। —संपादक

०००

नवनीत का अनियमित पाठक हूं। अनियमित इसलिए कि नवनीत मेरे गांव में नियमित रूप से नहीं आता है। जब कभी आता है तो मैं उसे जरूर खरीदता हूं। कई बार दोस्तों से मांगकर भी पढ़ता हूं। अगस्त अंक में नेपाली कथाकार गोठाले की कथा 'जुजुमान' पढ़ने को मिली। अनुवादक श्री दुर्गाप्रसाद श्रेष्ठ नेपाली पाठकों की ओर से धन्यवाद के पात्र हैं। मैं आशा करता हूं कि नेपाली पाठकों के बाहुल्य को दृष्टि में रखकर नवनीत नेपाली लेखकों की रचनाएं या नेपाल संबंधी रुचिपूर्ण सामग्री सिलसिले से प्रकाशित करता रहेगा।

—नेपाल अधिकारी, नारायणगढ़, नेपाल

०००

जब मैं दसवें वर्ग का छात्र था, तब से नवनीत पढ़ता चला आ रहा हूं। तब मेरे कृपालु गुरुदेव नवनीत खरीदकर मुझे पढ़ने को देते थे। आज मैं आइ. एस-सी. में पढ़ रहा हूं और अंक स्वयं खरीदने में समर्थ हूं। जनवरी अंक की 'विमुक्ति-यात्रा' द्वारा भारतीय इतिहास की एक अपूर्व साहस-गाथा का प्रामाणिक वर्णन हिंदी पाठकों को देने के लिए बहुत धन्यवाद।

केजिता का विज्ञान-बिंदु तो इतना उपयोगी है कि उसमें मिलने वाली जानकारी के लिए उत्सुक मेरे ग्रामीण परिवार के सदस्य हर माह के पहले सप्ताह में नवनीत के लिए पूछताछ करने लगते हैं।

—शंभुप्रसाद सिंह, ग्राम महोदंपुर, पो. मझौलिया, प. चंपारण, बिहार

०००

मैं नवनीत के काफी छोटी उम्र के पाठकों में से हूं। (मेरा १२ वां जन्म-दिन १७ जनवरी को था।) अब तक नवनीत में बाल-कहानी और विज्ञा...

दिल्ली की हुरिसिमा मिस ने अंगोला के संबंध में कोंक का व्यंग्यचित्र 'ले मोंद' से काटकर भेजा और आपने मार्च अंक में छापा। इससे मुझे प्रेरणा हुई कि लंदन के 'संडे टाइम्स' से जेराल्ड स्कार्फ का व्यंग्यचित्र काटकर भेजूं; उसका भी विषय वही है—अंगोला। छापेंगे?

—राजेंद्र शंकर, कलकत्ता-५
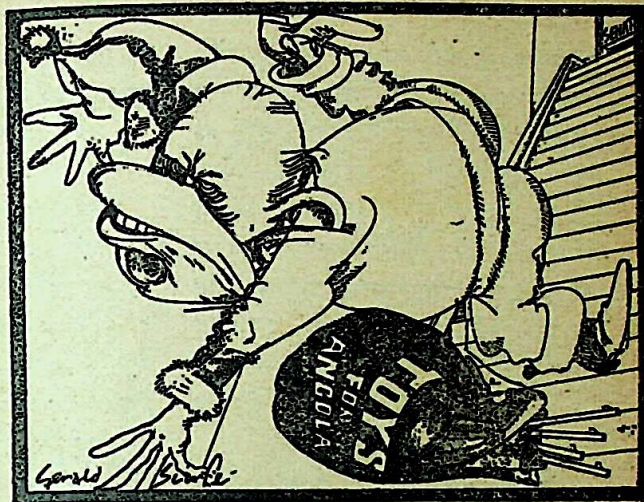
पर लिखे गये लेख ही पढ़ता था। परंतु मेरे चाचाजी ने जनवरी अंक का पुस्तक-संक्षेप पढ़ने को दिया। मैं उसे पढ़ गया। बहुत अच्छा लगा। फरवरी अंक का भी पुस्तक-संक्षेप चाचाजी के कहने पर पढ़ा। वह भी अच्छा लगा। लेकिन उसकी कुछ बातों के बारे में पिताजी और चाचाजी में कई घंटे बहस हुई। मैं उसमें भाग नहीं ले सका;—क्योंकि मैं आजादी आने के बहुत बाद—सत्रह वर्ष बाद—पैदा हुआ हूं। मैं आजादी लाने वाले नेताओं के बारे में बहुत कम जानता हूं। पर हां, मैं आपसे कहना तो कुछ और ही चाहता था। जनवरी और फरवरी के अंकों से आपके पुस्तक-संक्षेप पढ़ने का चस्का लग गया था। इसलिए मार्च अंक आते ही खोलकर बैठ गया पुस्तक-संक्षेप पढ़ने। (पिताजी, मां और चाचाजी किसी शादी में गये हुए थे, इसलिए पत्रिका पहले ही दिन मेरे हाथ लग गयी।) मगर कुछ भी अच्छा नहीं लगा। घर की भैंस कभी बीमार हो जाये तो मां बाजार से दूध मंगवाती है; उस दिन दूध पीने में बिलकुल स्वाद नहीं आता। मार्च का पुस्तक-संक्षेप भी वैसा ही लगा।

—अशोक गुप्ता, कानपुर-४

०००

मार्च अंक का पुस्तक-संक्षेप मेरे लिए एक साथ आनंदकारी और आश्चर्यकारी था—ए प्लेज़ेंट सरप्राइज़। नवनीत के बारे में वर्षों के अनुभव से मेरी यह धारणा बनी है कि आप इस बात को जानते ही नहीं, अगर जानते हैं तो मानते नहीं कि लिंग, वय आदि के अनुसार पाठकों के अनेक वर्ग होते हैं और उन वर्गों की अलग-अलग वाचन-रुचियां होती हैं। मैंने कभी नहीं देखा कि

आपने युवक-युवतियों, महिलाओं आदि की दिलचस्पी के कोई विशेष लेख दिये हों। मार्च के पुस्तक-संक्षेप 'ग्लोर—फैशन का व्यापार' ने मेरी और मेरी तरह और भी हजारों पाठिकाओं की धारणा को धक्का दिया है। चाहती हूं, आप इस धारणा को धूलिसात कर दें। इससे निश्चय ही **नवनीत** अधिक ताजा लगेगा। युवक, महिलाएं आदि विशिष्ट वर्गों को उसी तरह 'कल्टिवेट' कीजिये, जैसे राजनैतिक पार्टियां करती हैं।

—सावित्री निक्कम्, बेंगलूर

०००

'लेबनान : गृहयुद्ध की आग' (मार्च अंक) आग के लगभग शांत हो जाने के बाद छपा। फिर भी इस दृष्टि से उपयोगी है कि उस आग के लगने के कारणों को इसमें बहुत अच्छी तरह समझाया गया है। इस लेख और चीन विषयक लेख के अंत में टिप्पणियां जोड़कर अद्यतन स्थिति को संक्षेप में समेटा गया है, वह आपकी जागरूकता का सूचक है। पर हां, चाउ (आपने इस बार जाने क्यों सर्वत्र चाऊ हिज्जे कर दिये हैं!) के विषय में 'ओपीनियन' से वह विष-भरा और सरासर मनगढंत किस्सा देना कैसे पसंद किया?

—चंद्रिका सक्सेना, जयपुर

०००

होली के मूड के बहाने आपने बहुत-सा तथाकथित हास्य-व्यंग्य मार्च अंक में ठूंस दिया। इससे अच्छा कोई एक फड़कता हुआ व्यंग्य दे देते तो काफी था। कुल मिलाकर मैं अनुभव करता हूं कि आप कविता और हास्य के मामले में कच्चे हैं। अलबत्ता इधर के अंकों में मशहूर नाम जरूर देखने को मिले हैं—मगर पिछली पीढ़ी के कवियों के।

—राजकुमार शर्मा, गोरखपुर

०००

मार्च अंक में 'काला हास्य' बढ़िया चीज थी। यह देखकर अच्छा लगा कि आप अब छुईमुई किस्म के पवित्रतावादी खोल में से बाहर निकलने की चेष्टा कर रहे हैं। मेरे एक मित्र हैं, मुझे **नवनीत** पढ़ते देखकर कहा करते हैं—'क्या निरामिष चीजें पढ़ा करते हो!'

—कपिलदेव पांडे, जयपुर

०००

सोल्झेनित्सिन की 'कथाएं छोटी-छोटी' बहुत भायीं—खासकर पहली। जैसे ताजी हवा का झोंका आये और सारी घुटन दूर हो जाये—कुछ ऐसा अनुभव हुआ। कथाओं के साथ छोटे-छोटे चित्रों के लिए आपके प्रतिभावान चित्रकार को बधाई। चित्रों की बात से याद आया बारहमासे के चित्रों की (चरन शर्मा द्वारा) अनुकृतियां अच्छी छप रही हैं; मगर क्या चित्र को रंगीन पृष्ठभूमि पर छापने से उसका सौंदर्य बढ़ नहीं जायेगा?

—गौतम सिंह, वाराणसी

०००

फरवरी अंक में 'फ्रीडम एट मिडनाइट' के अंश पढ़कर मूल पुस्तक पढ़ने की जिज्ञासा उत्पन्न हुई। पूरी पुस्तक पढ़ने के उपरांत निराशा ही हाथ लगी। उक्त पुस्तक में वीर सावरकर के चरित्र का गलत चित्रण किया गया है। बिना महत्त्व के तथ्यों के

आगे

वर्णन द्वारा भारत के इस स्वतंत्रता-सेनानी के चरित्र को गलत ढंग से प्रस्तुत करके इन विदेशी लेखकों ने तुच्छ कृत्य किया है।

लेखकों में एक अमरीकी तथा दूसरा फ्रांसीसी है। वीर सावरकर के चरित्र का जैसा चित्रण उन्होंने पुस्तक में किया है, वैसा करना पश्चिम में आम बात है। अतः लेखकों ने अपनी पश्चिमी विचारधारा का परिचय दिया है। यह केवल वीर सावरकर का अपमान ही नहीं, अपितु राष्ट्र का अपमान भी है। इस पुस्तक पर अविलंब प्रतिबंध लगा दिया जाना चाहिये।

—नंदकिशोर अरोड़ा, जोधपुर

०००

फरवरी अंक में 'हरा कोना' मेरे जैसे कृषक गृहस्थों के लिए बहुत ही रोचक और उपयोगी रहा। इसे स्थायी स्तंभ बना दीजिये। 'आजादी आयी आधी रात' पुस्तक जहां पठनीय, रोचक और आंखें खोलने वाली है, वहीं उसकी कुछ बातें भ्रमयुक्त एवं गलत भी हैं, जैसे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और हिंदू महासभा को एक दल बताना। 'अनखोजे प्रदेश बाकी हैं अभी पृथ्वी पर' रोचक था; पृथ्वी पर ही क्यों, अभी भारत में भी अनखोजे प्रदेश बाकी हैं, जैसे कि जिला बस्तर (म. प्र.) की अब्बूजमां पहाड़ी, जहां पर हजारों वनवासी अब भी नग्नावस्था में रहते हैं और जिसके बारे में अभी पूर्ण और प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं है।

—जगदंबी प्रसाद यादव,
डा. बरियारपुर, मुंगेर, बिहार

०००

जनवरी अंक देखा। नेताजी सुभाषचंद्र वसु पर लिखा गया लेख (पुस्तक का संकलित अंश) विशेष उल्लेखनीय रहा। आशा है, समय-समय पर ऐसी ऐतिहासिक व रोमांचकारी जानकारियां हमें नवनीत के माध्यम से मिलती रहेंगी। श्री राजेंद्र यादव अपनी लेखकीय प्रासंगिकता पर स्वयं एकमत नहीं रह पाये। लोकनीति व राजनीति के प्रसंगों में वे साहित्यकारों से आखिर क्या चाहते हैं? इस बात का कोई स्पष्ट संकेत वे स्वयं नहीं दे पाये। अचरज तो तब होता है, जब साहित्य की महत्ता को नकारने वाला साहित्यकार स्वयं अपने साहित्य का विज्ञापन करने लगता है। यह आखिर 'अहम्' का वहम ही तो है।

—विष्णु ज. माहोलकर,
अंबागढ़ चौकी, राजनांदगांव, म. प्र.

★

एक आदमी घुड़सवारी का लिबास और एड़ लगे बूट पहने आपाधापी में थियेटर में आया और उस बाक्स में दाखिल हुआ, जहां अर्गाइल के ड्यूक बैठे नाटक देख रहे थे। उस पर नजर पड़ते ही ड्यूक उठ खड़े हुए और बड़ी नम्रता से बोले—'धन्यवाद!'

उस आदमी को आश्चर्य हुआ और उसने पूछा—'भला इसमें धन्यवाद करने की क्या बात है?' ड्यूक ने गंभीर स्वर में उत्तर दिया—'धन्यवाद इस बात का कि यहां आप अकेले ही पधारे, अपने घोड़े को साथ नहीं लाये।'

★

अरब दिगंत का नया नक्षत्र

किशोर व्यास

अरब राष्ट्रवाद के दिगंत पर देखते-देखते एक नया नक्षत्र तेजी से चमकने लगा है—हाफिज अल-असद। पिछले कुछ महीनों में सीरिया (शाम) के ४५ वर्षीय राष्ट्रपति असद की अंतरराष्ट्रीय प्रतिष्ठा निरंतर बढ़ती चली गयी है। इसे देखते हुए कहा जाने लगा है कि शीघ्र ही सीरिया की राजधानी दमिश्क अरब राष्ट्रवाद का केंद्र बन जायेगी—काहिरा की जगह। अमरीकी विदेश-मंत्री हेनरी किसिंजर की निगाह में असद 'मध्यपूर्व के सबसे दिलचस्प' राजनेता हैं। उधर स्वयं अरब देशों में ऐसे लोगों की संख्या तेजी से बढ़ रही है, जो असद को अरब राष्ट्रवाद का भावी नेता और प्रखर प्रवक्ता मानते हैं।

असद का प्रभाव बढ़ने के कारण अनेक हैं। प्रशिक्षण और पेशे से सैनिक विमानचालक, स्वभाव से संयमी, शास्त्रीय संगीत के रसिक, बाहर से विनम्र और संकोची किंतु भीतर से दृढ़संकल्प असद अपने देश के सबसे टिकाऊ राष्ट्रपति सिद्ध हुए हैं। उनके राष्ट्रपति बनने के पहले सीरिया में १९४६ के बाद २१ बार सत्ता-परिवर्तन हो चुका था। विचित्र बात यह है कि वे अपने देश के बहुसंख्यक सुन्नी संप्रदाय के नहीं, बल्कि अल्पसंख्यक 'अल्वाइत' संप्रदाय के हैं, जिसे सुन्नी संप्रदाय परंपरया अपना प्रतिद्वंद्वी मानता आया है। परंतु अरब राष्ट्रवाद के प्रति असद की गहरी और उग्र निष्ठा ने अपने देश में उनके राजनैतिक आधार की इस कमजोरी को ढंक-सा दिया है।

असद की बढ़ती अंतरराष्ट्रीय महिमा में पश्चिम एशिया की बदलती हुई राजनीति की विशेष भूमिका रही है। एक समय था जब मिस्र अरब राष्ट्रवाद की प्रेरणा-भूमि था और अब्दुल गमाल नासर उसके प्राण थे। १९६७ के छह दिन के युद्ध में शर्मनाक पराजय का मुंह देखने तक सभी अरब देशों के युवक नासर को मर्यादा-पुरुष मानते थे।

नासर के निधन के बाद उनके वारिस अनवर सआदत ने किसी हद तक यही भूमिका निभाने की कोशिश की। १९७३ के

(शेषांश

राष्ट्रपति असद

अरब-इस्रायल युद्ध के दौरान सआदत के रणनैतिक कौशल की धाक भी जमी। तभी अरब राजनीति में सऊदी अरब के शाह फैजल का सितारा चमका, जिन्होंने तेल-युद्ध छेड़कर इस्रायल-समर्थक पश्चिमी देशों की अर्थ-व्यवस्थाओं को डांवाडोल कर दिया। फिर गत वर्ष शाह फैजल कत्ल हो गये और सआदत इस्रायल के साथ समझौता करके अरब राष्ट्रवादियों की नजरों में गिर गये। ऐसे समय नायक-रहित अरब राष्ट्रवादियों को नेतृत्व देने का संकल्प किया सीरिया के राष्ट्रपति हाफिज अल-असद ने। इस संकल्प के परिणाम पिछले कुछ महीनों में पश्चिम एशिया की राजनीति में स्पष्ट रूप से सामने आये हैं।

पिछले साल नवंबर के अंत में जब गोलन पहाड़ियों पर राष्ट्रसंघीय प्रेक्षक-टुकड़ी के नियंत्रण की अवधि बढ़ाने का प्रश्न उठा, तो शुरू में असद ने सख्ती का रुख लिया। फलस्वरूप राष्ट्रसंघ के महासचिव को यरूशलम और दमिश्क के बीच कितने ही हवाई फेरे लगाने पड़े। यद्यपि बाद में असद प्रेक्षक-टुकड़ी की नियंत्रण-अवधि बढ़ाने को अनिच्छापूर्वक सहमत हो गये; परंतु उन्होंने यह बात भी स्पष्ट कर दी कि सीरिया का अंतिम लक्ष्य अपने इस क्षेत्र को पूर्णतया स्वतंत्र कराना है। यही नहीं, उन्होंने कहा कि इस्रायल को १९६७ के युद्ध में सीरिया से छीना हुआ सारा इलाका छह महीनों में खाली कर देना चाहिये और पश्चिम एशिया के प्रश्न पर होने वाली किसी भी शांतिवार्ता में फिलस्तीनी छापामारों के संघटन पी. एल. ओ. (पेलेस्टाइन लिबरेशन आर्गनाइजेशन) को अवश्य प्रतिनिधित्व मिलना चाहिये। यह बताने की जरूरत नहीं कि इस्रायल को ये दोनों ही मांगें मंजूर नहीं हैं।

पर राष्ट्रसंघ की सुरक्षा परिषद की बैठक में पी. एल. ओ. के आमंत्रित किये जाने की शर्त अमरीकी खेमे को अंततः स्वीकार करनी पड़ी और जनवरी में सुरक्षा परिषद में पश्चिम एशिया की स्थिति पर महत्त्वपूर्ण बहस हुई, जिसमें पी. एल. ओ.-समर्थक प्रस्ताव के विरुद्ध अमरीका को वीटो प्रयोग करना पड़ा। सीरिया की प्रेरणा से पेश किये गये इस प्रस्ताव में इस्रायल से १९६७ के युद्ध के दौरान हथियाये हुए क्षेत्र खाली करने की मांग की गयी थी और फिलस्तीनियों के स्वतंत्र फिलस्तीनी राज्य की स्थापना के अधिकार को मान्यता देने की बात थी।

मगर असद ने अपने को राजनयिक गतिविधियों तक ही सीमित नहीं रखा है। पिछली गरमियों के बाद से वे इस्रायल के विरुद्ध उत्तरी मोर्चे को मजबूत बनाने के प्रयास में लगातार जुटे हुए हैं। इसके लिए उन्होंने अरब राष्ट्रवादियों के बीच विश्वासघाती समझे जाने वाले जोर्डन के शाह हुसैन के साथ भी संबंध सुधारे हैं। फलस्वरूप सीरिया और जोर्डन में सैनिक और आर्थिक सहयोग का समझौता हुआ है। वस्तुतः जब पिछले अगस्त में शाह हुसैन ने सीरिया की राजकीय यात्रा की, तो वहां उनका भव्य स्वागत तो हुआ ही, वहां के

मुख्य समाचारपत्र 'अलवाथ' ने 'एक देश, एक जनता, एक सेना' शीर्षक से अग्रलेख लिखकर जोर्डन-सीरिया एकीकरण की संभावना को भी रेखांकित किया।

यद्यपि अब तक अरब देशों में एकीकरण के विभिन्न प्रयास शोकांतक ही सिद्ध हुए हैं, परंतु सीरिया-जोर्डन का संघ बनाने की बात काफी आगे बढ़ चुकी है। लगता है, १९७० का कटुतापूर्ण दौर अब दोनों देशों की स्मृतियों में धुंधला पड़ चुका है, जब शाह हुसैन ने फिलस्तीनी छापामारों को जोर्डन से निकाल बाहर किया था और इससे कुढ़कर तत्कालीन सीरिया सरकार ने शाह को 'गद्दार का वारिस' जैसे अपशब्दों से मंडित किया था। (इसमें इशारा हुसैन के दादा शाह अब्दुल्ला की ओर था, जिसकी 'सेवाओं' का इनाम देने के लिए अंग्रेजों ने जोर्डन का राज्य गढ़ा था और उसे गद्दी पर बैठाया था।)

राष्ट्रपति असद के बढ़ते हुए असर का प्रमाण हाल में लेबनान के गृहयुद्ध में भी देखने को मिला। प्रेक्षकों के अनुसार, दस मास से भी ज्यादा चले इस गृहयुद्ध में यदि कोई विजयी हुआ है तो वह है युद्ध-विराम कराने वाला सीरिया। लेबनान को इस तरह उपकृत करके अपने प्रभाव-क्षेत्र में लाने में असद का असल उद्देश्य क्या है? क्या वे लेबनान को तटस्थ-क्षेत्र बनाये रखना चाहते हैं, जैसा कि पश्चिम एशिया के पिछले दो युद्धों में वह रहा? तब इससे सीरिया को अपनी सारी शक्ति पूर्वी मोर्चे पर केंद्रित कर देने की सुविधा रही थी और जब इस्रायलियों ने उसके तेलशोधक कारखानों को नष्ट कर दिया, तो उसे लेबनान से तेल मिलता रहा था। इसके विपरीत, दूसरा कयास यह है कि असद जोर्डन की तरह लेबनान को भी इस्रायल के विरुद्ध मोर्चे पर ला खड़ा करना चाहते हैं।

'गार्जियन' के संवाददाता डेविड हर्स्ट ने दमिश्क से अपनी रिपोर्ट में लिखा है कि आम तौर पर सीरियाई अधिकारी कहते हैं कि अपने परेशान-हाल लेबनानी भाइयों पर किसी तरह का दबाव डालने की बात हम सपने में भी नहीं सोच सकते। पर एक अधिकारी ने कहा कि 'यदि लेबनानी चाहते हैं कि उनकी सेना के निर्माण में हम उन्हें मदद दें, तो हम सहर्ष सहायता देंगे; मगर यह प्रस्ताव स्वयं उनकी ओर से आना चाहिये।' सीरिया ने युद्ध-विराम की रक्षा की गारंटी दी है और लेबनान के मेरोनपंथी ईसाइयों और मुस्लिमों में राजनैतिक समाधान कराने का जिम्मा भी लिया है।

ऐसा नहीं है कि राष्ट्रपति असद के नेतृत्व में सीरिया की इन बढ़ती हुई गतिविधियों को लेकर कोई शंकित और चिंतित नहीं। सबसे अधिक शंका इस्रायल को है। वह न सिर्फ सीरिया की बढ़ती हुई शक्ति से चिंतित है, बल्कि उसे यह आशंका भी है कि पूर्वी मोर्चे को दृढ़ करने के बहाने असद कहीं वृहत्तर सीरिया के निर्माण की योजना तो नहीं बना रहे हैं। जोर्डन, लेबनान और फिलस्तीन का एक हिस्सा ऐतिहासिक रूप

अप्रैल

से बृहत्तर सीरिया का अंग रह चुके हैं।

कुछ दूसरी ही तरह की चिंताएं मिस्र के राष्ट्रपति अनवर सआदत की हैं। उन्हें असद की बढ़ती हुई प्रतिष्ठा में अपनी नीतियों के लिए एक चुनौती नजर आती है। पिछली गरमियों में मिस्र और

इस्रायल के बीच हुए दूसरे सिनाइ-समझौते को लेकर असद और सआदत एक दूसरे पर आरोप-प्रत्यारोपों की बाणवृष्टि करते रहे हैं। असद कहते हैं कि इस्रायल से समझौता करके सआदत ने अरब राष्ट्रवाद के जुझारू मोर्चे में दरारें डाल दी हैं। उधर सआदत का आरोप है कि १९७३ में युद्ध छिड़ने के २४ घंटे बाद ही असद ने इस्रायल के साथ चुपचाप युद्ध-विराम करने का प्रयास शुरू कर दिया था।

नेतृत्व की इस रस्साकशी के फलस्वरूप ही पिछले दिनों मिस्री समाचारपत्रों ने यह रहस्योद्घाटन किया कि सीरियाई 'जेलखाने और यातना-केंद्र ऐसे लोगों से भरे पड़े हैं, जिनका एकमात्र गुनाह आतंकवादी बाथ पार्टी से असहमति है।' यही नहीं, पिछले साल जब असद सोवियत रूस के दौरे पर थे, तभी मिस्र ने दुनिया को यह समाचार दिया कि अमरीकी विदेश-मंत्री हेनरी किसिंजर इसका प्रयास कर रहे हैं कि राष्ट्रपति फोर्ड और राष्ट्रपति असद की यूरोप में ही भेंट हो। तब असद को फोर्ड के साथ इस तरह की किसी बैठक की संभावना से इन्कार करना पड़ा था; वरना उनकी सोवियत-यात्रा बेअसर हो जाती।
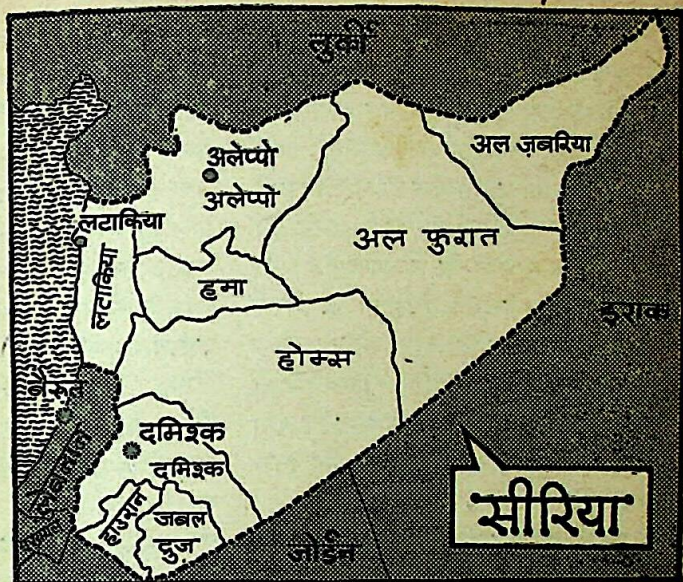
और असद का वैसा करना स्वाभाविक था। जुलाई १९७२ में मिस्र से तमाम रूसी तकनीकी सलाहकारों के निकाल दिये जाने के बाद से पश्चिम एशिया में सबसे अधिक रूसी सहायता सीरिया को ही मिल रही

है। सोवियत संघ से सामरिक सहायता उसे १९५७ से ही मिलती आ रही है। विदेशी प्रेक्षकों के अनुसार, इस समय सीरिया में करीब ३,००० रूसी सलाहकार हैं। इनमें से एक तिहाई तो असैनिक तकनीशियन हैं, जो निर्माण-कार्यों में सहायता करते हैं; शेष सैनिक मामलों के विशेषज्ञ हैं। परंतु सोवियत संघ के साथ सीरिया के निकट संपर्क के बावजूद सीरिया की आंतरिक राजनीति में साम्यवादियों की स्थिति बहुत अच्छी नहीं है। कुछ महीनों पहले ही वहां साम्यवादियों की बड़े पैमाने पर गिरफ्तारियां हुई थीं।

वस्तुत: सीरिया में राजनीति का अर्थ है सत्ताधारी बाथ पार्टी की आंतरिक राजनीति। 'बाथ' का अर्थ है—नवजागरण। दो सीरियाई अध्यापकों द्वारा संस्थापित इस नवजागरण-आंदोलन ने मार्क्सवादी समाजवाद और अरब राष्ट्रवाद के समन्वय का प्रयास किया है। बाथ पार्टी की बुनियादी इकाई है 'हलिया', यानी तीन से सात सदस्यों का पार्टी-सेल। इन सेलों के ऊपर क्रमश: कंपनियों, डिविजनों, शाखाओं और क्षेत्रीय संघटनों का विस्तृत जाल है। सबके ऊपर है इक्कीस नेताओं की रीजनल कमान। राष्ट्रपति असद इसके महामंत्री भी हैं। सीरियाई सत्ता-संघर्ष में बाथ राजनीतिज्ञों का जिस तरह समय-समय पर सफाया होता रहता है, उसे देखते हुए यह सचमुच अचरज की बात है कि असद अपना राजनैतिक अस्तित्व बनाये रख सके हैं।

लेकिन इससे भी अचरज-भरी है यह बात कि बाथ पार्टी में असद की रीति-नीति के विरोधी उग्रपंथियों का नेता है उन्हीं का सबसे छोटा भाई रिफात। शासन-सुरक्षा के लिए स्थापित प्रतिरक्षा ब्रिगेड के संघटन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने वाले रिफात की स्थिति अब धीरे-धीरे काफी मजबूत होती गयी है। सेना और गुप्तचर सेवा में पांव जमाने के बाद उसने बाथ राजनीति में हिस्सा लेना शुरू किया। भड़काने वाले भाषण देने में वह माहिर है और दकियानूस अरब देशों के साथ किसी भी तरह की साठ-गांठ का विरोधी एवं समाजवादी आधार को मजबूत करने के लिए वर्ग-संघर्ष को गहरा करने का हिमायती है। उसने मास्को विश्वविद्यालय से राजनीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र में 'डाक्टर' की उपाधि पायी है, जिससे उसे प्राय: 'कामरेड डाक्टर' कहा जाता है। जब असद ने जोर्डन के शाह के साथ संबंध सुधारने की नीति अपनायी, तो उसका सबसे उग्र विरोध रिफात तथा बाथ उग्रपंथियों ने ही किया।

जहां तक बाथ समाजवाद के व्यावहारिक पक्ष का प्रश्न है, उसका सबसे अच्छा उदाहरण है सीरिया की अर्थ-व्यवस्था। राष्ट्रपति असद ने वरिष्ठ पदों पर गैरराजनैतिक विशेषज्ञों की नियुक्ति की नीति अपनायी है। उनका कहना है कि देश को विशेषज्ञों की सबसे ज्यादा आवश्यकता है। १९६३ की बाथ क्रांति के बाद जो पूंजीपति विदेश भाग गये, उन्हें भी वापस बुला...

आगे

का प्रयास वे कर रहे हैं। जमीन के चढ़ते हुए दामों और दलाली के धंधे से देश में एक नया करोड़पति-वर्ग उभर आया है और उसके लिए मर्सिडीज बेन्स कारों के आयात में भी सीरिया के प्रशासक कोताही नहीं करते। विदेशियों को अब सीरिया आने की छूट है। वैसे उसके बजट का काफी बड़ा हिस्सा (१९७६ में २५ प्रतिशत) तेल-धनिक देशों से आर्थिक सहायता के रूप में आता है—आखिर सीरिया इस्रायल से जूझ रहा है न!

पौन करोड़ (ठीक-ठीक ७३ लाख) की जनसंख्या के देश सीरिया में नागरिकों के लिए सैनिक सेवा अनिवार्य है और तकनीशियनों, डाक्टरों आदि के विदेश जाने पर बड़ी पाबंदी है। असद के शासन में नागरिकों को आधी रात को गुप्त पुलिस के आकर दरवाजा खटखटाने की चिंता से तो मुक्ति मिल गयी है; मगर सरकारी नीतियों से असहमत लोगों पर कड़ी निगरानी रखी जाती है। पिछले साल अप्रैल में बाथ पार्टी के संमेलन से पहले करीब २०० व्यक्ति एक ही झटके में गिरफ्तार कर लिये गये। बाद में उन पर पड़ोसी इराक के साथ साठ-गांठ का अभियोग लगाया गया। इराक में भी बाथ सरकार है; पर दोनों देशों में अवसर ठनी रहती है।

जब नेहरूजी के मित्र व प्रशंसक शुक्री बल क्वातली सीरिया के राष्ट्रपति थे, तभी से भारत-सीरिया-संबंध काफी सद्भावपूर्ण रहे हैं। दोनों के बीच सांस्कृतिक विनिमय और आर्थिक सहयोग का दायरा काफी व्यापक है। इधर बाथ पार्टी और कांग्रेस में भी आपसी सहयोग तेजी से बढ़ रहा है।

परंतु क्या अरब राष्ट्रवाद के प्रवक्ता के रूप में राष्ट्रपति असद फिलस्तीनियों को आत्मनिर्णय का अधिकार दिलवा पायेंगे? नये संकेत बताते हैं कि अमरीका भी अब यह मानने लगा है कि पश्चिम एशिया की समस्या को सुलझाने में अन्य किसी अरब नेता की तुलना में असद अधिक उपयोगी हैं। सुनते हैं कि लेबनान में असद की रचनात्मक भूमिका की अमरीकी विदेश-मंत्रालय में सराहना भी हुई। कहा जा रहा है कि पी. एल. ओ. पर अपने प्रभाव के कारण असद उसे शांति-समझौते के लिए सहमत करने में सफल हो जायेंगे।

लेकिन यदि ऐसा नहीं हुआ तो? क्या तब सीरिया फिर से आत्मकेंद्रित हो जायेगा? क्या हाल के वर्षों की तरह वह फिर से सीरियाई प्रांतवाद में सिमटकर रह जायेगा? अनेक प्रेक्षकों का कहना है कि अब ऐसा नहीं होगा। उमैया खलीफाओं के समय से ही सीरिया शक्तिशाली बनने और अरब-जगत का नेतृत्व करने की कामना करता रहा है। अब जब यह अवसर आया है तो वह उसे यों ही हाथ से नहीं जाने देगा। यानी असद के क्रिया-कलापों में अरब राष्ट्रवाद की आशा-आकांक्षाएं मुखरित होंगी। अंतरराष्ट्रीय राजनीति के प्रतिपल बदलते समीकरणों में यह भविष्यवाणी कितनी सच होगी—इस प्रश्न का उत्तर भविष्य की घटनाएं ही देंगी।

★

देतांत, जिलास और मिहायलोव

• चंद्रकला मित्तल •

'पूर्व पूर्व है और पश्चिम पश्चिम / उन दोनों का कभी न होगा संगम' ये बदनाम पंक्तियां लिखते समय रुडयार्ड किप्लिंग के मन में 'पूर्व' का अर्थ था एशिया और 'पश्चिम' का अर्थ था यूरोप। मगर आज की विश्व-राजनीति में पूर्व और पश्चिम की सीमाओं में विस्तार और परिवर्तन हो गया है। पूर्व अब पीकिंग से फैलकर बर्लिन तक चला गया है तथा उसमें एशिया की ही नहीं, यूरेशियाई राष्ट्र सोवियत रूस और पूर्वी यूरोप के साम्यवादी देशों की भी गणना होने लगी है। इसी तरह पश्चिम फैलकर अमरीका तक विस्तृत हो गया है।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अधिकांश दुनिया दो खेमों में बंट गयी। एक खेमा था सोवियत रूस और उसके साम्यवादी मित्र देशों का, और दूसरा गैर-साम्यवादी यूरोपीय और अमरीकी देशों का। दोनों के बीच खिच गया लोहे का परदा (आयरन कर्टेन) और बर्लिन की दीवार। रूसी खेमा वारसा सैनिक संधि में और अमरीकी खेमा उत्तर अटलांटिक सैनिक संधि (नाटो) में बंध गया और दोनों के बीच शीतयुद्ध चालू हो गया।

इस शीतयुद्ध के हिम को पिघलाया अमरीकी राष्ट्रपति निक्सन ने। उनकी प्रतिष्ठा को वाटरगेट जासूसी-षड्यंत्र और भ्रष्टाचार ने भले ही धूल में मिलाया हो, मगर उनकी विदेश-नीति ने दो खेमों में बंटी हुई दुनिया को राहत की सांस लेने का मौका दिया। उन्होंने एक ओर साम्यवादी चीन के साथ अमरीका के संबंधों को विविध तनावों से मुक्त करने की कोशिश की और दूसरी ओर रूसी खेमे के साथ चल रहे शीतयुद्ध को शिथिल किया। शिथिलन की यह प्रक्रिया राजनयिक भाषा में 'देतांत' कही जाती है।

अगस्त १९७५ में हुए हेलसिंकी शिखर-संमेलन में रूसी और अमरीकी खेमों ने यूरोप की सुरक्षा और यूरोपीय देशों के पारस्परिक सहकार के लिए एक संमेलन बुलाने का निश्चय किया। इसका मतलब यह है कि पश्चिमी खेमे ने पूर्वी यूरोप के साम्यवादी देशों को मान्यता दे दी। फलतः पूर्व और पश्चिम के बीच के तनाव के ढीले पड़ने की उम्मीद पैदा हो गयी है।

पूर्वी यूरोप के जो लोग देशनिकाला भोग रहे हैं या अपने देश में रहते हुए नागरिक अधिकारों की लड़ाई लड़ रहे हैं, प्रायः उन सभी ने हेलसिंकी-संमेलन की निंदा की। मगर युगोस्लाविया के ६५ वर्षीय विरोधी नेता मिलोवान जिलास ने देतांत का स्वागत किया है। वे कहते हैं :

अग्रंत

'मैं देतांत का समर्थन इसलिए करता हूं कि आगे जाकर यह सोवियत धारणाओं को कमजोर कर देगा। इससे वे सारे मिथक नष्ट हो जायेंगे, जिन पर सोवियत धारणाएं आधारित रही हैं। इनमें से एक मिथक यह भी था कि अमरीका रूस के लौहावरण को हटाने और पूर्वी यूरोप के साम्यवादी देशों को मुक्त कराने के लिए प्रतिवद्ध है; और दूसरा मिथक यह कि सोवियत खेमे के चारों ओर पूंजीवादी खेमे ने घेरा डाल रखा है। ये निरे मिथक ही थे, इनमें सचाई लेशमात्र भी न थी।

'देतांत की मदद से अमरीका इन मिथकों को भंग कर देगा तथा पूर्व और पश्चिम को एक दूसरे के समीप आने का अवसर मिलेगा।

'इसकी शुरूआत हो भी गयी है। अमरीका ने "लोकतंत्र के लिए युद्ध" के मिथक का परित्याग कर दिया है और वह वियतनाम तथा कंबोडिया से हट गया है। अब नाटो को भंग कर देना चाहिये; क्योंकि एक तो वह अक्षम है तथा दूसरे उससे सोवियत रूस को वारसा सैनिक संधि संघटन बनाये रखने का बहाना मिलता है। यदि नाटो टूट जाये और रूस वारसा संधि को न तोड़ पाये, तो उससे उसे परेशानी होगी। खुद पूर्वी यूरोप के देश तब रूस के नेताओं से पूछेंगे कि जब हमें पश्चिम से कोई खतरा ही नहीं है, तो तुम हम पर प्रभुत्व जमाये क्यों बैठे हो?

'बाहरी आक्रमण के खतरे का बनावटी वातावरण खत्म हो जाने पर पूर्वी यूरोप के साम्यवादी देश अपनी घरेलू समस्याओं पर ध्यान देना शुरू करेंगे और उनका ध्यान अपने-अपने राष्ट्रीय हितों की ओर जायेगा। इसका मतलब यह कि वे पश्चिम के साथ व्यापार बढ़ाने की कोशिश करेंगे, दुनिया के तमाम देशों के साथ अपने संबंधों को सामान्य बनायेंगे, और उनके अपने साम्यवादी दल अधिकाधिक आजादी प्राप्त करने की कोशिश करेंगे। नतीजा यह होगा कि सोवियत खेमा अंततः टूट जायेगा और पचास वर्षों के भीतर रूस के पिछलग्गू देश युगोस्लाविया की तरह स्वतंत्र हो जायेंगे।

'पूर्व और पश्चिम के इस संगम से साम्यवाद को कोई खतरा नहीं है, मगर साम्य-

मिलोवान जिलास
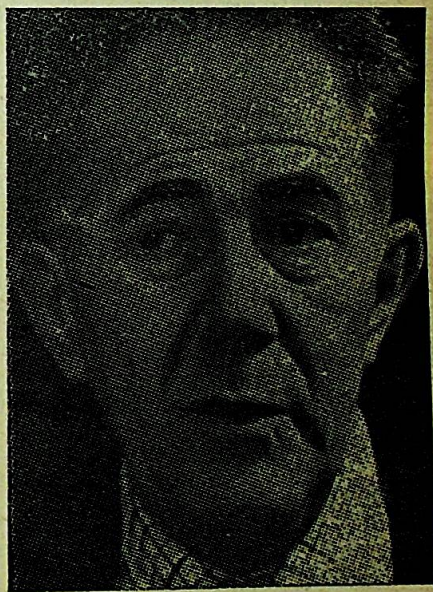
वाद में तो पहले ही घुन लग चुका है। इसके बावजूद वह अगले सौ साल जिंदा रहेगा। साम्यवादी सरकारों ने अपनी आर्थिक जिम्मेवारियां निबाहनी शुरू कर दी हैं; वहां लोगों का जीवन-स्तर ऊंचा उठा है और वे कार के युग में प्रवेश कर रहे हैं। दूसरी बात यह है कि पश्चिम के लोग यह बात नहीं समझ पाते हैं कि समाजवादी व्यवस्थाएं भी लचीली हो सकती हैं। युगोस्लाविया को ही लें; यहां नौकरशाही द्वारा संचालित अर्थव्यवस्था है, उसके साथ ही खुला बाजार तथा श्रमिकों का स्वप्रबंध भी।

'हां, यह हो सकता है कि देतांत के फलस्वरूप साम्यवाद पश्चिम के देशों में पांव फैलाये; मगर इससे पश्चिमी खेमे को परेशान नहीं होना चाहिये, क्योंकि पश्चिमी देशों के साम्यवादी दल मास्को की दासता स्वीकार नहीं करेंगे। साम्यवाद की सामर्थ्य चुक गयी है। साम्यवादी देशों को देखिये, वे आर्थिक ही नहीं, सांस्कृतिक दृष्टि से भी पिछड़े हुए हैं। साम्यवाद के अंतर्गत आज तक एक भी महान कलाकृति नहीं बनी है। अनेक वर्षों से पूर्वी यूरोप थमाव से पीड़ित है। अतीत ने यह सिद्ध कर दिया है कि साम्यवाद नये प्रकार का धर्म होने के बजाय एक अलग किस्म की तानाशाही मात्र है।

'पश्चिम को इस बात से नहीं घबराना चाहिये कि उसके पास साम्यवाद का सामना करने के लिए पर्याप्त रूप से सशक्त सैद्धांतिक धारणाएं नहीं हैं। ऐसी धारणाओं का अभाव ही तो पश्चिम की शक्ति का स्रोत है। प्रत्येक धारणा संपूर्ण सत्य होने का दावा करती है; इसका अर्थ यह है कि वह सत्य का मुंह ढंक लेती है। धारणाओं का अभाव ही स्वतंत्रता का सार है।

'एकदलीय साम्यवाद का जमाना लद चुका है। आने वाला काल बहुलवादी (बहुदलीय) व्यवस्था का युग होगा। फिर भले ही यह बहुलवाद साम्यवादी दलों का हो। समाजवादी व्यवस्थाएं बनी रह सकती हैं, किंतु उनके मूल तत्त्व में परिवर्तन आ जायेगा। जनसाधारण को अच्छी जिंदगी जीने, अधिक पुस्तकें पढ़ने, घूमने-फिरने और अधिक सामान्य जीवन व्यतीत करने का अवसर मिलेगा। देतांत के द्वारा ही पूर्वी यूरोप के देशों की मुक्ति होगी।'

मिहायलोव : एक प्रतीक

जिलास के बारे में आप काफी कुछ पढ़ चुके हैं। बहुलवादी चिंतन के कारण उन्हें उपराष्ट्रपति पद से सीधे कारागार जाना पड़ा। जिलास का विद्रोही स्वर नयी पीढ़ी तक पहुंचा। उनके प्रमुख शिष्य हैं मिहायलोव, जो युगोस्लाविया के एक प्रमुख राजनैतिक चिंतक और लेखक हैं। वे रूसी साहित्य के गहरे विद्वान हैं तथा एकदलीय व्यवस्था के उतने ही कटु आलोचक भी।

४१-वर्षीय मिहायलोव जेल के पंछी हैं। उन्हें पहली बार जेल की हवा १९६६ में खानी पड़ी। सितंबर १९६६ में उन्हें दस महीने के कारावास का दंड सुनाया गया था। उनका अपराध यह था कि उन्होंने 'स्लोवोदोनी ग्लास' (स्वतंत्रता की भेरी)

नामक पत्रिका का प्रकाशन किया तथा उसके माध्यम से यह प्रचार शुरू किया कि युगोस्लाविया को दो राजनैतिक दलों की आवश्यकता है। वे स्वयं दूसरे दल के संघटन में जुट गये थे।

मिहायलोव ने न्यायालय में कहा था—'मैं उस समाज को समाजवादी नहीं मानता, जिसमें केवल छह अथवा सात प्रतिशत लोगों को समस्त अधिकार प्राप्त हैं तथा शेष लोगों को कोई अधिकार ही नहीं है।' सरकारी वकील ने द्विदलीय प्रणाली को पूंजीवाद की पुनःस्थापना का षड्यंत्र बताते हुए मिहायलोव के लिए कठोर दंड की मांग की थी।

इस समय भी मिहायलोव जेल में हैं। उनकी आखिरी गिरफ्तारी हुई ७ अक्तूबर १९७४ को। उन पर यह आरोप था कि वे युगोस्लाविया सरकार की आलोचना करते हैं और वह आलोचना विदेशी समाचार-पत्रों में प्रकाशित होती है। अदालत ने उनको सात साल की सजा दी। सजा के विरुद्ध मिहायलोव ने अपील की, जो कि खारिज हो गयी। उन्हें बेलग्रेड से ७२ किलोमीटर दूर मित्रोविचा की मुख्य संघीय जेल में तन्हाई में रखा गया है। वहां उन्होंने पिछले दिसंबर में अनशन भी किया। उनकी मांग थी कि उन्हें सर्दी से बचाने के लिए उनकी कोठरी को गरम करने की व्यवस्था की जाये, उन्हें तन्हाई से मुक्त किया जाये, ट्रांजिस्टर और अधिक पुस्तकें दी जायें—विशेषतः धार्मिक पुस्तकें। उसी जेल में बंद क्रोशियाई राष्ट्रवादी विडोविच और सर्बि-

मिहायलोव

याई आर्थोडाक्स चर्च के पादरी सावा ने भी उनके साथ अनशन किया था। युगोस्लाविया की जेलों में सैकड़ों लोग राजनैतिक कारणों से बंद हैं।

दूसरा प्रतीक : पोपोविच

सूजा एम. पोपोविच बेलग्रेड के वकील हैं, जिन्होंने अनेक राजनैतिक बंदियों की पैरवी की है। इन्हें इस आरोप में गिरफ्तार कर लिया गया कि वे अपने मुवक्किलों के विचारों से सहमत हैं, अतः स्वयं भी राजद्रोह के अपराधी हैं। यदि अदालत ने उन्हें सजा सुना दी, तो वे जेल ही नहीं भोगेंगे, स्वदेश में वकालत भी नहीं कर सकेंगे।

पोपोविच अपने मुवक्किल दार्शनिक और लेखक रोगोलजूबा एस. इग्नजातोविच के कारण मुसीबत में फंसे। अप्रैल १९७४ में इग्नज़ातोविच बेलग्रेड विश्वविद्यालय के दर्शन-विभाग द्वारा आयोजित परिसंवाद में भाग ले रहे थे। उसी के दौरान

उन्हें पकड़ा गया तथा राजद्रोहात्मक भाषण देने का आरोप लगाकर उन पर मुकद्दमा चलाया गया। उन्हें तीन वर्ष के कठोर कारावास का दंड दिया गया। किंतु पी. ई. एन. क्लब के लेखक तथा संपादक संघ 'इंटरनेशनल' के हस्तक्षेप पर उन्हें रिहा कर दिया गया। मगर उनके वकील पोपोविच को राजद्रोह के आरोप से मुक्त नहीं किया गया।

बात यह है कि पोपोविच व्यवस्था-विरोधी व्यक्तियों की ही नहीं, समूहों और संघटनों की भी पैरवी करते हैं। इन्हीं में से एक है मासिक पत्रिका 'प्रेक्सिस', जिसका प्रकाशन बेलग्रेड और जगरेब विश्वविद्यालयों के दर्शन-विभागों के उदारवादी दार्शनिक, लेखक और प्राध्यापक सरकार की अनुमति से करते थे। गत वर्ष सरकार ने उसके प्रकाशन पर रोक लगा दी, क्योंकि उसमें सरकार की आलोचना हो रही थी।

साम्यवाद कब बहुलवादी होगा, यह तो भविष्य ही बतायेगा; अभी तो न उसे रूस और अमरीका का देतांत एकलवादी व्यवस्था से विचलित कर सका है, न जिलास का चिंतन और न मिहायलोव का अनशन।

—अयोध्या हाउस, विष्णुघाट, हरिद्वार, उ.प्र.
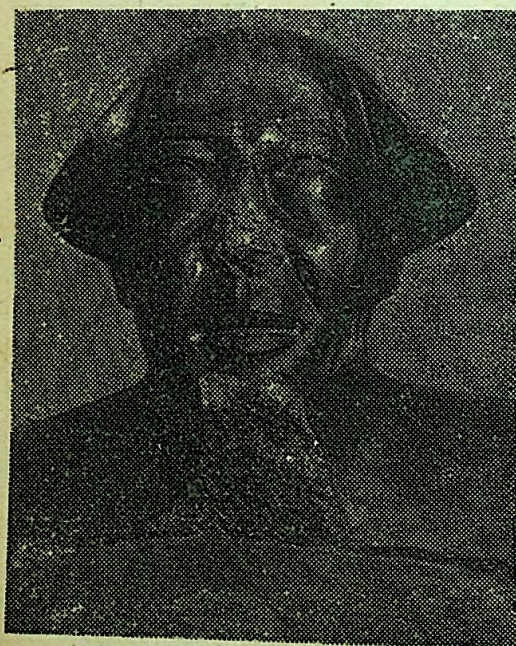
चित्रप्रश्न-७

क्या आप बता सकते हैं कि यह खंडित प्रतिमा किसकी है—यानी इसमें दरशाया गया व्यक्ति कौन है ? (उत्तर मई के नवनीत में पढ़ें।)

• उदयन शर्मा

तूफानी टाम्सन

इंग्लैंड और आस्ट्रेलिया के बीच खेली गयी १९७४-७५ की क्रिकेट-शृंखला टाम्सन की तूफानी गेंदबाजी के लिए हमेशा याद रहेगी। टाम्सन ने अपने साथी तेज गेंदबाज डेनिस लिली के साथ अंग्रेज बल्लेबाजों में जो आतंक फैला दिया, उससे हेराल्ड लारवुड के बंपरों की याद ताजा हो जाती है। इस शृंखला के प्रारंभ होने तक अंग्रेजों के दिमाग में यह बात घुसी हुई थी कि आस्ट्रेलिया के पास जो तेज गेंदबाज हैं, उनमें कोई खास दम-खम नहीं है। संभवतः इसीलिए वे पांच तेज गेंदबाज लेकर आस्ट्रेलिया गये थे, ताकि महज तेजी के बूते पर आस्ट्रेलियाई बल्लेबाजों के होश गुम किये जा सकें। लेकिन शृंखला खत्म होते-होते टाम्सन ने अंग्रेजों के छक्के छुड़ा दिये थे।

ब्रिसबेन में पहला टेस्ट शुरू होते ही इंग्लैंड के बाब विलिस और पीटर लीवर ने आस्ट्रेलिया के वॉली एडवर्ड्स, इयान चैपल, रेडपाथ और टेरी जेनर को घातक गेंदें देना शुरू कर दिया। किंतु अगले ही दिन जब तूफानी टाम्सन ने लौटकर शरीर को चोट पहुंचाने वाली तेज गेंदें फेंकनी शुरू कीं, तो पासा पलट गया। डेनिस एमिस का अंगूठा टूट गया और शायद ही कोई अंग्रेज बल्लेबाज बचा हो, जिसे टाम्सन की गेंदों ने सेंका न हो। यह क्रम पूरी शृंखला में जारी रहा। जब भी कोई अंग्रेज बल्लेबाज विकेट पर खड़ा होता, तो लगता था कि वह जल्दी से जल्दी पिंड छुड़ाकर पेवेलियन वापस जाना चाहता है। लेकिन एक तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि टाम्सन १९७१ के जानस्नो के करतबों को ही उन्हीं के मुहावरे में वापस कर रहा था। शृंखला का अंतिम टेस्ट न खेल पाने के बावजूद टाम्सन ने १७.९० रन प्रति विकेट के औसत पर ३३ विकेट लिये थे।

टाम्सन का यह जवाबी हमला काफी भयानक सिद्ध हो रहा था और ऐसा लगता था कि शृंखला की समाप्ति तक एक न एक अंग्रेज बल्लेबाज इसके बम्परों के कारण अपनी जान से हाथ धो बैठेगा। जेफ टाम्सन की इस घातक गेंदबाजी ने ब्रिटिश प्रेस में हंगामा मचा दिया और अंग्रेज पत्रकार उसे 'खूनी प्रवृत्ति' का करार देने लगे। प्रत्युत्तर में टाम्सन का कहना था कि विरोधी को चोट पहुंचाना कभी भी मेरा ध्येय नहीं रहा है; मैं तो सिर्फ खेल के लिहाज से तेज गेंदें फेंककर बल्लेबाज को उखाड़ने का प्रयास करता हूं।

चौड़े कंधों वाला, ६ फुट १ इंच ऊंचा २५ वर्षीय जेफ टाम्सन अभी तक करीबन २४ नौकरियां कर चुका है। डेविड लायड् और कोलिन काउड्री को चोट लगने पर उसका कहना था कि जो बल्लेबाज तेज गेंदबाजी को गलत तरीके से खेलेगा, उसका घायल होना निश्चित ही है। जब अंग्रेज पत्रकार क्राफर्ड ह्वाइट ने पूछा कि लायड् और काउड्री को एक-एक ओवर में तीन-तीन बाउंसर क्यों फेंके थे, तो टाम्सन तपाक से बोला— 'मैं किसी को मारना नहीं चाहता; मगर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि मैं विरोधी के प्रति नरम रुख रखता हूं। यह दृष्टि टेस्ट मैचों में बेवकूफी होगी। दूसरे को चोट से बचाने के लिए मैं "हाफवॉली" तो फेंकने से रहा।'

टाम्सन के अनुसार, कब और कितने बम्पर फेंकने चाहिये, इसका निर्णय पिच और बल्लेबाज पर निर्भर होता है। कंप्यूटर से लगाये गये हिसाब के अनुसार टाम्सन की गति कुछ वर्षों पहले ८७.५ मील प्रति घंटा थी। अब वह और तेज हो गया है। जान एड्रिच और कोलिन काउड्री का कहना है कि अपने क्रिकेट-जीवन में उन्होंने इतनी तेज गेंदों का सामना कभी नहीं किया। अनेक अंग्रेज समीक्षकों के अनुसार टाम्सन फ्रेडी ट्रूमन एवं वेस्ली हॉल से भी ज्यादा तेज और खतरनाक साबित हो रहा है।

क्रिकेट-प्रेमी पाठकों को शायद याद हो कि १९६८ में भारतीय स्कूली लड़कों का एक दल आस्ट्रेलिया गया था। उस दौर में हमारे लड़के सिर्फ एक मैच हारे थे, जब न्यू साउथ वेल्स ने उन्हें एक पारी से ठोंक दिया था। इस हार के लिए जिम्मेवार था एक तेज गेंदबाज। उस लड़के ने ४० और ६५ रन देकर दोनों पारियों में क्रमशः तीन और पांच विकेट लिये थे। वह था—जेफ टाम्सन।

जब १९७२ में पाकिस्तानी क्रिकेट-दल आस्ट्रेलिया के दौरे पर था, तो बैंक्सटाउन क्लब और न्यू साउथ वेल्स की ओर से टाम्सन की तूफानी गेंदबाजी ने उसे मेलबोर्न टेस्ट में स्थान दिलवा दिया। लेकिन अपने पहले टेस्ट में उसका प्रदर्शन अत्यंत निराशाजनक था। इसमें टाम्सन ने ११७ रन देकर एक भी विकेट नहीं लिया। इसके बाद उसे आस्ट्रेलियाई दल से ही बाहर नहीं किया गया, वरन न्यू साउथ वेल्स के दल में भी स्थान नहीं मिला।

तब टाम्सन ने सख्त मेहनत शुरू कर दी और क्लब-मैचों में उसकी गेंद कहर ढाने लगी। असल में उसे मजबूरी में क्रिकेट खेलना पड़ रहा था। क्योंकि एक फुटबाल-रेफरी की नाक तोड़ने के कारण उसे फुटबाल खेलने से वंचित कर दिया गया था। कमाल की बात यह है कि इसे कभी भी क्रिकेट का खास प्रशिक्षण नहीं मिला था।

सिडनी के प्रथम श्रेणी के क्लब-मैचों में टाम्सन की गेंदें अब आग उगल रही थीं। गेंद पर उसका नियंत्रण अब सुधर गया था। मोसमेन क्लब के खिलाफ उसने ३९ रन देकर ६ विकेट लिये। मोसमेन के कप्तान एवं इंग्लैंड के भूतपूर्व हरफनमौला खिलाड़ी

अप्रैल

वेरी नाइट का कहना था कि उसने टाम्सन के सिवा किसी को इतनी तेज गेंद फेंकते नहीं देखा। टाम्सन ने सातवें दशक के अंत में आस्ट्रेलियाई बल्लेबाजों में अपनी आतिशी गेंदबाजी से दशहत फैला दी थी। नाइट ने तो यह भी कहा कि उन्होंने विकेटों को गेंद की मार से उखड़कर इतनी दूर जाते कभी नहीं देखा था, जितना कि टाम्सन की गेंदों से उछलकर जा रहे थे।

टाम्सन के इन प्रदर्शनों ने क्वीन्सलैंड के विरुद्ध उसे न्यू साउथ वेल्स के क्रिकेट-दल में पुन: स्थान दिलवा दिया। इस मैच में उसने ८५ रन देकर सात विकेट उखाड़े। न्यू साउथ वेल्स के कप्तान डग वाल्टर्स का कहना था कि जेफ टाम्सन ने उस वर्ष की सर्वश्रेष्ठ गेंदबाजी का प्रदर्शन किया, क्योंकि उसकी गेंदें निश्चय ही १०० मील प्रति घंटा की रफ़्तार से पड़ रही थीं। क्वीन्सलैंड के कप्तान ग्रेग चैपल ने बताया कि मुझे इतनी तेज गेंदों का कभी सामना नहीं करना पड़ा था। टाम्सन की बंदूक की गोली-सरीखी गेंदों को भुगतने के बाद क्वीन्सलैंड ने फौरन ही उसे अधिक पैसे पर अपनी ओर से खेलने का निमंत्रण दे दिया।

और इस मैच के बाद टाम्सन ने असफलता का मुंह नहीं देखा। किंतु उसकी परीक्षा अभी बाकी थी। जून ७५ के विश्व कप क्रिकेट में, इंग्लैंड के पिचों पर वह कितना प्रभावशाली रहता है यह अभी देखा जाना था।

लेकिन इंग्लैंड-आस्ट्रेलिया शृंखला का आतिशी गेंदबाज विश्व कप क्रिकेट में एकदम फिस्स रहा। प्रतियोगिता में उसने पांचों मैच खेले, जिनके ४४ ओवरों में से ९ मेडन रहे और १०६ रन देकर उसने सिर्फ चार विकेट लिये—२६.५ के औसत पर। गेंदबाजी की दृष्टि से उसका सफलतम मैच फाइनल था। वेस्ट इंडीज के खिलाफ इस मैच में उसने १२ ओवर फेंककर (एक मेडन) ४४ रन दिये और दो विकेट लिये। क्लाइव लाय्ड के मैदान में उतरने तक वह काफी अच्छी गेंदें फेंक रहा था।

टाम्सन की निरंतर विफलताओं ने तो क्रिकेट-समीक्षकों को परेशान-सा कर दिया। महान तेज गेंदबाज फ्रेडी ट्रूमन ने लिखा—'आस्ट्रेलिया के आश्चर्यकारी गेंदबाज ने मुझे निराश किया। उसकी तेजी ने तो मुझे मजा दिया, पर उस नियंत्रणहीनता ने मजा नहीं दिया, जब उसने यह साबित करने की कोशिश की कि विश्व का सबसे तेज गेंदबाज वही है। आठ ओवरों में उसने १२ नो बॉल और एक वाइड बॉल पटकी।

'निश्चय ही वह काफी तेज है...... अंतरराष्ट्रीय क्रिकेट में नया है और मुझे पूरी उम्मीद है कि थोड़ी सलाह और अनुभव के बाद वह आस्ट्रेलिया के लिए बहुत ही लाभकारी गेंदबाज सिद्ध होगा।'

विश्व कप क्रिकेट के फौरन बाद ही आस्ट्रेलिया ने इंग्लैंड का दौरा शुरू कर दिया। पहला टेस्ट एजबेस्टन में होना था और टेस्ट से पहले दौरे के दो मैचों में टाम्सन ने २३० रन देकर मात्र दो विकेट लिये।

यह क्या हो गया था २४-वर्षीय तूफानी

टाम्सन को ! लगता था गुब्बारे की हवा निकाल दी गयी हो। ७४-७५ में अंग्रेजों की बल्लेबाजी को ध्वस्त करने वाला टाम्सन छह महीने बाद ही आत्मविश्वास खोता जा रहा था। उसके मित्र लेखक डेविड लार्ड ने 'संडे पीपल' में लिखा कि टाम्सन को घर की याद बहुत सताने लगी है। वह पार्टियों में उखड़ा-उखड़ा रहता था। हंसी-मजाक में भी बेमन से हिस्सा लेता था। अक्सर वह सुबह चार बजे आस्ट्रेलिया फोन मिलाकर घर वालों से बातें करने लगता था।

दरअसल यह उसका पहला विदेशी दौरा था। अभी तक मस्त जिंदगी विताने वाला यह खिलाड़ी टेस्ट-यात्रा के अनुशासनबद्ध जीवन को ढंग से स्वीकार नहीं पाया था। बेशक उसके सरीखा गेंदवाज ज्यादा दिनों तक खराब प्रदर्शन न करता। फिर भी, किसी भी कप्तान के लिए निश्चय ही यह चिंता का विषय था।

खराब 'फार्म' के बावजूद पहले टेस्ट में टाम्सन को ही खिलाया गया। क्योंकि चैपल जानते थे कि लिली-टाम्सन का आतंक ही अंग्रेजों के पांव उखाड़ सकता है। टाम्सन के न होने का आभास ही एमिस, फ्लेचर, डनेस आदि में दम फूंकने को काफी था।

१० जून १९७५ को टाम्सन आस्ट्रेलिया के बाहर पहले टेस्ट में उतरा। उसने पहले ४९ रन बनाकर अंग्रेजों को छकाकर रख दिया। इंग्लैंड की पहली पारी में अच्छी गेंदवाजी के बावजूद उसे एक भी विकेट न मिला। इंग्लैंड की दूसरी पारी में उसने अपने पहले दो ओवरों में ही माइक डनेस और ग्राहम गूच को पेवेलियन वापस भेज दिया और ३८ रन देकर पांच विकेट लिये।

इस शृंखला में टाम्सन ने १७५.१ ओवर फेंके, जिनमें ५६ मेडन थे और ४५७ रन देकर २८.५६ के औसत पर १६ विकेट लिये। इंग्लैंड के धीमे पिचों ने उसे उतना कारगर नहीं होने दिया, जितना कि वह आस्ट्रेलिया के खुश्क और तेज पिचों पर रहता था। फिर भी उसके स्तर का अंदाज इसी से लगाया जा सकता है कि उस शृंखला में सिर्फ डेनिस लिली (२१ विकेट) ने उससे ज्यादा विकेट लिये।

इंग्लैंड की ओर से तेज गेंदबाजी की वागडोर जान स्नो ने संभाली, जिन्हें ३२.२७ के औसत पर ११ विकेट ही मिल सके। वे इंग्लैंड के सफलतम गेंदबाज रहे। ओल्ड को सात, आर्नाल्ड को तीन, लीवर को दो और वूलनर को दो विकेट मिले। इनमें से एक भी गेंदवाज घरेलू पिचों पर भी टाम्सन की तेजी को छू तक न सका। दरअसल क्रिकेट-सत्र के पूर्वार्ध में इंग्लैंड के पिच हरे और तेज होते हैं, जो तेज गेंदबाजों को रास आते हैं; परंतु उत्तरार्ध में वे धीमे और बेजान-से हो जाते हैं, जिन पर बेदी-चंद्रशेखर सरीखे स्पिनर ही कमाल दिखा सकते हैं। कई एक समीक्षक, जिनमें कीथ मिलर और हेराल्ड लारवुड शामिल थे, शृंखला से पहले कह रहे थे कि इन पिचों पर गेंद टप्पा खाकर तेजी से नहीं उठेगी और टाम्सन

अप्रैल

को ये पिच रास नहीं आयेंगे। इन विपरीत परिस्थितियों के बावजूद टाम्सन का प्रदर्शन ऐसा नहीं था कि घटिया ठहराया जा सके। बेजान पिचों पर जितना किया जा सकता था, उसने किया।

उसकी असली परीक्षा तो वेस्ट इंडीज के खिलाफ १९७५-७६ सत्र में होनी थी। तूफानी टाम्सन घरेलू पिचों पर ही अपनी कारतूसी गेंद फेंक रहा होता और सामने होते–फ्रेडरिक्स, ग्रीनिज, रिचर्ड्स, रो, कालीचरण और लाय्ड। देखना था कि टाम्सन का तूफान मनपसंद मौसम और पिचों पर क्या रंग लाता है?

क्लाइव लाय्ड एंड कंपनी काफी धमाकों के साथ आस्ट्रेलिया आयी थी। अखबारों का दावा था कि उनके पास टाम्सन से बेहतर होल्डिंग और राबर्ट्स हैं। फिर लाय्ड, फ्रेडरिक्स, कालीचरण को पालतू बनाना किसके बूते की बात है! प्रारंभिक दो टेस्टों ने इन शंकाओं की पुष्टि की। इन टेस्टों में टाम्सन ने ७१.९ के औसत पर सिर्फ चार विकेट लिये। पर्थ में खेला गया दूसरा टेस्ट हारने के बाद टाम्सन की क्षमता पर कई पत्रकार शक करने लगे।

पर मेलबोर्न टेस्ट में जेफ टाम्सन फिर हीरो था। वेस्ट इंडीज दल जीत के नशे में चूर था। टाम्सन ने उसके बखिये उधेड़ दिये – ११ ओवरों में एक मेडन, ६२ रनों पर पांच विकेट। शानदार ४४ रन ठोंककर उसने 'मैन ऑफ़ द मैच अवार्ड' भी जीता। फिर तो उसकी गेंदें वेस्ट इंडीज पर हावी होती चली गयीं। सिडनी में नौ विकेट, एडलेड में छह और मेलबोर्न में चार विकेट उसने उखाड़े। उस शृंखला में उसने १४४.५ ओवर फेंके, १६ मेडन रहे और ८१९ रन देकर २८.१ के औसत पर २९ विकेट लिये।

इस शृंखला का सफलतम गेंदबाज टाम्सन ही था। विशेषज्ञों ने हिसाब लगाया है कि आस्ट्रेलिया-वेस्ट इंडीज शृंखला में उसने करीबन १०० मील प्रति घंटा की गति से गेंदें फेंकी हैं। ये तथ्य शृंखला के दौरान फोटोसोनिक कैमरा के जरिये प्रकट हुए। इस शृंखला में टाम्सन की सबसे तेज गेंद १६०.३९८ कि.मी./घंटा (९९.६८८ मी. प्र. घं.) की थी। उसकी सर्वाधिक तेज गेंद दूसरे टेस्ट में राय फ्रेडरिक्स ने खेली थी। कैमरों के अनुसार गेंद खेलने के लिए फ्रेडरिक्स को मात्र ०.४३ सेकेंड मिले थे।

लाय्ड, कालीचरण, ग्रीनिज, फ्रेडरिक्स और रो के घमंड को ध्वस्त करके जेफ टाम्सन ने अपनी गेंदबाजी की श्रेष्ठता पूरी तरह साबित कर दी है। यदि आंकड़ों की भाषा में ही बात करें, तो भी लिली के बाद टाम्सन का सानी नहीं है। यदि लिली कलाकार है और तकनीकी दांवों से मुकाबला जीतना पसंद करता है, तो टाम्सन वहशी ताकत और रफ्तार पर यकीन रखता है। टाम्सन ने अभी सिर्फ १६ टेस्ट खेले हैं। इनमें उसने १९७८ रनों पर २५.३ के औसत से ७८ विकेट उखाड़े हैं। किसी तेज गेंदबाज से आप और क्या चाह सकते हैं?

–डी १६, निजामुद्दीन पूर्व, नयी दिल्ली-१३

★

अंधेरे को कछु-कछु दरसाई

विक्रम

डाक्टरों की आविष्कार-बुद्धि की मेहरबानी से ३३ बरस का एक अंधा अमरीकी नागरिक स्थूल आकृतियों को 'देखने' और ब्रेल लिपि की आकृतियों को 'पढ़ने' में समर्थ हो गया है।

इसकी जो तकनीक डाक्टरों ने विकसित की है, उसमें एक टेलिविजन-कैमरे का उपयोग होता है। कैमरे का संबंध विद्युदग्रों (इलेक्ट्रोड) से होता है और ये इलेक्ट्रोड मानव-मस्तिष्क के उस भाग से जोड़े जाते हैं, जिनका संबंध दृष्टि से है। मस्तिष्क का यह भाग शरीररचनाशास्त्र में दृष्टि-वल्कुट (विजुअल कार्टेक्स) कहलाता है। इस विषय में प्रसिद्ध विज्ञान-पत्रिका 'लान्सेट' में एक विस्तृत रिपोर्ट छपी है।

अंधे को 'देखने' का संवेदन

दृष्टिदान की दिशा में यह महत्त्वपूर्ण प्रगति संभव हो पायी है ऊटा विश्वविद्यालय (अमरीका) के इंस्टिट्यूट ऑफ़ बायो-मेडिकल इंजीनियरिंग के डाक्टर विलियम डोबेल की अगुवाई में काम कर रहे पैंतीस विशेषज्ञों के प्रयत्न से। यह इंस्टिट्यूट दुनिया की उन दो संस्थाओं में से है, जिनमें टेलिविजन-कैमरा व कंप्यूटर आदि विद्युत्-उपकरणों तथा मानवीय स्नायुतंत्र का संबंध जोड़ने की संभावनाओं के बारे में खोजकार्य चल रहा हैं।

जिस दूसरी संस्था में यह काम चल रहा है, वह है दक्षिण लंदन के माड्स्ले अस्पताल का इंस्टिट्यूट ऑफ़ साइकायट्री। असल में माड्स्ले अस्पताल के प्रो. गाइल्स ब्रिंडले ने जो आरंभिक कार्य इस क्षेत्र में किया था, उसी के आधार पर ऊटा विश्वविद्यालय (अमरीका) में काम आगे बढ़ाया गया।

यह बात विज्ञानियों को काफी समय से ज्ञात है कि मस्तिष्क के दृष्टि-संबंधी क्षेत्र को यदि बिजली से उत्तेजित किया जाये, तो मनुष्य को रोशनी की छोटी-छोटी चमक (फ्लैश) 'देखने' का संवेदन होता है—चाहे वह मनुष्य अंधा हो या दृष्टि-संपन्न। ऐसा तब भी होता है, जब आंखों और मस्तिष्क

आंख
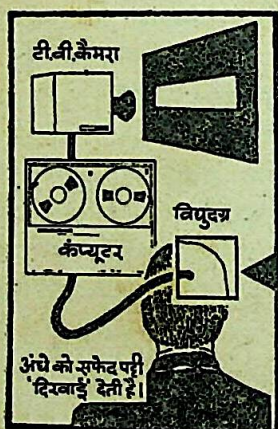
के बीच की तंत्रिकाएं सर्वथा निकम्मी हो गयी हों। बिजली की धारा जितनी ही सशक्त हो, दमक उतनी ही चमकीली होती है। इस दमक को 'फास्फीन' नाम दिया गया है। कुछ लोगों ने रंगीन 'फास्फीन' देखने का दावा किया है; मगर प्रायः वह सफेद-स्याह होती है।

'नेचर' की रिपोर्ट में एक नयी बात बतायी गयी है। वह यह कि पहली बार इस तकनीक से अंधे मनुष्य को उपयोगी जानकारी दी जा सकी है और अंधा व्यक्ति उसे पहचान भी सका है।

यह अमरीकी नागरिक दस साल पहले गोली लगने से अंधा हो गया था। उसके दिमाग में ६४ बारीक सूइयों का ग्रिड बैठाया गया, जो उसके सिर पर लगे बांक के जरिये स्थिर रखा गया। एक परीक्षण में उसके विद्युदग्र (इलेक्ट्रोड) एक कैमरे से जोड़ दिये गये। कैमरे ने बिंब (इमेज) एक कंप्यूटर में भेजे। कंप्यूटर ने उन्हें सरल बनाकर विद्युत-स्पंदनों के रूप में विद्युदग्रों (इलेक्ट्रोड) के जरिये मस्तिष्क में भेजा।

इस विधि से वह अंधा अमरीकी काले धरातल पर रखी इंच-भर लंबी एक सफेद पट्टी को कैमरे की मदद से 'देख' पाया और यह भी पहचान पाया कि पट्टी खड़ी अवस्था में रखी हुई है या पड़ी अवस्था में।

दूसरे प्रयोग में विद्युदग्र ब्रेल लिपि में मुद्रित अक्षरों से जोड़े गये थे। ब्रेल अक्षरों के प्रत्येक छिद्र में एक विद्युदग्र घुसाया गया था। डा. डोबेल और उनके सहयोगियों ने
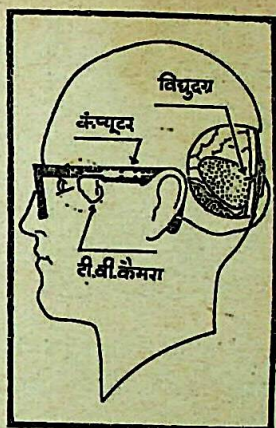
भविष्य का कंप्यूटरयुक्त टी.वी. चश्मा

देखा कि अंधे आदमी ने ब्रेल अक्षरों की विभिन्न आकृतियों को फौरन पहचान लिया। इतना ही नहीं, जब जांच की गयी तो उसने ब्रेल में मुद्रित वाक्यों और वाक्यांशों को इतनी तेजी से पढ़ा, जितनी तेजी से वह उन्हें छूकर नहीं पढ़ पाया। जो वाक्यांश और वाक्य उसने विद्युदग्रों की सहायता से पढ़े, उनमें से कुछ थे—'द क्रो वेन्ट इनटु......' और 'ही हैड ए बैट एंड ए बॉल'।

यह तकनीक अभी प्रयोग-दशा में है और अभी बहुत-सी समस्याओं का समाधान होना बाकी है। उदाहरणार्थ, अभी यह पता लगाना है कि बार-बार उत्तेजित किये जाने से मस्तिष्क को कोई क्षति तो नहीं पहुंचेगी।

डाक्टर डोबेल का अंदाज है कि किसी मनुष्य के मुखड़े के सफेद-स्याह फोटो को 'देख' पाने के लिए २५६ सूइयों की आवश्यकता होगी, जिनमें से प्रत्येक बिजली की
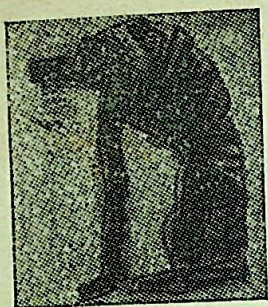
कुत्ते का यह चित्र १८ वर्ष की एक जन्मांध तरुणी ने बनाया है। मूल चित्र रंगीन है।

करेंट के आठ स्तरों को वहन करने में समर्थ होगी।

डा. डोवेल का यह भी खयाल है कि एक अत्यंत छोटे कंप्यूटर की मदद से प्रकाशीय आकृतियों को विद्युत-स्पंदनों में बदला जा सकेगा। यह कंप्यूटर अत्यंत सूक्ष्म होगा—इतना सूक्ष्म कि भविष्य में शायद वह चश्मे के फ्रेम में फिट किया जा सकेगा।

सोचा यह जा रहा है कि भविष्य में अंधे मनुष्य के नेत्र-कूप (आइ-सॉकिट) में दो छोटे कैमरे फिट किये जायगे। ये कैमरे उस अंधे द्वारा पहने जाने वाले चश्मे के फ्रेम में जड़े हुए सूक्ष्म कंप्यूटर को संदेश भेजेंगे। फिर यह कंप्यूटर विद्युत-स्पंदनों को तार की मदद से मस्तिष्क में भेजेगा। पृष्ठ ३१ के चित्र में यह सब दिखाया गया है।

डा. डोवेल का अंदाज है कि इस उपकरण की कीमत ४५,००० रुपये के करीब होगी और मस्तिष्क म विद्युदग्र बैठाने के आपरेशन तथा आवश्यक प्रशिक्षण का खर्चा १८,००० रुपये होगा। कृत्रिम गुर्दायंत्र की तुलना में यह सस्ता ही है।

ऊटा विश्वविद्यालय के इंस्टिटयूट ऑफ बायोमेडिकल इंजीनियरिंग में बहरों के लिए इसी ढर्रे पर एक श्रवण-यंत्र का भी विकास किया जा रहा है। मगर व्यापारिक रूप से इन दोनों यंत्रों का निर्माण अभी भविष्य की बात ही है।

★

जार्ज बर्नार्ड शा एक तालाब में नहा रहे थे। कुछ लड़के भी उस समय वहीं नहा रहे थे। वे शा को पहचानते नहीं थे और शा की ओर संकेत करके उन्होंने अपने एक कमजोर-से साथी से कहा कि अगर तुम उस बूढ़े को डुबकी खिला दो, तो तुम्हें एक शिलिंग इनाम मिलेगा।

शर्त मानकर लड़का शा के पास पहुंचा, मगर उसकी हिम्मत जवाब दे गयी। शा ने उसके चेहरे पर उलझन-सी देखी, तो पूछा—'क्यों क्या बात है? कुछ चाहिये क्या?'

लड़का पहले तो झिझका, फिर उसने सही बात बता दी। शा तनिक-सा मुस्कराये और उस लड़के से बोले—'तो इसमें झिझक कैसी? आओ, पास आकर मेरा सिर पकड़ो। मैं खुद ही डुबकी लगा लूंगा।'

लड़के ने उनके सिर को पकड़ा और शा ने डुबाये जाने का अभिनय करते हुए गोता लगा दिया। लड़का विजय की खुशी में अपने साथियों की ओर चल दिया।

★

नवनीत

नूतन-पुरातन ज्ञान-विज्ञान
और मनोरंजन

अनिर्वचनीय

यह कैसा अनिर्वचनीय आनंद है मेरे लिए कि मैं सेब की कलियों व पत्तियों में से अंबर को ताकूं और भगवान का प्रेम मुझे वहां नजर आये; मैं चिलबिल की बोली सुनूं जिसने अभी-अभी वहां घोंसला बनाया है और उसके नन्हे-से गले से उमड़ते हर सुर में मुझे अनुभूति हो पक्षियों की परवाह करने वाले परमात्मा के प्यार की; मैं अति दूरस्थ आकाश की उज्ज्वल नीली गहराइयों में झांकूं और अनुभव करूं कि वह तो आशीर्वादों का चंदोवा है—मेरे पिता के घर की छत है; यह भी देखूं कि अगर बादल घुमड़ आये तो वे अविकारी ज्योति को ही ढांप रहे होंगे; और यह भी कि जब दिन भी छिप जायेगा, तब मैं यही देखूंगी कि रात भी नये ज्योतिर्मय लोकों का ही उद्घाटन करती है; मैं यह जान सकूं कि यदि मैं भगवान के ब्रह्मांड की परत पर परत उघाड़ती चली जाऊं तो भी मैं तो अधिकाधिक आशीर्वाद ही उघाड़ रही हूंगी और उस प्रेम का अधिकाधिक गहरा दर्शन पा रही हूंगी, जो कि सबके मर्म में स्थित है।

—एलिजाबेथ चार्ल्स

कोणार्क की एक मूर्ति

सुबीर

जीवन-तीर्थ

शिष्टाचार वह आंगन है, जिससे निजी और सामाजिक जीवन की गाड़ी बिना चरमराहट के सुचारु रूप से चलती रहती है।

राष्ट्रपति लिंकन बग्घी में बैठे कहीं जा रहे थे। रास्ते में एक बूढ़े नीग्रो ने टोपी जरा-सी उठाकर सिर झुकाया और उनका अभिवादन किया। उत्तर में लिंकन ने भी वैसा ही किया।

इस पर उनके साथ बैठे उनके मित्र ने कहा—'भला आपको उस नीग्रो के सामने सिर झुकाने की क्या जरूरत थी?'

'असल में मैं नहीं चाहता कि कोई शिष्टता में मुझसे बाजी ले जाये।' लिंकन ने मुस्कराकर उत्तर दिया।

वाल्तेयर ने कहा है—'दूसरों का उपकार करना हमारे लिए हमेशा संभव नहीं होता; किंतु हम उनसे हमेशा शिष्टतापूर्वक जरूर पेश आ सकते हैं।'

अमरीकी जनरल इवान्स कार्ल्सन को लगातार सिगरेट पीने की आदत थी। एक बार वे प्रसिद्ध अमरीकी अखबार 'क्रिश्चेन सायन्स मानीटर' के संपादक से मिलने गये और उनके सामने बैठते ही जेब में से सिगरेटों की डिबिया निकालकर मेज पर रखते हुए बोले—'अगर आपको एतराज न हो, तो...' और डिबिया में से सिगरेट निकाल ली।

'शौक से पीजिये,' संपादक ने कहा—'वैसे, यहां किसी को भी सिगरेट पीने की इजाजत नहीं है। फिर भी आप .....'

कार्ल्सन ने फौरन सिगरेट डिबिया में रख दी और डिबिया जेब में डाल ली।

शिष्टता हार्दिक होती है—आंतरिक संस्कार से जनित; जबकि औपचारिकता केवल बाह्य लोकाचार है। उन दोनों की सीमारेखा इतनी सूक्ष्म होती है कि उनमें अंतर कर पाना कठिन होता है। परंतु सामान्य सामाजिक व्यवहार में उनमें अंतर करना आवश्यक भी नहीं होता।

प्रथम विश्वयुद्ध में मित्रराष्ट्रों के फ्रांसीसी प्रधान सेनानी मार्शल फोच के संमान में एक पार्टी दी गयी। सभी अतिथि उसमें सबसे बड़ी शिष्टता से पेश आ रहे थे। एक अमरीकी अतिथि को यह हद दर्जे की शिष्टता अखर रही थी। आखिर मौका देखकर उसने मार्शल फोच से कह ही दिया—

बाकी

'आप फ्रांसीसियों की यह शिष्टता भी अजीब है! वास्तव में तो यह एक दूसरे में हवा भरने जैसी बात है।'

'बेशक', मार्शल फोच ने उत्तर दिया—'आपने देखा होगा, साइकल की ट्यूबों में भी हवा ही भरी होती है और उसकी बदौलत सवारी आराम से होती है और तेजी से भी।'

शिष्टाचार सामने वाले की हैसियत को मापकर नहीं किया जाता।

फ्रांसीसी अभिनेता साचा गुइत्री बचपन में एक दिन अपने दादा के साथ कहीं जा रहे थे। रास्ते में एक अंधा भिखारी मिला। दादा ने भिखारी को देने के लिए कुछ पैसे साचा के हाथ में रखे।

साचा जब पैसे देकर वापस आये, तो दादा ने उन्हें समझाया—'बेटा, पैसे उसे देते समय तुम्हें अपनी टोपी छूनी चाहिये थी।'

'वह क्यों दादाजी?'

'यही शिष्टाचार है।'

'पर भिखारी तो अंधा था दादाजी!'

'तो भी शिष्टाचार छोड़ना नहीं चाहिये। वैसे भी क्या पता, वह अंधा होने का दिखावा ही कर रहा हो।'

शिष्ट व्यक्ति को शिष्टाचार के लिए कभी समय की कमी नहीं पड़ती।

लिंकन अपना पहला राजनैतिक भाषण दे रहे थे। उनके पीछे मंच पर कई प्रमुख नेता बैठे हुए थे। भाषण शुरू हुए कुछ ही मिनट बीते थे कि एक आदमी श्रोताओं की मंडली को चीरकर मंच के बिलकुल निकट आ पहुंचा। उसने पुराने ढंग के अजीब-से कपड़े पहने हुए थे। उसका नाम जिमी पेन्टियर था। वह लिंकन का पुराना परिचित था और उनसे मिलने आया था। मंच के पास पहुंचते ही उसने ऊंची आवाज में कहा—'सुनाओ एब, क्या हाल है?'

लिंकन ने फौरन भाषण रोका और आगे की ओर झुककर पेन्टियर से हाथ मिलाते हुए कहा—'ओह, चचा जिमी! कब आये आप?' फिर उन्होंने हाथ से पकड़कर उसे मंच पर चढ़ाया और अपनी कुर्सी पर बैठाकर फिर से भाषण चालू कर दिया।

जिमी पेन्टियर वहां बैठा कुछ बेचैनी-सी महसूस करता रहा। कुछ देर बाद वह उठा और लिंकन के पास जाकर बोला—'एब, मैं यह तो पूछ ही नहीं पाया कि तुम्हारी पत्नी और बच्चे कैसे हैं? सब राजी-खुशी हैं न?'

लिंकन दुबारा भाषण रोककर उसकी ओर मुड़े और बड़े अपनत्व से बोले—'हां चचा, सब राजी-खुशी हैं।'

पेन्टियर संतुष्ट होकर कुर्सी पर बैठ गया, तो लिंकन ने फिर से भाषण शुरू कर दिया।

शिष्टता सत्पुरुष के जीवन का सहज अंग होती है, समूरदार पशुओं के रोओं की तरह। यदि भीतर से उत्पन्न सहज शिष्टता हममें न हो, तो अभ्यास द्वारा उसे अपना सकते हैं। प्रकृति ने हमें ठंड से बचने के लिए रोएं नहीं दिये हैं; मगर क्या हम कपड़े पहनकर ठंड से अपना बचाव नहीं करते!

ज्ञानेश्वर महाराष्ट्र के प्रातःस्मरणीय संतों में से हैं। उनका जन्म सात सौ वर्ष पूर्व हुआ था और पिछली सात शताब्दियों से उनके अमर ग्रंथ 'ज्ञानेश्वरी', 'अमृतानुभव' 'चांगदेवपासष्टी' और उनके अभंग महाराष्ट्रीय जनता के लिए चिंतन, मनन और निदिध्यासन के आधार रहे हैं। उनके द्वारा प्रतिपादित ज्ञानोत्तरी भक्ति मध्ययुगीन धर्म-साधना में एक नया पर्व है। ज्ञानेश्वर समूचे विश्व को ईश्वर-तत्त्व मानते हैं और उनकी दृष्टि में यह विश्व परमेश्वर की स्फूर्ति है। अपनी आत्मसाधना से संप्राप्त ब्रह्मविद्या को उन्होंने इन ग्रंथों के माध्यम से सर्वजन-सुलभ कर दिया। प्रस्तुत लेख उनके लोकोत्तर व्यक्तित्व और उनकी कृतियों को नखदर्पण में दरशाने का प्रयास है।

ज्ञानेश्वर की कुल-परंपरा की कड़ी उनके प्रपितामह के प्रपितामह हरिपंत के समय से उपलब्ध होती है, जो सन ११३८ के आसपास जीवित थे। हरिपंत के पौत्र त्र्यंबकपंत पैठण (जि. औरंगाबाद) के पास गोदावरी के तीर पर स्थित आपेगांव में रहते थे। इनके दो पुत्र थे—गोविंदपंत और हरिपंत। ज्येष्ठपुत्र गोविंदपंत ही संत ज्ञानेश्वर के प्रपितामह थे। इनकी पत्नी का नाम निराई था। पति-पत्नी संत गाहिनीनाथ के शिष्य थे। गुरु की कृपा से उन्हें एक पुत्र हुआ, जिसका नाम उन्होंने विट्ठलपंत रखा।

काव्य, वेद, व्याकरण आदि का अध्ययन करके विट्ठलपंत तीर्थयात्रा करने निकले और घूमते हुए, पूना के निकट आळंदी पहुंचे। वहां के सिद्धेश्वरपंत कुलकर्णी उनके ज्ञानदीप्त व्यक्तित्व को देख स्वभावतः उनके प्रति आदर से भर उठे। वे उन्हें अपने घर

आग्रह

ले गये और उनका आदर-सत्कार करके अपनी एकमात्र कन्या से उनका ब्याह कर दिया। विवाह के पश्चात् विट्ठलपंत तीर्थ-यात्रा पूर्ण करके अपने वृद्ध माता-पिता से मिलने पत्नी और श्वसुर के साथ आपेगांव लौट आये।

विट्ठलपंत स्वभाव से वैराग्य-प्रवण थे। संन्यास लेने की इच्छा उनमें बार-बार जागती थी और उनका मन गृहस्थी के प्रति सदा उदासीन रहता था। वृद्ध माता-पिता के चल बसने पर श्वसुर उन्हें आग्रहपूर्वक आळंदी ले गये। पुत्र न होने की बात को लेकर एक दिन पति-पत्नी में कुछ कहा-सुनी हो गयी। सो विट्ठलपंत गृहत्याग करके काशी चले गये और वहां श्रीपादस्वामी से संन्यासदीक्षा ले ली। गुरु ने उनका नाम चैतन्याश्रम रखा।

गुरु श्रीपादस्वामी दक्षिण के तीर्थाटन पर निकले। सौभाग्यवश वे आळंदी भी गये। वहां उन्होंने विट्ठलपंत की पत्नी रुक्मिणी को अश्वत्थ-वृक्ष की परिक्रमा करते देखा। रुक्मिणी ने स्वामीजी को प्रणाम किया, तो उन्होंने 'पुत्रवती भव' कहकर उसे आशीर्वाद दिया। यह आशीर्वाद सुनकर वह बेचारी सिटपिटाकर रह गयी। इस पर स्वामीजी ने विशेष पूछताछ की, तो उन्हें पता चला कि उनका शिष्य चैतन्याश्रम (विट्ठलपंत) ही इस युवती का पति है। तुरंत काशी लौटकर उन्होंने शिष्य को गृहस्थाश्रम में वापस लौटने का आदेश दे दिया। गुरु की आज्ञा को शिरोधार्य करके विट्ठलपंत आळंदी लौट आये और पुनः गृहस्थाश्रमी बन गये। फिर क्रमशः उनकी चार संतानें हुईं – शक ११९५ में निवृत्ति, शक ११९७ में ज्ञानेश्वर, शक ११९९ में सोपानदेव और शक १२०१ में मुक्ताबाई।

समाज ने विट्ठलपंत के संन्यास-परित्याग का बहुत बुरा माना और धर्माधिकारियों ने उनके लिए प्राणत्याग के प्रायश्चित्त का विधान किया। विट्ठलपंत और रुक्मिणी ने अपने आपको गंगार्पण कर दिया। चारों बच्चे अनाथ हो गये। संन्यासी के पुत्र होने के कारण निवृत्ति और उनके छोटे भाइयों को यज्ञोपवीत संस्कार का भी अधिकार नहीं था। उनसे कहा गया कि पैठण जाकर शुद्धिपत्र लाओ। चारों भाई-बहन पैठण के पंडितों के पास गये; परंतु पंडित नहीं माने।

वहीं ज्ञानेश्वर ने एक करुण दृश्य देखा। एक भैंसे को उसका मालिक बड़ी बेरहमी से

* डा. न. चिं. जोगळेकर *

ज्ञानेश्वर और ज्ञानेश्वरी

जन्म-सप्तशती संवत्सर के पावन संदर्भ में
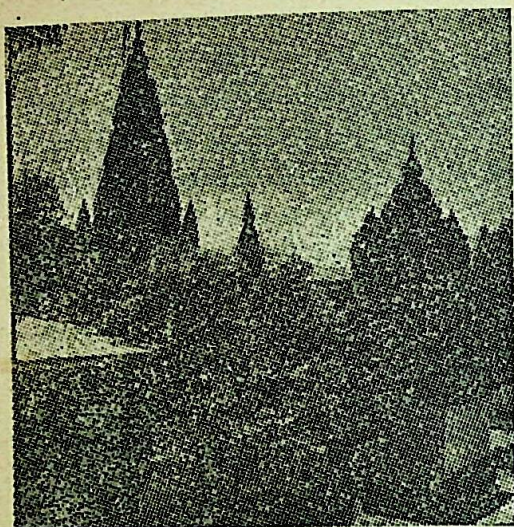
आळंदी में संत ज्ञानेश्वर की समाधि—बाहर से।

पीट रहा था। ज्ञानेश्वर तो सबकी आत्मा को समान मानते थे। उन्हें चिढ़ाने के लिए ब्राह्मणों ने उनसे पूछा कि यदि सबकी आत्मा समान है, तो क्या यह भैंसा वेदपाठ कर सकता है? इस पर ज्ञानेश्वर ने उस भैंसे से सस्वर वेदपाठ करवाया। यह चमत्कार देखकर हेमाद्रि पंडित और बोपदेव ने उन्हें शुद्धिपत्र दे दिया। यह शक १२०९ की बात है। फिर चारों भाई-बहन नेवासे (जि. अहमदनगर) पधारे।

इन भाई-बहनों की असाधारणता यह थी कि ये चारों ही महान अध्यात्म-पराक्रमी थे। निवृत्तिनाथ ज्ञानेश्वर के बड़े भाई ही नहीं थे, वे उनके गुरु भी माने जाते हैं। उन्हीं से ज्ञानेश्वर, सोपानदेव और मुक्ताबाई तीनों ने नाथसंप्रदाय की दीक्षा पायी।

'ज्ञानेश्वरी' के १८ वें अध्याय में ज्ञानेश्वर ने अपनी गुरु-परंपरा इस प्रकार दी है:

'क्षीर-समुद्र के परिसर में शिवजी ने पार्वती के कानों में जो ज्ञान सुनाया, वह गुप्त था। परंतु क्षीरसागर की लहरों के बीच मछली के पेट में गुप्त रूप से उसे श्रीविष्णु ने सुना; वही मत्स्येंद्रनाथ हुए। उसे उन्होंने भग्नावयवी चौरंगीनाथ को सुनाया; तब उन्हें सारे अवयव प्राप्त हो गये। उसी ज्ञान को मत्स्येंद्रनाथ ने गोरखनाथ को दिया। गोरखनाथ ने यह परंपरा-प्राप्त ज्ञान गाहिनीनाथ को प्रदान किया। कलिकाल के द्वारा ग्रसित प्राणियों के लिए गाहिनीनाथ ने श्री निवृत्तिनाथ को वह ज्ञान प्रदान किया। निवृत्तिनाथ ने गीतार्थ ग्रंथ के बहाने से यह ज्ञान मुझे दिया, जिससे मैंने यह ज्ञानेश्वरी लिखी।' [ज्ञानेश्वरी अ. १८, ओवी १७५१-५७।]

अपने गुरु निवृत्तिनाथ के प्रति ज्ञानेश्वर ने सर्वत्र बहुत गहरी श्रद्धा प्रकट की है। निवृत्तिनाथ लिखित 'निवृत्तेश्वरी', 'अभंग-गाथा' तथा 'हरिपाठ' प्रसिद्ध हैं। ज्ञानेश्वर के ग्रंथों की चर्चा आप आगे पढ़ेंगे। सोपान-देव रचित पचास अभंग मिलते हैं। बहन मुक्ताबाई की कृति 'ताटीचे अभंग' विशेष प्रसिद्ध है। कहते हैं, जब समाज ने संन्यासी की इन संतानों को अपशकुनी कहा, तो

ज्ञानेश्वर बहुत खिन्न हो गये और अपनी झोपड़ी का दरवाजा बंद करके बैठ गये। इस पर मुक्ताबाई ने उन्हें समझाया; उसी सिलसिले में इन अभंगों की सृष्टि हुई। गूढ़ शैली में तथा उलटबांसी शैली में मुक्ताबाई ने कुछ विलक्षण अभंग लिखे हैं।

ज्ञानेश्वर ने अपने समकालीन संत नामदेव के साथ भारतवर्ष की तीर्थयात्रा भी की थी। इस संत-समागम से नामदेव की सगुण भक्ति का ज्ञानेश्वर पर और ज्ञानेश्वर की ज्ञानाश्रयी भक्ति का नामदेव पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा।

अपना जीवन-कार्य पूरा करके २१ वर्ष की वय में ज्ञानेश्वर ने अपने गुरु की आज्ञा से शक १२१८ में कार्तिक वद्य त्रयोदशी के दिन आळंदी में संजीवन समाधि ग्रहण की। उसी वर्ष मार्गशीर्ष वद्य त्रयोदशी को सोपानदेव ने भी सासवड (जिला पूना) में समाधि ली। इन घटनाओं से उद्विग्न मनःस्थिति में निवृत्तिनाथ भी अगले वर्ष ज्येष्ठ वद्य द्वादशी को त्र्यंबकेश्वर (जिला नासिक) में समाधि-लीन हो गये। मुक्ताबाई ने तो इसके पूर्व उसी वर्ष वैशाख शुक्ल द्वादशी को एदलाबाद (जिला जळगांव) के निकट माणगांव में समाधि ले ली थी। वारकरी संप्रदाय इन चारों को अध्वर्यु मानता है। भागवती भक्ति तथा शैवाद्वयवाद एवं योगपरक ज्ञानानुमोदित आत्मानुभूतियुक्त भक्ति इनका लक्ष्य थी, जो व्यष्टि-समष्टि दोनों का उन्नयन करने में समर्थ सिद्ध हुई।

नेवासे में ही ज्ञानेश्वर ने अपनी महान कृति 'ज्ञानेश्वरी' रची, जो 'भावार्थदीपिका' के नाम से प्रसिद्ध है। यह गीता की टीका के रूप में लिखी गयी है; परंतु इसमें अनेक मौलिक कल्पनाएं, चिंतनपरक संकल्पनाएं, मनोरम उपमाएं और अपूर्व काव्यगुण विद्यमान हैं। उनका निवेदन है—'मैंने यह सारस्वत वृक्ष बोया है। इसके मधुर फल आप चखिये।' [ज्ञानेश्वरी ६.१४.१९] ब्रह्मविद्या की वृष्टि करने के लिए उन्होंने मराठी और संस्कृत को एक ही सिंहासन पर प्रतिष्ठित किया है। वे कहते हैं—'यदि तुम दत्तचित्त होकर सावधानी से इसे श्रवण करोगे, तो तुम सर्वसुखों का अनुभव प्राप्त करने के अधिकारी बन जाओगे। मैं यह प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूं। मुझे इसका परिज्ञान है। [ज्ञाने. ९.१]

गुलाब का फूल और गुलाब का इत्र इन दोनों का अंतर सहज ही हमारी समझ में आ जाता है—एक सात्त्विक सुख प्रदान करता है, तो दूसरा मादक और राजसी सुख। गीता की इस टीका को भाव-सहित भावयुक्त होकर समझने में और विद्वान बनकर पढ़ने में भी यही अंतर है। ब्रह्मविद्या का सैद्धांतिक विवेचन करना 'ज्ञानेश्वरी' का लक्ष्य कदापि नहीं है। गीता में जो नहीं था, वह 'ज्ञानेश्वरी' में है। श्रोताओं के साथ संवाद करते हुए ज्ञानेश्वर ने जो कुछ समझा, उसका निरूपण उन्होंने यहां किया है।

ज्ञानेश्वर ने मानव-मन को एक चुभन दी है। सहृदय बनकर ही 'ज्ञानेश्वरी' का
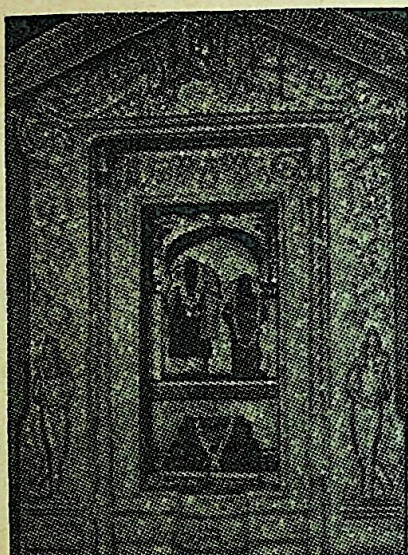
संत ज्ञानेश्वर की समाधि—भीतर से।

अध्ययन किया जा सकता है। 'ज्ञानेश्वरी' के प्रथम अध्याय की ५६ से ६१ तक की ओवियां इस संदर्भ में विशेष द्रष्टव्य हैं। उनका सार यह है कि श्रोताओं को अपना मन इतना सुकोमल बनाकर इसे अनुभव और श्रवण करना चाहिये कि जैसे चकोर के बच्चे मनोयोगपूर्वक शरद ऋतु की चंद्र-कलाओं के कोमल सुधा-कण चुगते हैं। बिना शब्दों के, बिना इंद्रियों की सहायता लिये इसका अनुभव होता है। केवल कुमु-दिनी ही यह बात जानती है कि अपना स्थान छोड़े बिना ही वह उगते हुए चंद्रमा का आलिंगन कर सकती है। उसी प्रकार भावज्ञ ही सुकोमल अंत:करण से इसे समझ सकते हैं।

'ज्ञानेश्वरी' का शिल्प इस प्रकार का है कि उसमें अर्थ प्रथम है, शब्द बाद में आते हैं। 'शब्दा आधी झोंबिजे प्रमेयासी' या 'अर्थ शब्दाची वाट पाहता हे' जैसे वचन बतलाते हैं कि ज्ञानेश्वर अपनी इस कृति में पहले अवस्था, मनोदशा आदि का निर्माण करते हैं, बाद में उसका नामकरण करते हैं। विचार, भावना और कृति की त्रयी से जीवन सफल होता है—इस बात को 'ज्ञानेश्वरी' में अंत:करण की ऋजुता व सहृदयता से समझाया गया है। अपनी मराठी वाणी को वे अमृत की मिठास से भी मधुर बताते हैं और इस प्रकार विषयनिरूपण करते हैं कि अरूप को रूप मिल जाता है और अतीं-द्रिय ज्ञान भी इंद्रियों से उपलभ्य हो जाता है। वस्तुत: सहज काव्यसौंदर्य से शोभित इस ग्रंथराज में शांतिरस ने मानो शृंगार के सिर पर अपने चरण धर दिये हैं।

'ज्ञानेश्वरी' में १८ अध्याय हैं, जिनमें ९,००० ओवियां हैं। (ओवी मराठी का एक प्राचीन और समादृत छंद है।) ज्ञाने-श्वर ने शक १२१२ में इसका प्रणयन किया, जब उनकी वय केवल पंद्रह वर्ष की थी। वे बोलते जाते थे और सच्चिदानंद बाबा उसे लिपिबद्ध करते जाते थे। अपने इस 'वाग्यज्ञ' के अंत में ज्ञानेश्वर ने 'विश्वात्मक देव' अर्थात् परमेश्वर से जो 'पसायदान' मांगा है, वह समता, बंधुता और विश्वात्मक ऐक्य की भावना से सराबोर है :

जें खळांची वांकुडे मोडे। तेयां सत्संगी रति वाढे।

अर्थात

भूतां परस्परें पडे। मैत्र जीवाचें ।।
दुरिताचें तिमिर जाओ। विश्वा स्वधर्मसूर्यो
पाहो।
वांछिल तें तें लाहो। प्राणिजात ।।
वर्षत सर्वमंगळीं। ईश्वरनिष्ठांची मांदियळी।
अनवरत भूतळीं। भेटोतु भूतां ।।

—खल अपनी दुष्टता छोड़ दें, सत्संग में रति रखने लगें। प्राणिमात्र सौहार्द-भाव को अपनाये। विश्व में स्वधर्म-सूर्य का प्रकाश हो। सबकी वांछाएं परितृप्त हों। ईश्वर-कृपा की वृष्टि हो। सबमें आस्था और आस्तिकता का प्रादुर्भाव हो।

नाथपंत के साथ शांकरमत और शैवागम के शिवाद्वयवाद का अपूर्व संगम और समन्वय करते हुए ज्ञानेश्वर ने 'ज्ञानेश्वरी' में चित्स्फूर्तिवाद का उज्ज्वल सिद्धांत प्रतिपादित किया है।

ज्ञानेश्वर का दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है शक १२१४ में रचित 'अमृतानुभव'। इसे ज्ञान का शुद्ध रसायन कहा जा सकता है। तत्वज्ञान के क्षेत्र में मराठी में ऐसा अद्भुत ग्रंथ दूसरा न मिलेगा। इस ग्रंथ के रूप में ज्ञानेश्वर ने एक नयी ज्ञानोपनिषदही लिख दी है। इसमें कुल ८०४ ओवियां हैं, जिनमें शिव-शक्ति के ऐक्य का प्रतिपादन, शब्द-खंडन, शब्द-मंडन, अज्ञान का निरसन और अंत में ज्ञान का भी निरसन किया गया है।

पूर्णतः स्वतंत्र प्रज्ञा से निःसृत इस ग्रंथ की तर्कपूर्ण शैली लाजवाब है। इसमें ज्ञानेश्वर ने अपने गुरु निवृत्तिनाथ और कृष्ण-तत्त्व को एकरूप कर दिया है। इसमें कहा गया है कि ज्ञान की पूर्णता निवृत्ति-तत्त्व से प्राप्त होती है। शिव-शक्ति का अद्वयानंद विश्व-निर्मिति का प्रधान हेतु है। इस आध्यात्मिक स्तर पर ज्ञान, भक्ति, कर्म सब एक हो जाते हैं।

ज्ञानेश्वर के मतानुसार भक्ति प्रेम का आस्वादन है। वही अंतिम निष्ठा भी है। यह जगत जिस परमात्मा के प्रकाश से अर्थात् ज्ञान से भासित होता है, उसे असत्य कैसे माना जाये? वस्तु की प्रभा वस्तु को मिलती है। प्रभा की शोभा भी वस्तु को प्राप्त हो जाती है। जगत परमात्मा से अभिन्न है। जीव भी परमात्मा से अभिन्न है। स्पष्ट ही, शिव विश्व रूप में अभिन्न हैं। 'अनुभवामृत' में ज्ञानेश्वर इस बात को बड़े ही सुंदर ढंग से अभिव्यक्त करते हैं कि परमात्मा केवल स्फूर्तिमात्र है; अतः वहां द्रष्टा और दृश्य ये दोनों ही दशाएं व्यर्थ हैं।

उनका रचा एक और ग्रंथ है 'चांगदेव-पासष्टी', जिसका रचना-वर्ष शक १२१६ है। उस समय के विख्यात हठयोगी चांगदेव ने ज्ञानेश्वर के पास पत्र के रूप में एक कोरा कागज भेज दिया। असल में वे दुविधा में थे कि ज्ञानेश्वर को किन शब्दों में संबोधित करें; क्योंकि ज्ञानेश्वर उम्र में छोटे किंतु कीर्ति एवं योग्यता में बड़े थे। ज्ञानेश्वर ने अपने गुरु निवृत्तिनाथ की आज्ञा से ६५ ओवियों में प्रश्नोत्तर लिखकर चांगदेव को पूर्ण बोध कराया। 'अमृतानुभव' को 'ज्ञानेश्वरी' का सार और 'चांगदेवपासष्टी' को

[शेष पृष्ठ १५८ पर]

जल
आकाश का और पृथ्वी का

उपाध्याय अमरमुनि

आकाश का जल जब तक पृथ्वी का स्पर्श नहीं करता, उसका स्वाद और गुण एक-सा होता है—चाहे आप उसे अलवर में लें, या आगरे में, या अमरीका में। किंतु जब वह पृथ्वी का स्पर्श कर लेता है तो उसका स्वाद, गुण और रूप भी बदल जाता है। वह समुद्र में गिरता है तो खारा हो जाता है; अमुक स्थल पर गिरता है तो पाचन में भारी हो जाता है और कहीं अन्यत्र गिरता है तो हल्का। पृथ्वी के जल में भेद है; किंतु आकाश के जल में एकरूपता है। धर्म आकाश से बरसने वाला जल है। उसमें कहीं भेद नहीं है। जैनों के पास वह जल होगा तो क्या उसके स्वाद और गुण में कोई भेद होगा, और वेदांतियों तथा बौद्धों के पास होगा तो क्या उसका स्वाद और गुण अलग होगा? आध्यात्मिक आनंद के रूप में धर्म का दर्शन सर्वत्र एक है। किंतु पंथ का स्पर्श होने के बाद उसका रूप और गुण बदल जाता है। फिर वह अच्छा और बुरा हो जाता है। वह तेरे-मेरे की कैद में आ जाता है। फिर वह एक ही पंथ में भी कितनी ही उपदीवारें और खींच लेता है। फलतः एक दूसरे के लिए द्वार बंद कर देता है।

मैं एक गांव में गया। शाम का समय था। ठहरने के लिए पूछा तो लोग बोले, यहां आपके जैनियों की एक धर्मशाला है, वहां चले जाइये। मैं धर्मशाला में पहुंचा, तो पूछा गया—आप श्वेतांबर हैं या दिगंबर? मैंने कहा, दिगंबर तो नहीं हूं। उत्तर मिला, फिर यहां स्थान नहीं है। मैंने कहा, संध्या हो चुकी है, साधु रात्रि को चलते नहीं हैं। पर बोले, यहां जगह नहीं है। मेरी आंखें देख रही थीं, जगह खाली पड़ी है। पर वह दिगंबर के लिए थी, श्वेतांबर के लिए नहीं।

फिर श्वेतांबरों के यहां गया तो कहा गया, तुम स्थानकवासी हो, इसलिए जगह नहीं मिल सकती। मैंने कहा, अच्छी बात है। मैं चल पड़ा। सोचा, नमस्कार है इस देश को! यहां धर्मशालाओं में पूछा जाता है, तुम किस धर्म को मानते हो। इससे बढ़कर धर्म का अपमान क्या होगा!

मैं आगे बढ़ा। साधु के लिए कहीं न कहीं द्वार खुलता है, मानवता जगती है। एक वैष्णव साधु मिले। बोल पड़े—बाबा! आज डेरा कहां लगेगा? मैंने कहा, जो जहां लगवाये वहीं लगेगा। उन्होंने कहा, तो फिर कहां जाते हैं, मेरी ही कुटिया को पावन

चित्र : ठाकोर राणा
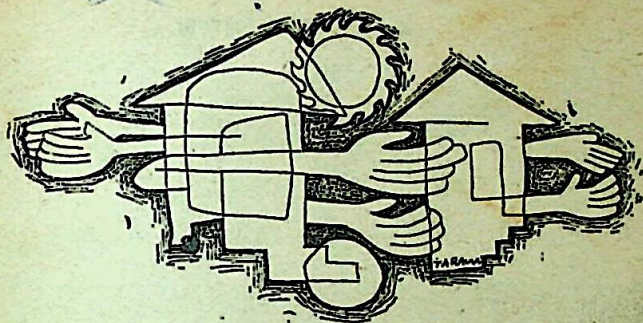
कीजिये। उन्होंने कुटी के द्वार ही नहीं, मन के भी द्वार खोल दिये। वे संत थे, उनके पास संत-हृदय था, जो प्रेम से लबालब भरा था। उन्होंने कहा, आपके लिए दूध ला रहा हूं, पीना होगा; धर्म-कर्म के नियमों को बीच में आने न दें, नहीं तो मेरी आत्मा दुखेगी। मैंने कहा—आपके प्रेम का दूध तो ले ही लिया है; पर अब रात है, दूसरे दूध की आवश्यकता नहीं। प्रेमपूर्वक उन्हें नियम समझाया। वे मान गये। पर सुबह तो वे न माने। गाय के दूध से पात्र भर दिया। कितना स्नेह उमड़ रहा था उनमें !

उस स्नेह में मुझे आकाश से बरसते जल की स्वच्छता के दर्शन हो रहे थे, जिसका स्वाद सर्वत्र एक-सा होता है, जिसे पंथ से ऊपर रहकर उन्होंने पा लिया था। पंथ के गड्ढों में वह कैद नहीं हुआ था, अन्यथा वह भी सड़ जाता।

हमने धर्म और अध्यात्म की बातें तो बहुत की हैं; पर धर्म और पंथ को अलग नहीं कर पाये हैं। पंथ में जब तक धर्म जीवित रहता है, तब तक एक नहीं हजार पंथ भी हों तो वे हमारे लिए वरदान होंगे; परंतु जब पंथ धर्म से शून्य होता है तो वह गंदी नाली की तरह सड़ता है और दूसरों के लिए मौत का वारंट काटता है।

पंथ शरीर है और धर्म आत्मा। इससे अधिक पंथ का कोई महत्त्व नहीं है। किंतु भूलिये नहीं, शरीर जब आत्मा से रहित हो जाता है, वह जलाने या दफनाने के लिए ही होता है, संग्रह करके रखने के लिए नहीं। राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर के चरणों की धूलि लेने को हजारों देवता तरसते थे; किंतु शरीर से आत्मा विदा हुई तो उनके पावन शरीर को भी चिता को अर्पित कर दिया गया।

★

हम यह तो नहीं कह सकते कि अमुक मुसीबत हम पर कभी नहीं आयेगी; मगर भगवान की कृपा से हम यह तो कह ही सकते हैं कि कोई भी मुसीबत हमसे ऐसा काम नहीं करा सकेगी जो अनुचित हो। —आर. सिबेस

★

* नेमिशरण मित्तल *

मानव-इतिहास इस कटु सत्य का साक्षी है कि इस धरती पर जनमी प्रत्येक सभ्यता ने अपरिहार्यत: नैसर्गिक वातावरण को दूषित करके तथा प्राकृतिक संतुलन को भंग करके आत्महत्या की है।

आधुनिक औद्योगिक और प्रौद्योगिक (टेक्नोलाजिकल) सभ्यता भी तेजी से उसी दिशा में बढ़ रही है। समुन्नत माने जाने वाले देशों में और अविकसित देशों के भी महानगरों में समूचा वायु-मंडल दूषित हो गया है। मनुष्यों को न सांस लेने को स्वच्छ वायु मिलती है, न पीने को स्वच्छ प्राकृतिक जल, और न तैरने व सैर करने के लिए नदी या सागर का स्वच्छ तट। अनाज, फल, साग-सब्जी, दूध और मांस में कृत्रिम खाद तथा रासायनिक कीटाणुनाशकों का अंश रहने लगा है, जो समूची मानव-जाति को आत्महत्या की दिशा में खदेड़ रहा है।

विश्व-प्रसिद्ध जीवाणु-विज्ञानी रेने ड्युबोस उन चिंतकों में से हैं, जिन्होंने इस खतरनाक स्थिति को गहराई से समझा है और उसके प्रति मानव-जाति को आगाह किया है। उनकी गणना आज पृथ्वी के प्राकृतिक संतुलन एवं उसकी नैसर्गिक व्यवस्था की रक्षा के प्रबलतम हिमायतियों में हो रही है।

रेने ड्युबोस का जन्म २० फरवरी १९०१ को फ्रांस के सेंटबाइस-सास-फोरेट नगर में श्रीमती एडेलीन मैडेलीन ड्युबोस की कोख से हुआ। पिता जार्ज अलेक्जांद्र एक छोटी-सी मांस की दुकान चलाते थे पेरिस के उत्तर में इल-द-फ्रांस में। रेने का बचपन इसी शहर में बीता। दस वर्ष की अवस्था में उन्हें गठिया-बुखार हुआ, जिससे अगले सात वर्षों तक उनका चलना-फिरना बहुत सीमित हो गया और इतिहास लेकर उच्च अध्ययन करने की उनकी इच्छा पूरी नहीं

आगे

सकी। १९२१ में वे कृषि-विज्ञान में स्नातक हुए तथा फ्रांसीसी सेना में अधिकारी-प्रशिक्षणार्थी के रूप में भरती हो गये। मगर मेडिकल रिपोर्ट प्रतिकूल होने के कारण अगले साल सेना से उनकी छुट्टी कर दी गयी। तब वे रोम चले गये और वहां दो वर्ष तक इंटरनेशनल इंस्टिटचूट ऑफ़ एग्रिकल्चर की पत्रिकाओं के सहायक-संपादक रहे। इसी अरसे में उनका संपर्क हुआ रूसी जीवाणु-विज्ञानी सर्जी विनोग्राद्स्की से, जो उस समय पेरिस के पाश्चर संस्थान में शोधकार्य कर रहे थे।

विनोग्राद्स्की के चिंतन से द्युबोस के जीवन को एक नयी दिशा मिली और उन्होंने जीवाणु-विज्ञानी बनने के लिए अमरीका जाने का फैसला किया। यात्रा का भाड़ा जुटाने के लिए वे विदेशी पर्यटकों को रोम के ऐतिहासिक स्थल दिखाने वाले मार्ग-दर्शक का काम करने लगे। इसी सिलसिले में उनका परिचय हो गया अमरीका के सुप्रसिद्ध जीवाणु-विज्ञानी डा. सेल्मन वाक्समन से, जिन्होंने बाद में स्ट्रेप्टोमाइसीन का आविष्कार किया और नोबेल पुरस्कार पाया। द्युबोस जब १९२४ में अमरीका पहुंचे, वाक्समन ने उन्हें न्यूजर्सी के संस्थान में भरती करा दिया। वहां द्युबोस होटल में प्लेटें धोकर गुजारे का खर्च जुटाते हुए शोधकार्य करते रहे। तीन साल में उनकी शोध पूरी हुई और १९२७ में उन्हें डाक्टरेट मिली। द्युबोस ने लिखा है कि डा. वाक्समन के साथ काम करते समय जीवाणुओं का ही नहीं, वरन जीवाणुओं और मनुष्य के आपसी संबंधों का भी खयाल हर क्षण बना रहता था।

फिर वाक्समन ने ही उन्हें भेजा डा. ओस्वाल्ड एवरी के पास न्यूयार्क के राकफेलर इंस्टिटचूट में। (यह इंस्टिटचूट बाद में विश्वविद्यालय बन गया।) १९४२ में वे हार्वर्ड विश्वविद्यालय के मेडिकल स्कूल में तुलनात्मक निदानशास्त्र तथा ट्रापिकल मेडिसिन के प्राध्यापक नियुक्त हुए; मगर दो साल बाद राकफेलर विश्वविद्यालय लौट आये और तब से वहीं कार्य कर रहे हैं। उन्होंने जीवाणु-विज्ञान से संबंधित अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखे हैं। उनकी लिखी हुई पाश्चर की जीवनी बहुत प्रामाणिक मानी जाती है।

नैसर्गिक व्यवस्था की हिमायत

रेने द्युबोस मनुष्य को सरल आदिम जीवन की ओर लौटाने की बात तो नहीं करते; किंतु वैज्ञानिक के नाते वे प्राकृतिक संतुलन और नैसर्गिक व्यवस्था को बनाये

धरती के लिए चिंतित द्युबोस

रखने के पक्षधर हैं। उनका कहना है कि हमारी धरती पर जीवन का स्पंदन न रहे, तो वह नितांत नीरस, अनाकर्षक और अनुपयोगी हो जायेगी। जीव-जंतुओं के विना तो पृथ्वीतल चंद्रतल जैसा ही लगेगा। पृथ्वी का वर्ण-वैभव और बहुविध रूप मुख्यत: जीवाणुओं, पौधों और पशुओं की देन है, जो कि निर्जीव चट्टानों और गैसों को असंख्य प्रकार के जैविक तत्त्वों में निरंतर रूपांतरित करते रहते हैं। मनुष्य भी धरती के भौतिक गुण-धर्मों में परिवर्तन करके, प्राणियों को इधर से उधर ला-ले जाकर तथा प्रकृति की नैसर्गिक व्यवस्था में अपनी कल्पना के आधार पर फेर-बदल करके उसे समृद्धतर बनाता है।

परंतु अनेक बार प्रकृति का संतुलन भंग करके मनुष्य ने उसके भयंकर परिणाम भी भोगे हैं। इतिहास साक्षी है कि प्राय: सभी प्राचीन मानव-सभ्यताएं – मेसोपोटामिया, फारस, मिस्र, बेबीलोन, मय, ख्मेर, तेओती हुआशान आदि—इसी रीति से नष्ट हुई। उनके विनाश के प्रमुख कारण थे—खेती, ईंधन और इमारती लकड़ी के लिए जंगलों की अंधाधुंध कटाई और उससे उत्पन्न भूमि-कटाव एवं वर्षा की कमी, पशु-पक्षियों की नस्लों का समूल नाश तथा प्राकृतिक साधनों का अतिशय एवं अविवेकपूर्ण दोहन।

द्युबोस मानते हैं कि असल में यह प्रक्रिया आज से दस हजार वर्ष पूर्व नवाश्मयुगी मानव के समय में ही शुरू हो गयी थी, जब अनेक भीमकाय पशु-पक्षियों की नस्लों का नाटकीय रूप से अंत हो गया। मानव का पशुमेध जारी रहा। मिस्र के सम्राट और सामंत पशुओं को खदेड़कर वाड़े में बंद कर देते और वहां तीर-कमान से उन्हें मार डालते थे। असीरिया के लोग भी इसमें ही बर्बर थे शेरों और हाथियों की हत्या के मामले में। आस्ट्रेलिया के घुमंतू आदिवासी जंगलों में आग लगा देते थे। प्लेटो ने लिखा है कि यूनान की भूमि जंगलों के काटे जाने और पशुओं द्वारा बहुत अधिक मात्रा में वनस्पति के चर लिये जाने के कारण उजड़ी।

आधुनिक युग में जितने जंगल काटे गये हैं, उनसे कहीं अधिक जंगलों का नाश आदिम मनुष्य ने बकरी की मदद से कर डाला। चीन की 'तांग' और 'युग' कालीन कविताओं से पता चलता है कि मध्य और उत्तरी चीन की नंगी पहाड़ियां किसी जमाने में घने जंगलों से ढंकी थीं। संभवत: दावानल और पशुओं ने उन्हें नष्ट कर डाला। बौद्धों ने ही नहीं मिस्र, असीरिया और बेबीलोन के सम्राटों ने भी अपने मंदिरों और महलों के लिए जंगल के जंगल साफ करा डाले। देवदार और सरू के घने सदाबहार जंगल ऐसे ही नष्ट हुए।

इस तरह हर देश और हर काल में मनुष्य ने प्रकृति को लूटा है और नैसर्गिक व्यवस्था में बाधा डाली है। उससे सभ्यताएं नष्ट हुई हैं। लेकिन इससे स्वयं प्रकृति के लिए संकट की संभावना नहीं पैदा हुई। पर वर्तमान औद्योगिक सभ्यता ने प्रकृति

अगले

चित्र : एन. सी. नाथ
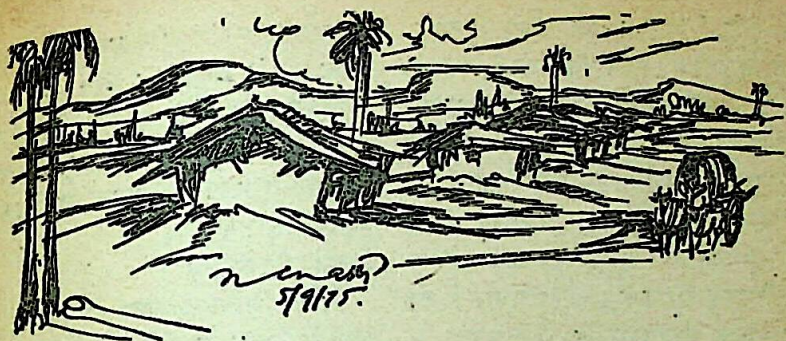
को ऐसी क्षति पहुंचायी है कि प्रकृति के लिए ही संकट की संभावना उत्पन्न हो गयी है।

ड्युवोस को इस बात का डर नहीं है कि पेट्रोल व कोयले का धुआं, कीटाणुनाशक आदि से प्रकृति विनष्ट हो जायेगी। वे मानते हैं कि वातावरण का प्रदूषण मनुष्य को ही वदल डालेगा, जो कि प्रकृति के विनाश से भी अधिक खतरनाक स्थिति होगी। जैविकी के गहन अध्येता ड्युवोस यह जानते हैं कि वातावरण के अनुकूल अपने को ढाल लेने की अद्भुत क्षमता मनुष्य में है। वे यह भी मानते हैं कि इस अनुकूलन-क्षमता में ही मनुष्य की असाधारणता और सफलता का मूल रहस्य छिपा है। चयन, प्रतिकूल का परित्याग, अनुकूल का व्यवस्थित रूप में संयोजन तथा सृजन—इसी में तो निहित है मनुष्य की मनुष्यता। सच कहें तो मनुष्य-जाति का समूचा इतिहास व्यक्ति-मनुष्य तथा मनुष्य-समाज द्वारा अपनी बुद्धि के बल पर वातावरण की चुनौतियों पर विजय का इतिहास है। मगर मनुष्य की इस असीम अनुकूलन-क्षमता को ड्युवोस भयावह मानते हैं; क्योंकि इससे वह अपने को ऐसी परिस्थितियों के अनुरूप भी ढाल सकता है, जो अंततः उन मूल्यों को ही नष्ट कर देंगी, जिनके कारण वह इस सृष्टि में अनूठा है।

औद्योगिक सभ्यता द्वारा उत्पन्न प्रदूषण तथा शहरी जीवन की अप्राकृतिकता पर ड्युवोस चिंतित हैं। शहरों में मनुष्यों का ठट्ठ जमा होता जा रहा है। जीवन की दशा वहां भयंकर है। हमारी अधिकांश संपत्ति का उत्पादन करने वाले लोग गहरे स्नायविक तनाव, भीषण शोर तथा रासायनिक धुएं के बीच जी रहे हैं। वे जो कुछ खाते हैं, उसमें कीटाणुनाशक रासायनिक पदार्थ मिले रहते हैं तथा जो कुछ पीते हैं, उसमें क्लोरिन का गाढ़ा घोल रहता है। भीड़-भड़क्का उनकी अंतःस्रावी ग्रंथियों पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है, जिससे उनका व्यवहार हिंस्र और आक्रामक बन जाता है।

शहरों के निवासी न तो आकाशगंगा

देख पाते, हैं न तारों-भरा नीला आकाश। न वे ऋतुओं की सूक्ष्म गंध पाते हैं, न वसंत का उल्लास या पतझड़ की उदासी ही उनकी चेतना को छू पाती है। औद्योगिक सभ्यता ने मनुष्य को मशीनी पुर्जा बना डाला है। परिणामस्वरूप यह जगत अर्थशून्य बनता जा रहा है। अतः द्युबोस का आग्रह है कि यदि विज्ञान जीवन के प्रति निष्ठावान है, तो उसे समूचे वतावरण के प्रति मनुष्य के समूचे व्यक्तित्व की अनुक्रियाओं पर ध्यान देना होगा।

निसर्ग को आध्यात्मिक दृष्टि से भी मनुष्य के लिए महत्त्वपूर्ण मानते हैं द्युबोस। वे कहते हैं कि प्रकृति से दूर हो जाने पर सहज ही हमारे मन में निसर्ग और अन्य जीवों के साथ संपर्क जोड़ने की कामना जागती है। निसर्ग का संरक्षण मानवीय मूल्य-व्यवस्था पर आधारित है और उसकी गहनता तथा महत्ता की जड़ें मनुष्य के हृदय में हैं। निसर्ग हमारे लिए विलासिता नहीं, वरन हमारी प्रकृति और हमारे मानसिक स्वास्थ की दृष्टि से अनिवार्य है।

लंबे समय तक प्राकृतिक वनों से डरते रहने के पश्चात् अब मनुष्य को महसूस हुआ है कि सघन वृक्षों के बीच से छनती हुई धूप उसके मन में एक अनूठे किस्म का रहस्यमय कुतूहल जगाती है, जो उद्यानों और उपवनों में नहीं जगता। यही चेतना समुद्र के अनंत विस्तार और उसकी लहरों के उतार-चढ़ाव से भी उत्पन्न होती है। गहरी घाटियों का अटूट मौन, ऊंचे पहाड़ों का प्रशांत एकांत और मरुस्थल की मरीचिकाओं से मनुष्य के भीतर अपने उस मूलस्वरूप का बोध उत्पन्न होता है, जो उसकी सारी कृत्रिमता के बावजूद सर्वव्याप्त दैवी चेतना के साथ तादात्म्य स्थापित करने में अभी भी समर्थ है।

निसर्ग और मनुष्य

लेकिन मानव-सभ्यता के विकास की दृष्टि से, द्युबोस मानते हैं कि निसर्ग के संरक्षण के साथ ही उसका संशोधन भी आवश्यक है, ताकि मनुष्य अपने दैनिक जीवन से परे प्रकृति की गोद में पराभौतिक रहस्यों की अनुभूति प्राप्त कर सके और उन ब्रह्मांडीय शक्तियों की अनुभूति प्राप्त कर सके और उन ब्रह्मांडीय शक्तियों की प्रत्यक्ष चेतना फिर से ग्रहण कर सके, जिनके भीतर से उसका उदय हुआ है। सृजनात्मक दृष्टिकोण के विकास के लिए यह अनिवार्य है कि बुद्धि के साथ-साथ चेतना और संवेदना के स्तर पर भी मनुष्य प्रकृति से संबंध जोड़े। द्युबोस की दृष्टि में धरती को मां मानना महज भावुकता नहीं एक यथार्थ है। धरती हमें आकार देती है; हमारे वातावरण के गुण-धर्म ही हमारे शारीरिक और मानसिक जीवन को तथा उसके गुणात्मक मूल्यों को निर्धारित करते हैं। अतः निसर्ग की विविधता बनाये रखना, उसमें सामंजस्य स्थापित करना हमारे अपने हित में है।

मनुष्य में निसर्ग के प्रति संमान की भावना तो होनी ही चाहिये; साथ ही

[शेष पृष्ठ १४७ पर]

अप्रैल

नवगीत

–राजेंद्रप्रसाद सिंह–

दिया, तूने मुझे, सब-कुछ दिया !
केंद्र में मेरे बृहस्पति,
चंद्रमा ऊंचा;
देह आयत-सी मगर
व्यक्तित्व यों पहुंचा–
खंड-खंड स्वभाव से
तूने अखंड प्रभाव पैदा किया !
कीच में डूबे हुए को
प्रीति की गंगा;
मेघ-मेधा रचयिता को
मर्म सतरंगा;
जो नरक का तथागत,
उससे अमिय का स्वाद कहला दिया !
जो किसी का हो न पाया–
वह समर्पण ले;
जो पसीना पी रहा–
इतिहास-दर्पण ले;
देह : भोगी, मन : वियोगी,
अवश योगी आत्मा में जिया !
स्नेह-तरु को ठूंठ कर,
ममता-लता काटी;
हो चली अभिभावना–
विक्षिप्त परिपाटी;
सुई-भर भी स्वत्व
युद्ध बिना न मिलने दिया !

–आधुनिका, खबड़ा रोड, मुजफ्फरपुर-१

वाक्यदीप
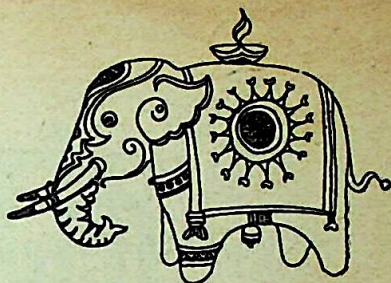
प्रभुकृपा के संबल के बावजूद धीरज बड़ी दुःसाध्य चीज है; इसीलिए पुनः-प्रयत्न का महत्त्व है। असल में पुनः-प्रयत्न ही तो धीरज की जान है।

—ई. बी. प्यूसी

जब मनुष्य पूरे मनोयोग से, अपनी ओर से अच्छे से अच्छे ढंग से काम को अंजाम देता है, तो वह निश्चित और प्रसन्न होता है; किंतु जो कुछ अन्य रीति से कहता-करता है, वह उसे चैन नहीं लेने देता। —आर. डब्ल्यू. एमर्सन

हरदम काम के पीछे भागते फिरने में बड़ी बेचैनी है; यह न बौद्धिक दृष्टि से हितकर है, न आत्मिक दृष्टि से। —एनी कारी

चाहे कैसी भी विपदा आये मन की, तन की, धन की; चाहे आंतरिक, चाहे बाह्य; चाहे आकस्मिक, चाहे योजनापूर्ण; चाहे मित्र से, चाहे शत्रु से—चाहे तुम्हारी विपदा कैसी भी हो, चाहे तुम कितने भी अकेले पड़ जाओ, परंतु परमपिता के पुत्रो! डरो नहीं! —जे. एच. न्यूमन

ऐसे मनुष्य के लिए प्रत्येक अवस्था आनंदमयी है, जो उसे शांतिपूर्वक सह लेता है। —बोथियस

मनुष्य में सुखेच्छा से बढ़कर भी कुछ है। वह सुख के बगैर भी काम चला सकता है और बदले में धन्यता हासिल कर सकता है। —टामस कार्लाइल

नैतिक जगत में कोई चीज असंभव नहीं होती, बशर्ते हम पूर्ण संकल्प के साथ उसमें जुट जायें। मनुष्य अपने साथ सब कुछ कर सकता है; मगर उसे दूसरों के साथ बहुत अधिक चीजें करने का यत्न नहीं करना चाहिये।

—विलियम वान हम्बोल्ट

← चैत्र मास (मार्च-अप्रैल)। वसंत का राज्य। पुष्पगंध से लदी पवन। पक्षीगान से गूंजता गगन। प्रियतम से क्षण-भर के बिलगाव का विचार भी राधा को असह्य है। वे बार-बार कहती हैं—'नहीं माधव, तुम कहीं मत जाओ मुझे छोड़कर।' अनुकृति : चरन शर्मा

कांगड़ी

पृथ्वीनाथ मधुप

मूलतः कश्मीरी भाषा का शब्द 'कांगड़ी' (शुद्ध कश्मीरी रूप कांगुॅरी) हिंदी के प्रायः सभी प्रमुख शब्दकोशों में मिलता है और उनमें उसका कुछ ऐसा अर्थ दिया होता है—'एक प्रकार की छोटी अंगीठी, जिसे जाड़े में कश्मीरी लोग गले में लटकाये रहते हैं' (संक्षिप्त हिंदी शब्दसागर)। यह अर्थ भ्रामक है। 'छोटी अंगीठी' आप इसे कह सकते हैं, परंतु कश्मीरी इसे गले से नहीं लटकाते। हां, जाड़ों में चलते-फिरते, उठते-बैठते, कोई काम करते तथा सोते वे इसे अपने साथ अवश्य रखते हैं। काम करते और चलते हुए वे अपने फ्यरन (टखने तक लंबा, चौड़े आस्तीन का कश्मीरी चोग़ा) के अंदर इसके हत्थे को एक हाथ से पकड़े रहते हैं और सोते समय इसे रज़ाई के अंदर आराम से अपने पैरों के नीचे या अपने दायें-बायें रख लेते हैं। इस तरह कांगड़ी एक दस्ती 'हीटर' है, जिसके सहारे कश्मीर-वासी वहां की प्राणलेवा शीत से अपना बचाव करते हैं। वर्ष के छह महीने (अक्तूबर से अप्रैल तक) वहां इसका उपयोग होता है। शायद यह सारे संसार में सबसे सस्ता और सरल 'हीटर' है। इसकी स्तुति में कोई अज्ञात कवि गा उठा है :

> अय कांगुॅरी ! अय कांगुॅरी !
> कुर्बान तू हूरोपरी।
> [री ! कांगड़ी ! अप्सरि-सी सुंदर,
> हो जायें तुम पर न्योछावर।]

कांगड़ी के दो अंग होते हैं—१. मिट्टी का एक बरतन 'क्वण्डल' (चित्र : २) तथा २. बेंत की बनी टोकरी-जैसा बाहरी फ्रेम 'कांगरिखोर' (चित्र : १)। कांगड़ी को हाथ में पकड़ने के लिए फ्रेम में दो हत्थे ('कोप') होते हैं। 'कोप' के साथ पीछे की ओर बेंत की ही बनी एक चूड़ी-सी लगी रहती है। उसके साथ एक मजबूत धागे से एक चम्मच-सा बंधा रहता है। इसे 'चालन' कहते हैं। यह कांगड़ी में अंगारों व गर्म राख को चलाने के काम आती है। आजकल

श्रीनगर के बाजारों में एक कांगड़ी की कीमत डेढ़ से बारह रुपये तक होती है।

कांगड़ी में एक विशेष प्रकार के कच्चे कोयलों का उपयोग किया जाता है, जो वृक्षों की टहनियों तथा चिनार के सूखे पत्तों को जलाकर बनाये जाते हैं। ग्रामवासी तो स्वयं कोयला बना लेते हैं। शहरों तथा कस्बों में कोयला मंडी से खरीदा जाता है। श्रीनगर में आजकल इसका भाव दस से बीस रुपये प्रति मन तक है।

कांगड़ी में कच्चे कोयले भरकर उन पर एक-दो अंगारे रखकर फूंक मार-मारकर आग बनायी जाती है। कोयले अच्छी किस्म के हों तो कांगड़ी की आग चौबीस से तीस घंटे तक कायम रहती है। कोयले घटिया हों, तो दिन-रात में दो बार आग बनानी पड़ती है।

कांगड़ी का प्रचलन कश्मीर में कब से हुआ, यह शोध का विषय है। कई लोगों का मत है कि इसका प्रयोग कश्मीरियों ने इटली-वासियों से सीखा। यह कहां तक सच है, कहा नहीं जा सकता। कल्हण ने अपने प्रसिद्ध इतिहास-ग्रंथ 'राजतरंगिणी' में कांगड़ी का उल्लेख किया है, जिससे अनुमान होता है कि शायद कांगड़ी कश्मीरी मस्तिष्क की ही उपज है। आज भी कश्मीर में अत्यंत निर्धन लोग मात्र कच्ची मिट्टी से बनी अंगीठी 'मनन' (चित्र ३) का उपयोग ताप के लिए करते हैं, जो कांगड़ी की अपेक्षा बहुत भारी भी होती है। मुझे लगता है कि 'मनन' का ही परिष्कृत रूप कांगड़ी है।

कश्मीर के बाजारों में छोटे, मध्यम तथा बड़े आकारों की कांगड़ियां बिकती हैं। आकृति में ये भोंडी भी हो सकती हैं, सुसज्जित एवं सुंदर भी। इस आधार पर कांगड़ियों के दो प्रकार माने गये हैं—'ग्रीस्य कांगुर' तथा 'ख्वजि कांगुर'। 'ग्रीस्य कांगुर' सुघड़ नहीं होती तथा अपेक्षाकृत मोटी बेंत की टहनियों से बुनी होती है। 'ख्वजि कांगुर' सुघड़ बेंत की पतली-पतली टहनियों से बुनी तथा आकर्षक रंगों से रंगी होती है। यह 'ग्रीस्य कांगुर' की तुलना में गरमी भी अधिक देती है; क्योंकि इसकी पतली-पतली तीलियां शीघ्र गरम हो जाती हैं तथा देर तक गरम रहती हैं।

कांगरिखोर

कांगड़ी बुनने वाले अच्छे कारीगर कश्मीर में बांडीपुर, चार (जहां सुप्रसिद्ध संत कवि शेख नूरुद्दीन की दरगाह है), अनंतनाग, शाहाबाद तथा सोपुर आदि में हैं;

क्वण्डल

इसलिए इनमें बनी कांगड़ियां उत्तम समझी जाती हैं। इन स्थानों की कांगड़ियों में बुनावट एवं सज्जा के लिहाज से थोड़ा-बहुत फर्क भी होता है। निर्माणस्थलों के नाम पर से कांगड़ियों को निम्न पांच नाम दिये गये हैं :

१. बंडुंपूर्य कांगुंर : बांडीपुर में निर्मित कांगड़ी। यह अधिक टिकाऊ तथा आकार में कुछ बड़ी होती है।

२. च्चारं कांगुंर : चार में बनी कांगड़ी। यह बेंत की पतली-पतली तीलियों से

मनन
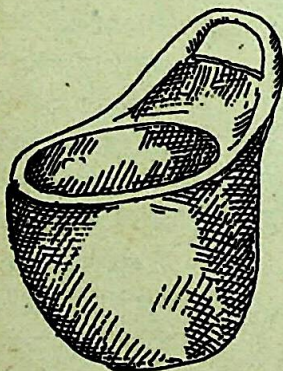
निर्मित, कलात्मक बुनाई वाली तथा विविध रंगों में रंगी होती है।

३. अनथना'ग्य कांगुंर : अनंतनाग में बनी कांगड़ी। यह भी विविध रंगों से सजी तथा कलात्मक बुनाई वाली होती है।

४. शाहाबा'द्य कांगुंर : शाहाबाद में बनी कांगड़ी। यह अनंतनाग तथा चार की कांगड़ी जैसी ही होती है।

५. सोपूर्य कांगुंर : सोपुर में बनी कांगड़ी। यह भी बांडीपुर की कांगड़ी की तरह ही अधिक टिकाऊ एवं आकार में बड़ी होती है।

कश्मीरियों के जीवन में कांगड़ी इतनी रच गयी है कि वहां के धार्मिक एवं सामाजिक कृत्यों में इसने अपना विशेष स्थान बना लिया है। कश्मीरी की अनेक कहावतें कांगड़ी से संबंध रखती हैं।

१. रठ म्या'न्य कांगुंर वुछ म्यां'न टुंरू—मेरी कांगड़ी लो और मेरी दौड़ देखो। हिंदी पर्याय—कांधे पर लो बोझ हमारा, देखो दौड़ हमारी।

२. पनुत्रि कांगरि व्यथिसुन्दि बतुं व्वखुलकरुन—अपनी कांगड़ी की आग दूसरे के हाथ से चलाना। हिंदी पर्याय—वांबी में हाथ तू डाल, मंत्र मैं पढ़ूं।

३. यसुन्जुंय कांगुंर तसुन्दिसुय फरिस—जिसकी कांगड़ी उसी का दामन। हिंदी पर्याय—अपनी जिम्मेवारी अपने ही सिर।

जैसे मैदानी इलाकों में ग्रीष्म ऋतु में निर्जला एकादशी को हिंदू अपने पितरों के निमित्त शीतल जल के कुंभों का दान करते

अगले

हैं, वैसे ही कश्मीरी पंडित शीतकाल में मकर-संक्रांति के दिन पितरों के निमित्त अंगारों से भरी कांगड़ियों का दान करते हैं। (कश्मीरी मुसलमान भी शीतकाल में प्राय: मुल्लाओं को कांगड़ियां दान में देते हैं।) किसी के निधन के ग्यारहवें पर भी कश्मीरी पंडित अन्य वस्तुओं के साथ कांगड़ी का दान करते हैं।

उनके परिवारों में नयी दुल्हन को शादी के बाद पहली सरदियों में पौष मास में 'शिशुर' लगाया जाता है; यानी एक पवित्र कपड़े के टुकड़े में थोड़ा-सा चूना व तिल रखकर उसे सिंघाड़े के आकार में सीकर दुल्हन के सिर पर रखा जाता है। ससुराल की ओर से उसे एक सुंदर-सी कांगड़ी मिलती है। श्वसुर-पक्ष की सब स्त्रियां एकत्र होती हैं और कांगड़ी में यथाशक्ति पैसे डालती हैं। शिवरात्रि के त्योहार पर कश्मीरी पंडित अपनी लड़कियों को अन्य वस्तुओं के साथ, उसके ससुराल जाते समय एक सुंदर कांगड़ी अवश्य देते हैं।

कांगड़ी की शीतहारकता के संबंध में कश्मीर में एक कहानी प्रचलित है :

प्राचीन काल में किसी मैदानी इलाके के एक दयालु वैद्य के मन में यह विचार आया कि शिशिर की भयानक ठंड में कश्मीरियों का बुरा हाल होता होगा, कितने तो ठंडे से मर भी जाते होंगे। सो क्यों न चलकर जाड़ों में उनकी सेवा की जाये। वैद्यजी रावलपिंडी के रास्ते कश्मीर पधारे और बारहमुल्ला के क्षेत्र में पहुंचे। रास्ते में उन्हें झेलम नदी पार करनी थी। वैद्यजी नदी के किनारे खड़े होकर एक मांझी की प्रतीक्षा करने लगे। मांझी जो बारह-तेरह वर्ष का बालक था, अपनी बिना छत की छोटी किश्ती में दोपहर का भोजन कर रहा था। कपड़ों के नाम पर उसके तन पर सिर्फ एक सूती चिथड़ा था। सिंघाड़े की लपसी खाकर उसने दो गिलास ठंडा पानी पिया।

जाड़ा अपने यौवन पर था। वैद्यजी सोचने लगे कि यह लड़का कुछ क्षणों में ही निमोनिया का शिकार होकर चल बसेगा। मगर लड़का खाना खाकर उठा और पात्र रखने के लिए अपने 'डूंगे' (छत वाली बड़ी नौका) में गया। जब वह बाहर आया, तो उसके हाथ में लाल अंगारों से भरी एक कांगड़ी थी। वह आया। अपनी छोटी किश्ती में निश्चित स्थान पर बैठ गया। कांगड़ी अपने चिथड़े के नीचे टांगों के बीच पेट से सटा दी और प्रतीक्षा में खड़े वैद्य से बोला—'आइये साहब! आपको पार उतार दूं।'

वैद्यजी उस लड़के की ओर आश्चर्य से देखने लगे। वे स्वयं नख से शिख तक ऊनी कपड़ों से लदे थे और फिर भी ठंड से ठिठुर रहे थे। दूसरी ओर वह लड़का जो लगभग निर्वसन था, सिंघाड़े की लपसी (जिसकी तासीर सर्द होती है) तथा ठंडा पानी पिये प्रसन्नतापूर्वक वैद्यजी की प्रतीक्षा कर रहा था! वह बोला—'आइये साहब! मैं आपकी ही प्रतीक्षा.....।'

'नहीं बेटे, अब मुझे पार नहीं जाना। ..... कश्मीरियों की जिस बीमारी का

इलाज करने के लिए मैं आया था, उसका इलाज उन्होंने स्वयं निकाला है।' यह कहते हुए वैद्यजी ने अपनी नजरें लड़के के चिथड़े

गीत

तैर रही लहरें
डूब गया सागर,
जाग उठे तारे
निंदियाया अंबर,
पड़ी रही माटी
चली गयी गागर,
मुसका दी बिजुरी—
अंसुवाया बादर,
मुंदे नैन सपने
खुली दीठ दर्पण,
फलित हुआ चिंतन
अंखुआया दर्शन!

—कन्हैयालाल सठिया

में छिपी कांगड़ी पर केंद्रित कर लीं। फिर वे मैदानी क्षेत्र में लौट गये।

कांगड़ी की राख को प्रायः खड्डे में जमा कर दिया जाता है और खेतों में खाद के रूप में उपयोग किया जाता है।

असावधानी से उपयोग किये जाने पर कांगड़ी घातक भी सिद्ध हो सकती है। उससे कपड़े तथा शरीर का कोई अंग जल सकता है तथा मकानों में आग लग सकती है। इसके अत्यधिक प्रयोग से त्वचा के ऊपरी स्तर झुलस जाते हैं और तेज आग वाली कांगड़ी का बराबर सेवन किया जाये तो जंघाओं अथवा टांगों में कैन्सर भी हो सकता है। इस प्रकार के कैंसर को 'कांगरि कैन्सर' का नाम दिया गया है।

फिर भी यदि इसका देश के अन्य भागों में प्रचार किया जाये और उपयोग की विधि सिखायी जाये, तो शीतलहर से होने वाली मृत्युओं की बड़ी हद तक रोकथाम हो सकती है। —३४७, तेलीवाड़ा, दिल्ली-११००३२

★

देश-विभाजन से पूर्व जमशेदजी महेता कराची के प्रतिष्ठित नेता थे। वे संपन्न और उदार थे, शहर के उत्कर्ष में उनका बहुत बड़ा योगदान था। एक बार एक सार्वजनिक चिकित्सालय की सहायता के लिए निधि एकत्र करने का निश्चय किया गया। कोष-समिति में जमशेदजी को भी लिया गया। समिति ने तय किया कि जो दाता दस हजार रुपये का दान दें, उनके नाम की संगमरमर की तख्तियां चिकित्सालय में लगायी जायें। अनेक उदार सज्जनों ने दस हजार या उससे बड़ी रकमें दान में दीं। परंतु जमशेदजी ने दस हजार से चालीस-पचास रुपये कम दिये।

इस पर एक सज्जन ने आश्चर्यपूर्वक पूछा—'चालीस-पचास रुपये और देना आपके लिए क्या कठिन था?' जमशेदजी ने बड़ी नम्रता से कहा—'प्रभु ने मुझे जो कुछ दिया है वह लोकसेवा के लिए है, नाम की तख्ती लगवाने के लिए नहीं।' —डा. गोपालप्रसाद 'वंशी'

★

प्रत्येक वर्ष ३ जनवरी को आरंभ होकर पांच दिन तक चलने वाले भारतीय विज्ञान कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन को निस्संदेह भारतीय विज्ञान-जगत की एक महत्त्वपूर्ण नियतकालिक घटना कहा जा सकता है। इस वर्ष का अधिवेशन वाल्टेयर में आंध्र विश्वविद्यालय में हुआ। भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् के महानिदेशक और प्रसिद्ध भारतीय कृषि-विज्ञानी डा. एम.एस. स्वामिनाथन् इसके अध्यक्ष थे और केंद्रीय विषय था—'विज्ञान और समग्र ग्राम-विकास'। विज्ञान कांग्रेस का यही पहला अधिवेशन था, जिसके लिए कोई केंद्रीय विषय रखा गया। यह तो सभी स्वीकार करते हैं कि जिस दिन भारत में विज्ञान महानगरों और प्रासादोपम प्रयोगशालाओं से निकलकर गांवों और खेत-खलिहानों में पहुंचेगा, वह रोज भारत के इतिहास का स्वर्णिम दिन होगा। खुशी इस बात की है कि आखिर हमारे वैज्ञानिकों का ध्यान इस ओर गया है।

प्रधान-मंत्री इंदिरा गांधी ने अधिवेशन के उद्घाटन-भाषण में कहा कि भारत जैसे विकासशील देशों के सामने आज प्रतिभा-निकास (ब्रेन ड्रेन) की जो गंभीर समस्या खड़ी है, उसका मूल कारण है—गांवों से शहरों की ओर लोगों की बड़ी मात्रा में दौड़। विज्ञान ने शहरों और उद्योगों की ओर जितना ध्यान दिया है, यदि उतना ध्यान गांवों के विकास की ओर दिया होता, तो आज हमारे देश का चित्र कुछ और ही होता। उन्होंने इस बात पर विशेष बल दिया कि अब समय आ गया है कि विज्ञान मौजूदा संदर्भ को ध्यान में रखकर अपने लक्ष्यों और उद्देश्यों में प्राथमिकता का निर्धारण फिर से करे।

डा. स्वामिनाथन् ने अपने अध्यक्ष-भाषण में कहा कि गांवों के समग्र विकास के लिए यह जरूरी है कि प्रत्यक क्षेत्र की पारिस्थितिकी को ध्यान में रखते हुए एक 'वनस्पति-पशु-मनुष्य खाद्य-शृंखला-परक' नीति को अपनाया जाये। इसके लिए आवश्यक है कि कृषि-उत्पादन की एक न्यूनतम सीमा तय कर दी जाये; बंजर और बेकार जमीन का उपयोग कुछ विशेष उद्योगों के लिए किया जाये; मृदा और जल-संरक्षण पर

विशेष ध्यान दिया जाये; और विकास-कार्यक्रमों, शिक्षा-पद्धति और वैज्ञानिक गतिविधियों का एक ऐसा मिला-जुला व्यावहारिक कार्यक्रम तैयार किया जाये, जिसमें शिक्षक और विद्यार्थियों का सहयोग अनिवार्य रूप से लिया जा सके। सभी ग्राम-वासियों को ऐसी अनौपचारिक शिक्षा दी जाये कि उन्हें इन कार्यक्रमों का सक्रिय हिस्से-दार बनाया जा सके।

सिडनी विश्वविद्यालय (आस्ट्रेलिया) में बाल-स्वास्थ्य के प्रोफेसर डा. टामस स्टेप-लेटन ने निजी तौर पर यह सुझाव दिया कि प्रधान-मंत्री गांधी को कृषि, पोषण और विज्ञान के विशेषज्ञों के साथ चीन की यात्रा करनी चाहिये। उन्होंने कहा कि चीन के कई दौरों के दौरान उन्होंने यह स्पष्ट देखा है कि कृषि, पोषण, स्वास्थ्य, उद्योग आदि सभी दृष्टियों से चीन ने ग्राम-विकास की समस्या को जिस संतुलित और सफल तरीके से सुल-झाया है, वह अन्य विकासशील देशों के लिए मार्गदर्शक हो सकता है।

अधिवेशन ने एक प्रस्ताव पास करके सरकार से अनुरोध किया कि वह ब्लाक स्तर पर प्रत्येक ग्रामीण क्षेत्र के विकास के लिए ब्लूप्रिंट तैयार कराने के लिए संसद में प्रस्ताव पारित कराये; कार्यक्रमों के क्रियान्वय पर निगाह रखने और समन्वय के लिए एक राष्ट्रीय समिति गठित की जाये और प्रत्येक जिले में जिला-समिति हो। निश्चय किया गया कि आगामी अधिवेशन में इस वर्ष की अवधि में इस दिशा में हुई प्रगति का सिंहावलोकन किया जाये। इस प्रकार पहली बार विज्ञान-कांग्रेस ने प्रस्ताव द्वारा कुछ सुझाव सरकार के सामने रखे हैं।

अगले अधिवेशन के अध्यक्ष-पद के लिए कलकत्ता के जगदीशचंद्र बोस रिसर्च इंस्टि-टयूट के भूतपूर्व निदेशक डा. एस. एम. सर-कार को चुना गया। केंद्रीय विषय होगा-'ऊर्जा-स्रोतों का संरक्षण एवं उपयोजन'।

अधिवेशन में कुल अट्ठाईस संगोष्ठियां हुईं और कई सौ प्रबंध (पेपर) पढ़े गये। उन सबका संबंध तो देहात की समस्याओं से नहीं था। सब पाठकों की दिलचस्पी के कुछ प्रबंधों की मुख्य बातें सेवा में प्रस्तुत हैं:

संदूषित खून और खाद्य

भारत में हरित क्रांति हुई, मगर इसके लिए कीटनाशक पदार्थों और रासायनिक खादों का जो व्यापक उपयोग किया गया, उसके अनुवर्ती प्रभाव का अध्ययन करने की बात मन में आयी स्टाकहोम विश्व-विद्यालय के प्रो. लार्स एर्नबर्ग के। इसके लिए उन्होंने भारतीय गेहूं, तिलहन, साग-भाजी, अंडे और मछलियों का रासायनिक विश्लेषण किया। उन्होंने पाया कि ये सभी खाद्य साम-ग्रियां कीटनाशी रसायनों के अवशिष्टों से संदूषित हैं। यही नहीं, जब उन्होंने दिल्ली के दो नागरिकों के खून की जांच की, तो उसमें डी. डी. टी. के अंश पाये गये।

विश्व स्वास्थ्य संघटन द्वारा निर्धारित मानक के अनुसार यह मात्रा इतनी अधिक नहीं है कि इससे कोई बड़ी हानि की संभा-वना आज हो; परंतु अगर भविष्य में साव-

आगे

धानी न बरती गयी तो जो खतरा आज नहीं है, वह कल पैदा हो सकता है। हमारे कृषि-विशेषज्ञ इससे आंख नहीं मूंद सकते।

शुद्ध वायु भी नहीं

हवा का महासागर हमारे चारों तरफ लहरा रहा है। मगर तरक्की की आपाधापी में यह हवा भी अब खालिस नहीं रह गयी है। देहरादून के इंडियन इंस्टिटचूट ऑफ पेट्रोलियम के डा. वी. पी. पंडित के अनुसार, दिल्ली का वायु-मंडल वहां की सड़कों पर दौड़ती छोटी-बड़ी कारों से निकलने वाली कार्बन मोनाक्साइड गैस से बुरी तरह संदूषित हो गया है।

डा. पंडित ने इस विषय को लेकर एक विशेष अध्ययन किया था और इसके लिए क्षेत्र चुना था दिल्ली को। उनका कहना है कि राजधानी में आधी से अधिक कारें ऐसी हैं, जो कि विषैली कार्बन-डाइआक्साइड से वहां के वातावरण को निरंतर गंदला करती रहती हैं; और वहां की हवा में अब इतनी गैस मिल चुकी है, जो विश्व के अनेक उन्नत देशों में अनुमत सीमा से कहीं अधिक है। उनका अनुमान है कि भारत में लगभग ३०,००० टन कार्बन मोनाक्साइड प्रतिवर्ष वातावरण में मिल जाती है, जिसका अधिकांश भाग बड़े शहरों पर छाया रहता है।

हम अकेले नहीं हैं

हमारी पृथ्वी के बाहर जीवन के अस्तित्व की खोज की सरगर्मी से आप बेखबर नहीं हैं। विज्ञान-कांग्रेस के अधिवेशन में मेरीलैंड विश्वविद्यालय (अमरीका) के इंस्टिटचूट ऑफ केमिकल इवोल्यूशन के निदेशक डा. सिरिल पोनेमपेरुमा ने बताया है कि केवल हमारी आकाशगंगा में ही दस लाख सभ्यताएं विद्यमान हैं। इस विषय में आजकल जो परीक्षण चल रहे हैं, उनके निश्चित परिणाम कभी भी सामने आ सकते हैं।

डा. पोनेमपेरुमा के अनुसार, ब्रह्मांड में स्थित अन्य सभ्यताओं से आने वाले संदेश को पकड़ने में समर्थ अत्यधिक शक्तिशाली दूरदर्शी यंत्रों का एक विशाल तंत्र इस काम के लिए तैयार किया जा चुका है।

जीवनदायी लाश

आंध्र मेडिकल कालेज के अवकाश-प्राप्त प्राचार्य डा. पी. सुब्रह्मण्य शास्त्री ने अपने शोधपत्र में बताया कि मृत व्यक्ति की त्वचा से प्राप्त कुछ पदार्थों की सहायता से मूत्र, नेत्र और तंत्रिका संबंधी अनेक रोगों की सफलतापूर्वक चिकित्सा की जा सकती है। इसी प्रकार आंवल (जो प्रसव के समय बाहर निकलती है और फेंक दी जाती है) अनेक बीमारियों के इलाज के लिए इस्तेमाल की जा सकती है। डा. शास्त्री ने कहा है कि यह तकनीक, जिसे ऊतकोपचार (टिश्यू-थैरेपी) कहा जाता है, भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में विशेष उपयोगी हो सकती है, क्योंकि यह अपेक्षाकृत कम खर्चीली है और इसके लिए आंवल वहां आसानी से प्राप्त की जा सकती है। उनका सुझाव है कि इस दिशा में हमें रूस के फिलतोव मेमोरियल इंस्टिटचूट का सहयोग प्राप्त करना चाहिये, जहां इस विषय में काफी काम हुआ है।

★

गीत

छाया से मिला नहीं त्राण
कितने दिन भरमाये प्राण।

कीचड़ में सनी हुई याद
कभी नहीं लायी मधुमास
किरणों की केसरी छुअन
दे पाती कैसे उल्लास
चेतना को चुभे सदा दिन
ज्यों किसी योद्धा के बाण।

भय की पगडंडी पर पांव
छिलते ही रहे बार-बार
सपनों के रेशमी दुकूल
होते ही रहे तार-तार
अपने सहभोगी थे मात्र
भट्ठी में पड़े हुए धान।

यात्राएं करके अनगिन
लौटे फिर उसी जगह आज
सारी आवाजों के बीच
बड़ी लगी अपनी आवाज
जहां-जहां रहा साथ-साथ
अपनी ही पीड़ा का ध्यान।

पुष्पा राही

एफ ८/७, माडल टाउन
दिल्ली-९

आधुनिक उड़िया साहित्य के पथिकृत्

• मधुसूदन साहा •

आधुनिक उड़िया साहित्य का प्रारंभ लगभग १८५० ई. से माना जाता है। उससे पहले के उड़िया साहित्य में राजाश्रयी कवियों के लिखे पौराणिक आख्यान-काव्य मिलते हैं, जिनमें अतिशय कल्पना-प्रवणता, सौंदर्य-प्रियता और आध्यात्मिक आस्था के ऊंचे धरातल दिखाई पड़ते हैं।

आधुनिक बोध ने समाज के काल्पनिक स्वरूप को नकारकर जीवन की वास्तविक चेतना तथा देश, काल एवं पात्र की प्रकृति के आधार पर नूतन साहित्य के निर्माण की प्रेरणा दी। फलस्वरूप प्राचीन युग के कवियों की अतिशय काल्पनिकता से साहित्य मुक्त हो गया। आधुनिक युग के साहित्यकारों ने विलास, संभोग, जलक्रीड़ा और राजकीय सुख-भोग की चहारदीवारी को तोड़कर जीवन की वास्तविकता को उसके यथार्थ रूप में देखने एवं सही रूप में चित्रित करने का प्रयास आरंभ किया।

इस युग के साहित्य पर पश्चिम के जन-जागरण का सीधा प्रभाव पड़ा। रूप-वैभव, शिल्प-विधान तथा आत्मिक रस-सौंदर्य की निष्पत्ति—ये सारे काव्यगुण पाश्चात्य साहित्य से आयातित होने लगे। उड़िया साहित्य में इस प्रभाव को ग्रहण कर, उसे उड़ीसा की मिट्टी एवं संस्कृति के संस्पर्श से प्राणवंत बनाकर जिन साहित्य-सर्जकों ने एक नवीन युग का सूत्रपात किया, वे थे—व्यासकवि फकीरमोहन सेनापति, युग-प्रवर्तक राधानाथ राय एवं भक्तकवि मधुसूदन राव।

आधुनिक हिंदी साहित्य को एक सुनिश्चित स्वरूप देने का जैसा ठोस कार्य महा-

फकीरमोहन सेनापति

वीर प्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' के माध्यम से किया था, ठीक वैसा ही गौरीशंकर राय ने 'उत्कल-दीपिका' के माध्यम से आधुनिक उड़िया साहित्य के लिए किया था। उस प्रयास में उपर्युक्त तीनों कवियों का योग-दान सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण रहा; इसीलिए इन्हें आधुनिक उड़िया साहित्य की 'बृहत्-त्रयी' माना गया है।

व्यासकवि फकीरमोहन सेनापति

फकीरमोहन सेनापति (१८४३-१९१८ ई.) आधुनिक उड़िया साहित्य के प्रधान पुरोधा थे। उड़िया गद्य-साहित्य के तो मानो सेनापति ही थे वे। जिस तरह भारतेंदु हरि-श्चंद्र से हिंदी साहित्य का आधुनिक काल प्रारंभ होता है, उसी तरह उड़िया साहित्य के आधुनिक काल का आरंभ फकीरमोहन से होता है। उन्हीं ने उड़ीसा में सर्वप्रथम मुद्रण, प्रकाशन और पत्रकारिता का प्रारंभ किया और उड़िया गद्य को सही दिशा दी।

उनका जन्म १३ जनवरी १८४३ को वालेश्वर जिले के मल्लिकाशपुर में हुआ था। पिता थे लक्ष्मण सेनापति और माता थीं तुलसीदेवी। बचपन में ही माता-पिता का साया सिर पर से उठ गया और फकीर-मोहन को फकीरी जिंदगी गुजारनी पड़ी। जैसा कि ऐसी अवस्था में स्वाभाविक था, वे उच्च शिक्षा से वंचित रहे। गांव की चटशाला से प्राप्त अक्षर-ज्ञान, फारसी स्कूल में सीखी हुई उर्दू तथा कुछ आधुनिक विषयों की सामान्य जानकारी—ये ही उनके विद्यार्थी-जीवन की कुल अर्जित पूंजी थी और इसी के बल पर उन्हें जीविकोपार्जन करना था। सो शामियाना सीने से लेकर कचहरी में मुहर्रिरी तक अनेक धंधे आजमाये।

परंतु दारिद्रय के निष्ठुर आघात से वे कभी विचलित नहीं हुए; बल्कि उसे चुनौती के रूप में स्वीकार करके दृढ़तापूर्वक बढ़े गये और एक दिन वह भी आया कि उन्हें वालेश्वर स्कूल में शिक्षक का पद मिल गया। शिक्षक बनने के बाद उन्होंने जमकर स्वाध्याय किया। यही नहीं, उड़िया में पाठ्य पुस्तकों की कमी दूर करने के लिए गणित, भूगोल एवं भारतीय इतिहास पर पुस्तकें लिखीं। सच्चरित्रता एवं कार्य-क्षमता के बल पर वे जीवन में बहुत आगे आये और १८७१ ई. से १८९६ ई. तक कई देशी रियायतों के दीवान रहे। इस अवधि में उन्हें नीलगिरि, डोमपाड़ा, ढेंका-नल, दसपाल, पालसहा, केंदूझर आदि रिया-सतों में जन-जीवन को देखने-समझने का अवसर मिला।

संघर्षमय जीवन के ठोस अनुभव एवं पारिवारिक कष्टभोग से मंजी हुई दृष्टि लेकर उन्होंने लगभग पचास वर्ष की उम्र में सही रूप से साहित्य का सृजन करना शुरू किया। जीवनानुभव की इतनी विशाल और वैविध्यमय पृष्ठभूमि लेकर साहित्य में पदा-र्पण करने वाले लेखक विश्व-साहित्य में भी बिरले ही मिलेंगे। यही कारण है कि उनका साहित्य उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के सामाजिक परिवर्तनों का इतिहास बन गया।

उड़ीसा के गांवों में उन दिनों जमींदार

की एक नयी श्रेणी का उदय होने लगा था। शक्तिहीन निरीह जनता का शोषण करने वाले जमींदार-वर्ग के इस उदय से सामंत-वाद का झुकाव आधुनिक शिक्षा की ओर हुआ और गांव तथा शहर के बीच एक नये संबंध-सूत्र की स्थापना हुई। इससे जमीं-दारों के साथ मध्यम वर्ग का भी विकास हुआ, जिसने आधुनिक शिक्षा प्राप्त करके नौकरी का पेशा अपनाया और गांव की जनता को चूसना प्रारंभ किया। इस तरह गांव में एक साथ कई शोषक वर्ग बन गये।

फकीरमोहन ने इस शोषण को बहुत निकट से देखा था; अतः उनके साहित्य में इसका बड़ा सही चित्रण मिलता है। चाहे उपन्यास हो या छोटी कहानी, यात्रा-वृत्तांत हो या आत्मचरित, सर्वत्र समसामयिक यथार्थ का चित्रण एवं परिवेश के प्रति प्रामाणिकता उनके साहित्य की विशेषता है।

परंतु उनकी कविताएं मूलतः आत्म-परक हैं। पहली पत्नी कृष्णा के वियोग तथा उसके बाद पुत्र की मृत्यु से उनका कविमन उद्वेलित हो उठा। उस उद्वेलन की अभिव्यक्ति 'पुष्पमाला' (१८९४), 'उत्कल-भ्रमण', 'उपहार', 'अवसर वासरे' आदि संकलनों में हुई है। 'रेवती' (१८९८) उनकी प्रथम कहानी है और 'पेटेन्ट मेडिसिन', 'सभ्य जमींदार', 'सुना बोहू', 'गारुडीमंत्र' आदि इनकी बहुचर्चित कहानियां हैं।

उन्होंने चार उपन्यास लिखे—'छह माण आठ गुण्ठ' (१८९९), 'लछमा' (१९०१), 'मामू' (१९१३) और 'प्रायश्चित्त'। वस्तुतः उनका साहित्यकार सही रूप से उपन्यासों में ही निखरा है। पचास वर्ष की संघर्षमय जिंदगी में जो कुछ भोगा, देखा और परखा, उसे इन उपन्यासों में उन्होंने विस्तारपूर्वक चित्रित किया है।

'लछमा' ऐतिहासिक उपन्यास है, जिसमें उपन्यासकार ने अपनी कल्पकता का भी परिचय दिया है। 'छह माण आठ गुण्ठ' एवं 'मामू' में जमींदारी शोषण का वर्णन हुआ है। इस उपन्यास का रामचंद्र भंगराज जमींदारी का प्रतीक-पात्र है, जो सरिया-भगिया को ही नहीं, अपने स्वजनों को भी शोषण से नहीं बख्शता।

वस्तुतः शोषण ही उनके उपन्यासों का केंद्रीय विषय है। 'प्रायश्चित्त' में भी इसी शोषण के प्रारंभ, विकास एवं परिणति का कलापूर्ण चित्रण हुआ है। 'छह माण आठ गुण्ठ' एवं प्रेमचंद्र के 'गोदान' की भाव-भूमि एक-सी है। दोनों में बड़ा अंतर यह है कि पहली एक यथार्थवादी लेखक की आद-र्शोन्मुख कृति है, तो दूसरी एक आदर्शोन्मुख लेखक की घोर यथार्थवादी कृति।

फकीरमोहन सेनापति का गद्य उड़िया गद्य का सही नमूना है। उनकी भाषा उड़ीसा के घर-आंगन की भाषा है; उनकी शैली उड़ीसा की आम बोलचाल की शैली है। उनके साहित्य में उड़ीसा का सामाजिक संस्कार मुखर हो उठा है। इसीलिए डा. मानसिंह ने "उड़िया साहित्य का इतिहास" में लिखा है—'फकीरमोहन सेनापति की कहानी वस्तुतः १९ वीं सदी में उड़िया

राष्ट्रीय जीवन एवं उड़िया साहित्य के नव-चैतन्य की कहानी है।'

युग-प्रवर्तक राधानाथ राय

बृहत्-त्रयी में द्वितीय स्थान है राधानाथ राय (१८४८-१९०८) का। उनका जन्म बालेश्वर जिले के केदारपुर गांव में २८ सितंबर १८४८ ई. को हुआ था। पिता सुंदरनारायण राय अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करके नौकरी करते थे। माता का नाम तारिणी दासी था। गांव की आरंभिक पढ़ाई के बाद १८५८ ई. में राधानाथ को बालेश्वर जिला स्कूल में भरती किया गया। १८६३ में उन्होंने मैट्रिक की परीक्षा अच्छे अंकों से पास की। उस समय मैट्रिक में बंगला की पढ़ाई स्वतंत्र विषय के रूप में होती थी; उसका लाभ उठाकर उन्होंने बंगला भाषा एवं साहित्य का अध्ययन किया।

मैट्रिक के बाद उन्हें उसी स्कूल में अध्यापक का पद मिल गया। बाद में वे पुरी तथा बांकुड़ा स्कूल में भी अध्यापक रहे। शिक्षक-जीवन में उन्होंने अंग्रेजी, संस्कृत एवं बंगला साहित्य का बड़ी लगन से स्वाध्याय किया।

बंगला साहित्य का अध्ययन करते हुए उनके मन में मातृभाषा के उन्नयन का विचार आया और उन्होंने उड़िया साहित्य को बंगला साहित्य के बराबर लाने के लिए भाषा-आंदोलन में योगदान दिया। भाषा-आंदोलन के लिए चार प्रमुख कार्य बहुत आवश्यक थे—१. पाठ्य पुस्तकें तैयार करना, २. बंगला पुस्तकों के अविकल अनुवाद की जगह स्वतंत्र उड़िया पुस्तकों की रचना,
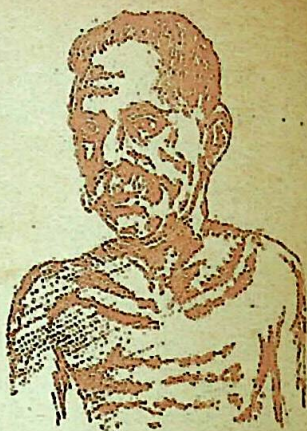
राधानाथ राय

३. उड़िया भाषा पर से बंगला के प्रभाव की समाप्ति तथा ४. पाठ्य पुस्तकों के माध्यम से आधुनिक उड़िया साहित्य की सृष्टि।

इनमें प्रथम तीन समस्याओं का समाधान उस युग के अन्य उड़िया लेखकों के हाथों हुआ; परंतु चौथी समस्या की पूर्ति यानी 'पाठ्य पुस्तकों के माध्यम से आधुनिक उड़िया साहित्य की सृष्टि' केवल राधानाथ राय एवं मधुसूदन राव ने की। सन १८८० से १८९० तक राधानाथ स्कूल-इंस्पेक्टर थे। सो यह काम उनके लिए सहज भी था।

बंगला साहित्य पढ़ते हुए उन पर माइकेल मधुसूदन दत्त का गहरा प्रभाव पड़ा। दत्त ने १८६६ में बंगला में सानेट लिखे और छपवाये थे। राधानाथ इस छंद-विधान से काफी प्रभावित हुए और उन्होंने केवल दो वर्षों में इस पर प्रभुत्व प्राप्त कर लिया। उनकी बंगला कृति 'कवितावली'

अंग्रे

के प्रथम भाग में ५१ सानेट हैं और द्वितीय भाग में कुछ सानेटों के साथ छोटी कविताएं संकलित हैं। भाषा-सौंदर्य, शिल्प-कौशल एवं भाव-प्रवणता की दृष्टि से इन रचनाओं का बड़ा महत्त्व है।

भारतीय भाषाओं के अलावा पाश्चात्य साहित्य का भी विशद अध्ययन राधानाथ ने किया था। इसीलिए उनके साहित्य पर पाश्चात्य प्रभाव विशेषतः परिलक्षित होता है। पुरातन में नूतनता का प्रतिपादन तथा यूनानी मिथकों के माध्यम से अपने परिवेश का चित्रण उनकी सबसे बड़ी खूबी थी।

उन्होंने उड़ीसा के विभिन्न स्थानों का भ्रमण किया। इस परिभ्रमण में उन्हें उड़ीसा की प्राकृतिक सुषमा से जो प्रेरणा मिली, उसी का फल है 'केदारगौरी' से लेकर 'पार्वती' काव्य तक की परिचितना।

राधानाथ के काव्य मुख्यतः वर्णनात्मक हैं और उनमें उड़ीसा की प्रकृति जीवंत रूप में चित्रित हुई। प्रकृति के इस अनन्य गायक ने कालिदास की तरह अपने प्रदेश के वन, पर्वत एवं सरिताओं को अपने काव्य में जीवंत रूप में प्रस्तुत किया है। उड़ीसा की चिल्का झील पर उन्होंने 'चिलिका' नाम खंडकाव्य ही लिख डाला—प्रकृति की रमणीक छवियों का चित्रण ही जिसका प्रधान विषय है। कवि ने झील की सुषमा का ऐसा हृदयस्पर्शी चित्रण किया है कि पाठक के समक्ष झील साकार हो उठती है।

इसके पूर्व चिल्का का सौंदर्य उड़िया काव्य में उद्दीपन-विभाव के तौर पर अवश्य आया था; किंतु राधानाथ ने चिल्का को जीवंत नारी के रूप में चित्रित किया है। झील की सुंदरता को कवि जितनी बार निहारता है, वह उसे उतनी ही अपरूप लगती है :

सुन्दरऽ तृप्ति रे अवसाद नाहिं
जेते देखु थिले नुआ दिसु नाईं।
[सुंदरता की तृप्ति न होती पूर्ण कभी
नयी-नवेली लगती पड़ती दृष्टि जभी।]

चिल्का का रूप-चित्रण करते हुए कवि ने उसे उत्कल का सौंदर्य-भंडार कहा है :

उत्कल-कमला-विलास-दीर्घिका
मरालमालिनी नीलांबु चिलिका,
उत्कलरऽ तूही चारु अलंकार
उत्कलभुवने शोभारऽ भंडार।
[जिसमें विलास करती हो उत्कल की कमला/उस पुष्करणी की हंस-पांत लगती चिल्का/ तू ही उत्कल का अलंकार है/ तू ही इस भू पर शोभा का भंडार परम।]

उड़ीसा की प्रकृति-सुषमा का इतना गरिमा-मंडित चित्रण अन्यत्र दुर्लभ है। 'चिलिका' के अतिरिक्त 'केदारगौरी', 'चंद्रभागा', 'नंदीकेशरी', 'उषा' एवं 'पार्वती' में भी राधानाथ का प्रकृति-प्रेम छलका।

राधानाथ राय के काव्य पर वर्ड्सवर्थ एवं कोलरिज का भी गहरा प्रभाव दिखाई पड़ता है। जिस तरह वर्ड्सवर्थ एवं कोलरिज ने 'लिरिकल बैलेड्स' लिखे थे, उसी तरह राधानाथ राय एवं मधुसूदन राव ने मिलकर 'कवितावली' का सृजन किया।

'महायात्रा' राधानाथ का महाकाव्य है। इसका मूल कथानक पांडवों के स्वर्गा-

मधुसूदन राव
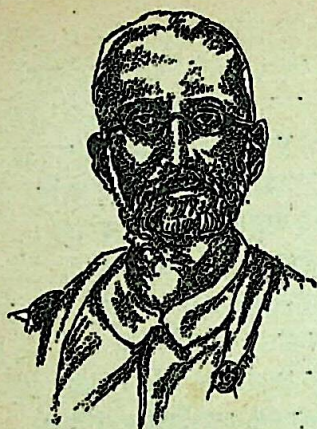
रोहण पर आधारित है; किंतु शिल्प एवं सृष्टि-परिकल्पना विदेशी है। उदात्त, मधुर एवं चित्रप्रधान मुक्तछंद तथा महाकाव्योचित उदात्तीकरण के कारण इसे उड़िया का 'पैराडाइज लॉस्ट' कहा जाता है।

भक्तकवि मधुसूदन राव

मधुसूदन राव (१८५३-१९१२) बृहत्-त्रयी की तीसरी कड़ी थे। इनका जन्म २९ जनवरी १८५३ ई. को श्रीपंचमी के दिन पुरी में हुआ था। पितामह सदाशिव राव वहां आकर बस गये थे। पिता का नाम भगीरथ राव था। ये अभी पांच वर्ष के थे कि माता अंबिकादेवी स्वर्ग सिधार गयीं। मातृ-वियोग का प्रभाव इनके बाल्य-जीवन पर पड़ा। अचेतन में घुटते हुए इस शोक की अभिव्यक्ति उनके शोकगीतों में स्पष्ट है।

पुरी जिले के गोप नामक गांव में उनकी प्रारंभिक शिक्षा हुई। बचपन से ही वे बहुत मेधावी थे। भुवनेश्वर गवर्नमेंट स्कूल से एंट्रेंस सफलतापूर्वक पास करके वे एफ. ए. पढ़ने के लिए कटक गये। १८७१ में एफ.ए. पास किया और जानपुर में हेडमास्टर के पद पर नियुक्त हुए।

फकीरमोहन सेनापति उस समय वहां प्रशासक थे। मधुसूदन राव का उनसे परिचय हुआ। जब वे पुरी स्कूल में पढ़ते थे, राधानाथ राय वहां शिक्षक थे। इस तरह मधुसूदन राव के साहित्यिक संस्कार के साथ राधानाथ राव एवं फकीरमोहन सेनापति के व्यक्तित्व का प्रभाव प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से अवश्य जुड़ा हुआ है।

मधुसूदन की प्रथम कृति 'उत्कल-दर्पण' का प्रकाशन १८७३ ई. में हुआ। उड़ीसा की प्राकृतिक छवियों का प्रतिबिंब उसमें दिखाई पड़ता है। लगभग इसी समय वंगाल में जोर पकड़ने वाले ब्राह्मसमाज का प्रभाव उड़ीसा के सामाजिक जीवन पर पड़ा। ब्राह्मसमाज के एकेश्वरवाद एवं समाज-सुधार कार्य ने मधुसूदन पर गहरी छाप डाली और १८७० ई. में वे दीक्षा लेकर ब्राह्मसमाजी बन गये। जब १८७९ में उत्कल ब्राह्मसमाज की स्थापना हुई, मधुसूदन राव ही उसके प्रधान कार्यकर्ता थे।

मूर्तिपूजक न होते हुए भी ब्राह्मसमाज वैष्णव धर्म की तरह भक्ति-प्रधान है; सत्य, ज्ञान एवं भक्ति उसके मूलमंत्र हैं। मधुसूदन के भक्तिकाव्य में इन्हीं भावों का दर्शन होता है। वैष्णव भक्ति की तरह संपूर्ण ईश्वर-समर्पण की भावना उनके गीतों में सर्वत्र

आगे

दिखाई पड़ती है।

ए जीवन श्रीचरणे कलि समर्पण

[यह जीवन श्रीचरणों में समर्पित किया।]

आध्यात्मिकता मधुसूदन राव के काव्य का प्रमुख स्वर है; इसीलिए उन्हें 'भक्ति-कवि' कहा गया है। किंतु गहराई से अध्ययन करें, तो उनके साहित्य में सर्वत्र वास्तविक चिंताधारा का बोध भी दिखाई पड़ता है। वस्तुत: वे चरम मानवता के गायक थे; और उनकी यह चरम मानवता आध्यात्मिकता एवं वास्तविकता का समन्वय थी। जिस तरह बंगला में रवींद्रनाथ ने असीम की अभ्यर्थना और हिंदी में महादेवी वर्मा ने रहस्यमय सत्ता की अभिव्यंजना की है, उसी तरह मधुसूदन ने उड़िया काव्य में विराट् पराशक्ति के प्रति विनीत प्रार्थना प्रस्तुत की है। उनके ऐसे गीत आज भी उड़ीसा के धर्मस्थानों एवं स्कूलों में गाये जाते हैं :

अखिल ब्रह्मांडपति, मो जीवनस्वामी
हे परम माता-पिता, प्रभु अंतर्यामी,
धन्य करुणा तोहरऽ
हे करुणासिंधु कांही तारऽ पटांतरऽ ?

मधुसूदन आधुनिक उड़िया साहित्य के प्रथम गीतकार थे। अंग्रेजी साहित्य से प्रेरित होकर उन्होंने उड़िया में गीतिकाव्य का सर्वप्रथम सृजन किया। उनके गीतों में माधुर्य व गेयता का सुंदर संगम हुआ है :

कलुष-पंके मुहीं केड़े मलिन
केमंते सरि तोर हेवि नलिन
पंकज अटु तुही तेनु भरसा
तो परि शुभ्र हेवि लभि सुदशा।

[कलुष-कीचड़ में हुआ कितना मलिन
किस तरह तुझ-सा बनूंगा मैं नलिन ?
तू भी है पंकज इसी से है भरोसा
हो समुन्नत शुभ्र होऊंगा तुझी-सा।]

गीति-काव्य में जिस अन्विति एवं छंद-विधान की आवश्यकता होती है, वह उनके गीतों में सर्वत्र विद्यमान है। उनकी धर्ममूलक कविताओं में भी कल्पनाशीलता एवं दार्शनिकता के साथ गीति-काव्य का गठन, आरंभ, विकास एवं परिसमाप्ति है।

वे धार्मिक काव्यों एवं गीति-काव्यों के लिए जितने चर्चित हैं, उतनी ही मान्यता उन्हें शिशु-साहित्य के प्रणयन के लिए भी मिली है। सन १८७३ से १९०८ तक वे शिक्षा-विभाग में रहे। इस अवधि में उन्होंने अनुभव किया कि भाषा-आंदोलन को ठोस रूप देने के लिए पाठ्य पुस्तकों का सृजन अत्यावश्यक है। उन्होंने उड़िया भाषा को सर्वप्रथम 'वर्णबोध' दिया, अंग्रेजी निबंधों का अनुवाद किया और बालोपयोगी स्वतंत्र पुस्तकों की रचना की। 'कवितावली' (दो भाग), 'छंदमाला' (दो भाग), 'अवधान बंधु' आदि संकलनों में उनकी ये रचनाएं हैं।

मधुसूदन राव की चौदहपदी (सानेट) कविताओं का एक संकलन 'बसंतगाथा' उड़ीसा के बौद्धिक वर्ग में काफी चर्चित हुआ। उनकी अन्य साहित्यिक कृतियों में 'कुसुमांजलि', 'उत्कल-गाथा', 'ब्राह्म संगीत' आदि भी कथ्य एवं शिल्प दोनों दृष्टियों से प्रौढ़ माने गये हैं।

—संकल्प संस्थान,
ए/९३, सेक्टर-१५, राउरकेला-३, उड़ीसा

★

मुशायरों में

• गोपीनाथ अमन •

हजरत अहमक फफूंदवी एक मुशायरे में बुलाये गये। उसमें बुलाये गये बहुत-से कवि उनकी पसंद के नहीं थे। अपनी नापसंदगी को प्रकट करने के लिए उन्होंने अपनी गजल का सहारा लेकर कहा :

अदबनवाजी अहले-अदब का क्या कहना
मुशायरों में अब 'अहमक' बुलाये जाते हैं।

०

एक मुशायरे में लाउडस्पीकर हाथ लगने से खराब हो जाता था। एक मौके पर मैंने वहां बैठे कवियों को संबोधित करते हुए कहा—'लाउडस्पीकर को छूइयेगा नहीं, क्योंकि आज के मुशायरे का मजमून है :

हाथ आयें तो उन्हें हाथ लगाये न बने।'

०

एक बार एक मुशायरे में बिस्मल सईदी भी शामिल थे। एक नौजवान कवि ने वहां एक ग़ज़ल सुनायी, जिसमें बहुत-से शेर असल में बिस्मल सईदी के थे। सुनकर वे एक-दो बार तो चौंके, पर फिर सिर झुकाये सुनते रहे।

आखिर जब वे अपनी गजल सुनाने के लिए खड़े हुए, तो बोले—'अब मैं अपने शेर खुद अपनी जबान से सुनाऊंगा।' उन्होंने 'खुद' शब्द पर खास जोर दिया।

०

लाल किले में मुशायरा था। मैंने बेकल के बाद महशर अमरोही को गजल सुनाने के लिए कहा, तो वे बोले—'मालूम होता है, आज दाढ़ी वालों का ही नंबर पहले लग रहा है।'

मैंने कहा—'पर कुछ दाढ़ियां नकली भी होती हैं।'

'पता नहीं, बेकल साहब की दाढ़ी नकली है या मेरी?' उन्होंने कहा।

'अगर आपकी गजल इश्किया है तो समझिये आपकी दाढ़ी नकली है।' मैंने कहा।

०

कुंवर महिंदरसिंह बेदी एक मुशायरे की अध्यक्षता कर रहे थे। उस मुशायरे में नरेशकुमार शाद भी आये हुए थे। जब उनका नाम पुकारा गया, तो वे वहां दिखाई न दिये। पता चला कि वे अंदर कमरे में बैठे शराब पी रहे हैं।

इस पर महिंदरसिंह बेदी ने श्रोताओं से कहा—'हजरात, इंतजार कीजिये। शाद साहब अभी थोड़ी देर में आपके सामने लाये जायेंगे।'

०

एक मुशायरे में सबके बाद एक नौजवान कवि की बारी आयी, तो उसने गजल सुनाने से पहले श्रोताओं से कहा—'मैं यह गुस्ताखी कर रहा हूं कि फिराक साहब के बाद पढ़ने आ रहा हूं।'

तभी फिराक ने कहा—'आप यों भी तो मेरे बाद ही आये हैं।'

★

मुस्कान का रहस्य

प्रेम स्वरूप श्रीवास्तव

वायलिन-वादक सुक्याती को विश्व-संगीत-संमेलन में संमिलित होने का निमंत्रण मिला। सुक्याती इन दिनों कुछ बीमार थे, साथ ही दरिद्रता का अभिशाप भी झेल रहे थे। यहां तक कि उनके पास सलीकेदार कपड़े भी न थे। सो निमंत्रण पाकर उन्हें विशेष प्रसन्नता नहीं हुई। पर संगीत के प्रति उनके हृदय में जो अगाध प्रेम था, उसके कारण वे निमंत्रण को अस्वीकार न कर सके। उन्होंने अपने कुछ शिष्यों को साथ लिया और संमेलन में भाग लेने पेरिस पहुंचे।

चित्र : राणा

संमेलन में विश्व के कोने-कोने से विख्यात संगीतज्ञ आये हुए थे। उन सब के आवास, भोजन तथा अन्य सुख-सुविधाओं के प्रति संमेलन के अधिकारी काफी सतर्क थे। इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया था कि अभ्यागतों को किसी प्रकार का कष्ट न हो। उन्हें काफी बड़ी रंगीन रेशमी परिचय-पट्टिकाएं दी गयी थीं, जिनसे उन्हें आसानी से पहचाना जा सकता था। और वे किसी भी स्थान पर बेरोकटोक जा सकते थे। पेरिस नगर के अच्छे से अच्छे भोजनालय, संगीतशालाएं, नृत्य एवं नाट्यमंदिर आदि के द्वार उनके लिए निःशुल्क खुले थे। वे नगर के जिस मार्ग से गुजरते, वहीं लोग उनके स्वागत में तालियां बजाने लगते।

किंतु सुक्याती के शिष्य बहुत दुःखी थे; क्योंकि उन्हें ये सब सुविधाएं प्राप्त नहीं थीं। सुक्याती तथा उनके शिष्योंको एक मामूली कमरे में ठहराया गया था। उन्हें वह परिचय-पट्टिका भी नहीं मिली थी। अपने मामूली-से वस्त्रों में जब वे कहीं जाते, कोई उन्हें पहचानता तक न था। भोजन, जलपान आदि के लिए भी उन्हें कष्ट उठाना पड़ रहा था। कभी कोई पूछता, कभी न पूछता। कभी वे भोजन कर पाते और कभी यों ही रह जाते। लेकिन इतना सब होते हुए भी सुक्याती के अधरों पर पेरिस पहुंचने के क्षण से ही जो एक स्निग्ध मुस्कान थिरक रही थी, जरा भी फीकी नहीं पड़ी।

गुरु की इस मुस्कान पर शिष्य चकित
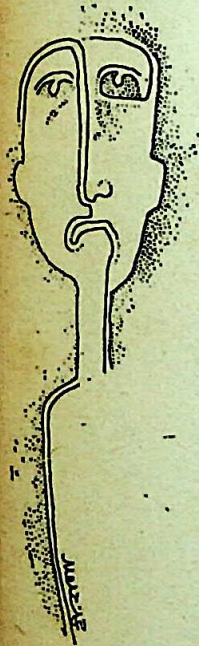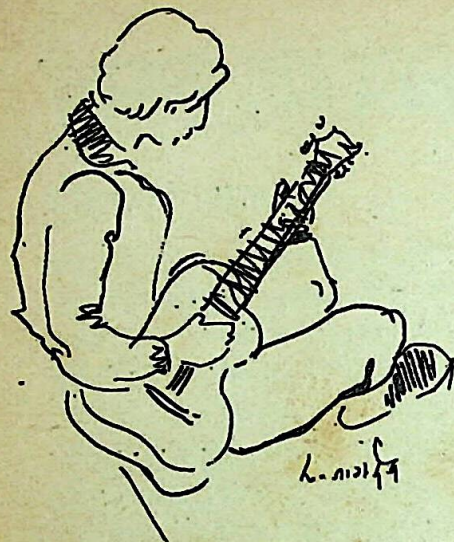
स्केच : सचिदा नागदेव

थे। जिन क्षणों में मनुष्य को रोष करना चाहिये, उनमें गुरु हर्षित थे! गुरु ने वहां की व्यवस्था पर कभी कोई दोष नहीं मढ़ा, किसी कार्यकर्ता पर अपना असंतोष नहीं प्रकट किया।

एक शिष्य से रहा नहीं गया। उसने सुक्यातो से पूछ ही लिया—'गुरुजी, हम लोगों की इतनी उपेक्षा हो रही है। क्या मैं आपके लिए एक परिचय-पट्टिका प्राप्त कर लूं?'

शिष्य का आशय समझकर सुक्यातो बोले—'नहीं, हम यहां आदर-सत्कार पाने के ही उद्देश्य से तो आये नहीं हैं। वह मिलता तो ठीक था; नहीं मिल रहा है, तब भी किस बात की चिंता!'

उनके इस उत्तर से शिष्यों को संतोष नहीं हुआ। वे भी अन्य अतिथियों की भांति मनोरम पेरिस नगरी में विहार करना, वहां के सुखों का उपभोग करना चाहते थे। एक विश्वविख्यात संगीतज्ञ के साथ रहते हुए भी वे इतने उपेक्षित थे। उनका हृदय रोष से भर उठा। किंतु अपने गुरु के प्रति उनकी श्रद्धा इतनी गहरी थी कि असंतोष का एक भी शब्द उन्होंने अपने ओंठों पर न आने दिया।

संमेलन आरंभ हुआ। श्रोताओं से पंडाल खचाखच भरा हुआ था। पेरिस के संगीत-प्रेमियों की भीड़ तो थी ही, दुनिया के दूर देशों के हजारों विज्ञ श्रोता वहां पहुंचे थे।

एक के बाद एक कलाकार ने अपना संगीत प्रस्तुत किया। संमेलन-स्थल गुण-ग्राहक श्रोताओं की तालियों से गूंजता रहा। सबसे अंत में सुक्यातो को अवसर प्राप्त हुआ।

सुक्यातो ने अपनी वायलिन संभाली। वे क्षण-भर नेत्र बंद करके ध्यानमग्न किसी अन्य लोक में विचरते रहे। फिर अचानक वायलिन से एक अत्यंत मार्मिक स्वर प्रस्फुटित हुआ। श्रोता एक अनंत खामोशी में डूब गये, एक करुण रागिनी ने उन्हें अपने में लपेट लिया।

सुक्यातो ने एक कलाकार की मनःस्थितियों का चित्र स्वरों में निरूपित किया। कलाकार साधना की अवस्था में कितने संघर्षों से गुजरता है; सुख-दुःख उस पर कितने घात-प्रत्याघात करते हैं; समाज उसकी कितनी उपेक्षा करता है। फिर भी वह साधनापथ पर अविचल बढ़ता ही जाता है। उसके पांव लड़खड़ाते हैं, वह गिरता

अप्रैल

है; किंतु संभलकर फिर खड़ा होता है तथा और उत्साह बटोरता है। लगता है, उसका अस्तित्व समाप्त हो जायेगा। किंतु नहीं, वह कलाकार है; उसे समाज के लिए जीना है, उसके रक्त की एक-एक बूंद लोकमंगल के लिए समर्पित है! और एक दिन वह अपने लक्ष्य पर पहुंचकर ही रहता है—चरम आनंद की प्राप्ति। और सुक्यातो की वायलिन खामोश हो जाती है।

श्रोता-समूह पता नहीं किस भावना-लोक में डूब गया था। वहां श्रोता नहीं थे, संमेलन का वह विशाल मंच नहीं था, वायलिन बजाते सुक्यातो नहीं थे। कोई नहीं था, सब कुछ निःशेष हो चुका था। केवल वायलिन का स्वर था। और स्वर के थमते ही जैसे कोई चीज टूटकर बिखर गयी, अनंत आकाश की शांति को मथता हुआ कोई हिमालय जैसे प्रशांत सागर के वक्ष पर टूट पड़ा हो।

सुक्यातो से हाथ मिलाने के लिए उमड़ती श्रोताओं की भीड़ पर नियंत्रण पाना कठिन हो गया। वे और उनके शिष्य अभिनंदन की पुष्पमालाओं से लद गये। फूलों के बीच सुक्यातो का मुख मुश्किल से दिखाई पड़ रहा था और उस मुख पर खेल रही थी वही स्निग्ध मृदुल मुस्कान—हार-जीत, सुख-दुःख, मान-अपमान से निर्लिप्त।

शिष्यों के लिए अब वह मुस्कान एक पहेली नहीं थी।

—२८९, ममफोर्डगंज, इलाहाबाद

★

विश्व का प्रथम हृदय-प्रतिरोपण करने के बाद डा. क्रिश्चियन बर्नार्ड को इतनी अधिक सभाओं-संस्थाओं में भाषण देने बुलाया जाने लगा कि भाषण देते-देते वे थक ऊब गये। एक दिन कहीं भाषणार्थ कार में जा रहे थे कि उन्हें एक बात सूझी। अपने शोफर से बोले—'आज-भर के लिए तुम सर्जन बन जाओ, मैं शोफर बन जाता हूं। मेरी जगह तुम आज भाषण देना।' शोफर तैयार हो गया। दोनों ने कपड़ों की अदला-बदली कर ली। बर्नार्ड श्रोता-वर्ग में पीछे बैठ गये। शोफर मंच पर आसीन हुआ। डा. बर्नार्ड के सारे ही भाषण उसने सुने थे, चतुर भी वह काफी था—खासा अच्छा बोल गया।

भाषण की समाप्ति पर प्रश्न शुरू हुए। उसने काफी संतोषजनक उत्तर दिये। श्रोताओं में अमरीका के एक नामी सर्जन थे, उन्होंने शरीर द्वारा बाह्य कोशिकाओं के अस्वीकार के विषय में एक जटिल-सा सवाल पूछ लिया। शोफर भी कम न था। बोला—'आप जैसे महान सर्जन से ऐसे बचकाने सवाल की आशंका मुझे न थी। इसका उत्तर तो मेरा शोफर भी दे सकता है!' यह कहकर उसने शोफर की पोशाक में पीछे की पंक्ति में बैठे डा. बर्नार्ड को इशारा किया और डा. बर्नार्ड ने खड़े होकर प्रश्न का उत्तर दे दिया।

डा. बर्नार्ड ने बंबई में एक सार्वजनिक भाषण में यह सब सुनाया। बाद में जब उनसे पूछा गया कि क्या सचमुच यह सब हुआ था, वे हंस दिये। बोले—'यह तो मजाक था।'

★

चित्र : विष्णु भटनागर

मुहल्ले वालों को एक भी दिन याद न था, जब राजा साहब और ख्वाजा साहब की वीवियों में तू-तकार न हुई हो। जिस दिन इस तू-तकार में देर हो जाती, वहमी किस्म के लोग डर के मारे बार-बार आसमान की ओर देखने लगते कि कहीं टूट न पड़े। दोनों बेगमों के बीच झगड़ा न होना ऐसा ही था, जैसे सुवह हो जाये और सूरज न निकले!

राजा साहब और ख्वाजा साहब के घर पास-पास थे। एक की दीवार में कील गाड़ी जाती तो दूसरे की दीवार का पलस्तर उखड़ जाता। यही कारण था कि एक दिन दुवारा झगड़ा हो गया। रोज का झगड़ा तो दोपहर में ही हो चुका था; मगर फिर शाम को हल्का-सा भूचाल आ गया और बेगम राजा यह समझीं कि बेगम ख्वाजा ने पास के कमरे में पलंग घसीटा है। झपटकर खिड़की में मुंह डाला और उन्हें वह बेभाव सुनायीं कि बेचारी भूचाल को भी भूल गयीं। फिर जब पतियों ने अपनी-अपनी बेगमों से कहा कि अरे, क़लमा पढ़ो, भूचाल आ रहा है, तब जाकर बेगम राजा सारा किस्सा समझीं। वहीं ढब से बैठ गयीं; क्योंकि उन्होंने सुना था कि भूचाल में अगर कोई लड़खड़ा जाये और गिर पड़े तो उसे मिरगी का मर्ज हो जाता है। उस समय बेगम ख्वाजा ने झेंपी और डरी हुई बेगम राजा

को ऐसी नफरत से देखा जैसे वे उन पर थूकना चाहती हैं, पर बेबस हैं कि मुंह गले तक खुश्क हो चुका है।

न तो राजा साहब से बेगम ख्वाजा और न ही ख्वाजा साहब से बेगम राजा परदा करती थीं। कई बार ऐसा हुआ कि राजा साहब शेव बनाने बैठे तो ब्लेड खत्म पाकर उठे और खिड़की में जाकर पुकारा—'ख्वाजा साहब! एक ब्लेड तो दे दीजिये।' और ब्लेड बेगम ख्वाजा ने राजा साहब तक पहुंचाया। इसी तरह कई बार ख्वाजा साहब को बूटपालिश या गरम पानी की बोतल की जरूरत पड़ी और उन्होंने राजा साहब को पुकारा, तो बेगम राजा ने वह चीज ख्वाजा साहब के हवाले कर दी।

इसके बावजूद अपने-अपने घरों के अंदर पतियों की उपस्थिति में भी बेगमें ऐसे झन्नाटे से झगड़तीं कि बात 'मैं तुझे अपनी आंखों से बेवा होते देखूं!' तक जा पहुंचती। मगर फिर कुछ देर के बाद राजा साहब खिड़की में जाकर पुकारते—'क्यों ख्वाजा साहब, वॉक को चलियेगा?' और ख्वाजा साहब किसी परले कमरे से जवाब देते—'जरूर चलेंगे। बस मैं हाजिर हुआ।' और फिर मुहल्ले वाले, जो कुछ देर पहले बेगम राजा और बेगम ख्वाजा की लड़ाई सुन चुके थे, देखते कि राजा साहब और ख्वाजा साहब हाथ में हाथ डाले किसी बात पर हंसते जा रहे हैं।

ऐसा लगता था कि राजा साहब और ख्वाजा साहब के लिए उनकी बेगमों की लड़ाई दिनचर्या का अंग बन चुकी थी, और जिस तरह वे छान-बूरा खरीदने वाले से यह कहने का हक नहीं रखते कि यों चिंघाड़कर आवाज मत लगाया करो, इसी तरह अपनी बेगमों के झगड़े में हस्तक्षेप करना भी बेकार समझते थे।

एक बार मुहल्ले के एक बुजुर्ग ने दोनों को रोककर कहा था—'आप भले लोग हैं। अपनी बेगमों को लड़ाई-झगड़े से रोकिये। पूरा मुहल्ला बदनाम हो रहा है।' इस पर राजा साहब ने बहुत आदर से उनसे कहा था—'यह औरतों का मामला है। हम-आप उनके मामले में दखल देंगे तो अच्छे नहीं लगेंगे। आप अगर अपनी बेगम साहिबा को उनके पास भेजकर उन्हें समझा सकें, तो सुब्हान अल्लाह! यह कोई ऐसी खास बात नहीं। पास-पास रखे दो बरतन भी आपस में टकराकर बज उठते हैं। फिर ये दोनों तो माशाअल्लाह जीती-जागती औरतें हैं!' और ख्वाजा साहब ने फौरन जोड़ा था—'जीती-जागती और बोलती-चालती औरतें!' इस

उर्दू हास्य-कथा : अहमद नदीम कासमी

पर दोनों हंस पड़े थे और मुहल्ले के बुजुर्ग भी अपनी मुस्कराहट छिपाने में असफल होकर बच्चे की तरह शरमाकर वापस लौट गये थे।

जब दोनों बेगमें झगड़ती थीं, तो उनकी बातों में दोषारोपण बहुत कम और बद-दुआएं बहुत ज्यादा होती थीं। शायद यही कारण था कि मुहल्ले वालों को झगड़े का ज्यादा लुत्फ नहीं आता था। मर्दों ने तो सिरे से दिलचस्पी लेना ही छोड़ दिया था। पर औरतें बेगम ख्वाजा या बेगम राजा की पहली ही आवाज पर लपककर छतों पर चढ़ जातीं या खिड़कियों में से आधी-आधी बाहर निकल आतीं। मगर जब झगड़ा खत्म होता तो यों उदास चेहरे लिये पलटतीं, जैसे सोने की तलाश में पहाड़ खोदकर खाली हाथ आ रही हों। उन्हें यह सोचकर बहुत दुःख होता कि न तो बेगम राजा ने बेगम ख्वाजा के किसी आशिक की निशानदेही की और न बेगम ख्वाजा ने बेगम राजा को ताना दिया कि शादी से पहले उसका इगवा हुआ था। यह समझिये कि मुहल्ले की औरतों को यह झगड़ा मजबूरन सुनना पड़ता था—बिलकुल उसी तरह जैसे मरीज बिना नमक-मिर्च का खाना खाने पर मजबूर होता है।

यह झगड़ा जिस तरह अकारण शुरू होता था, उसी तरह अकारण खत्म भी हो जाता था। मसलन, बेगम राजा के बेटे की गेंद उछलकर खिड़की में से गुजरी और बेगम ख्वाजा की बालटी में जा गिरी। अब बेगम राजा चीख रही हैं कि बेगम ख्वाजा ने जान-बूझकर गेंद भिगो दी कि गीली गेंद मिट्टी में सन जाये और मिट्टी से बच्चे के हाथ गंदे हो जायें और उन गंदे हाथों से वह अपने कपड़े खराब कर ले और बेगम राजा को फिर से कपड़े धोने पड़ें और साबुन अलग खर्च हो, और समय अलग बरबाद हो। इधर बेगम ख्वाजा को पक्का यकीन होता था कि गेंद बच्चे ने नहीं, बल्कि बेगम राजा ने फेंकी है और ताककर बालटी ही में फेंकी है, क्योंकि नल बंद हो चुके हैं और अब पीने के पानी के लिए भिश्ती से एक मशक के लिए कहा जाये तो गजब खुदा का, एक मशक के पूरे दो आने लेता है।

बात बढ़ते-बढ़ते इस हद तक पहुंच जाती:

'अल्लाह करे, तेरा बच्चा मर जाये।'

'मेरा बच्चा खुदा का माल है, पर अल्लाह करे, पहले तेरा बच्चा मरे कि मैं अपनी आंखों से तुझे अपने ये चुड़ैलों के-से बाल नोचते देखूं।'

'कभी खिड़की में से कूदकर आऊंगी और तेरी जबान पर अंगारा रख दूंगी।'

'इससे पहले तेरी टांगें नहीं तोड़ दूंगी!'

'टांगें टूटें तेरी और साथ ही तेरे होतों-सोतों की।'

दोनों एक दूसरे को घूरकर देखतीं। फिर दोनों गुस्से से रोने लगतीं और कुछ देर के बाद दोनों अपने घर के कामों में व्यस्त हो जातीं।

झगड़े की शुरूआत अक्सर बेगम राजा की ओर से होती थी। बेगम ख्वाजा का

अप्रैल

कसूर सिर्फ यह होता कि वे जैसे उस शुरूआत के इंतजार में होती थीं। उन्होंने एक बार भी बेगम राजा को नजरअंदाज न किया।

मगर एक दिन अजीब घटना हुई। बेगम ख्वाजा आंखों में खून उतारे खिड़की में आयीं और बोलीं—'ऐ बेगम साहिबा! जरा सामने तो आ।'

बेगम राजा खम ठोककर मैदान में उतरीं और वे रोज की तरह झगड़े की शुरूआत करने वाली ही थीं कि बेगम ख्वाजा ने शुरूआत कर दी। बोलीं—'तेरे लौंडे ने आज मेरे लाल की जांघ में पेंसिल चुभोयी है। बारीक सिक्का उसकी चमड़ी में घुस गया है और वह रो-रोकर जान हल्कान किये ले रहा है। मैं अगर उसके बदले में तेरे लौंडे के पेट में चाकू गाड़ दूं...... फिर?'

'फिर यही कि मैं तेरा कलेजा कच्चा चबा लूंगी!' बेगम राजा ने कारोबारी अंदाज में जवाब दिया।

'गजब खुदा का! 'बेगम ख्वाजा बिगड़ीं—'मैं कहती हूं, तेरे लौंडे ने मेरे लाल को जख्मी कर दिया है और इंसाफ देखो लोगो, कहती है मैं तेरा कलेजा चबा लूंगी।'

'अरी! तू मेरे बेटे के पेट में चाकू गाड़ेगी तो मैं तेरा कलेजा नहीं चबा लूंगी तो क्या तेरी दावत करूंगी?' बेगम राजा कड़कीं—'पर तेरा बेटा है कहां? जरा दिखा तो सही। उसे कोई खराश भी आयी है कि तू रोजमर्रा की आदत पूरी करने को बक-झक कर रही है!'

एकाएक बेगम ख्वाजा पलटीं और परले कमरे से अपने बच्चे को उठाकर खिड़की में बैठा दिया। रो-रोकर उसने अपनी आंखें सुजा ली थीं। फिर बेगम ख्वाजा ने उसकी जांघ पर से पाजामा हटाया और बोलीं—'ले देख ले अपनी मनहूस आंखों से।'

'आंखें तो मनहूस होंगी तेरे बाप-दादा की।' बेगम राजा ने कहा और फिर खिड़की के पास आकर बोलीं—'पर जरा देखूं तो सही।'

फिर न जाने क्या हुआ कि वे हैरान-परेशान हो गयीं। एक क्षण यों ही चुपचाप खड़ी रहीं। फिर उंगली से बच्चे की जांघ के उस स्थान को छुआ, जहां नुकीली पेंसिल ने चमड़ी उधेड़ दी थी। खून रिसकर जम गया था और आस-पास सुर्खी का दायरा-सा बन गया था। बच्चा उंगली के स्पर्श से बिलबिला उठा तो बेगम राजा ने दोनों हाथ बढ़ाकर उसे उठा लिया और अपने कूल्हे पर बैठाकर थपकाने लगीं और रो-रोकर कहने लगीं—'आग लगे उन हाथों को जिन्होंने तेरे फूल-से जिस्म को उधेड़ा है। आने दे कौसर को, तेरे सामने ऐसा मारूंगी, ऐसा मारूंगी कि तबीयत हरी हो जायेगी।' फिर वे बच्चे के आंसू पोंछने लगीं और उसे चूमने लगीं—'तू जुग-जुग जिये। तू सेहरे बांधे। मैं तो

चित्र : नवनीत

कहती हूं, तू ख्वाजा खिजर की उमर पाये। बस अल्लाह करे, तेरी मां मर जाये।'

यह कहकर उन्होंने बेगम ख्वाजा की ओर देखा। वे भी खड़ी अपने आंसू पोंछ रही थीं, और अपने मरने की बददुआ सुनकर आंसुओं में मुस्कराने भी लगी थीं।

इतने में बेगम राजा का बेटा आ गया। उसे देखते ही बेगम राजा उस पर झपटीं और इकट्ठे चार-पांच थप्पड़ इस झन्नाटे के मारे कि बच्चे की चीखें पूरे मुहल्ले में गूंज गयीं। फिर वे रसोईघर से एक लकड़ी उठा लायीं और बोलीं—'तूने इस बच्चे को एक जख्म दिया है। आज मैं तुझे ऐसे ही एक सौ जख्म दूंगी, ताकि तुझे उम्र भर याद रहे कि दूसरों के जिस्म में भी जान होती है।'

बेगम राजा का बेटा मां के तेवर और लकड़ी देखकर चीखा और फिर खिड़की में से बेगम ख्वाजा गरजीं—'यह लकड़ी रख दे, वरना मुझसे बुरी कोई न होगी।'

'क्यों?' बेगम राजा को बेगम ख्वाजा की यह दखलंदाजी बहुत बुरी लगी—'तू कौन होती है मुझे रोकने वाली? मैं इसे जरूर सजा दूंगी।' फिर वे अपने बच्चे के पास जाकर कड़कीं—'फिर मारेगा किसी को?' और जवाब सुनने से पहले उन्होंने लकड़ी बच्चे की पीठ पर दे मारी।'

अचानक बेगम ख्वाजा खिड़की में से कूदकर आयीं और बेगम राजा के बिलखते हुए बेटे को सीने से लगाकर एक ओर खड़ी हो गयीं—'कौन-सा गजब आ गया आखिर! जरा-सी पेंसिल ही तो लगी है।'

'यह जरा-सी पेंसिल है?' बेगम राजा ने ख्वाजा के बेटे की जांघ पर से पाजामा उठाते हुए कहा। फिर जख्म की बढ़ती हुई सुर्खी देखकर रोती हुईं बच्चे से लिपट गयीं और उसे सीने से लगाकर उठ खड़ी हुईं।

आमने-सामने खड़ी बेगमों को एकाएक अहसास हुआ कि वे एक दूसरे के बच्चों को सीने से चिपकाये हुए रो रही हैं। इस स्थिति का रहस्योद्घाटन उन पर एक साथ हुआ और दोनों को एक साथ हंसी आ गयी। फिर बेगम ख्वाजा हंसी रोककर बोलीं—'हाय! हम भी कैसी पागल हैं!'

'पागल होगी तुम!' बेगम राजा बोलीं और साथ ही जोर का कहकहा लगाया। बेगम ख्वाजा ने उस कहकहे का साथ दिया।

फिर दोनों एकदम रुक गयीं, क्योंकि दोनों बच्चे अपनी मांओं को हंसता देखकर बेइख्तियार हंसने लगे थे।

अनुवाद: सुरजीत

अमरीका के नीग्रो हास्य-अभिनेता डिक ग्रिगरी एक बार किसी रेस्तरां में खाना खाने बैठे ही थे कि तीन गोरे आदमियों ने उन्हें घेर लिया और कहा—'हब्शी, हम तुझे यह मुर्गा नहीं खाने देंगे और जैसा तू इसके साथ करेगा, वैसा ही हम तेरे साथ करेंगे।'

ग्रिगरी ने चट मुर्गे के मांस को चूम लिया।

—सुरेश पांडेय

★

एक अविस्मरणीय प्रसंग

चंदू का भाग्य

डा. श्री. य. भागवत

[निवृत्त लेफ्टिनेंट कर्नल]

हमारा फौजी जवान मोर्चे पर काल की तरह विकराल होता है; किंतु उतना ही कोमल और करुणालु भी होता है। इसे सिद्ध करने वाला द्वितीय विश्वयुद्ध का एक प्रसंग मुझे वीरचक्र-संमानित (सेवा-निवृत्त) कर्नल रेगे ने सुनाया था, जिसे मैं लगभग उन्हीं के शब्दों में यहां प्रस्तुत कर रहा हूं :

बलूच रेजिमेंट की हमारी १६ वीं पलटन में पहली पठान कंपनी थी; दूसरी पंजाबी मुसलमान कंपनी थी; चौथी जाट कंपनी थी; और तीसरी थी हमारी डोगरा कंपनी।

ईद के लिए हमारी कंपनी ने राशन के दो बकरे मुसलमान कंपनी को सौगात में दिये। बदले में आज दो मेढ़े उनकी ओर से हमें मिले। दशहरा करीब था, इसलिए उन्हें काटा नहीं, रख छोड़ा। सोचा कि नवरात्र की अष्टमी को इन्हें बलि चढ़ाकर दशहरे पर पूरी बटालियन के सभी अधिकारियों को बुलाकर दावत की जाये। मैं उस समय कंपनी का कमांडर था।

मगर जाने क्या हुआ कि उनमें से एक मेढ़ा हमारी कंपनी के बलि देने वाले सिपाही राइफलमैन रिसालसिंह को इतना भा गया कि वह उसे वधस्थान पर ले जाने के बजाय दूर हटा ले गया और उसे मरने से बचा लिया। सूबेदार ब्रह्मानंद ने उससे बड़ी मिन्नत की; पर वह उस मेढ़े को काटने को तैयार नहीं हुआ। हमने अन्य दो कंपनियों से उस मेढ़े की अदला-बदली करनी चाही तो उत्तर मिला—'जिस मेढ़े को तुम मारने को तैयार नहीं हो, उसे हम कैसे मारेंगे ?' जाट कंपनी तो पूर्ण शाकाहारी ही थी, सो उससे पूछना निरर्थक था। (राशन के बकरे को काटने का काम ऐच्छिक होता है, सो कोई जवान उसे काटने से इन्कार करे तो उसे आज्ञाभंग का अपराधी नहीं समझा जाता।)

उस अष्टमी को देवी की बलि चढ़ते जो मेढ़ा बच गया, वही था 'चंदू'। चंदू उत्तरोत्तर बढ़ने लगा और सभी जवानों का प्यारा हो गया। उसे हर एक से खाने को मिलता। कभी-कभी थोड़ी रम भी मिलती और सिगरेट तो नियमित मिलती। सिगरेट को वह बड़े चाव से खा डालता था। जब कंपनी

मोर्चे पर होती, चंदू को पीछे बटालियन के हेडक्वार्टर में अथवा रिजर्व कंपनी में रखा जाता। बाकी समय, यानी कंपनी के विश्राम के दिनों में वह कंपनी में ही रहता। परेड के समय वह हवलदार-मेजर की बगल में तनकर 'सावधान' की मुद्रा में खड़ा रहता और 'प्रेजेंट आर्म' के आदेश पर आगे का दायां पांव ऊंचा कर लेता। परेड के समय कभी उसे लेंडी गिराते नहीं देखा गया।

कंपनी के निरीक्षण के लिए जब मैं, सूबेदार साहब और हवलदार-मेजर एक तंबू से दूसरे तंबू की ओर बढ़ते, वह दौड़कर अगले तंबू के दरवाजे पर खड़ा हो जाता और जब हम पास पहुंचते तो पैर उठाकर 'प्रेजेंट आर्म' की सलामी देता। दौड़कर जाते समय ऐसा लगता कि वह जान-बूझकर अपने गले और पैरों के घुंघरुओं को बजा रहा है। परन्तु सुबह-शाम 'स्टैंड टू' कवायद के समय उस तरह की आवाज न करते हुए एक मोर्चे से दूसरे मोर्चे तक फिरता था वह। जैसे जानता हो कि आवाज की, तो जापानी शत्रु सुन लेगा!

जब-जब जापान के विरुद्ध लड़ाई में हमारी जीत होती, अथवा किसी जवान को बहादुरी के लिए पदक मिलने की घोषणा होती, चंदू की खूब मौज होती। देवी की पूजा के साथ उसे भी फूलमालाओं से सजाया जाता और हलवा-पूड़ी या खीर-पूड़ी का प्रसाद भी मिलता। पूजा के समय चंदू हमारे पंडित महाराज के पास शांत बैठा रहता और सारी पूजा एकटक देखा करता।

उसका नियमित विश्रांतिगृह था हमारा

सिंगापुर में जापानियों का आत्मसमर्पण : रोनाल्ड सर्ल

क्रमशः

'लंगर' यानी कंपनी की पाकशाला। परंतु साग-सब्जी या अनाज को खराब करना अथवा बिना अनुमति के किसी चीज में मुंह मारना वह नहीं जानता था। वह मस्ती भी खूब करता था, पर सभी जवान उसकी हिफाजत का पूरा खयाल रखते। एक-दो बार तो दुश्मन की गोली का शिकार होने की नौबत आ गयी उसकी, मगर ठीक समय पर उसे मोर्चे से हटाकर बचा लिया गया।

हमारी डोगरा कंपनी 'चार्ली' कंपनी के बजाय 'चंदू' कंपनी कहलाने लग गयी। 'चंदू' कंपनी जब लड़ाई लड़कर विश्राम करने के लिए पीछे लौटती, तब उसका प्रत्येक सिपाही पहले चंदू से मिलकर उसे सहलाता-पुचकारता, फिर देवी को नमस्कार करता; मानो चंदू ही देवी का वरद हस्त और उन सबके भाग्य का रक्षक हो। चंदू भी प्रत्येक को अपने सिर का धक्का देकर प्रेम का प्रदर्शन करता।

जापान की पराजय के बाद हमारी पलटन के मलय से स्वदेश लौटने के दिन करीब आ गये। हमारे हवलदार-मेजर और सभी जवानों के सामने एक भय उपस्थित होने लगा। जहाज के नियमों के अनुसार कोई भी जानवर जहाज पर नहीं ले जाया जा सकता था। सभी घर लौटने की कल्पना से आनंदित थे, परंतु चिंता से भी ग्रस्त थे। चंदू का क्या किया जाये, यह एक सवाल था। इतने दिनों तक कंपनी के भाग्य-विधाता गौरव-प्रतीक (मेस्काट) के रूप में अपने प्राणों से अधिक सावधानी से रक्षित चंदू को बलि कर देने की बात तो कल्पना से परे थी। उसे किसी को दे देना भी संभव न था। परंतु नियमों के सामने कोई चारा न था। इसलिए मलय के एक किसान के पास उसे छोड़ देने का निश्चय हुआ—हुआ क्या, करना पड़ा। सबकी आंखें गीली हो गयीं।

स्टीमर पर चढ़ने की हड़बड़ी के बाद सभी को चंदू की याद आने लगी। डेक पर ताश खेलते-खेलते जवान चंदू के बारे में बोलने लग जाते। मगर हर बात धीरे-धीरे इतिहास बनकर विस्मरण होने लगती है; सो चंदू को धीरे-धीरे भुलाया जाने लगा। हमारा जहाज मद्रास आ पहुंचा और सभी घर के आकर्षण में भूतकाल को शीघ्र बिसराने लगे। यदि चंदू भी घर आया होता तो अच्छा था; पर कोई उपाय न था। क्या 'लांस-नायक चंदू' के नाम से उसे जहाज पर चढ़ाया जा सकता था? यह विचार एक-दो बार मेरे मन में उठा।

चार-पांच दिन की रेलयात्रा के बाद पलटन को उत्तर प्रदेश की एक छावनी में कुछ समय रुकना था, फिर बारी-बारी से सभी को अपने घर जाने की छुट्टी मिलनी थी। मद्रास के ट्रांजिट कैंप में अब जवानों के मन में उस छुट्टी के विचार उठने लग थे। वे बाजार में घूम-फिरकर अपने भाई-बहनों व बीवी-बच्चों के लिए चीजें खरीदने लगे थे। मैं भी बाहर निकला।

दूसरे दिन शाम को कंपनी की अस्थायी छावनी में मैं धीरे-धीरे टहल रहा था कि

गुरंगुरं की आवाज सुनाई देने का आभास हुआ। क्षण-भर को ऐसा लगा कि अब चंदू आकर मेरी जांघ पर अपना सिर रगड़ने लगेगा। मैं चलने लगा तो वही गुरंगुरं की आवाज और साथ ही जांघ पर धक्का ! अरे, कहीं मैं सपना तो नहीं देख रहा हूं ? पीछे मुड़कर देखा तो आश्चर्य से विमूढ़ होकर देखता ही रह गया। चंदू मेढ़ा सामने हाजिर–कुछ हंसता हुआ-सा ! जैसे कह रहा हो–'क्यों साहब, आपने सोचा होगा कि मैं पीछे ही रह जाऊंगा।' सिर रगड़कर शांत होने पर एक पैर पर खड़े होकर उसने सेल्यूट किया। फिर 'सावधान' की मुद्रा में खड़ा हो गया। अब मुझे उसकी उपस्थिति पर विश्वास हो गया।

इतने में हवलदार दुलीचंद आ गये और मूंछों के नीचे मुस्कराते हुए बोले–'हां साहब, चंदू ही है। ऐन वक्त पर यह हमें छोड़ नहीं रहा था और इसे पीछे छोड़ना हमारे लिए संभव नहीं हो सका, सो लाना ही पड़ा।'

'पर जहाज पर इसे कैसे चढ़ाया ? कहां रखा ? यह चुप कैसे रहा ? खाने को क्या दिया और कैसे दिया ?' आनंद, आश्चर्य, अचंभा, कौतुक, अगर पोल खुल जाती तो मेरा क्या हुआ होता इस खयाल से उत्पन्न हल्का भय आदि की मिली-जुली भावनाओं के आवेश में मैंने प्रश्नों की झड़ी लगा दी।

दो गिलासों में थोड़ी-थोड़ी जमइका रम लेकर सूबेदार साहब आये और मुझसे बोले–'राम-राम साहब ! चंदू से मिलने की खुशी में !' गिलास उठाकर रम का घूंट भरा और उनसे भी वही प्रश्न पूछे। तब तक तमाम जवान और छोटे अधिकारी चारों ओर से अपने-अपने रम के मग लिये इकट्ठे हो गये थे।

'ऐसा हुआ साहब', हवलदार बोला–'कि मोटू रसोइया इसे मलय किसान के हाथ सौंपने के लिए ले चला। पर रास्ते में यह जो छिटककर भागा तो सीधे कंपनी के लंगर में आकर ही रुका। अपना २५० पौंड का वजन लिये मोटू उसका पीछा कैसे करता बेचारा ! अंत में उसने सामान भरने की तीन थैलियां काटकर एक बड़ा थैला सिया और उसमें चंदू को ठूंसकर कंधे पर लटकाकर जहाज पर ले आया। सीढ़ी चढ़ते समय जहाज के अफसर को थैले का धक्का लगा। मगर मोटू का आकार देखकर उसने सोचा कि शायद उसी का धक्का लगा होगा। उसने आंखें तरेरकर कहा–"गो ऑन फैटी; डोन्ट ब्लाक द गैंगवे।" (मुटल्ले, आगे जा;

अप्रैल

चित्र : सतीश चव्हाण

चलने का रास्ता न रोक।) "हां सा'ब !" कहकर मोटू हथेली पर जान और पीठ पर चंदू को लिये जहाज में जो गायब हुआ तो मद्रास बंदरगाह में नीचे उतरने तक दिखाई नहीं दिया। पूरी यात्रा में चंदू मोटू के पास ही रहा। वह खाता-पीता और चुप बैठा रहता। यह सही है कि जब हमें बात मालूम हो गयी तो रात में सबके सो जाने पर बारी-बारी से हम लोग उसे डेक पर घुमाते थे—यहां उतरने पर हमने उसे घुंघरू फिर से पहनाये।'

सभी को आश्चर्य हुआ कि छावनी में धमा-चौकड़ी करने वाला चंदू जहाज पर शांत कैसे रहा। शायद उसे पता चल गया था कि उसकी यह यात्रा अवैध है और गड़बड़ करने पर बच्चू का बलिदान तो नहीं, पर समुद्र-समाधि जरूर हो जायेगी।

फिर चंदू उसी तरह से चुपचाप रेलगाड़ी में बैठकर दुलीचंद हवलदार के संग कांगड़ा में उसके गांव पहुंचा। समुद्र-यात्रा के पाप-प्रक्षालन के लिए उसने गंगास्नान भी किया। वह बहुत समय तक जिया और उसने बहुत-से बच्चे भी पैदा किये। अंत में जब वह मरा, उसका अग्नि-संस्कार किया गया होगा और उसकी समाधि भी बनायी गयी होगी, ऐसा मेरा अनुमान है। संभव है, उसकी अस्थियों को हरिद्वार भेजा गया हो।

जातक-कथाओं में शायद यह कथा जोड़ी जा सकती थी कि 'बुद्धदेव जब मेढ़े के रूप में बोधिसत्त्व थे, तब......' इत्यादि। उसे पढ़ने पर लगता कि वह धर्मात्मा मेढ़ा यही चंदू रहा होगा। पूर्वजन्म के किस सुकृत के कारण रिसालसिंह के मन में चंदू के प्रति दया उपजी? किस पुण्यकृत्य के कारण चंदू युद्ध की मारकाट से बचकर हमारा प्रिय बन गया? किस पुण्यकार्य के कारण मोटू रसोइये को उसे जहाज पर लाने की सद्बुद्धि हुई और युक्ति सूझी? जहाज पर किसने चंदू को होशियारी सिखायी? ये सभी प्रश्न उठते हैं और एक ही उत्तर 'किस्मत' में विलीन हो जाते हैं।

अनेक सेनापति ऐसा मानते रहे हैं कि बुद्धिमत्ता, क्रियाशीलता, कार्यदक्षता, उमंग, शारीरिक और मानसिक दृढ़ता, प्रशिक्षण, अनुभव, प्रत्युत्पन्न बुद्धि, प्रसंगोचितता, कार्यप्रियता, मनोबल आदि गुणों के साथ पूर्वजन्म का संचित भाग्य और ईश्वरनिष्ठा, ये दो गुण भी कार्यसिद्धि के लिए अत्यावश्यक हैं। किसी भी अधिकारी को महत्त्वपूर्ण युद्ध-कार्य सौंपने के पूर्व उसके गुणों का भरोसा हो जाने पर सेनापति पूछता है—'क्या यह भाग्यवान है?' भाग्य क्या है? कर्मफल और ईश्वरनिष्ठा की परिणति। चंदू हमारे भाग्य का संरक्षक, कार्यशीलता का लक्ष्य और कर्मफल का प्रतीक था।

अनुवाद : गिरिजाशंकर त्रिवेदी

पंजाबी कहानी :

एक मोटी-सी पुस्तक

राम सरूप अणखी

रात को हम आधी रात तक बातें करते रहे। शराब की बातें, औरतों की बातें; प्यार की बातें, मोटर-साइकलों और कारों की बातें। तड़के मेरा दोस्त तो जल्दी ही उठ गया, लेकिन मैं चादर तानकर वैसे ही पड़ा रहा।

मुझे आवाज देकर वह चाय लाने चला गया। चाय के दो गिलास ले आया। वह आया तो मैं आंखें मल रहा था। हम बैठक के फर्श पर ही बैठकर चाय पीने लगे। फर्श पर दरी बिछी हुई थी। गिलास में से गरम चाय का घूंट भरकर मैंने गिलास नीचे दरी पर रखना चाहा। पर मैं एकदम झिझक गया, कहीं चाय बिखर न जाये और दरी खराब न हो जाये। कंवरजीत–यानी मेरे दोस्त–ने एक कोने से एक मोटी-सी पुस्तक उठायी और उसे बीच में रखते हुए बोला–'इस पर रख लो गिलास, समझ लो मेज है!' फिर हम घूंट-घूंट चाय पीते रहे। दो घूंट भरते और गिलास उस मोटी-सी पुस्तक पर रख देते। पुस्तक चार-पांच सौ सफों से कम की नहीं रही होगी। जिल्द भी मोटे गत्ते की थी और काफी संवारकर बांधी गयी थी।

हम चाय पीते रहे और कंवरजीत रात वाली बातों का क्रम जोड़कर फिर उसी लड़की की बात छेड़ बैठा, जिसकी बात करते हुए वह अक्सर रो पड़ता है। 'चाय खत्म करो जल्दी से चुपचाप, नहीं तो अभी फिर सिसकने लग जाओगे।' मैंने मीठी-सी झिड़की दी, क्योंकि मुझे जल्दी बस पकड़कर वापस गांव जाना था।

हमने चाय पी ली थी।

मैं एकदम उठा और तौलिया लेकर गुसलखाने में नहाने चला गया। देखा तो नल में पानी नहीं था। वापस चला आया–'पानी तो है नहीं। पिछले दिनों की कोई और बात ही सुनाओ......' मैंने कंवरजीत से कहा।

'बात?' वह कुछ याद-सा करते हुए बोला–'बात भी सुन लो। लड़ाई के दिनों की है। उन दिनों की, जिन दिनों पाकिस्तान से हमारी लड़ाई चल रही थी।'

कंवरजीत पालथी मारकर बैठ गया। उसने बताया :

यहां पटियाला का एक रिटायर्ड कर्नल है। वह हमारे वर्कशाप में अपनी गाड़ी ठीक करवाने के लिए आया। मुझे पहले भी वह

आगे

काफी अच्छी तरह जानता था। मैंने पूछा—'कर्नल साहब, किधर की तैयारी है ?' उसने बताया कि वह फ्रंट देखने जा रहा है। मैंने कहा—'मैं भी चलूं ?' उसने बताया कि हर आदमी वहां नहीं जा सकता। मेरे काफी अनुरोध करने पर वह मान गया कि अच्छा, तुम मेरे ड्राइवर बनकर चलो।

दूसरे दिन दुपहर को हम डुगराई पहुंच गये। उन दिनों हमने डुगराई को पूरी तरह फतह कर लिया था। हमारी फौजें डुगराई से दो मील आगे लड़ रही थीं। उस दिन कोई घमासान लड़ाई नहीं थी। सिर्फ कभी-कभार गोला चल जाता था, फिर गोलियों की ठांय-ठांय हो जाती थी।

हमने डुगराई के पास ही दायीं ओर के खेतों में एक कुएं के पास अपनी जीप रोक ली; क्योंकि कुछ बड़े अफसर वहां थे और खाने-पीने का प्रबंध भी वहीं था। कर्नल तो

चित्र : डा. विष्णु भटनागर

अपना परिचय देकर अफसरों से बातें करने लगा और मैं उस शहर की हालत, खेतों का उजड़ना, दरख्तों का टूटना, लाशों के ढेर और अजीब किस्म का दृश्य देखकर हैरानी में डूब गया। कुछ देर बाद उन्होंने कर्नल को और मुझे चाय पिलायी, टूटे हुए विस्कुट खिलाये और बुसी हुई डबलरोटियां भी।

उसके बाद कर्नल तो अफसरों और सिपाहियों से बातें करने में डूब गया, मैं उनकी कुछ बातें सुनने के बाद कुएं से परे एक पेड़ के नीचे एक फौजी के पास जा बैठा। वह सिगरेट पी रहा था। मुझे भी तलब लगी थी। हम दोनों सिगरेट पीते रहे। कर्नल के बारे में, मेरे बारे में, हमारे पटियाले के बारे में इधर-उधर की दूसरी बातें पूछकर वह मेरे साथ खासा खुल गया। उसने बताया—अकेले मैंने पांच पैटन टैंक तोड़े हैं। उस जीप पर कोई बिरला ही माई का लाल बैठता है, जिस पर से गन से पैटन टैंक तोड़ना होता है। पैटन टैंक क्या है, हिमालय पर्वत है पूरा का पूरा। जब टैंक की तोप-नली का मुंह हमारी तरफ हो जाता है और नली कांपती है, तब ऐसा लगता है कि अब कुछ भी बाकी नहीं बचेगा। न जीप, न गन और न हम। लेकिन निशाना बनाकर जब गोला मारा जाता है, तो पैटन के परखचे उड़ जाते हैं। पैटन की तोप-नली हाथी की सूंड की तरह लटक जाती है।

फिर फौजी ने बताया कि वहां वे अपनी मौत को भुलाकर लड़ते थे......या यों कह लीजिये कि अपनी जान हथेली पर रखकर।

मैंने पूछा—'तुम लोग लड़ते किस हौसले से हो ?'

उसने जवाब दिया—'यार, किसी चीज के लिए नहीं लड़ते ..... न पैसे के लिए, न तरक्की के लिए, और न देश के लिए। जाने किस हौसले से लड़ते हैं ..... बस लड़ते हैं।'

'फिर भी .....' मैंने कहा।

वह बोला—'हमारी हद से पीछे हमारे एक गांव पर पाकिस्तानी आ चढ़े। वे गांव से एक मील दूर रहते थे। हमने पूरा मुकाबला किया। गांव के बाहर निढाल हुआ मैं अपनी गन लिये पड़ा हुआ था। बीस-एक साल की एक लड़की वहां आयी। हाथ में दूध का गिलास था, बड़ा कड़े वाला! मुझे उसने दूध पिलाया और कहने लगी, भैया तगड़ा होकर लड़। फिर दोस्त, बताओ हमारी क्या रह गयी ? हम लड़ें नहीं तो क्या जहर खाकर मर जायें ? मुझे उस वक्त जोश आया ..... पंजाब की एक बेटी ने मुझे लड़ने को कहा है, और मैंने इक्के बारह पाकिस्तानियों को चित किया।'

वह फौजी और भी कई बातें मुझे सुनाता [illegible]

रहा। उसने मुझे तीन-चार भरी हुई सिगरेट की डिब्बियां भी दीं। उसकी पैंट की जेबें सिगरेट की डिब्बियों से भरी हुई थीं। उसकी कमीज की जेबों में बिस्कुटों के टुकड़े थे। वे भी उसने मुझे खिलाये। उसने पैंट के नीचे पिंडली पर एक पट्टी बांध रखी थी। उसमें उसने बताया तोला-भर अफीम बंधी हुई थी। फौजी बोला—जब हड्डियां टूटती हैं तो भई, यहां कौन बैठा होता है टांगें दाबने को, फिर तो इसी बूटी का मावा चख लेते हैं।

मैंने उस फौजी को जोर से गले से लगाया और फिर कर्नल के पास लौट आया। कर्नल अभी तक बातों में डूबा हुआ था। उसने बताया कि हम खाना खाकर लौटेंगे।

मैंने सोचा, भई चलो डुगराई के उजड़े घरों को ही देख आयें। डुगराई में तब कोई भी नहीं था। मकान सब फना हो चुके थे। मैं अकेला ही शहर की ओर बढ़ गया। फिर एक मुहल्ले की ओर चल दिया, जैसा कि मेरी तबीयत है। एक घर में मैं यों ही बेधड़क होकर जा घुसा। घर में एक चौबारा था जो कुछ-कुछ साबुत था। मैं सीढ़ियां चढ़ गया। ऊपर जाकर देखा, कमरे में एक बड़ी-सी मेज पड़ी थी। एक कोने में कुछ रजाइयां, गदेले और दूसरे कपड़ों-लत्तों का ढेर पड़ा था। कमरे में दो लाशें भी पड़ी थीं—कुचली हुई और कटी हुई। मांस के कुछ छोटे-छोटे टुकड़े इधर-उधर बिखरे हुए थे। दो छोटी-छोटी टांगें और फिर एक छोटा-सा धड़ भी मिल गया—कुचला हुआ। दो बांहें भी। एक जगह थी एक छोटी-सी खोपड़ी, जिसे पहचान पाना असंभव था। खोपड़ी को चींटियां चाट रही थीं।

ये सारी चीजें उठाकर मैंने उस बड़ी-सी मेज पर जमा कर दीं। धड़ को बीच में रखकर टांगों की जगह पर टांगें और बांहों की जगह पर बांहें जोड़ दीं। सिर की ओर खोपड़ी रख दी। पूरा बालक बन गया—एक पूरा बच्चा। मैं उसे देखकर हंस दिया और फिर एकदम अपनी गुड्डी को याद करके मेरी रुलाई फूट पड़ी।

'रो तो तू वैसे ही पड़ता है कंवर के!' मैंने बीच में ही टोक दिया।

कंवरजीत फिर बताने लगा—मैंने चौबारे की सारी अलमारियां टटोल डालीं। एक अलमारी में एक बड़ी-सी किताब पड़ी थी। मैंने उठा लिया। फिर एक कोने में पड़े रजाई-गदेलों के ढेर को मैंने जोर से ठोकर मार

दोनों पृष्ठों के चित्र : ठाकोर राणा

दी। उसमें से एक आदमी एकदम खड़ा हो गया, स्टेनगन मेरी ओर साधकर बोला—'हैंड्स अप!' मैंने तुरंत अपने हाथ ऊपर कर दिये। वह बड़ी-सी पुस्तक मेरी बगल से नीचे गिर पड़ी। उसने पूछा—'कौन है तू?' मेरे मुंह से शब्द नहीं निकल रहे थे। मैं कांपता रहा। 'बता, नहीं तो...' वह कह ही रहा था और मैंने टूटे-फूटे और ऊंचे-नीचे स्वर में उसे बता दिया कि मैं हिंदुस्तानी हूं।

असल में मैं उसे पाकिस्तानी समझ रहा था और वह मुझे। था वह भी हिंदुस्तानी, जैसा कि मैंने उसकी वरदी से अंदाज लगाया।

'यहां कैसे?' वह फिर कड़का।

मैंने हौसला करके बताया कि मैं पटियाले से एक रिटायर्ड कर्नल के साथ आया हूं और उसका ड्राइवर हूं।

'सच बता।' वह फिर गरजा।

मैं कांप रहा था। लेकिन कुछ साहस अब तक लौट आया था। मैंने उसे यकीन दिलाना चाहा कि मैं जो कुछ भी कह रहा हूं, सच है।

वैसे ही हाथ उठाये-उठाये उसने मुझे आगे कर लिया और स्टेनगन को मेरी पीठ पर लगा दिया और फिर मुझे कुएं पर अफसरों के पास ले आया।

कर्नल मुझे देखकर एकदम बड़बड़ाया—'कंवरजीत!'

मैं बोल नहीं सका और मैंने हाथ के इशारे से ही उसे फौजी के बारे में बताया।

कर्नल के बताने पर उनके एक अफसर ने उस फौजी को रोक दिया। मेरी जान बच गयी। लेकिन वह अफसर उस फौजी पर बरस पड़ा—'तुम वहां क्या कर रहे थे?'

'जी, मैं जंगल-पानी गया था'...... वह फौजी कांप रहा था।

आखिर कर्नल साहब के आग्रह पर उसे छोड़ दिया गया और उससे कहा गया कि वह दुबारा मेरे साथ शहर में जाये और मुझे अच्छी तरह डुगराई दिखाकर लाये। हम दोनों फिर उसी मुहल्ले की ओर चल दिये। रास्ते में बातें करते-करते हम एक-दूसरे के बहुत निकट आ गये। मैंने उससे पूछा—'तुम वहां उस चौबारे में क्यों पड़े हुए थे?'

'कई दिनों से सोया नहीं था, यार! वहां गदेलों में साली बड़ी गहरी नींद आ रही थी।' उसने बताया और हम फिर उसी चौबारे में चले गये। वहां से वह मोटी-सी पुस्तक फिर उठा लाया। शहर थोड़ा-सा ही देखा। हमें लौटना था।

'वह मोटी-सी पुस्तक क्या थी?'—मैंने पूछा।

'यह देखो, जिसकी अब मेज बना रखी है हमने!'—उसने किताब उठाकर मुझे पकड़ा दी। मैंने खोलकर देखा—कुरान शरीफ था मोटे अक्षरों में! मैंने उसे माथे से लगा लिया और कहा—'यार, यह भी किसी की धर्म-पुस्तक है। इसकी मेज नहीं बनानी चाहिए। इसे संभालकर अलमारी में रखा करो।'

नल में पानी आ गया था। मैं नहाकर और तैयार होकर कंवरजीत के घर से चल दिया।

—धौला (हडियाया), जि. संगरूर, पंजाब

★

क्रूसो नहीं, सेल्कर्क

अखिल

प्रशांत महासागर के तट पर कमर तक जल में खड़ा अलेक्जैंडर सेल्कर्क निराश आंखों से उस नाव को दूर होते देखता रहा, जो उसे मकररेखा के उस निर्जन द्वीप पर छोड़कर लौट रही थी। हताश स्वर में वह चीखा—'मेहरबानी करके मुझे यहां अकेला मत छोड़ो।'

मगर नाव नहीं मुड़ी और थोड़ी देर में सेल्कर्क की निगाहों से ओझल हो गयी। अट्ठाईस बरस का सेल्कर्क बच्चे की तरह सुबकता हुआ तट की ओर चला गया। यह द्वीप जहाजों के आवागमन-मार्ग से सौ मील दूर हटकर था।

यह बात सितंबर १७०४ की है। उस दिन संसार की एक अनूठी साहस-कथा का सूत्रपात हुआ, जिसे साढ़े चार वर्ष बाद इंग्लैंड लौटने पर सेल्कर्क के मुंह से डेनियल डीफो ने सुना और उसमें कल्पना का पुट देकर 'लाइफ एंड स्ट्रेंज सरप्राइज़िंग एडवेंचर्स ऑफ़ राबिन्सन क्रूसो' नामक पुस्तक लिखी। पुस्तक संसार-भर में चाव के साथ पढ़ी गयी और लोगों की जबान पर राबिन्सन क्रूसो का नाम चढ़ गया। मगर बेचारे अलेक्जैंडर सेल्कर्क को दुनिया जान ही न पायी, जिसने साढ़े चार वर्ष तक एक निर्जन द्वीप पर कठोर जीवन जिया था।

सेल्कर्क निपट अकेला था; न उसके साथ कोई कुत्ता था, न संग देने को मैन फ्राइडे नाम का कोई आदिवासी सेवक ही। वे दोनों तो डीफो की कल्पना की उपज हैं। इसी तरह यह कल्पना भी डीफो की ही है कि सेल्कर्क उस निर्जन द्वीप पर कोई दुस्साहस-पूर्ण प्रयोग करने के लिए स्वेच्छा से गया था। तथ्य इसके विपरीत है। यह सही है कि वह जिस जहाज पर यात्रा कर रहा था, उससे उतर जाने का निश्चय उसने स्वयं किया था; मगर जिन परिस्थितियों ने उसे इसके लिए विवश किया था, वे एक तरुण के स्वाभिमान की रोमांचकारी गाथा प्रस्तुत करती हैं।

सेल्कर्क का जन्म १६७६ में स्काटलैंड के लार्गो फीफ नामक स्थान पर हुआ था। पंद्रह वर्ष की अवस्था में ही वह घर से भागकर समुद्र की ओर चल पड़ा और १७०४ में एक जहाज के कप्तान का सहायक बन गया। शीघ्र ही उसे इंग्लैंड के जहाज 'सिंक-पोर्ट्‌स' पर तैनात कर दिया गया, जोकि दक्षिण की ओर जा रहा था।

'सिंकपोर्ट्‌स' पर नाविक बहुत दुःखी रहते थे; क्योंकि उनके कप्तान को एक

अजीब शौक था। वह नाविकों को मस्तूल से बंधवाकर कोड़े लगवाया करता था। सेल्कर्क की बारी भी जल्दी ही आ गयी और उसे भी इस अपमानजनक और कष्टदायी अनुभव से गुजरना पड़ा। दिन बीतते चले गये और हर पिटाई के बाद सेल्कर्क का रोष बढ़ता चला गया।

एक दिन 'सिंकपोर्ट्स' भीषण तूफान से बचने के लिए दक्षिण प्रशांत महासागर के द्वीप जुआन फर्नांडीस की आड़ में लंगर डाले खड़ा था। कप्तान को न जाने क्या सूझी कि उसने अकारण ही आदेश दिया कि सेल्कर्क को कोड़े लगाये जायें। यह आदेश सुनना था कि सेल्कर्क के भीतर का रोष बारूद की तरह फट पड़ा और उसने कप्तान के सामने रखी मेज पर घूंसा मारकर कहा—'मैं आपके नीचे अब एक दिन भी काम नहीं करूंगा। मुझे तट पर उतार दिया जाये।'

कप्तान ने अत्यंत शांत स्वर में उत्तर दिया—'बहुत अच्छा श्री सेल्कर्क, हमें आपकी याद तनिक नहीं सतायेगी।'

अगले दिन सेल्कर्क को उसके कपड़े, औजार, बाइबल, अन्य पुस्तकें आदि सामान के साथ एक नाव में लादा गया और वह नाव सेल्कर्क को निर्जन द्वीप के तट पर छोड़कर जहाज पर लौट गयी। सेल्कर्क को अपनी भूल का अहसास हो गया था, इसलिए रास्ते में उसने नाविकों से प्रार्थना की थी कि मुझे लेने आ जाना। मगर उन्होंने दासों की तरह पिटाई को अपनी नियति मानकर स्वीकार कर लिया था। वे सेल्कर्क का मजाक उड़ाते हुए चले गये।

शुरू के कई महीने सेल्कर्क ने भीषण मानसिक यंत्रणा में गुजारे। वह हर समय अलाव जलाये रखता और क्षितिज की ओर निहारता रहता था—इस आशा में कि शायद कोई जहाज उसके अलाव की लपटें देखकर उसे लेने के लिए वहां आ जाये।

फिर धीरे-धीरे वह एकांत का अभ्यस्त हो गया और अकेलेपन का डर उसके मन से निकल गया। इस बीच उसने अपने औजारों की मदद से एक झोपड़ी तैयार कर ली थी। खाने के लिए वह मछली पकड़ लेता था और आस-पास के पेड़ों से फल तोड़ लाता था।

जब उसे विश्वास हो गया कि अब उसे अपना शेष जीवन उसी द्वीप पर बिताना पड़ेगा, वह द्वीप के भीतरी भाग की ओर चल दिया। तब उसे मालूम हुआ कि द्वीप सर्वथा निर्जन है। जैसे ही उसे यह बोध हुआ कि द्वीप पर वही अकेला मनुष्य है, वह जोरों से हंसा और चिल्लाया—'मैं इस द्वीप का सम्राट् हूं।'

सम्राट् की इस घोषणा और गर्जना को सुनकर जंगल से कुछ बकरियां और बिल्लियां उसके पास आ पहुंची। द्वीप पर चूहे भी थे। उसने बकरियों के पीछे तेज दौड़ने का अभ्यास कर लिया और अंततः वह उन्हें पकड़ने में सफल हो गया। वह उन्हें पकड़ता और हाथों से ही मारकर उनका मांस भूनकर खा लेता। द्वीप पर काली मिर्च की लताएं बहुतायत से थीं;

अग्रेव

इस तरह मसाले की समस्या सुलझ गयी।

सेल्कर्क ने अपनी झोपड़ी को बकरियों की खाल से मढ़ लिया और अपने पुराने ऊनी मोजे उधेड़कर उस धागे से बकरियों की खाल का सूट और टोपी सी लिये। धीरे-धीरे वह समुद्र से मछलियों के अलावा केंकड़े और तट पर से कछुए भी पकड़ने लगा, जिसके मांस से वह खूब हृष्टपुष्ट हो गया। उसने पत्ता-गोभी जैसी कुछ सब्जियां भी, जो वहां उगती थीं, बाकायदा बोयीं तथा जंगल में अनेक फलों की खोज कर ली।

रात को चूहे बहुत परेशान करते थे; इसलिए उसने दो जंगली बिल्लियां पाल लीं तथा उन्हें चूहे पकड़ने का प्रशिक्षण दिया। उसने बकरियों को भी पालतू बनाया। उनमें से एक तो सेल्कर्क का गान सुनकर पिछले पांवों पर खड़ी हो जाती और उसके साथ नाचने लगती थी।

दो साल बीत गये और सेल्कर्क बाहर की दुनिया को पूरी तरह भूल गया। उसके पास उसका बाइबल था, दूसरी पुस्तकें थीं। सुहानी जलवायु, फल, दूध, सब्जी, गोश्त, ताजे पानी का झरना, पेड़, पहाड़ियां और नैसर्गिक जीव-जंतु—दिव्य परिवेश! सेल्कर्क उसके साथ पूरी तरह एकाकार हो गया और दैवी आनंद में डुबकियां लगाने लगा। वह मुक्तकंठ से गाता और बकरियों के साथ नाचता था।

पूरे चार वर्ष और पांच महीने बाद ३१ जनवरी १७०९ आया। उस दिन सवेरे

सेल्कर्क अपनी कुटिया के समक्ष पशु-मित्रों के संग।

सेल्कर्क अपनी झोपड़ी से बाहर निकला और अपनी बकरियों तथा बिल्लियों से बतियाने लगा। तभी आश्चर्य और अविश्वास की दृष्टि से उसने देखा कि सामने की चट्टानी खाड़ी में दो जहाज लंगर डाले खड़े हैं। वे रात को किसी समय वहां पहुंचे थे।

मनुष्यों की कल्पना मात्र से सेल्कर्क पुलकित हो उठा और नाचने लगा। मगर थोड़ी ही देर में जब उसे मालूम हुआ कि उनमें से एक जहाज का कप्तान वही शैतान है, जिससे छुटकारा पाने के लिए उसने ये साढ़े चार वर्ष निर्वासन में बिताये थे, उसका उत्साह ढीला पड़ गया। लेकिन कप्तान अब एक बदला हुआ इंसान था। उसने अपनी वह गंदी आदत छोड़ दी थी। वह स्वयं नाव पर सवार होकर सेल्कर्क के पास आया, उसका अभिनंदन किया तथा जहाज पर लौटने का निमंत्रण दिया।

जहाज पर सेल्कर्क का भारी स्वागत हुआ। लेकिन वह न तो साफ अंग्रेजी बोल पा रहा था, न नमकीन खाना ही निगल पा रहा था। कप्तान ने बारह दिन तक जहाज को खाड़ी में खड़ा रखा और सेल्कर्क के अंतिम निर्णय की प्रतीक्षा की। अंततः सेल्कर्क ने निश्चय कर लिया कि एकांतवास छोड़कर स्वदेश लौटूंगा। तब १२ फरवरी को जहाजों ने उसे लेकर लंगर उठा दिये।

सेल्कर्क का शेष जीवन शाही नौसेना में ही व्यतीत हुआ और १७२१ में ४४ वर्ष की उम्र में समुद्र पर ही उसका देहांत हुआ। नौसेना के रिवाज के अनुसार उसका शव समुद्र को सौंप दिया गया। उस समय जहाज पर यूनियन जैक झुकाया गया तथा शाही नौसेना के बैंड ने मातमी धुनें बजायीं। यह संमान उस स्वाभिमानी नौसैनिक के अनुरूप ही था, जिसने मानवीय व्यक्तित्व की गरिमा की खातिर साढ़े चार वर्ष का आत्म-निर्वासन सहर्ष भोगा था। उसके तप से आम नाविकों को भी लाभ हुआ। नौसेना में नाविकों की पिटाई बंद हो गयी।

★

सबसे बड़ी दवा जीवेषणा होती है—जीने की इच्छा। कितने ही लोग जिनके पास खाने के लिए कुछ और नहीं है, जीने की इच्छा खाकर ही जीवित रहते हैं। जीने की इच्छा में बहुत प्रोटीन और विटामिन होते हैं।

—हरिशंकर परसाई

०००

एक भेड़िया किसी इंसानी बच्चे को उठाकर लिये जा रहा था। रास्ते में एक कुत्ता मिल गया। उसने कहा—'भाई! सारा जंगल तुम्हारे शिकार के लिए खुला है। इस इंसानी बच्चे को क्यों उठाकर ले जा रहे हो?'

भेड़िये ने उत्तर दिया—'मैं इसे खाने के लिए नहीं ले जा रहा हूं; बल्कि इसलिए ले जा रहा हूं कि इसका प्रशिक्षण इंसानों से ज्यादा अच्छे ढंग से करूं।'

—सुरजीत

अमरीका के राष्ट्रीय अंतरिक्ष-प्रशासन (नासा) के भूतपूर्व उप-निर्देशक डा. वर्न्हेर वान ब्राउन ने टेक्सास की म्युनिसिपल लीग नामक संस्था में अंतरिक्ष-उड़ानों के संबंध में बोलते हुए कहा था :

'अज्ञात का पता लगाने का क्लासिकी उदाहरण क्रिस्टोफर कोलंबस ने प्रस्तुत किया था। जब वह रवाना हुआ, तो उसे पता था कि कहां जा रहा है; वहां पहुंचने पर उसे पता नहीं था कि वह कहां आ पहुंचा है; और जब वह लौटकर आया, तो उसे पता नहीं था कि कहां से वापस आया है !'

०००

सन १९६७ में अपोलो-१ नामक अंतरिक्ष-यान की उड़ान से पहले एक प्रेस-कान्फरेंस में गस ग्रिसम से पूछा गया—'आपकी दृष्टि में इस उड़ान का सबसे महत्त्वपूर्ण हिस्सा क्या है ?'

'ऊपर उठने और लौटकर नीचे आने के बीच का हिस्सा।' ग्रिसम ने तुरंत जवाब दिया।

०००

अंतरिक्ष-यानों की उड़ानें अभी शुरू हुई ही थीं कि तुर्की के कुछ गुस्सैल किसान टोकरियों में पत्थर भरकर अंकारा में अमरीकी और रूसी राजदूतावासों के सामने पहुंचे और उनके खिलाफ नारे लगाने लगे। इस प्रदर्शन का कारण पूछने पर उन्होंने बताया—'अगर आप लोगों ने राकेट उड़ाना बंद न किया, तो हम आप पर पथराव करेंगे। पिछले दिनों आयी बाढ़ों से हमारा बहुत नुक्सान हुआ है।'

'पर राकेटों का बाढ़ों से क्या संबंध है ?'

'संबंध क्यों नहीं है ? हमारे मुल्ला-मौलवियों ने हमें सब कुछ बता दिया है। राकेटों ने आसमान में जो बड़े-बड़े छेद किये हैं, उनमें से इतना ज्यादा पानी बरसा है कि बाढ़ आ गयी।'

०००

नासा के टेक्सास स्थित अंतरिक्ष-यान केंद्र के निर्देशक डा. राबर्ट गिलरुथ से किसी ने पूछा—'आप मनुष्य को अंतरिक्ष में भेजने का खतरा क्यों मोल ले रहे हैं, जबकि कई प्रकार के यंत्रों द्वारा अंतरिक्ष-संबंधी जानकारी पायी जा सकती है ?'

डा. गिलरुथ का उत्तर था—'मनुष्य को भेजना इसलिए जरूरी है कि अभी तक कोई ऐसा यंत्र नहीं बना है, जो अज्ञात को मनुष्य से ज्यादा अच्छी तरह जान सके। ...... और यदि वैज्ञानिक कभी ऐसा यंत्र बनाने में सफल हो गये, तो वह यंत्र मनुष्य-जैसा ही दिखाई देगा।'

★

• डेनिस हिल्स •

खिड़की पर किसी ने थाप दी। मेरी आंखें खुल गयीं। मैंने समझा कि किसी आदमी ने, जो मेरी सहायता लेना चाहता है, मुझे जगाने के लिए पत्थर या लकड़ी का टुकड़ा फेंका होगा। यह बात नामुमकिन इसलिए नहीं थी कि मेरे ब्लाक के अन्य लोग मुझे एक भला साथी और बगैर पैसे का मालदार समझते थे। प्रायः लोग मुझसे सहायता और परामर्श लिया ही करते थे।

खिड़की से बाहर झांका। एक अफ्रीकी बाहर खड़ा था। मुझे देखते ही बोला—'मिस्टर हिल्स, क्या मैं थोड़ी देर के लिए अंदर आ सकता हूं?' उस समय मैं नहीं जानता था कि यह एक लंबे और दुःखदायी संघर्ष का श्रीगणेश है।

वह अंदर आ गया। उसके पीछे गैर-फौजी कपड़ों में दो आदमी तथा दो वर्दीधारी पुलिस के जवान भी थे, जो स्वचलित राइफलों से लैस थे। आगंतुक ने अपना परिचय स्पेशल ब्रांच के एक अफसर के रूप में दिया और कहा—'इस समय आप जो लिख रहे हैं, उसके बारे में कुछ सवाल करना चाहता हूं।' मैं समझ गया कि अब मैं मुसीबत में फंसा। यह पुस्तक 'ह्वाइट पम्पकिन' युगांडा के बारे में थी।

मैंने उसे अपनी ताजी पुस्तक की पांडुलिपि दिखायी। मेज पर उसी पुस्तक से संबंधित कुछ पत्र भी पड़े थे। उसने कहा—'यह बताइये कि वह किताब कहां है, जो आप अमीन के बारे में लिख रहे हैं?'

उसने मुझ पर आरोप लगाया कि आ[illegible] हमें पूरी तरह सहयोग नहीं दे रहे हैं। फि[illegible] वे लोग मुझे अपनी कार में बैठाकर सें[illegible] पुलिस स्टेशन ले गये, जहां मुझे एक कोठ[illegible] में बंद कर दिया गया। इस कोठरी में [illegible] और कैदी भी उस रात चटाइयों पर पड़े [illegible] रहे थे। उनमें से एक से स्मगलिंग के माम[illegible] में पूछताछ चल रही थी। मुझे यह [illegible] बहुत अपमानजनक महसूस हुआ। मैं [illegible] नहीं पा रहा था कि किस तरह मैं ब्रि[illegible] हाईकमिश्नर से संपर्क करूं और [illegible] रिहाई के लिए प्रयास करूं।

पुलिस वालों ने थोड़ी मेहरबानी [illegible] उन्होंने मुझे बैठने के लिए कुर्सी दे दी। [illegible]

इतना परेशान था कि एक क्षण के लिए भी मेरी आंख न लगी। सवेरे ग्यारह बजे एक वरिष्ठ अधिकारी ने मुझसे पूछताछ शुरू की। वह यह जानना चाहता था, कि 'ह्वाइट पम्पकिन' की पांडुलिपि कहां से मिल सकती है। लेकिन मैंने रहस्य उसे बताया नहीं। उसने कहा कि हम आपको फ्लैट में ले जाकर उस पांडुलिपि की खोज करेंगे। करीब डेढ़ घंटे तक उन्होंने मेरे फ्लैट की तलाशी ली और वांछित पुस्तक की पांडुलिपि-सहित अन्य सभी कागजों के बंडल बांधकर उठा ले गये।

मैंने उन्हें पांडुलिपि में वे अंश दिखाये, जहां राष्ट्रपति अमीन के बारे में कई आलोचनात्मक टिप्पणियां की गयी थीं। मेरे विचार में इस टिप्पणी समेत कि वे यानी इदी अमीन 'देहाती तानाशाह' की तरह शासन कर रहे हैं, कोई भी बात हानिकारक नहीं थी। लेकिन उन्होंने वह सब पढ़ा नहीं, बल्कि मुझे वापस पुलिस-स्टेशन ले गये।

गिरफ्तारी के समय मैंने जो कपड़े पहन रखे थे, उन्हीं में मुझे उसी कोठरी में बंद करके ताला लगा दिया गया और अगले दो दिन के अधिकांश समय मैं उसी में बंद रहा। फिर ३ अप्रैल को मुझे लुजीरा जेल भेज दिया गया, जहां बहुत गंभीर किस्म

फील्ड मार्शल अमीन
[लूरी : न्यूयार्क टाइम्स]

भारतीय प्रवासियों को युगांडा से खाली हाथ खदेड़ देने और अब कृपापूर्वक १।। करोड़ रुपये का मुआवजा देने वाले राष्ट्रपति इदी अमीन अंतरराष्ट्रीय चर्चा में अपना नाम बनाये रखने के लिए कुछ भी कर सकते हैं। हाल में उन्होंने अपने पड़ोसी राष्ट्र केन्या के विशाल इलाकों पर दावा पेश किया है। पिछले साल उन्होंने युगांडा में आ बसे एक निरीह अंग्रेज लेखक-अध्यापक डेनिस हिल्स को राजद्रोहात्मक लेखन के अपराध में गिरफ्तार कर लिया और एलान किया कि यदि ब्रिटेन की महारानी अपना विशेष प्रतिनिधि भेजकर प्रार्थना न करेंगी तो हिल्स को प्राणदंड दे दिया जायेगा। अंत में महारानी ने अपने विदेश-मंत्री कैलागैन को कंपाला भेजा और अमीन साहब ने हिल्स की जान बख्शकर अपनी महानता का परिचय दिया।

के अपराधी रखे जाते हैं।

लेकिन वहां के ब्रिटिश कमांडिंग-अफसर ने मेरे साथ बहुत शिष्ट व्यवहार किया। मुझ पर राजद्रोह का अभियोग लगाकर ब्रिटिश वकील की मौजूदगी में अभियोग-पत्र मुझे दिया गया। मुझे यह भी आदेश मिला कि मैं अपने घर के कपड़े तथा निजी सामान जेल वालों के सुपुर्द कर दूं। जेल में मुझे नापा गया, तोला गया और कैदी की पोशाक पहनने को दी गयी—सफेद निकर, नीली कमीज और सैंडल।

फिर मुझे सख्त पहरे वाले ब्लाक में भेज दिया गया। वहां वार्डर ने मुझे यकीन दिलाया कि यहां आप पूरी तरह सुरक्षित रहेंगे। मेरी कोठरी की छत काफी ऊंची थी। कोठरी में फोम का एक गद्दा पड़ा था, साथ ही तीन कंबल भी मुझे दिये गये थे। सामने की कोठरियों में स्मगलिंग के अपराध में पांच आदमी बंद थे, जिसका दंड वहां मृत्यु है। अगले दिन अर्थात् ४ अप्रैल को मुझे कमरे से बाहर निकालकर व्यायाम करने की अनुमति दी गयी।

सभी के लिए मैं एक अजूबा था; क्योंकि उस जेल में मैं एकमात्र गोरा व्यक्ति था। कुछ दिन बाद हमने आपस में बातचीत का सिलसिला बना लिया। हमें एक घंटा व्यायाम करने की अनुमति मिलती थी। भोजन में दिन में दो बार सूप, उबली हुई सेम व गोभी और मकई का दलिया दिया जाता था।

दो सप्ताह बीतने पर मैं अपने प्रथम मुलाकाती अपनी पत्नी इनग्रिड से मिल सका। वह एक ब्रिटिश वकील के साथ मुझसे मिली। साथ में वह मेरे लिए कुछ पुस्तकें और सिगरेट लायी थी। शीशे की खिड़की में से हमने आपस में बातचीत की। जेल के अधिकारी उस समय बराबर वहां खड़े मेरी बातें सुनते रहे। मेरी पत्नी और वकील ने मुझे बताया कि वे मेरी रिहाई के लिए प्रयत्न कर रहे हैं। २४ अप्रैल को अभी मैंने चाय पीना शुरू ही किया था कि कमांडिंग-अफसर ने मुझे कोठरी से अपने पास बुलवाया।

इस बात से मुझे सहज ही कुछ राहत महसूस हुई। जब मैं कमांडिंग-अफसर के पास प्रसन्न-मन बैठा हुआ था, तो उसके लिए कई टेलिफोन आये। अपनी बातचीत खत्म करके वह मेरी ओर मुड़ा—'मिस्टर हिल्स! हमें खेद है कि आपके केस पर कार्रवाई अभी चल रही है।' मुझे अपनी कोठरी वापस लौट जाना पड़ा। यह वापसी मुझे निहायत बेहूदी लगी; क्योंकि कोठरी से चलते समय मैं अपने साथियों से अलविदा कह आया था।

अगले दिन मुझे फिर बुलाया गया और कम्पाला की जिला अदालत में एक अफ्रीकी न्यायाधीश के संमुख पेश किया गया। वहां विधिवत् मुझे राजद्रोह का अभियोग-पत्र दिया गया। यह अभियोग-पत्र मेरी पुस्तक 'ह्वाइट पम्पकिन' में दिये गये अमीन के एक फोटो पर आधारित था। मुझसे पूछा गया कि क्या आप जमानत पर रिहा होना चाहते हैं? इससे मेरे हृदय में क्षणिक आशा का

और

डेनिस हिल्स अपना सामान कंबल में बांध कर एन्टेबे हवाई अड्डे पर विशेष विमान की ओर बढ़ते हुए।

संचार हुआ; लेकिन सरकारी वकील ने कहा कि नजरबंदी आदेश के अनुसार जमानत नहीं हो सकती। सुनवाई के लिए २५ जून निश्चित की गयी। २८ अप्रैल को मुझे पुनः न्यायालय में पेश किया गया और बताया गया कि मुकद्दमा ५ अथवा ६ मई को प्रारंभ होगा।

५ मई को अपने वकील मि. विल्किन्सन से भेंट के बाद मैं अभी इसी प्रतीक्षा में था कि अभियोग-पत्र पढ़कर मुझे सुनाया जायेगा; लेकिन तभी सरकारी अभिवक्ता उठ खड़ा हुआ और उसने अफ्रीकी न्यायाधीश को बताया कि आज यह मामला शुरू नहीं हो सकता। इसे ९ मई (शुक्रवार) तक स्थगित किया जाये; क्योंकि इस संबंध में अभी कुछ और गवाहियां जुटानी हैं।

९ मई को मैं बहुत प्रसन्न था; क्योंकि उस दिन मेरी पत्नी मेरी पसंद का बेहतरीन सूट अपने साथ लेकर आयी थी। लेकिन न्यायालय में जो कार्रवाई हुई, उससे मुझे बेहद मायूसी हुई। केवल दस मिनट की बहस के बाद ही मेरे वकील ने अभियोग को गलत सिद्ध कर दिया और मेरी रिहाई का आदेश हो गया; लेकिन तभी सरकारी वकील उठ खड़ा हुआ और बोला—'अब इस पर विद्रोह का अभियोग लगेगा और इसे सैनिक अदालत में पेश होना पड़ेगा।'

मुझे वापस लाकर पुनः पुलिस की कोठरी में डाल दिया गया और अपने वकील से बात तक करने की अनुमति नहीं दी गयी।

कुछ पुलिस वाले मुझे बधाई भी देने लगे थे। उनका खयाल था कि मैं रिहा हो गया हूं। हवालात का जीवन २९ मई तक चलता रहा। मुझे कार्यालय में बुलाया गया और कपड़े बदलने को कहा गया। क्लर्क ने मुझे बताया कि अब आप घर जा रहे हैं। यह सब मुझे बहुत अच्छा लग रहा था।

मगर तभी दो सैनिक अधिकारी आते दीख पड़े। मुझे यह समझते देर न लगी कि वे मुझे ही लेने आ रहे हैं। और हुआ भी ऐसा ही। मुझे एक मर्सीडीज बेन्स में दोनों

सैनिक अधिकारियों के बीच बैठा दिया गया। कम्पाला से गुजरते समय मैं सिकुड़ा-सिमटा बैठा रहा, ताकि मेरे किसी मित्र की दृष्टि मुझ पर न पड़ जाये। उस समय मैं महसूस कर रहा था कि मेरा जीवन संकट में है। लेकिन जब कार फांसी वाले ब्लाक से आगे निकल गयी, तब कहीं मेरी जान में जान आयी।

अंत में हम युगांडा की सेना की एक विशेष रेजिमेंट में पहुंचे, जो इदी अमीन के सिरफिरे सैनिकों की रेजिमेंट समझी जाती थी। कार के ड्राइवर ने कमांडिग-अफसर को खोजना प्रारंभ कर दिया। पास ही के मैदान में वह बिना कमीज के सिर्फ निकर पहने फुटबाल खेल रहा था। वह आया और मुझसे बोला—'इस रेजिमेंट में आपका स्वागत है।'

वह कर्नल था और खासा जोरदार आदमी था। वह मुझे गारद वाले कमरे में ले गया, जहां पहली बार मैंने यह अनुभव किया कि मेरे साथ अशिष्ट व्यवहार किया जा रहा है। कमरे में सशस्त्र सिपाहियों का मेला-सा लगा हुआ था। उन्होंने मेरे कपड़े उतारे और दो कंबल देकर मुझे एक कोठरी में ढकेल दिया।

आधा दर्जन सिपाही राइफलें ताने मेरी ओर आये। मैं जमीन पर बैठा था, लेकिन उन्होंने अपनी राइफलें यथापूर्व मेरी तरफ तान रखी थीं। वे कह रहे थे—'यह बहुत खतरनाक आदमी है।' उन्होंने मेरी कलाई पर प्रहार भी किया और मुझे लगा कि अब मेरा जीवन खतरे में है।

उस रात न मुझे खाना दिया गया, न पानी। संभावित संकट का सामना करने के लिए मैं अपने को मानसिक रूप से तैयार करने की कोशिश करने लगा। कोठरी काफी बड़ी थी और बिजली रात-भर जलती रहती थी। मुझे बिस्तर नहीं दिया गया था। कंक्रीट के ठंडे फर्श पर ही मैं पड़ा रहा और थका-हारा कुछ देर नींद ले लेने का प्रयत्न करता रहा।

३० मई को कमांडिग-अफसर कोठरी में आया। वह नितांत मैत्रीपूर्ण ढंग से मुझसे मिला। फिर बोला—'क्या कोई चीज आप चाहेंगे?'

'भोजन मिल जाये तो सौभाग्य समझूंगा' मैंने कहा।

सिपाहियों ने मेरे साथ जो अभद्र व्यवहार किया था, उसकी मैंने कोई शिकायत नहीं की। मैं जानता था कि उन्होंने ए सब कमांडिग-अफसर के आदेश के विरुद्ध किया होगा। वह स्वयं भद्र पुरुष था। अभी तक मुझे यह मालूम नहीं था कि कूटनीतिक सूत्रों से ब्रिटिश सरकार मेरी रिहाई के लिए कोशिश कर रही है।

सच पूछिये तो मैं यह बात जान भी कैसे सकता था कि स्वयं महारानी मुझसे मिलने के लिए दूत भेजेंगी या कि मैं व्यक्तिगत रूप से राष्ट्रपति अमीन से मिल सकूंगा!

अनुवाद : श्यामजी पंडित

जर्मन कहानी

चित्र : कमलाक्ष शेणै

वह अपने इलाके का सबसे मालदार और रसूख वाला आदमी था। उसका नाम थोर्ड डोरास था। एक दिन वह पादरी के पास आया और बोला कि मेरे बेटा हुआ है और मैं उसका बपतिस्मा कराना चाहता हूं। पादरी ने बच्चे के प्रस्तावित नाम के बारे में जिज्ञासा की, तो उसने कहा—'उसका नाम तो मैं अपने बाप के नाम पर फिन रख रहा हूं।' अन्य आवश्यक बातों के बाद जब पादरी ने पूछा कि क्या तुम कुछ और कहना चाहते हो, तो थोर्ड ने कहा—'मेरी इच्छा है कि मैं उसे स्वयं बपतिस्मा दूं।' पादरी को तनिक विस्मय तो हुआ, किंतु उसने आने वाले शनिवार का दिन तय किया।

जब थोर्ड जाने लगा, तो पादरी ने फिर पूछा—'कोई और बात?' थोर्ड ने कोई उत्तर न दिया, अपनी मुड़ी-तुड़ी टोपी उठायी और चलने लगा। पादरी ने उसकी बांह पकड़कर कहा—'ईश्वर से मेरी प्रार्थना है कि वह तुम्हारे बेटे पर दया करे।' ×××

सोलह वर्ष के बाद एक दिन फिर ग्रामीण थोर्ड पादरी के पास आया। पादरी उसे

जोरनस्टेन जोरनसन

देखकर विस्मित रह गया। समय की गर्दिश ने थोर्ड के स्वास्थ्य पर रत्ती-भर असर न किया था। वह सोलह वर्ष पहले जैसा ही हृष्ट-पुष्ट और हंसमुख था। पादरी ने कहा—'तुम्हारा स्वास्थ्य तो रश्क करने लायक है। हमें भी तो बताओ कि इसका भेद क्या है?' थोर्ड ने उत्तर दिया—'जनाब! इसका सिर्फ एक कारण है—वह यह कि मुझे कोई परेशानी नहीं है।' पादरी यह उत्तर सुनकर चुप हो गया। कुछ देर बाद फिर बोला—'अच्छा तो आज फिर कैसे आये हो?'

'कल मेरा बेटा परीक्षा पास कर रहा है। उसे प्रमाण-पत्र मिलेगा।'

'हां। वह बड़ा बुद्धिमान लड़का है।' पादरी ने स्वीकार किया।

'मैं इसलिए हाजिर हुआ हूं कि आप उसके लिए प्रार्थना करें कि वह गिरजे में ऊंचा पद प्राप्त करे।'

'वह सबसे उत्तम है। प्रथम .....'

'यही मैंने सुना था। यह दस मार्क की राशि है ..... मेरा नजराना.....'

पादरी ने उससे पूछा—'कोई और बात?' थोर्ड ने कोई उत्तर न दिया और वहां से चल दिया।

×××

आठ वर्ष बीत गये। एक दिन पादरी ने अपने अध्ययन-कक्ष के बाहर कोलाहल सुना। उसने देखा कि थोर्ड कई आदमियों के साथ उसी ओर आ रहा है। थोर्ड ने ही सबसे पहले कमरे में प्रवेश किया। पादरी ने उसे पहचानकर कहा—'कहो, आज कैसे आना हुआ?'

थोर्ड ने कहा—'मेरे बेटे की शादी कैसे से हो रही है। वह इस समय मेरे साथ यहां आया है .....'

'खूब! वह तो इस इलाके की सबसे मालदार लड़की है।'

'हां! लोग भी यही कहते हैं।' थोर्ड ने कहा।

पादरी ने नियम के अनुसार, भावी शादी का इंदराज रजिस्टर में किया और जिन लोगों के हस्ताक्षर कराने थे, उनसे हस्ताक्षर कराये। जब यह काम समाप्त हो गया, तो थोर्ड ने तीन मार्क पादरी के सामने मेज पर रख दिये—'इस समय मेरे पास इतने ही पैसे हैं।' पादरी ने पैसे उठाये और बोला—'थोर्ड! तुम तीन बार यहां आये हो और तीनों बार अपने बेटे के लिए आये हो।' थोर्ड मुस्करा दिया और फिर अलविदा कहकर वहां से चल दिया।

पंद्रह दिन के बाद बाप और बेटा नाव खेते हुए शादी के प्रबंध के लिए स्टोरलीह जा रहे थे।

'नाव का यह तख्ता टेढ़ा है!' बेटे ने बाप से कहा और यह कहकर वह खड़ा होकर उस तख्ते को सीधा करने लगा, जिस पर बैठा हुआ था। उसी क्षण तख्ता उसके पांवों के नीचे से खिसक गया। उसने अपनी बांहें फैलायीं, चीख मारी और पानी में गिर गया। 'चप्पू को मजबूती से पकड़ लो।' बाप ने उसकी ओर चप्पू बढ़ाते हुए चीखकर कहा। लेकिन बेटा चप्पू तक न पहुंच सका।

[illegible]

'मैं अभी तुम्हारे पास आता हूं। हौसला रखो।' बाप ने यह कहकर नौका को उस ओर मोड़ने का प्रयत्न किया, जिस ओर बेटा पानी में हाथ-पांव मार रहा था। पर जब तक बाप उसकी मदद को पहुंचा, बेटा पानी में डूब चुका था। थोर्ड को अपनी आंखों पर यकीन न आया। वह अपनी नाव को रोके उस स्थान को देखता रहा, जहां उसका बेटा डूबा था। जैसे उसे यकीन हो कि उसका बेटा पानी की तह से निकलकर सतह पर अवश्य आयेगा! पर वहां पानी में कुछ देर तक बुलबुले उठते रहे, फिर पानी की सतह शीशे की तरह चमकदार और समतल हो गयी।

लोगों ने देखा कि थोर्ड तीन दिन और तीन रातें बिना कुछ खाये-पिये और बिना पलक झपकाये झील के उस हिस्से में नाव खेता रहा, जहां उसका बेटा डूबा था। उसने सारी झील को छान मारा और अंत में उसे बेटे की लाश मिल गयी। लाश को अपनी बांहों में उठाये वह अपने खेतों की ओर चल दिया।

× × ×

इस घटना के एक वर्ष बाद हेमंत ऋतु की एक अंधेरी शाम को पादरी ने अपने दरवाजे के सामने गलियारे में किसी की पदचाप सुनी। पादरी बाहर निकला। उसने एक लंबे और दुबले-पतले आदमी को देखा, जिसकी कमर झुकी हुई थी और बाल सफेद थे। पादरी को उसे पहचानने में काफी देर लगी। वह थोर्ड था। पादरी उसे अंदर ले आया और पूछा—'इतनी शाम गये तुम कहां से आ रहे हो?' थोर्ड ने सिर हिलाते हुए कहा—'हां! देर तो हो गयी...' और बैठ गया। पादरी उसके सामने बैठ गया। दोनों काफी देर तक चुप रहे। अंत में थोर्ड ने मौन का संमोहन तोड़ा।

'मैं अपने साथ कुछ लाया हूं। मैं चाहता हूं कि उसे मेरे बेटे के नाम पर गरीबों को बांट दिया जाये।' यह कहकर वह उठा और उसने कुछ धनराशि मेज पर रख दी और फिर बैठ गया। पादरी धनराशि गिनने लगा—'यह तो अच्छे-खासे पैसे हैं!'

'आज मैंने अपना सब कुछ बेच दिया। जो रकम मिली उसका आधा हिस्सा है यह।'

पादरी चुप रहा। न जाने वह क्या सोच रहा था। फिर उसने पूछा—'अच्छा तो अब तुम क्या चाहते हो?'

'कल्याण चाहता हूं......'

एक क्षण के लिए वे दोनों फिर चुपचाप बैठे रहे। थोर्ड ने अपनी आंखें झुका रखी थीं। पादरी ने अपनी आंखें थोर्ड पर गड़ा दी थीं। बड़ी नरमी से, धीरे से उसने कहा—'अंत में तुम्हारा बेटा तुम्हारे लिए दुःखदायक सिद्ध हुआ।'

'हां, मेरा भी यही खयाल है।' थोर्ड ने आंखें उठाकर ऊपर देखा। दो बड़े-बड़े आंसू उसके गालों पर ढुलक आये थे।

अनुवाद : सुरजीत

मुक्ति जो बंधन बने उस मुक्ति को ले क्या करूंगा ?

स्व. रामनाथ 'सुमन'

यह प्रवंचित मन, विमोहित तन, प्रभंजनपूर्ण जीवन,
मूर्च्छनाकारी तमिस्रा, कामना-नूपुर-रणित नभ,
भूल जाये मग, भला उस मुक्ति को ले क्या करूंगा ?
मुक्ति जो बंधन बने, उस मुक्ति को ले क्या करूंगा ?

मानता हूं, मधुभरे, राते, बिहंसते, पद्मलोचन
लाज से झुककर, कपोलों पर उषा का तप्त कंचन –
फेर देंगे। और मैं तुमको चकित देखा करूं, पर
आस्था ही हो न उस अनुरक्ति को ले क्या करूंगा ?
मुक्ति जो बंधन बने, उस मुक्ति को ले क्या करूंगा ?

यह कुहक, यह मूर्च्छना का खेल, यह मादक मधुर स्वर
और यौवन के प्रखर उन्माद से अस्थिर अचर-चर,
कामना की ओ नटी ! सब है मगर,
यह निवेदन और अर्पणहीन अंतर
मैं भला बिन भक्ति लेकर क्या करूंगा ?
मुक्ति जो बंधन बने, उस मुक्ति को ले क्या करूंगा ?

यह वसंतागम मिलन के कोटि स्वर में बोलता है,
और वह दर्दी पपीहा अमिय में विष घोलता है,
तब भला मकरंद-विरहित शून्य अंतर,
जो लिये आती चलीं तुम आग-पथ पर,
रूपकलिका की मृदुल आसक्ति लेकर क्या करूंगा ?
मुक्ति जो बंधन बने, उस मुक्ति को ले क्या करूंगा ?
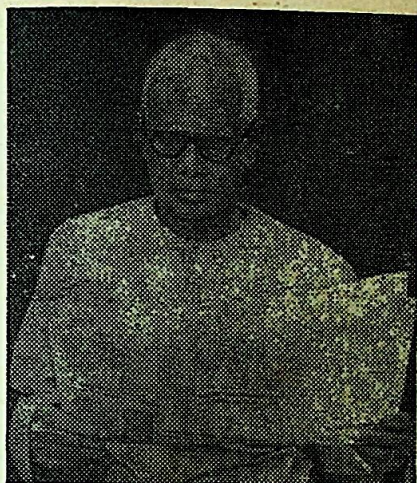
चिरपिपासित, क्लांत, नीरव, भ्रांत मन, एकांत जीवन
अंध-तम-मग में बचा है आज तो बस एक बंधन
रुदन-विगलित इस हृदय में
अब भला यह मोह, यह आसक्ति लेकर क्या करूंगा ?
मुक्ति जो बंधन बने, उस मुक्ति को ले क्या करूंगा ?

आज तो दो बूंद करुणा-कलित नयनों से गिरा दो,
वंदना के भाल पर बस मौन का चंदन फिरा दो,
आज शाश्वत कामना के शीर्ष पर पहुंचा हुआ मन
शब्द के उस पार जिसके स्पर्श में है मौन कंपन,
मौन ही रहने मुझे दो–
अर्थ से जो शून्य, वह अभिव्यक्ति लेकर क्या करूंगा ?
मुक्ति जो बंधन बने, उस मुक्ति को ले क्या करूंगा ?

मृत्यु से कुछ समय पूर्व यह कविता भेजते हुए सुमनजी ने लिखा था–'मेरे साहित्यिक जीवन का प्रारंभ कविता से ही हुआ था। १९५४ के बाद में लिखता तो रहा पर छपाता नहीं था। ...देखिये, कैसी है। – संपादक
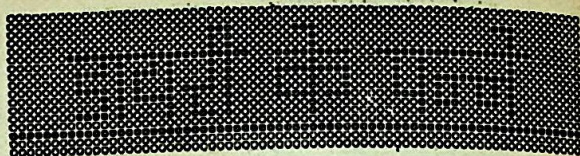
सुधा कृष्णा

आज मेरे जीवन का एक महत्त्वपूर्ण दिन है। लगता है, जैसे जीवन ने करवट ली है और एक आशामय, आनंदमय अंतरिक्ष के द्वार मेरे सामने खुल गये हैं। किसने यह द्वार खोला? इवान निकोलायेविच पेनिन के इन सुनहरे वाक्यों ने :

'अपनी मूर्खता के प्रति मेरा सचेत होना स्वयं ही बुद्धिमत्ता का अंश है, अपनी निर्बलता को मेरा जानना स्वयं ही शक्ति का अंश है, अपनी निर्धनता में मेरा संतुष्ट होना स्वयं ही ऐश्वर्य का अंश है। परंतु अपने शोक को अंगीकार करना आनंद का अंश सर्वथा नहीं है।' (नवनीत, मई १९७५)

लगता है, पहली तीन बातों पर चलते-चलते मैं रास्ता भटक गयी थी; किसी ने झकझोरकर मेरी आंखें खोल दी हैं।

पचीस वर्ष पहले भी किसी के सुनहरे वाक्यों ने मेरे जीवन में एक मोड़ दिया था। उस समय मेरा विवाह हुए एक-दो वर्ष ही हुए थे। जीवन से समझौता नहीं कर पायी थी। विवाह भी कैसी अनोखी प्रथा है! किसी जलवायु में उगे-पले पौधे को कहीं और ले जाकर रोप दिया जाता है। मैं भी अपने को कुछ ऐसा ही पा रही थी।

मायके में अपनी कुशाग्र बुद्धि और मृदुल स्वभाव के कारण भरपूर प्रशंसा और प्यार पाया। देखने में आकर्षक थी, सो सभी की स्नेहभाजन बन जाती। कार्य-कुशल मैं नहीं थी; परंतु स्नेह और आनंद के उस वातावरण में यह कमी कभी उतनी उजागर नहीं हुई। ईश्वर को शायद मेरी कमी पूरी करनी थी, सो उन्होंने मेरे लिए अत्यंत कार्य-कुशल पति चुना। मेरे पति केवल कार्य-कुशल ही नहीं थे, वरन कार्य-कुशलता को जीवन की आधारभूत आवश्यकता मानते थे। हृदय और मस्तिष्क के गुण उनकी दृष्टि में द्वितीय श्रेणी में आते थे। वास्तविक जीवन में, साधारण से अधिक बुद्धि शायद सचमुच अनावश्यक है और मधुर स्वभाव की तो स्त्री-जाति से स्वभावतः आशा की जाती है। किंतु मैं हीनभावना से ग्रस्त होने को तैयार नहीं थी और यह संघर्ष की पहली भूमिका थी।

विवाह के समय मेरे पति का व्यक्तित्व आकर्षक नहीं था। (विवाह में आयी औरतों की दबी जबान से की हुई टिप्पणियां तथा 'कन्या' के प्रति कहे गये सहानुभूति के शब्द मेरे कानों में भी पड़े थे, हालांकि उनका कोई प्रभाव मुझ पर नहीं पड़ा था।) किंतु मेरे पति का सौंदर्य-बोध अप्रंत

बहुत उच्च कोटि का था। साधारणतया सबको अच्छी लगने वाली चीजें भी उन्हें पसंद नहीं आ पाती थीं। वे हर चीज को अधिक आलंकारिक और आधुनिकतम देखना चाहते। उनके इस आग्रह में मुझे अपना अपमान प्रतीत होता। वैसे भी मुझे जहां सादगी और सरलता पसंद थी, वहां वे खूब शौकीन-मिजाज थे। उन्हें संतुष्ट करने में मैं कभी दिलचस्पी न ले पायी; क्योंकि अपने अंतर्मन में कहीं मैं उन्हें और कहीं वे मुझे हेय दृष्टि से देखते थे।

तभी आस्कर वाइल्ड के किसी उपन्यास में निम्नलिखित पंक्तियां पढ़ने को मिलीं:

'विमेन आर मेन्ट नॉट टु जज अस बट टु फ़रगिव अस ह्वेन वी नीड फ़रगिवनेस। पार्डन, नॉट पनिशमेन्ट इज़ देअर मिशन.... ए वुमन हू केन कीप ए मैन्स लव एंड लव हिम इन रिटर्न, हैज़ डन ऑल द वर्ल्ड वान्ट्स ऑफ़ विमेन, ऑर शुड वान्ट ऑफ़ देम।' [स्त्रियों का काम हमारा न्यान्य-विचार करना नहीं, वरन हमें क्षमा करना है। दंड नहीं, वरन क्षमा उनका मिशन है। जो स्त्री पुरुष के प्रेम को बनाये रख सकती है और प्रतिदान में उसे प्रेम दे सकती है, उसने वह सब कुछ कर लिया है, जिसकी आशा संसार स्त्रियों से करता है या करने का अधिकारी है।]

इन शब्दों का मुझ पर बहुत असर पड़ा। मैंने जीवन को एक नये दृष्टिकोण से देखा और तब से दोष-दर्शन की आदत छोड़ दी। उस दिन शायद मैं पहली बार पत्नी बनी।

मेरा मन जो सदा उलटी दिशा में चलता था, उसकी लगाम मानो मैंने खींच ली; लेकिन वह पति का अनुगामी बन जाये ऐसा नहीं हुआ। मेरे पति में कोई दुर्गुण न होते हुए भी मुझे उनसे उतना स्नेह एवं सद्भाव नहीं मिला, जो मुझे इस ओर बढ़ने को प्रेरित करता। फलतः पत्नी बनने का गर्व और आनंद मैं प्राप्त न कर सकी और धीरे-धीरे एक निष्क्रियता और उदासीनता मुझे घेरती गयी।

अब जब स्वयं पर दृष्टिपात करती हूं, तो अपने को एक नितांत साधारण वर्ग की स्त्री पाती हूं। बुद्धि की कुशाग्रता पता नहीं कहां चली गयी! स्वभाव की कोमलता और भावनाशीलता भी नष्ट हो गयी है और लावण्य पर तो समय का प्रहार होना स्वाभाविक ही था।

फिर भी एक परिवार की सुदृढ़ नींव रखने में मैंने सहयोग दिया है, उसकी संतति को स्वस्थ वातावरण देने के लिए मैंने अपने तन-मन की आहुति दी है। अपने जीवन को एक हार समझूं या जीत? किसी निपुण कलाकार की कोई कलात्मक कृति किसी का जीवन सींचने के लिए कुरूप कर दी जाये, तो इसमें उसकी सार्थकता है या निरर्थकता? ये प्रश्न शायद सदा ही विवादास्पद रहेंगे। किंतु मनीषियों के वाक्यदीप सदा जीवनों को ज्योतित करते रहेंगे और 'शाश्वत शोक' की मूर्ति के कांसे में से 'क्षणिक आनंद' की मूर्तियां गढ़ते रहेंगे।

—२२, कैनाल कालोनी, लखनऊ

★

• निर्मलकांत ठाकुर •

ये प्राणघाती मछलियां हैं

मछलियां बहुधा निरीह एवं असुरक्षित होती हैं; किंतु सबकी सब नहीं। कई तो बहुत क्रूर एवं खूंख्वार स्वभाव की होती हैं। कई खूंख्वार तो नहीं होतीं, फिर भी उनका सामीप्य खतरनाक सिद्ध हो सकता है—कभी-कभी तो जानलेवा भी।

सर्वप्रथम, जहरीली मछलियों को लें। मोटे तौर पर ये दो प्रकार की होती हैं—१. जिनके शरीर का कोई अंग-विशेष जहरीला होता है तथा उसकी सहायता से वे शत्रु को डसती हैं; २. जिनका पूरा ही शरीर जहरीला होता है और जिन्हें खाना जान गंवाना है।

डंक मारने वाली सर्वाधिक जहरीली मछली है—स्टिंग-रे। यह बहुचर्चित एवं बदनाम शार्क मछलियों के परिवार की करीबी रिश्तेदार है। वैसे तो कोई ११८ जातियां हैं इसकी; किंतु इनमें से कुछ ही जातियां नदियों एवं सागरों में ज्यादातर मिलती हैं। मुख्यतः ये उष्ण कटिबंध की नदियों एवं सागरों में पायी जाती हैं। सागरों में पायी जाने वाली जातियां काफी विशालकाय होती हैं। १४ फुट लंबाई और ८०० पौंड वजन इनकी विशालता का रिकार्ड है। चिपटा एवं तश्तरीनुमा शरीर तथा पिछले सिरे पर चाबुक-सदृश लंबी एवं लचकीली पूंछ इनकी पहचान है।

इनका विष-उपकरण पूंछ के ऊपरी भाग पर होता है। किसी मछली में एक ही उपकरण होता है, किसी में दो होते हैं। वस्तुतः यह एक लंबा और बहुत ही मजबूत कांटा होता है, जिसके दोनों ओर पीछे की ओर झुके हुए नुकीले कांटों की कतार होती है। इन कांटों की पकड़ बहुत मजबूत होती है। ये शरीर में बिंध जायें तो फिर इन्हें निकालना लगभग असंभव हो जाता है। यों

अप्रैल

देखने से इन कांटों में कोई विषग्रंथि दृष्टि-गोचर नहीं होती। वास्तव में इन कांटों के नीचे लंब-रूप में दौड़ती हुई दो नलियां होती हैं, जिनमें विष संचित रहता है।
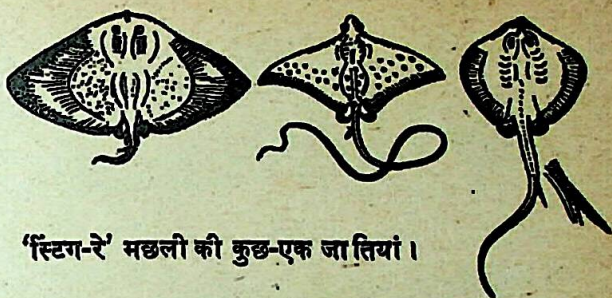
'स्टिंग-रे' मछली की कुछ-एक जातियां।

कांटों का बस एक ही बार उपयोग हो पाता है। ज्यों ही ये शत्रु के शरीर में बिंध जाते हैं, कांटा खिचकर मछलियों की पूंछ से बाहर निकल आता है। कालक्रम में फिर नये कांटों का सेट उग आता है।

इन कांटों का आत्मरक्षा के अलावा कोई उपयोग नहीं। इनकी सहायता से शिकार करने का कोई प्रश्न नहीं उठता; क्योंकि ये मछलियां जल के सूक्ष्म जीवाणओं, सितुए-घोंघों एवं सहज ही पकड़ में आ जाने वाली मछलियों को खाकर जीती हैं। वास्तव में इन मछलियों का रंग-रूप, इनकी तैराकी, इनका स्वभाव सभी कुछ एक ही बात की ओर इंगित करता है—आत्मरक्षा। तैरते समय ये अपनी पूंछ को निरंतर हिलाती रहती हैं, मानो परोक्ष रूप से अन्यान्य जीवों को चेतावनी दे रही हों—मुझे हाथ मत लगाना, मेरे पास जानलेवा हथियार है। वैसे, खतरे की आशंका पर ही ये अपने इस प्राणघाती अस्त्र का उपयोग करती हैं। इसे सृष्टिकर्ता की दयालुता का ही प्रमाण समझिये कि उन्होंने इन जहरीली मछलियों की मनोवृत्ति शांत बनायी है, उग्र नहीं। वरना डंक मार-मारकर ये कुहराम न मचा देतीं!

स्टिंग-रे का विष सफेद रंग का एवं अत्यंत तीव्र होता है। यदि डंक गहरा पड़ गया, तो मृत्यु अवश्यंभावी है। परीक्षणों से ज्ञात हुआ है कि यह विष सर्वप्रथम हृदय एवं रक्त-संचालन को प्रभावित करता है। हृदय की मांसपेशियों की गतिशीलता क्षीणतर होती जाती है और बाद में श्वास-प्रक्रिया बाधित होने लगती है। यदि मृत्यु नहीं हुई तो असह्य जलन एवं पीड़ा से प्राणी छटपटाता रहता है। कभी-कभी तो भय से ही उसके प्राण-पखेरू उड़ जाते हैं।

डंक मारने वाली मछलियों की विभिन्न जातियों में विषग्रंथियां तथा विषवाहक उपकरण भिन्न-भिन्न अवयवों में पाये जाते हैं। हमारे देश की विख्यात सींघी तथा मांगुर मछलियों के स्कंध-पंखों में एक मजबूत कांटा होता है, जिसके चारों ओर लिपटी झिल्ली विष-सिंचित होती है। इन मछलियों को हाथ लगाने में जरा भी चूक हुई तो ये झटके के साथ बहुत जोरदार आघात करती हैं और यह आघात असह्य पीड़ा
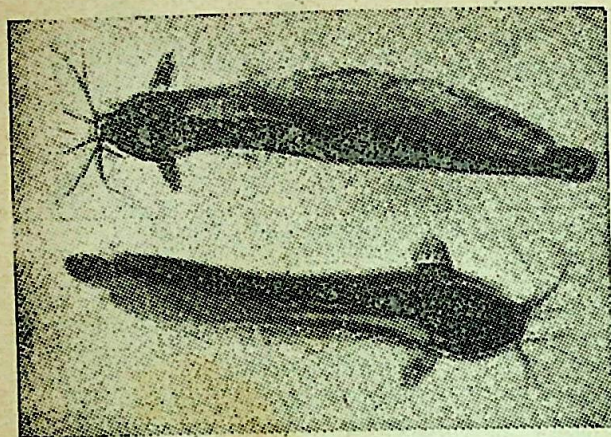
(ऊपर) हमारे देश के पोखरों में पायी जाने वाली सींघी मछली और (नीचे) मांगुर मछली।

●

बुल-डाग के मुख-जैसा होता है। शरीर पत्थरों जैसा ऊबड़-खाबड़ – 'स्टोन' नाम के सर्वथा अनुरूप। पीठ पर दर्जनों ऐसे कांटे होते हैं, जिनकी जड़ों में विष की ग्रंथियां रहती हैं।

को जन्म देता है। भूमध्य सागर में पायी जाने वाली वीवर जाति की मछलियों में विष-कांटे उनकी कनपटियों पर होते हैं। 'वीवर' शब्द पुरानी फ्रेंच भाषा के 'वीवेरे' शब्द से संबंधित है और 'वीवेरे' का अर्थ है वाइपर, जो कि एक विषैला सर्प है। वस्तुतः वीवर मछलियों का विष सर्पविष की भांति ही तीव्र होता है और सीधे मस्तिष्क एवं हृदय को प्रभावित करता है।

दक्षिण प्रशांत महासागर में पायी जाने वाली टोड मछलियों की पीठ पर के कांटे पर्याप्त विषैले होते हैं। दबाव पड़ते ही इन कांटों से पिचकारी की तरह विष की धारा फूट निकलती है। इनका डंक अत्यंत कष्ट-दायक होता है और उससे ज्वर आने की संभावना रहती है। पश्चिमी प्रशांत महा-सागर तथा हिंद महासागर में पायी जाने वाली स्टोन मछलियां जितनी ही कुरूप होती हैं, उतनी ही विषैली भी। उनका मुख

बड़े भड़कीले रंगों वाली एक किस्म की मछलियों को बिच्छू मछली कहा जाता है। ये अनगिनत कांटों की कतारों से सज्जित होती हैं। कोई सोच भी नहीं सकता कि इस खूबसूरत आवरण का एक-एक कोना विष बुझा है।

अब उन मछलियों की बात करें, जिनका सर्वांग विषैला होता है–विषकन्याओं की तरह। भूल से इनकी एक बोटी भी यदि हमारे आहार में पड़ गयी, तो हमारे प्राणों
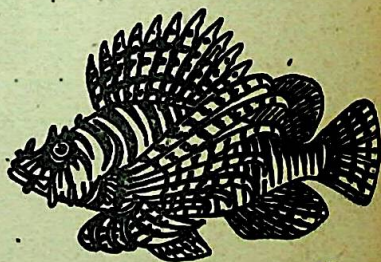
बिच्छू मछलियों की एक जाति

पर बन आ सकती है। बंगाल के सुंदरवन द्वीपों में शिशिरागमन के साथ अन्यान्य प्रांतों से अनेक मछुए मछलियां पकड़ने आते हैं। अनुसंधान-कार्य के सिलसिले में मैं जब-जब उधर गया हूं, मुझे विषैली मछलियों के भक्षण से हुई मृत्यु के मामले देखने को मिले हैं। ये परदेशी मछुए इस बात से अनभिज्ञ होते हैं कि इन इलाकों में मिलने वाली मछलियों में कौन-सी विषैली हैं और उनके शिकार बन बैठते हैं। इन विषैली मछलियों की एक किस्म को अंग्रेजी में 'पफर' कहते हैं। इसकी खूबी यह है कि पानी से बाहर होते ही इसके पेट का निचला चमड़ा फूलने लगता है और फूलते-फूलते यह अच्छा खासा गुब्बारा बन जाती है। जीवित या मृत हर दशा में 'पफर' विषैली होती है।

कुछ प्रकार की मछलियां एक खास उम्र में पहुंचकर विषैली हो जाती हैं, जबकि कुछ किस्में किसी ऋतु-विशेष में विषैली बन जाती हैं। अनुमान है कि उस आयु अथवा ऋतु में ये मछलियां कुछ विशेष प्रकार का आहार ग्रहण करने लगती हैं, जो इनके विषैलेपन का कारण बन जाता है।

अब चर्चा करें उन मछलियों की, जिनके भयानक और खूंख्वार स्वभाव को सहज ही भुलाया नहीं जा सकता। इनकी सरताज हैं दक्षिण अमरीका में पायी जाने वाली वे ठिगनी रक्त-पिपासु मछलियां जो पिरान्हा के नाम से जगद्विख्यात हैं। अमरीका के स्टैनफर्ड विश्वविद्यालय के प्रा. ज़ार्ज मायर ने इन मछलियों का पर्याप्त अध्ययन किया
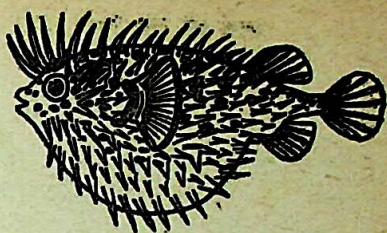
'पफर' मछलियों की जाति

है। उन्होंने इनका वर्णन यों किया है :

'एक मछली मात्र एक फुट लंबी, जिसके दांत इतने पैने और जबड़े इतने मजबूत कि उस्तरे की-सी सफाई से किसी मनुष्य अथवा घड़ियाल के शरीर से मांस का टुकड़ा काट निकाल सकते हैं, अथवा उंगली या एडी, हड्डी और सब कुछ नोच डाल सकते हैं...... एक मछली, जिसे किसी चीज का भय नहीं, जो हर जीव पर—चाहे उसका जो भी आकार हो—विद्युत-गति से प्रहार करती है। एक मछली, जो कभी अकेले प्रहार नहीं करती, बल्कि सदा सैकड़ों अथवा हजारों के झुंड में ही ऐसा करती है। एक मछली, जो जल में किसी चीज के गिरने की ध्वनि से अथवा जल की थरथराहट से आकर्षित होती है। और एक मछली, जो लहू की गंध मिलते ही

रक्त-पिपासु 'पिरान्हा' मछली

शार्क की एक विशेष जाति
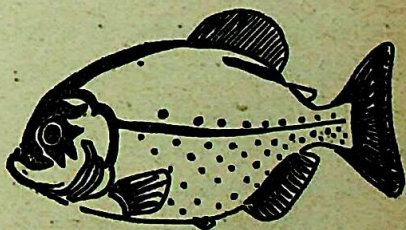
बर्बर राक्षस बन जाती है। यह है पिरान्हा। संपूर्ण दक्षिण अमरीका में इसका जितना आतंक है, उतना किसी अन्य जीव का नहीं। पिरान्हा, अमेजन की सबसे खतरनाक मछली है—संभवतः संपूर्ण संसार की भी।'

रोमांचक-कथाओं के लेखकों की सर्वाधिक प्रिय मछली शार्क की भयानकता एवं बर्बरता से कौन परिचित नहीं? अपनी चपलता एवं तेजस्विता के कारण शार्कों का सागरों में जबर्दस्त दबदबा है। मनुष्य तथा अपनी ही जाति-बिरादरी को छोड़ प्रत्यक्षतः इनका कोई दुश्मन नहीं। इनके विशाल परिवार में नाना रूपों व आकारों के कोई २५० सदस्य हैं। दक्षिण ध्रुव सागर को छोड़कर संसार के समस्त सागरों में २,००० मीटर की गहराई तक ये पायी जाती हैं। इनकी कुछ जातियां उन नदियों में भी मिलती हैं, जिनमें समुद्री ज्वार-भाटे का प्रभाव रहता है। ताजे जल में इनकी सिर्फ एक जाति पायी जाती है।

छोटे-मोटे जीव-जंतुओं से लेकर मनुष्य तक सभी कुछ इनके भोजन में शामिल है। अत्यंत तीव्र घ्राण-शक्ति, शिकारी आंखें, विकसित मस्तिष्क और निर्भीकता—इनके सहारे ये जब जो चाहती हैं, हासिल कर लेती हैं। तीव्र घ्राणशक्ति के कारण कुछ ने इन्हें 'तैरती नाक' (स्विमिंग नोज) कहा है।

शार्कों में भी सबसे खतरनाक है—ग्रेट ह्वाइट शार्क। बोलचाल की भाषा में इनका एक छोटा-सा नाम है—नरभक्षी। साधारणतः २०-२५ फुट लंबी होती है। लेकिन आस्ट्रेलिया के फेयरी बंदरगाह पर ३६॥ फुट की भी पकड़ी गयी थी। प्रायः इसका वास होता है खुले सागरों में, जहां पानी बहुत गहरा होता है। बड़ी ही दुष्ट प्रकृति की होती है यह। भोजन-जैसी दिखने वाली कोई भी चीज, चाहे वह अखाद्य ही क्यों न हो, इससे नहीं बच पाती। जहाजों से फेंका गया टिन का खाली डब्बा, शराब की खाली बोतल, अथवा महज लकड़ी का टुकड़ा—किसी को यह छोड़ती नहीं। नजर पड़ी और सफाया हो गया! जिन गोताखोरों का इससे पाला पड़ा है, उनमें से शायद एक-आध ही अपने अनुभव सुनाने के लिए बच सका है।

ग्रेट ह्वाइट के अलावा और भी कई शार्क हैं, जो मनुष्यों को भोज्य वस्तु के रूप में देखती हैं। माको शार्क, सैंड शार्क, टाइगर शार्क और हैमर-हेडेड शार्क के नाम इस सिलसिले में उल्लेखनीय हैं।

कहते हैं, शार्क मछलियां प्रायः शरीर के कोमल भागों—जैसे कूल्हों, पैरों की पिंडलियों, जांघों व बांहों पर ही प्रहार करती हैं। लपक इनकी इतनी जबर्दस्त होती है कि कभी-कभी समूची बांह कटकर अलग हो

अप्रैल

जाती है। कुछ शार्क मछलियों को धक्का देने की विचित्र आदत होती है—धक्का भी इतना जोरदार कि हड्डी-पसली चरमरा उठे। कहा जाता है, धक्के मारकर ये यह परखना चाहती हैं कि हम खाद्य हैं अथवा अखाद्य।

यह एक प्रचलित गलतफहमी है कि शार्क की सभी जातियां नरभक्षी हैं और शार्क जितनी बड़ी हो उतनी ही खतरनाक होती है। बेशक जन-साधारण के लिए यह हिदायत है कि दस फुट से बड़ी कोई भी शार्क मछली निरापद नहीं। लेकिन शार्क की दो विशालतम जातियां ह्वेल शार्क और बास्किंग शार्क बिलकुल भी खतरनाक नहीं होतीं। ये ४५ फुट लंबी होती हैं। कहते हैं, गोताखोर इनके पास से होकर गुजर जाते हैं और ये परवाह तक नहीं करतीं। मनुष्य ही नहीं, अपितु समुद्र के अन्यान्य जीव-जंतुओं के प्रति भी ये ऐसी ही उदारता दरशाती हैं। विशाल शरीर वाली होते हुए भी ये जल के सूक्ष्म जीवाणुओं अथवा सहज ही पकड़ में आ जाने वाली छोटी-मोटी मछलियों को खाकर उदरपूर्ति करती हैं।

बहुत लोगों की धारणा है कि सागरों में पायी जाने वाली 'बास' मछलियों की कुछ
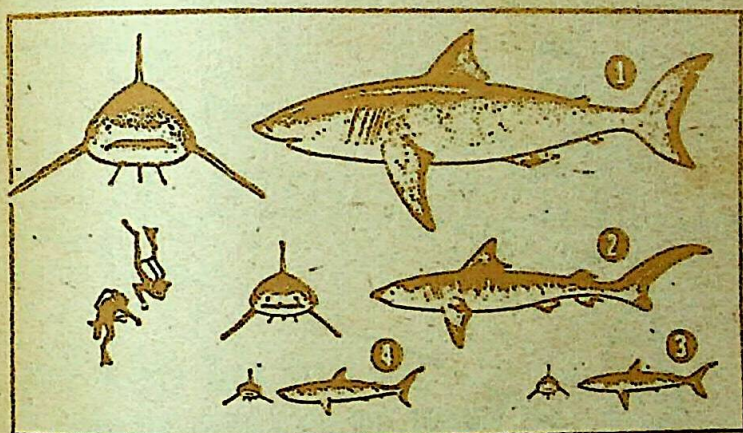
ये हैं ज्यादा बदनाम शार्क जातियों में से कुछ, और उसी अनुपात में अंकित दो गोताखोर। ग्रेट ह्वाइट (१) का अब तक पकड़ा गया विशालतम नमूना ३९ फुट लंबा है। टाइगर शार्क (२) बदनाम नरभक्षी है, जो छिछले पानी की शौकीन है और प्रायः १८ फुट तक लंबी होती है। माको (३) गरम पानी में रहती है और नरभक्षी है। बुल (४) हालांकि १२ फुट से बड़ी शायद ही होती हो, मगर सबसे खौफनाक नरभक्षी यही है। —['संडे टाइम्स', लंदन से साभार]

अच्छा, तो अपने पड़ोसियों से मिलने आये हैं?
४ उड़ानें सीधे रोम के लिए.
१ उड़ान एक जगह रुकते हुए लंदन के लिए. मनपसंद चुनाव के लिए प्रति सप्ताह पश्चिमी यूरोप और यू. के. के लिए ११ उड़ानें तथा अमेरिका के लिए सात उड़ानें.
पश्चिमी देशों के लिए प्रति सप्ताह अधिकाधिक उड़ानों की सुविधा, जिसमें ४ बेहद तेज़ रफ़्तार वाली हैं. सफ़री और कारोबारी दृष्टिकोण से यूरोप और अमेरिका के प्रमुख आकर्षण केन्द्रों को एयर-इंडिया मानो आपके पड़ोस में ही ले आती है.
एयर-इंडिया
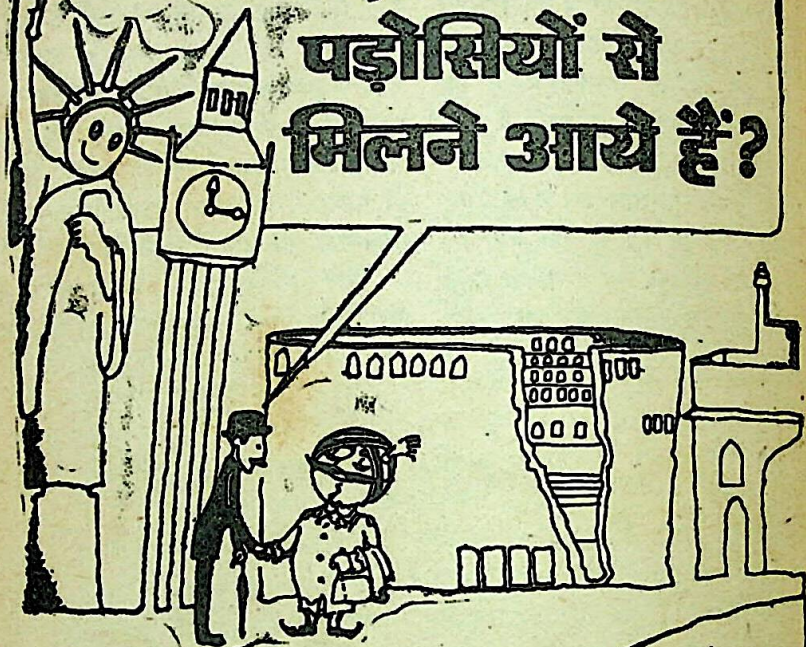
जातियां शार्क मछलियों से भी अधिक खतरनाक होती हैं। इनका मुंह बहुत विशाल होता है, जिससे ये समूचे आदमी को आसानी से निगल सकती हैं। ये हत्यारी मछलियां मूंगे के पहाड़ों के आस-पास पायी जाती हैं। बाराकुडा जाति की कई मछलियां भी खतरनाक होती हैं। इनकी कोई २० किस्में हैं और इनमें सभी युवा मछलियां काट खाने में उस्ताद होती हैं।

तलवार मछली (स्वोर्ड फिश) तथा उससे मिलती-जुलती आकृति वाली मारलीन एवं शेल मछलियों की भी गणना खतरनाक मछलियों में की जाती है, हालांकि ये उतनी खतरनाक होती नहीं। इनकी नाक बहुत लंबी एवं नुकीली होती है—तलवार की तरह। इन तलवारों का उपयोग ये करती हैं मछली मारने के लिए। कभी-कभी तैश में आकर ये उसे नावों में भी घोंप देती हैं। अगर कोई आदमी सामने पड़ गया तो बस।

दक्षिण अमरीका में पायी जाने वाली कानडीरु जाति की मछलियां अलग ही ढंग से खतरनाक होती हैं। ये विशालकाय नहीं होतीं, न इनके पास कोई जहरीला हथियार होता है। ये पतली और महज ढाई इंच लंबी होती हैं; और इसीलिए खतरनाक भी। संभवतः संसार का यही एकमात्र पृष्ठवंशी जीव है, जो मनुष्य पर पराश्रित होकर जीने की कोशिश करता है। मौका मिले तो यह मछली जल में स्नान कर रहे स्त्री या पुरुष की जननेंद्रिय में प्रविष्ट हो जाती है। इसकी इस अजीब आदत का कारण क्या है, यह
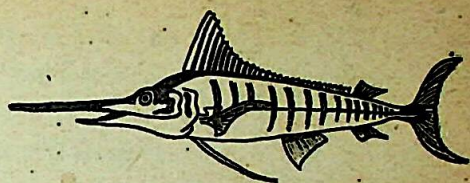
'स्वोर्ड फिश' यानी 'तलवार मछली'

अभी तक तय नहीं हो पाया है। संभवतः इसे यूरिया नामक रासायनिक पदार्थ से विशेष लगाव है, जो मूत्र में पाया जाता है।

जननेंद्रिय में प्रविष्ट होकर वहां यह अपने पंखों तथा कनपटियों के कांटे खड़े कर लेती है, जिससे इसका बाहर निकलना असंभव-सा हो जाता है। तब इसे बाहर निकालने का एक ही तरीका है—शल्य-चिकित्सा। वह भी अगर तुरंत नहीं की गयी तो रोगी की मृत्यु लगभग निश्चित है। जहां यह मछली पायी जाती है, वहां इसके उत्पात से बचने के लिए लोग प्रायः ताड़ के पत्तों की चड्डी पहन लेने के बाद ही जल में जाते हैं। कानडीरु मछलियां मनुष्य के शरीर में सूराख करके रक्त-मांस-भक्षण का भी शौक रखती हैं। ऐसी तो अनेक छोटी-छोटी मछलियां हैं, जो तैरते समय मनुष्य के खुले मुंह में प्रवेश करके गले में जा अटकती हैं।

गरज यह कि जो मत्स्य-जगत की विचित्रताओं से अनभिज्ञ हैं, वे ही मछलियों को निरीह-निस्सहाय समझकर उनकी उपेक्षा कर सकते हैं। स्टिंग-रे, पिरान्हा, शार्क और कानडीरु आदि से परिचित हो जाने के बाद ही हमें पता चलता है कि मत्स्य-ज्ञान के मामले में हम कितने पानी में हैं।

★

• 'मैंने न तुम्हें देखा, न एक शब्द कहा'

मैंने न तुम्हें देखा, न एक शब्द कहा।
हम साथ-साथ ऊपर चढ़े थे—यदि कुछ बात हुई भी
तो पहाड़ों के साथ ही हुई।
यह सब कुछ वैसा ही था, जैसे
इस देहाती इलाके की निस्तब्धता में खड़े बेजुबान वृक्ष!
दूसरे दिन, लड़खड़ाते-हांफते हुए
अंधेरी सीढ़ियों से ऊपर चढ़कर, जब मैं बेतहाशा
कमरे में भागूंगा और दरवाजा
भांय-भांय करता खुला मिलेगा, मैं जानता हूं—
सूनी दीवारें, किताबों के खाने औ' खाली कुर्सियां,
सभी मेरे सिर पर टूट-टूट गिरेंगी, और
मैं तुम्हें पुकार उठूंगा।

• • अपनी बेटी के नाम

मेरी बेटी, आज जब हम साथ-साथ टहलते हैं,
मेरी एक उंगली को घेरे तेरी मुट्ठी की सुनहली पकड़ होती है।
आज से बहुत आगे, जब तू सयानी हो जायेगी—तेरी आंखों
में अभी ही झांकने लगा है भविष्य—
मैं ताजिंदगी, अपनी इस हड्डी के चारों ओर
एक अदृश्य सुनहली पकड़ महसूस करूंगा।

• • • चांद

चांद, मुझे आस्था तो नहीं तुममें थोड़ी भी।
फिर भी हर घड़ी,
मैं तुम्हें देखता ही रहा हूं : (खिड़कियों की दरारों
से—छतों की सुराखों से—अनगिनत वर्गाकार
सुराखें ही सुराखें—और
किसी छायाचित्र की भांति दीखती पत्तियों की झिलमिल से)
तुम्हारा उज्ज्वल प्रभा-मंडल।
उमंग से उत्प्लावित कर देने वाला तुम्हारा बिंब।
यह छबि, जो हमारी धरती का उपहास करती है।

मैं उसे कई दिनों से देखता आ रहा था। रिचि पार्क के एक कोने में वह अपने पिता के साथ रहता था। सुबह-शाम वे मिलकर खाना बनाते और दिन-भर बाहर कहीं रहते। मेरे एक दोस्त ने बताया कि दोनों तमाशे वाले हैं और आठ-दस साल का वह लड़का गजब के कारनामे दिखाता है। दोस्त ने यह भी बताया कि उस बच्चे के साथ का वह मरियल-सा आदमी उसका बाप नहीं, बल्कि उसके गांव का कोई आदमी है।

एक सुबह उन्हीं के निकट एक बेंच पर बैठा मैं अनमना-सा कुछ सोच रहा था कि वह लड़का ठिठकता हुआ मेरे पास आया, बोला–'बाबूजी, मेरा एक काम कर देंगे?'

मैंने पूछा–'क्या काम है?'

'एक चिट्ठी लिख देंगे?' कहते हुए उसने एक पोस्टकार्ड निकालकर आगे बढ़ा दिया। मैंने पोस्टकार्ड ले लिया और जेब से कलम निकालकर पूछा–'क्या लिखाओगे?'

उसने ठेठ देहाती भाषा में अपनी मां के नाम पत्र लिखवाया, जो इस प्रकार था–'कलकत्ता से देबू की तरफ से मां को सादर प्रणाम। मैं सकुशल हूं। तुम्हारी कुशलता के लिए कालीजी से मनाता रहता हूं। मां, तुम्हारे बिना यहां मेरा मन नहीं लगता। पर तुम चिंता न करना। मैं यहां अच्छी तरह हूं। कलकत्ता बहुत बड़ा शहर है। मैं घूम-घूमकर तमाशा दिखाता हूं। यहां काफी पैसे मिल जाते हैं। मां, मैंने तुम्हारे लिए चाचा को पैसा देकर अच्छी-सी साड़ी और ब्लाउज खरीदवाया है। और भी
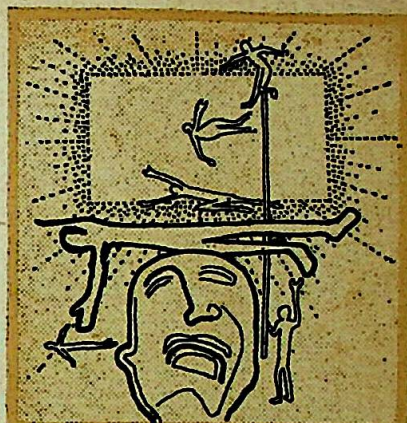
स्मृति के अंकुर

सामान खरीद रहा हूं।'...... इतनी बातें पोस्टकार्ड के एक ओर पूरी हो गयी थीं। पोस्टकार्ड पलटते हुए मैंने पूछा–'और क्या?'

'और क्या लिखवाऊं?' कहकर वह कुछ सोचने लगा। फिर चौंककर बोला–'अरे, खास बात तो भूल ही गया! लिख दीजिये ......तुम फिकर न करना, मां! मुझे तुम्हारी याद बहुत आती है। मैं जल्दी घर आऊंगा।' मैंने मोटे-मोटे अक्षरों में लिख दिया–'मैं जल्द ही आऊंगा मां! तुम चिंता न करना।' और नीचे लिखा–'तुम्हारा प्यारा बेटा, देबू।' फिर उसने अपनी मां का पता लिखवाया, जो बिहार के किसी गांव का था।

अंत में पत्र मुझे ही थमाते हुए वह बोला–'मैं कहां डालूंगा, बाबूजी! कृपा करके आप ही इसे डाक में छोड़ दें।' पत्र

देकर वह चला गया। मैंने उसे जेब में रख लिया। फिर जाने किस काम में फंस गया कि पोस्टकार्ड लेटरबक्स में डालना भूल गया।

उसी दिन शाम को आफिस से घर लौट रहा था कि रास्ते में एक जगह भीड़ देखी। उत्सुकतावश वहां पहुंचा। वहां का दृश्य देखकर मेरी सांस जहां की तहां रुकी रह गयी। देवू के लहूलुहान शव को पोस्टमार्टम के लिए पुलिस-गाड़ी में रखा जा रहा था। पूछने पर पता चला कि बीस फुट ऊंचे बांस पर चढ़कर वह करिश्मे दिखा रहा था कि अचानक हाथ छूटा और...... उसका चाचा पुलिस की हिरासत में था।

मैं वापस मुड़ा। सहसा कुछ खयाल आया और अपनी जेब में हाथ डालकर उसका पत्र निकाला। पोस्टकार्ड की दूसरी पीठ पर मेरे ही हाथों की मोटी-मोटी लिखावट चमक रही थी—'मैं जल्द ही आऊंगा मां! चिंता न करना।......' मैं निर्णय नहीं कर पाया कि पोस्टकार्ड को किसी लेटरबक्स में डाल दूं या उसके बदले ......?

—कुमार अजित विकल, कलकत्ता-१५

०००

मौन दंड

हमारे स्कूल में नये प्रधानाध्यापक आये थे। एक दिन दसवीं कक्षा में मेरा पीरियड था। मगर मुझे समय का ठीक ध्यान न रहा। जब मैं कक्षा के दरवाजे पर पहुंचा, तो लगभग बीस मिनट बीत चुके थे। मैंने देखा कि नये प्रधानाध्यापक बड़ी तन्मयता से पढ़ा रहे हैं और वह भी मेरा विषय। मैं बड़े असमंजस में था—कक्षा में जाऊं तो मुसीबत, और न जाऊं तो मुसीबत। अचानक उनकी दृष्टि मुझ पर पड़ी। वे कक्षा से बाहर आये और मुझे पुस्तक देते हुए विनम्रता से बोले—'क्षमा कीजियेगा, मैंने आपका पीरियड ले लिया।' और चले गये। मेरा खयाल था कि वे बाद में मुझसे जरूर कुछ कहेंगे, लेकिन उन्होंने कुछ भी नहीं कहा। पर कुछ न कहकर भी वे मुझे नियमितता का पाठ पढ़ा गये।

—देवप्रकाश कौशिक, भीलवाड़ा, राजस्थान

०००

चासनाला

उन दिनों मैं गरमी की छुट्टी बिताने अपने गांव आया हुआ था। सुबह नदी के किनारे टहलकर जब वापस लौट रहा था, तो आम के बगीचे से गुजरा। मैं एक आम के पेड़ के पास पहुंचा ही था कि अचानक एक पका आम धप्प-से नीचे गिरा। उसे उठाने के लिए मैं जैसे ही लपका, एक बच्चा तीर की तरह आया और उसने झट-से उस पके आम को उठाकर उस पर थूक दिया। उसका नाम था—सलीम।

मैंने पूछा कि अबे, सलीम! तूने आम तो उठा ही लिया था, फिर इस पर थूकने की क्या जरूरत? इस पर सलीम ने तपाक से जवाब दिया—'यह बड़ा मीठा बनारसी लंगड़ा है। मैं थूकता नहीं तो भला आप इसे मुझे क्यों देते? आप मुझसे बड़े हैं, पढ़े-

लिखे हैं और ऊंची जाति के हैं। आपसे इसे पाना आसान काम नहीं था।'

मैंने उसे समझाया कि तुम्हारा यह सोचने का तरीका गंदा है। अपने को छोटा और तुच्छ समझना अच्छा नहीं। बाद में पता चला कि सलीम ने उस आम को कुएं में फेंक दिया। मानो ऐसा करके उसने अपनी बुरी करनी का प्रायश्चित्त कर लिया।

तेरह साल बाद अभी हाल में जब मैं अपने गांव गया, तो पता चला कि सलीम भी चासनाला की खदान में दब गया। गांव के सभी लोग आज उसकी याद में रो रहे हैं। लगता है—चासनाला से उसकी दबी हुई आवाजें, आहें मेरे कानों में गूंज रही हैं और मेरे दिल को विदीर्ण कर रही हैं।

—डा. तेजनारायण लाल, आगरा

०००

विवशता या......

आजकल हम नयी पीढ़ी से बहुत रुष्ट हैं और उसके आचार-विचार से बहुत दुःखी। परंतु यह बात है पुरानी पीढ़ी के एक बुजुर्ग की। कभी कुछ घंटों के लिए मैं उनके घर गयी थी कानपुर; तब वे वहां डिप्टी जेलर थे। उनकी बेटी एक तरह से जबरन हम दो लड़कियों को ले गयी थी अपने यहां। यह सुनकर कि पिता के न होने से भाई ही हमारे आश्रयदाता हैं तथा उनकी आय बहुत कम है, वे बड़ी गर्मजोशी से मिले और उन्होंने ढेर सारे आश्वासन हमें दे डाले। पर मैं वहां रही नहीं—कारण था उस घर का वातावरण—और कानपुर में ही अपने एक अन्य परिचित के यहां चली गयी।

दो-एक साल बाद वे हमारे घर आये। छोटी बहन घर पर थी। वह उनके नाम से परिचित थी; अतः जो कुछ अतिथि-सत्कार हो सकता था, किया। जब जाने लगे तो बोले—'बेटी, तुम्हारी नीलादीदी जब कानपुर आयी थी, उसने मुझसे तीस रुपये उधार लिये थे। शायद भूल गयी। इस समय मैं धर्मसंकट में हूं, होटल में ठहरा हूं और पर्स जेब से निकल गया है।'

सुनकर बहन धक्-से रह गयी। वह जानती थी कि मैं कभी किसी से उधार नहीं लेती। मगर यह भी नहीं सोचा जा सकता था कि ये बुजुर्ग झूठ बोलेंगे। यों भी उनकी स्थिति सुनकर कोई भी सहृदय व्यक्ति उनकी सहायता अवश्य करता। अतः छोटी बहन बहुत परेशान। उसके पास रुपये थे नहीं। मां बीमार थी। भाई से मांगने का प्रश्न ही नहीं! और रिटायर्ड डिप्टी जेलर हैं कि धरना दिये बैठे हैं।

खैर, कहीं से मांगकर उन्हें रुपये दिये और जब मैं लौटी तो डरते-डरते सारी बात बतायी। सुनकर मैं हतप्रभ! उसे तो क्या डांटती। और उन सज्जन के बारे में सोचा कि कोई विवशता रही होगी। पर आज इतने साल बाद सोचती हूं, जो एक विवश परिवार की भोली लड़की को ठगते हुए नहीं झिझके, उन्होंने नौकरी के दौरान जाने किस-किस की विवशता का लाभ उठाया होगा!

—नीला चावला, लखनऊ

★

'द मैन विद द मिरॅक्युलस हॅंड्स' का
सुखबीर द्वारा प्रस्तुत सार

जोसेफ केसल

बर्लिन की सड़क प्रिंस अल्ब्रेख्ट स्ट्रास पर ८ नंबर की इमारत अपने विशाल आकार के सिवा युद्धपूर्व बर्लिन की अन्य इमारतों जैसी ही लगती थी। उस पर स्वस्तिक-युक्त झंडे लहराते थे और दिन-रात संतरियों का सख्त पहरा रहता था। उसके सामने से गुजरते हुए लोगों के कदम अपने आप तेज हो जाते थे और उनकी नजर नीची हो जाती थी। उस इमारत में जर्मनी की गुप्त पुलिस 'गेस्टापो' के प्रधान हाइनरिश हिमलर का दफ्तर था; और हिमलर को उस समय समूचे जर्मनी में सबसे खतरनाक व्यक्ति समझा जाता था।

मार्च १९३९ में एक दिन दुपहर बाद एक शानदार कार उस इमारत के सामने आकर रुकी। चालीस वर्ष और मंझले कद का एक मोटा-सा आदमी कार में से निकलकर दरवाजे पर गया और उसने राइशफ्यूहरर हिमलर से मिलने की इच्छा प्रकट की। ('राइश-फ्यूहरर' का खिताब हिमलर को खुद हिटलर ने विशेष रूप से प्रदान किया था।)

अप्रैल

'राइशफ्यूहरर से ?' संतरी ने पूछा।

'हां।'

संतरी भीतर गया और कुछ ही देर में एस-एस (शूत्जस्टाफेल) की वर्दी पहने एक अफसर बाहर आया। आते ही उसने अपनी बांह आगे की ओर तानकर नाजी ढंग से अभिवादन करते हुए ऊंची आवाज में कहा—'हेल हिटलर!' फिर वह आगंतुक को बड़े आदर से अपने साथ अंदर ले गया। उसे साथ लिये वह सिपाहियों से भरे कई कमरों में से गुजरा, सीढ़ियां चढ़कर ऊपरी मंजिल पर गया; फिर एक लंबे गलियारे को पार करके वह एक कमरे के दरवाजे पर दस्तक देने ही वाला था कि दरवाजा अचानक खुला। सामने हिमलर स्वयं खड़ा था आगंतुक की प्रतीक्षा में। आगंतुक को देखते ही हिमलर ने उसका मांसल हाथ अपने दुबले-पतले हाथ में थामा और उसे अंदर ले गया।

'मैं आपका आभारी हूं डाक्टर कि आप पधारे।' हिमलर ने कहा—'आपके बारे में मैंने बहुत सुना है। मेरे पेट में उठने वाली असह्य पीड़ा से शायद आप मुझे छुटकारा दिला सकें। उसकी वजह से मैं न चल सकता हूं, न चैन से बैठ ही सकता हूं। पूरे जर्मनी में कोई भी डाक्टर इसका इलाज करने में कामयाब नहीं हुआ है। क्या आप मुझे आराम दिला सकेंगे?'

डा. फेलिक्स कर्स्टन बड़े ध्यान से देख रहा था हिमलर के चेहरे को—गाल को हड्डियां उभरी हुईं, गहरे सलेटी रंग की आंखों पर फौलादी तार के फ्रेम का चश्मा, छोटी-छोटी मूंछें, और सिर पर विरल-से बाल। यह चेहरा उस व्यक्ति का था, जिसके दिमाग में उपजने वाली योजनाओं के कारण सारा जर्मनी थर-थर कांप रहा था, और लाखों लोग नारकीय यातनाओं व मौत के शिकार बने थे। मगर उस चेहरे के पीछे डा. कर्स्टन को उस व्यक्ति की अपनी यातनाएं भी दिखाई दीं। फिर कर्स्टन ने एक नजर उस कमरे को देखा, जिसमें कागजों से लदी एक काफी बड़ी मेज थी, कुछ कुर्सियां थीं और एक लंबा दीवान था। और उसने कहा—'क्या आप कमर से ऊपर के सभी कपड़े उतारकर यहां दीवान पर लेटेंगे, राइशफ्यूहरर ?'

हिमलर झटपट कपड़े उतारकर लेट गया। कुर्सी खींचकर पास बैठते हुए कर्स्टन ने अपने दोनों हाथ उसके धड़ पर रखे। बड़े-बड़े मांसल हाथ थे वे, जिनकी उंगलियों के सिरे विशेषत: मांसल थे और सूजे हुए-से लगते थे। जब वे हाथ हिमलर के शरीर पर चलने लगे, तो कर्स्टन का फूला हुआ-सा चेहरा एकाएक असाधारण रूप से बदल गया। उस पर की रेखाएं मिट गयीं, उसकी मांसलता तो जैसे गायब ही हो गयी। कर्स्टन ने आंखें बंद कर लीं। अब वह समाधिस्थ बुद्ध-सा दिखने लगा।

इस समय उसकी उंगलियां हिमलर के गले, छाती, दिल और पेट को बड़ी ही नरमी से छूती हुई फिर रही थीं। फिर वे उंगलियां कुछ-एक स्थानों पर उन्हें ठहरकर दबाने,

टटोलने, सुनने लगीं ..... ।

एकाएक हिमलर के मुंह से चीख निकल गयी । कर्स्टन की अतीव कोमल उंगलियों ने हिमलर के पेट के एक भाग को सख्ती से दबाया था । वहां से आग की लपट की तरह पीड़ा उठी और हिमलर चीख पड़ा ।

'बहुत अच्छे ..... मगर बिलकुल हिलियेगा नहीं,' कर्स्टन ने नरमी से कहा । पीड़ा फिर उठी और हिमलर की अंतड़ियों में से गुजर गयी । इसके बाद फिर उठी, और फिर उठी । हिमलर दांतों से ओंठ दबाये कराहता रहा । उसके माथे पर पसीने की बूंदें उभर आयी थीं ।

'बहुत दर्द है न ?' कर्स्टन ने पूछा ।

'बेहद !' हिमलर ने भिंचे हुए दांतों में से कहा ।

कर्स्टन ने अपने हाथ हटा लिये और उन्हें अपने घुटनों पर रखते हुए आंखें खोलकर कहा—'हां, पेट में ही गड़बड़ है, खासकर उससे संबंधित स्नायुतंत्र में ।'

'तो क्या आप इसका इलाज कर सकते हैं ?' कांतिहीन चेहरे से हिमलर ने याचना के स्वर में प्रश्न किया ।

'अभी पता लगाते हैं,' कहते हुए कर्स्टन ने अपनी उंगलियां फिर उसके पेट में धंसा दीं और एक गोल से मांसपिंड को पकड़कर दबाया, गूंधा और मरोड़ा । हिमलर के मुंह से चीख पर चीख निकलती रही ।

कुछ मिनट बाद कर्स्टन उसके पेट को छोड़ते हुए बोला—'आज इतना ही काफी है । अब आप कैसा महसूस कर रहे हैं ?'

हिमलर ने एक क्षण रुककर कहा—'अब तो ...... अब तो बहुत आराम महसूस कर रहा हूं ।' वह बहुत संभलकर दीवान पर से उठा कि हमेशा की तरह कहीं फिर पीड़ा जाग न उठे । मगर इस बार उसे जरा-सी भी पीड़ा न हुई । उसके चेहरे पर खुशी झलकी और वह ठीक तरह से बैठते हुए बोला—'कोई भी दवा फायदेमंद साबित नहीं होती थी । मार्फीन भी नहीं । मगर आज पहली बार इस पीड़ा से छुटकारा मिला है ! ...... डाक्टर साहब, मैं आपको अपने नजदीक रखना चाहता हूं । मैं इसी वक्त आपको एस-एस में कर्नल का ओहदा दिलवा देता हूं ।'

'इस संमान के लिए मैं आभारी हूं,' कर्स्टन ने कहा—'मगर इसे स्वीकार करना मेरे लिए संभव नहीं है; क्योंकि मैं हालैंड में रहता हूं, जहां मेरा घर-परिवार है । फिर वहां मेरे बहुत-से मरीज भी हैं । लेकिन आप जब भी बुलायेंगे, मैं हाजिर हो जाऊंगा । वैसे अगले दो हफ्ते मैं यहीं बर्लिन में ही रहने वाला हूं—यहां के अपने मरीजों के इलाज के लिए ।'

'तो उन मरीजों में मुझे भी शामिल कर लीजिये । यहां रोज आइये । यह आपसे मेरी प्रार्थना है, डाक्टर !' यह कहते हुए हिमलर ने घंटी बजायी । एक कर्मचारी हाजिर हुआ । हिमलर ने उसे आज्ञा दी —'डाक्टर कर्स्टन को किसी भी समय यहां आने की इजाजत है । हर एक को इस बात से आगाह कर दिया जाये ।'

अपूर्ण

फेलिक्स कर्स्टन सही अर्थों में डाक्टर नहीं था। वह मालिश-विशेषज्ञ था और प्रकृति ने उसके हाथों में असाधारण क्षमता भर दी थी।

उसका जन्म सन १८९८ में एस्टोनिया में हुआ था; परंतु वाद में वह फिनलैंड का नागरिक वन गया था। वहीं उसने मालिश द्वारा इलाज करने की शिक्षा लेना आरंभ किया। उन दिनों डा. कोलैंडर इस विद्या के सर्वश्रेष्ठ विशेषज्ञों में गिने जाते थे। एक वार कर्स्टन से उनकी मुलाकात हुई और इस नौजवान के काम से वे इतने खुश हुए कि उसे उन्होंने आगे की शिक्षा के लिए अपने पास बुला लिया।

कर्स्टन ने दो साल तक कठोर परिश्रम किया और सन १९२१ में वैज्ञानिक मालिश-पद्धति में उपाधि प्राप्त की। इसके बाद इस विषय की उच्चतम शिक्षा के लिए वह वर्लिन आया, जहां उसकी मुलाकात डा. को से हुई। डा. को तब तक वहुत बूढ़े हो चुके थे। उनका पालन-पोषण तिब्बत के किसी मठ में हुआ था और वे दीक्षित लामा थे। प्राचीन परंपरागत मालिश-विद्या की शिक्षा उन्हें वचपन से ही दी गयी थी। उन्होंने पूरे वीस साल तक यह विद्या ग्रहण की थी, तदनंतर डाक्टरी पढ़कर पहले लंदन में फिर वर्लिन में आ वसे थे। डाक्टरी की डिग्री के रहते भी अपने मरीजों का इलाज वे मालिश द्वारा ही करते थे।

वे कर्स्टन की वातचीत से प्रभावित हुए। जब कर्स्टन ने उन्हें मालिश करने का फिनलैंड का तरीका वताया, तो वोले—'मेरे नौजवान दोस्त, तुम कुछ भी नहीं जानते, हां कुछ भी नहीं। पर मैं तुम्हें अपना शागिर्द वनाने को तैयार हूं।'

अगले तीन वर्ष कर्स्टन ने डा. को के अधीन अध्ययन में विताये और उनसे वहुत-सी नयी एवं विस्मयकारी विधियां सीखीं। अंततः सन १९२५ में तिब्वती गुरु ने कर्स्टन से कहा—'जो कुछ मैं सिखा सकता था, तुम वह सव कुछ सीख चुके हो। फिर वे अपने सभी मरीजों को शिष्य के हवाले करके तिब्वत वापस लौट गये।

इससे कर्स्टन की किस्मत का सितारा एकाएक चमक उठा। उसकी कमाई कई गुना वढ़ गयी और उसका नाम चारों ओर फैलने लगा। वड़े-वड़े धनिक उसके पास इलाज के लिए आते। दूसरे देशों से भी उसे बुलावे आने लगे। सो उसने वर्लिन के अलावा हेग और रोम में भी अपने दवाखाने खोले, जहां वह कुछ-कुछ दिनों के लिए वारी-वारी से जाता। इन्हीं दिनों उसने शादी की। शुरू से ही वह खाने-पीने का वहुत शौकीन था। सौभाग्य से उसे पत्नी भी ऐसी मिली, जो पाकशास्त्र में प्रवीण थी और वड़े प्रेम से प्रतिदिन नाना व्यंजन वनाकर खिलाती थी। फल यह हुआ कि वह दिनों-दिन मोटा होता गया।

०००

उन दो हफ्तों में कर्स्टन रोज सुबह हिमलर का इलाज करने आता रहा। इस इलाज से हिमलर को जो राहत मिली, वह ला-

राइशफ्यूहरर हिमलर

जवाब थी। हजारों-लाखों लोगों को मौत के घाट उतारने का हुक्म देने वाला हिमलर हर समय सिपाहियों, जासूसों, हत्यारों से घिरा रहता था और बेहद शक्की और कटु स्वभाव का आदमी बन गया था। लेकिन अब डा. कर्स्टन के हाथों के नीचे उसका शारीरिक तनाव कम होने लगा। कुछ ही दिनों में उसके स्वभाव में आश्चर्यजनक मृदुता आने लगी। इलाज के दौरान डा. कर्स्टन हर पांच मिनट बाद कुछ क्षण के लिए मालिश बंद कर देता था, ताकि रोगी की नसों को आराम मिल सके। धीरे-धीरे हिमलर ने इन मध्यवर्ती क्षणों में डाक्टर से बातें करनी शुरू कीं।

शुरू में उसकी बातें या तो अपनी बीमारी के बारे में होती थीं या अपने बारे में। फिर वह प्रायः जर्मन राष्ट्र की श्रेष्ठता और महानता का गुणगान करने लगा। इस वार्तालाप में वह हिटलर का नाम जरूर लाता था, फिर लगातार उसी के बारे में बोलता जाता था। वह स्पष्ट कहता था कि हिटलर जैसी महाप्रतिभा सहस्राब्दी में बस एक बार जन्म लेती है। उसकी नजर में हिटलर देवता था, जिसका अंधानुसरण करके जर्मन राष्ट्र इतिहास के सर्वोच्च शिखर पर पहुंचने वाला था।

कर्स्टन चुपचाप सुनता रहता। वह राजनीति से बचे रहना चाहता था और हिमलर को केवल एक मरीज के रूप में देखता था। मगर एक दिन जब हिमलर ने आराम से दीवान पर लेटते हुए कहा कि जल्दी ही जंग छिड़ने वाली है, तो कर्स्टन चुप न रह सका और उसके मुंह से निकल गया–'जंग! ईश्वर उससे हमें बचाये। मगर वह शुरू क्यों हो रही है?'

'इसलिए कि हिटलर जंग चाहते हैं!' हिमलर उत्तेजित होकर कहने लगा–'जंग इंसानों को ज्यादा ताकतवर और बहादुर बनाती है। ...... वैसे, यह जंग छोटी-सी होगी—आसान और जल्दी ही खत्म हो जाने वाली। और उसमें जीत हमारी होगी। प्रजातंत्रीय देशों की जड़ें खोखली हो चुकी हैं। वे जल्दी ही हमारे सामने घुटने टेक देंगे।'

दो हफ्तों के बाद जब कर्स्टन वापस हालैंड जाने लगा, तब तक हिमलर दर्द से छुटकारा पा चुका था। उसने बड़ी भावुकता से कर्स्टन का धन्यवाद किया और उसे बिदा दी।

लगभग तीन महीने बाद कर्स्टन फिर [illegible]

र्लिन आया। इन दिनों हिमलर का दर्द फिर असह्य बन चुका था। कर्स्टन ने फिर से उसका इलाज शुरू किया। हिमलर अब ज्यादातर जंग की ही बातें करता और कहता–'संसार में शांति तब तक स्थापित नहीं हो सकती, जब तक युद्ध द्वारा संसार को शुद्ध न कर दिया जाये।'

जब जंग छिड़ गयी, तो कर्स्टन ने फिनलैंड के राजदूतावास में जाकर अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए कहा–'इधर कुछ समय से मैं हिमलर का इलाज कर रहा हूं। इलाज के दौरान में हिमलर कभी-कभी कोई ऐसी गुप्त बात कह बैठता है, जो राजनतिक या सैनिक दृष्टि से बहुत महत्त्व की होती है। मैं उसका इलाज जारी रखूं या छोड़ दूं?'

'हर हालत में जारी रखिये', एक अधिकारी ने उन्हें सलाह दी–'और जितना ज्यादा हो सके, उसका विश्वास जीतिये और हमारे साथ संपर्क कायम रखिये। यह बहुत ही महत्त्व की बात है।'

०००

मई १९४० तक कर्स्टन बहुत ज्यादा उलझन में फंस चुका था। अब वह जर्मनी में स्वतंत्रतापूर्वक घूम-फिर नहीं सकता था। उस पर नजर रखी जाने लगी थी। फिर एक दिन उससे लगभग हुक्म के ढंग पर कहा गया कि उसे हिमलर के साथ रेलगाड़ी में मोर्चे पर जाना है। हिमलर अब कई विभागों का अध्यक्ष था और रेलगाड़ी में उसका चलता-फिरता दफ्तर था। इस सफर में कर्स्टन को चारों तरफ आतंक, भूख, बरबादी और मौत नजर आयी।

उस भयानक माहौल से बचने के लिए उसने हिमलर के छोटे-से पुस्तकालय की शरण ली। वहां उसे यह देखकर हैरानी हुई कि लगभग सभी पुस्तकें धर्म से संबंधित हैं–वेद, बाइबल, कुरान और विभिन्न धर्मों की अन्य पुस्तकें!

एक दिन इन पुस्तकों का जिक्र करते हुए उसने हिमलर से कहा–'पर आपने तो कहा था कि सच्चा नाजी धर्म-वर्म को नहीं मानता!'

'बेशक! इन पुस्तकों को पढ़कर मैंने किसी भी धर्म को नहीं अपनाया। ये पुस्तकें मुझे सौंपे गये काम के लिए जरूरी हैं। फ्यूहरर (हिटलर) चाहते हैं कि मैं नये नाजी धर्म का बाइबल तैयार करूं। यह युद्ध जीतने के बाद फ्यूहरर ईसाई धर्म का खात्मा करके उसके खंडहरों पर नाजी धर्म की स्थापना करेंगे। हम ईश्वर को मानेंगे, पर उसका रूप अस्पष्ट-सा होगा। और मानवता के त्राता के रूप में हिटलर यीशु का स्थान लेंगे। तब लाखों-करोड़ों लोग अपनी प्रार्थनाओं में हिटलर का नाम लेंगे। और एक सौ साल बाद तो लोगों को सिर्फ इस नये धर्म का ही पता होगा।'

कर्स्टन चुपचाप सुनता रहा।

खाने की मेज पर नाजी अफसर फ्रांस की पराजय के नाम पर जाम पीते और खुशियां मनाते। मगर कर्स्टन जो कि खाने-पीने का खास तौर से शौकीन था, उनका हंसी-मजाक सहन न कर पाता और न कुछ खा

ही पाता। उसका यह रवैया अफसरों को बहुत खलता था। वे सब उसके खिलाफ बातें करने लगे। सिर्फ एक अफसर था, जो कर्स्टन के साथ अच्छी तरह पेश आता था। वह था हिमलर का सेक्रेटरी रुडोल्फ ब्रांड्ट। वह बहुत ही योग्य व्यक्ति था और हिमलर का विश्वासपात्र था। उसके भी पेट में गड़बड़ रहती थी। एक दिन हिमलर ने कर्स्टन को उसका भी इलाज करने को कहा। इससे वे दोनों परस्पर और भी निकट हो गये और उनके संबंध गहरे होते गये।

०००

फ्रांस के पराभव के बाद हिमलर वापस बर्लिन चला आया और कर्स्टन की दिनचर्या फिर पहले की-सी हो गयी। यद्यपि ऊपर से कर्स्टन हमेशा की तरह खुश नजर आता था, पर उसके मन में एक बेचैनी घर कर गयी थी। फिर अगस्त के अंतिम दिनों में एक ऐसी घटना घटी, जिसकी बदौलत वह युद्धकाल में मानव-जाति का इतना बड़ा उपकारी बन सका।

एक दिन हिमलर की हालत अचानक ही बहुत खराब हो गयी और कर्स्टन को जल्द से जल्द आने का संदेश भेजा गया। कर्स्टन आया और कुछ ही मिनटों में हिमलर को राहत दिलाने में सफल हो गया। कुछ ही क्षण पहले जिसकी जान निकली जा रही थी, वही हिमलर अब बड़े आराम से लेटा हुआ था। उसने बड़ी श्रद्धापूर्ण दृष्टि से कर्स्टन की ओर देखा और भावावेशपूर्वक कहा—'प्रिय कर्स्टन, आपके बिना मेरी क्या हालत होती! मैं आपका इतना कृतज्ञ हूं कि शब्दों में बता नहीं सकता। यह अहसास मुझे चुभ रहा है कि मैंने इस इलाज के बदले में आपको कभी कुछ भी नहीं दिया।'

कर्स्टन फौरन मौके को भांप गया और बोला—'आप तो जानते हैं कि मैं पूरे इलाज के बाद ही मरीज से फीस लेता हूं। यों भी मैं आपसे कहीं ज्यादा पैसे वाला हूं।' वह अच्छी तरह जानता था कि नाजी नेताओं में हिमलर ही ऐसा एकमात्र व्यक्ति था, जिसने कभी गलत तरीके से पैसा नहीं कमाया था और जो अपनी तनख्वाह में ही अपना व अपने परिवार का गुजारा चलाता था।

'फिर भी, मैं कुछ फीस पूरे इलाज के पहले चुकाना चाहता हूं।' हिमलर ने कहा।

तभी कर्स्टन को याद आया कि उसके एक पुराने मरीज ने अपने एक बूढ़े कर्मचारी के विषय में बात की थी, जिसे अकारण ही कन्सेन्ट्रेशन कैंप में डाल दिया गया था। उस आदमी ने उस कर्मचारी से संबंधित जानकारी एक कागज पर लिखकर दी थी, ताकि हिमलर से कहकर कर्स्टन उसे छुड़वा सके। इस मौके का फायदा उठाते हुए कर्स्टन ने अपने ब्रीफकेस में से वह कागज निकालकर हिमलर को देते हुए कहा—'तो यह है मेरी फीस का बिल। मैं इस आदमी की आजादी चाहता हूं।'

हिमलर चौंका। फिर उसने कागज को पढ़कर कहा—'चूंकि आप चाहते हैं, इसलिए इसे आजादी मिल जायेगी।' तत्काल उसने अपने सेक्रेटरी ब्रांड्ट को बुलाया और वह

कागज देते हुए कहा—'इस आदमी को छोड़ दिया जाये। हमारे प्रिय डाक्टर साहब की यह ख्वाहिश है।'

उस समय ब्रांड्ट ने एक क्षण के लिए कर्स्टन को ऐसी नजर से देखा कि कर्स्टन को महसूस हुआ कि एक विश्वसनीय मित्र मिल

हिटलर
'इतिहास की महानतम प्रतिभा'

गया है, जो भविष्य में भी मेरी सहायता करेगा।

०००

स्वस्थ होकर हिमलर फिर से पहले जैसे सख्त स्वभाव का बन गया था। उपर्युक्त घटना के तीन दिन बाद उसने कर्स्टन से बड़ी रुखाई से पूछा—'क्या यह सच है कि आपने हेग में अपना मकान बनाया है? यह खबर मुझे हालैंड के हमारे कर्मचारियों से मिली है। अच्छा हो कि आप वह मकान बेच दें। इसके लिए मैं आपको दस दिन की मोहलत देता हूं।..... और हालैंड में रोज गेस्टापो के दफ्तर में जाकर इस बारे में प्रगति की रिपोर्ट दीजिये।'

और हालैंड पहुंचने पर कर्स्टन ने देखा कि जर्मनों ने उस देश को किस तरह से तबाह कर दिया है और उस पर कब्जा करने के बाद वे डच लोगों पर कैसे-कैसे अत्याचार कर रहे हैं। वहां पहुंचे उसे अभी पांच ही दिन हुए थे कि खबर मिली कि उसके एक मित्र बिनेल को गिरफ्तार कर लिया गया है। फौरन वह गेस्टापो के दफ्तर में पहुंचा।

गेस्टापो के अधिकारी राउटर ने उसे बताया—'बिनेल गद्दार है। अब जेल में उससे सारी जानकारी मैं खुद हासिल करने वाला हूं।' राउटर व्यंग्य से मुस्कराया। पिछले पांच दिनों से उसकी मुलाकात कर्स्टन से रोज हो रही थी।

'मैं उसकी निर्दोषता का जामिन हूं,' कर्स्टन ने कहा—'उसने जर्मनी के खिलाफ

अप्रैल

कभी कुछ नहीं किया है। उसे छोड़ दीजिये।'

राउटर ने तेवर चढ़ाकर उसे घूरा, फिर गरजकर कहा—'उस कुत्ते को छोड़ दूं? हरगिज नहीं!'

कर्स्टन अपने आप पर जैसे-तैसे काबू पाते हुए गंभीरता से बोला—'यहां टेलिफोन होगा? हर हिमलर से मेरी बात करवाइये।'

'यह असंभव है। यहां तक कि मैं भी उनसे सीधे बात नहीं कर सकता।' राउटर ने कहा।

'आप कोशिश तो कीजिये।'

राउटर ने फोन उठाया और आपरेटर को आज्ञा दी। अभी पांच ही मिनट गुजरे थे कि फोन की घंटी बज उठी। राउटर ने फोन उठाया और सुनकर हैरान-रह गया। फिर सहमते हुए उसने फोन कर्स्टन की ओर बढ़ा दिया।

कर्स्टन ने हिमलर से कहा—'मेरा एक बहुत अच्छा दोस्त अभी-अभी पकड़ा गया है। मैं उसके निर्दोष होने का जामिन हूं। आपसे मेरी प्रार्थना है हर राइशफ्यूहरर कि उसे छोड़ दिया जाये।'

हिमलर ने उसकी बात का जवाब न देते हुए बड़ी बेचैनी से कहा—'आप वापस कब आ रहे हैं? सख्त जरूरत है आपकी!'

सुनकर कर्स्टन को खुशी हुई। उसे लगा कि पीड़ाग्रस्त अवस्था में हिमलर उसकी बात टालेगा नहीं। उसने उत्तर दिया—'फिलहाल तो मैं यहां फंसा हुआ हूं। मेरे दोस्त की जिंदगी खतरे में है। जब तक उसे ......'

'राउटर को दीजिये फोन—जल्दी से!' हिमलर ने कहा।

राउटर फोन लेते हुए तनकर खड़ा हो गया, मानो हिमलर उसके सामने आ पहुंचा हो। फिर कुछ क्षणों के बाद वह बोला—'बहुत अच्छा, राइशफ्यूहरर! .....बस अभी, राइशफ्यूहरर!' और एक बार फिर उसने फोन कर्स्टन की ओर बढ़ा दिया।

हिमलर ने कर्स्टन से कहा—'मैं आप पर विश्वास करता हूं। आपके दोस्त को रिहा कर दिया जायेगा। अब आप जल्द से जल्द यहां पहुंचिये।'

यह बहुत बड़ी जीत थी कर्स्टन की। कुछ क्षण वह हतप्रभ-सा खड़ा रहा। राउटर भी भौंचक्का देखता रह गया।

०००

कर्स्टन को अगले कुछ महीनों में अपने नाम आने वाले पत्रों से इसकी बहुत-सी जानकारी मिली कि किस तरह हालैंड में बेकसूर लोगों को पकड़कर जेलों में डाला जा रहा है और नाजी लोग उन पर कैसे-कैसे अत्याचार कर रहे हैं। कर्स्टन के नाम आने वाले ये पत्र हिमलर की मार्फत भेजे गये होते थे। वास्तव में, इस तरह हिमलर की मार्फत पत्र मंगवाने का सुझाव उसे ब्रांड्ट ने दिया था। उपयुक्त अवसर ढूंढ़कर कर्स्टन किसी व्यक्ति की रिहाई की प्रार्थना हिमलर से करता और प्रार्थना प्रायः स्वीकार हो जाती। मगर ऐसे अवसर बहुत कम मिल पाते थे।

कई बार कर्स्टन अवसर देखकर हिमलर
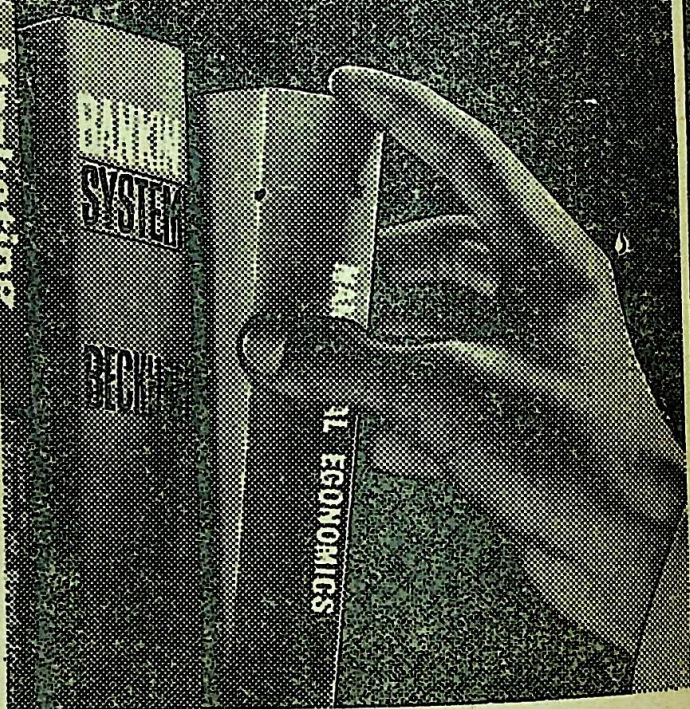
के मुंह पर उसकी बड़ाई के पुल बांधने लगता। कहता—'आने वाली सदियों में आप जर्मन लोगों के सबसे बड़े नेता कहलायेंगे और आपकी तुलना जर्मनी के पुराने महापुरुषों से की जायेगी। मगर याद रखिये कि इन महापुरुषों ने केवल शूरता और शक्ति का ही नहीं, बल्कि उदारता का भी परिचय दिया था। सो आपको उनसे भी बढ़कर उदारता दिखानी चाहिये......'

ऐसी बातें सुनकर हिमलर फूलकर कुप्पा हो जाता और कहता—'मेरे प्यारे डॉक्टर कर्स्टन, आप मेरे एकमात्र दोस्त हैं, मुझे सही अर्थों में समझने और मेरी मदद करने वाले एकमात्र व्यक्ति।' तब वह ब्रांड्ट को बुलाता और कर्स्टन द्वारा दिये गये नामों की फेहरिस्त तैयार करवाकर उन लोगों की रिहाई का आदेश देता और नीचे अपने हस्ताक्षर कर देता। उन नामों और हिमलर के हस्ताक्षरों के बीच में जो खाली स्थान रह जाता, वहां बाद में ब्रांड्ट दो-चार नाम और जोड़ देता।

परंतु ब्रांड्ट एवं कर्स्टन यह भी जानते थे कि कुछ ही समय में गेस्टापो के अधिकारियों को संदेह होने लगेगा कि आखिर हिमलर इतने सब लोगों की रिहाई का हुक्म क्यों देता चला जा रहा है? उसके जैसे कठोर मनुष्य के मन में यह उदारता क्यों पैदा हो रही है? सो उन्हें बहुत सचेत होकर रहने की जरूरत थी।

जनवरी १९४१ में एक दिन सुबह ही गेस्टापो के दो अधिकारी कर्स्टन के बर्लिन वाले घर पर आये और एक पूछने लगा—'क्या आपके कुछ मरीज यहूदी भी हैं?'

'बेशक हैं।' कर्स्टन ने कहा।

'क्या आपको यह नहीं मालूम कि जर्मन डाक्टरों को यहूदियों का इलाज करने की मनाही है?'

'पर मैं तो जर्मन डाक्टर नहीं हूं। मैं फिनलैंड का नागरिक हूं।' कर्स्टन ने अपना पासपोर्ट उन्हें दिखाया।

अधिकारियों ने पासपोर्ट ले लिया और बड़ी नरमी से माफी मांगकर विदा हो गये।

उनके जाते ही कर्स्टन को महसूस हुआ कि उनके आने का मकसद कुछ और ही रहा होगा। उसके मन में डर और शक उभरने लगा। जब उसने इस वाकये का जिक्र ब्रांड्ट से किया, तो उसने उसे खतरे से आगाह किया और सजग रहने की सलाह देते हुए कहा—'गेस्टापो का प्रमुख अधिकारी रीइन्हार्ड हाइड्रिच आपको शत्रु राष्ट्रों का एजेंट समझता है और कह रहा है कि मौका आने पर मैं इसका सबूत दे दूंगा।'

और एक दिन कर्स्टन ने हाइड्रिच को अपने समक्ष पाया। हाइड्रिच ने उससे बड़ी शिष्टता से कहा—'डाक्टर, मैं आपसे कुछ बात करना चाहता हूं। अगर आपको फुरसत हो, तो आज शाम को हम मिलें। गेस्टापो के दफ्तर में ही तशरीफ ले आइये।'

उस शाम को जब कर्स्टन वहां गया, तो बातचीत के दौरान हाइड्रिच बड़े सख्त लहजे में बोला—'यह बात हमसे छिपी हुई नहीं है कि हालैंड और फिनलैंड से आपको किस
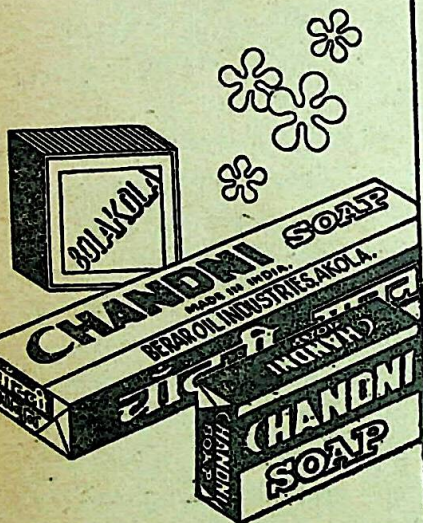
किस्म की जानकारियां मिल रही हैं और आप किस प्रकार लोगों को रिहा करवा रहे हैं। अगर आप हमें उन लोगों की सामाजिक स्थिति और राजनैतिक विचारों के बारे में ठीक-ठीक बता सकें, ताकि हम उन्हें दोषी समझने में गलती न करें, तो आप उनकी और सेवा कर रहे होंगे।'

कर्स्टन गोल-मोल-सा जवाब और धन्यवाद देकर चला आया। उसने इस मुलाकात का ब्योरा ब्रांड्ट को दिया, तो वह बहुत चिंतित होकर बोला—'अब तो आपको बेहद सावधान होकर रहने की जरूरत है। खतरा बहुत ज्यादा बढ़ गया है।'

'आप फिक्र न कीजिये। खुद मैं भी यही महसूस कर रहा हूं।' कर्स्टन ने जवाब दिया।

कुछ ही दिन बाद उसे उस खतरे से दो-चार होना पड़ा।

१ मार्च १९४१ को वह हिमलर से मिलन गया, तो उसे कुछ देर प्रतीक्षा करने के लिए कहा गया। वह अभी बैठा ही था कि उसे राउटर और हाइड्रिच उस कमरे में आते हुए दिखाई दिये। वे लोग उसी मेज के पास आकर बैठ गये, जहां कर्स्टन बैठा हुआ था। वे अपनी बातों में डूबे रहे और कर्स्टन की ओर उनका ध्यान नहीं गया। कर्स्टन भी मुंह दूसरी ओर फेरकर उनकी बातें सुनता रहा। उनकी बातों से उसे पता चला कि हालैंड पर ऐसी मुसीबतों का पहाड़ टूटने वाला है कि शायद उसका राष्ट्रीय अस्तित्व ही मिट जाये।

उस दिन शाम को वह ब्रांड्ट से मिल और राउटर एवं हाइड्रिच की बातचीत का जिक्र करके सारी असलियत जाननी चाही। ब्रांड्ट ने उठकर कमरे का दरवाजा अच्छी तरह बंद किया और कहा—'अगर कोई अचानक आ जाये, तो यही कहियेगा कि आप मेरा इलाज करने के लिए आये हैं।' फिर उसने मेज पर से एक लिफाफा उठाकर उसमें से एक कागज निकाला और कर्स्टन को पढ़ने के लिए दिया। उसमें लिखा था :

चूंकि डच लोगों में भी जर्मन नस्ल का ही रक्त है, इसलिए वे केवल नाज़ियों का विरोध करने के ही दोषी नहीं हैं, बल्कि गद्दार भी हैं। लिहाजा हर हिटलर ने हर हिमलर को आदेश दिया है कि तमाम डच लोगों को उनके देश से निकालकर पोलैंड भेज दिया जाये। तीस लाख मर्द पैदल भेजे जायें और उनके परिवारों को रेलगाड़ियों और समुद्री जहाजों द्वारा।

कर्स्टन के हाथ कांपने लगे। अपनी कल्पना में उसने लाखों लोगों को सैकड़ों मील का सफर करते हुए देखा—नंगे पांव, फटे-पुराने कपड़े पहने, भूख-प्यास से तड़पते हुए; और देखा उनकी स्त्रियों व बच्चों को मालगाड़ियों के डिब्बों में भेड़-बकरियों की तरह बंद—हवा और पानी के अभाव में दम तोड़ते हुए। पोलैंड पहुंचने के पहले रास्ते में ही उनमें से लाखों लोग मर जाने वाले थे।

अगले दिन सुबह हिमलर की मालिश करते समय कर्स्टन ने उसके पेट के एक ऐसे

भाग को दबाया, जहां सबसे ज्यादा दर्द उठा करता था। तभी उसने सरसरी ढंग से पूछ लिया—'डच लोगों को किस तारीख को पोलैंड भेजा जा रहा है?'

'२० अप्रैल को—हिटलर के जन्मदिन पर। यह हिटलर को उनके जन्मदिन का तोहफा होगा।' मानो किसी जादू के प्रभाव से हिमलर बड़े सहज भाव से यह बात कह गया। कमरे में कुछ क्षण गहरी चुप्पी छायी रही। फिर हिमलर अचानक उठ बैठा और उसने अपना चेहरा कर्स्टन के चेहरे के बिलकुल पास ले जाकर पूछा—'यह खबर आपको कहां से मिली?'

कर्स्टन ने बताया कि मैंने राउटर और हाइड्रिच को बातें करते सुना था।

'बेवकूफ बड़बोले!' इन शब्दों में हिमलर ने राउटर और हाइड्रिच के प्रति गुस्सा प्रकट किया और कर्स्टन से कहा—'यह अच्छा हुआ कि मुझे पता लग गया कि वे दोनों कितने लापरवाह हैं। बताने के लिए धन्यवाद।' वह फिर लेट गया, और कर्स्टन को लगा कि उसका बचाव हो गया है। वह फिर जैसे मालिश में दत्तचित्त हो गया। कुछ क्षण चुप रहने के बाद उसने गंभीर स्वर में कहा—'यह सामूहिक देशनिकाला आपके जीवन की सबसे बड़ी गलती होगी।'

हिमलर ने उसी प्रकार लेटे-लेटे उत्तर दिया—'आपको राजनीति की कोई समझ नहीं है। हिटलर की यह योजना लाजवाब है। हमने पोलैंड पर कब्जा तो कर लिया है, पर वहां के लोग हमसे घृणा करते हैं। वहां हम जर्मन नस्ल बसाना चाहते हैं। गद्दारी करने के बावजूद डच लोगों में जर्मन खून है। पोलैंड जाकर हमारे प्रति उनका रवैया बदलने लगेगा। क्योंकि पोलैंड के लोग उन्हें अपना दुश्मन समझेंगे, तब डच लोग चाहेंगे कि हम उनकी रक्षा करें। और हालैंड को हम जर्मनी के नौजवान किसानों से भर देंगे। अब तो आप सिक्का मानेंगे हिटलर की अद्वितीय प्रतिभा का?'

'सच पूछिये तो मैं तो आपकी सेहत के बारे में सोच रहा था।' कर्स्टन ने कहा—'कुछ दिन पहले आपने मुझे बताया था कि आपकी जो बहुत-सी जिम्मेवारियां हैं उनके अलावा एक और जिम्मेवारी हिटलर ने आपके कंधों पर डाल दी है—इस ग्रीष्मकाल तक एस-एस के सिपाहियों की संख्या दस लाख तक पहुंचा देने की। अभी तो उनकी संख्या केवल एक लाख है। अगले तीन महीनों में आपको नौ लाख सिपाहियों के चुनाव व शिक्षण का और दूसरी बहुत-सी चीजों का प्रबंध कर देना है। उसके साथ-साथ क्या आप लाखों डच लोगों के देश-निकाले की व्यवस्था का बोझ अपने कंधों पर उठा सकेंगे?'

'मेरे लिए और कोई रास्ता नहीं है। यह हिटलर का हुक्म है।'

'एक मरीज के तौर पर अपने डाक्टर को बताइये कि इन दोनों कामों में से आपके लिए कौन-सा काम ज्यादा महत्त्वपूर्ण है?'

'बेशक एस-एस की संख्या बढ़ाना।'

'तो फिर विजय प्राप्त करने तक दूसरे

अप्रैल

काम को मुल्तवी कर दीजिये। अपने इलाज द्वारा मैं आपको इतनी शक्ति नहीं दे सकता कि आप इन दोनों कामों का बोझ एक साथ उठा सकें।'

'नहीं, यह असंभव है! हिटलर की इच्छा के विरुद्ध मैं कुछ नहीं कर सकता।' हिमलर ने बेचैनी से कहा।

कर्स्टन चुप रहा। उसे लगा कि अब मुझे निराश होने की जरूरत नहीं। निकट भविष्य में कोई न कोई रास्ता निकल ही आयेगा। लेकिन अगले कई हफ्तों में वह हिमलर को टस से मस न कर सका। हिटलर के आदेश पर अमल न करना हिमलर के लिए असंभव था।

फिर मार्च के अंतिम दिनों में एक अजीब बात हो गयी। कर्स्टन का इलाज दो साल की अवधि में पहली बार निष्प्रभाव सिद्ध होने लगा। हिमलर का दर्द कम होने के बजाय इस कदर बढ़ गया कि असह्य हो उठा।

एक दिन कर्स्टन हिमलर से बोला—'मैंने आपको पहले ही सचेत कर दिया था कि आप ये दोनों बोझ एक साथ उठा न सकेंगे। आपका स्नायुतंत्र अब मेरे काबू में नहीं आ रहा है। आपकी पीड़ाएं अब बढ़ती ही जायेंगी।'

'नहीं-नहीं', हिमलर ने लगभग सिसककर कहा—'आप कोशिश कीजिये। फिर से कोशिश कीजिये।'

'मगर मेरी तो हर कोशिश बेकार साबित हो रही है! आप खुद देख रहे हैं।' कर्स्टन ने जवाब दिया।

अप्रैल १९४१ में जब जर्मनी ने युगोस्लाविया पर हमला किया, तो हिटलर ने युगोस्लाविया की सीमा के निकट अपना दफ्तर कायम करने का निश्चय किया। हिमलर को भी उसके साथ जाना पड़ा। उस सफर में हिमलर की हालत बदतर हो गयी। रेलगाड़ी में वह सिर्फ तभी बिस्तर पर से उठता, जब उसे हिटलर से मिलना होता। और चाहे दिन हो या रात, कर्स्टन को किसी भी वक्त उसका बुलावा आ जाता।

ऐसे वक्त कर्स्टन हर बार उससे कहता—'यह क्या पागलपन कर रहे हैं आप, हर राइशफ्यूहरर! देशनिकाले वाली योजना मुल्तवी कर दीजिये न। वरना आपकी ये पीड़ाएं......'

हिमलर के चेहरे पर एकाएक ठंडा पसीना छलक उठता और उसकी आंखों से आंसू बहने लगते। फिर भी वह यही कहता—'नहीं, यह नहीं हो सकता। मैं फ्यूहरर के हुक्म को टाल नहीं सकता।'

देशनिकाले की तारीख से लगभग एक हफ्ता पहले एक दिन सुबह ही हिमलर ने कर्स्टन को बुलवा भेजा। बुरी तरह कराह रहा था वह और कर्स्टन के पहुंचते ही बताने लगा—'मुझसे सांस नहीं लेते बन रहा है। मुझे बचाइये!'

कर्स्टन उसके पास बैठ गया और बड़े ही नरम और अपनत्व-भरे स्वर में बोला—'हर राइशफ्यूहरर, मैं आपका दोस्त हूं। मैं आपकी मदद करना चाहता हूं। पर मेरा यह अनुरोध है कि इस देशनिकाले वाली

सुपर रिन की सफ़ेद चमकार, हर बार,
लगातार ज़्यादा सफ़ेद!
अब केवल रु. १.४८
(टैक्स अतिरिक्त)
सुपर
रिन
आपने कई साबुन और डिटर्जेंट टिकियां इस्तेमाल की होंगी, लेकिन उन सबके मुक़ाबले में सुपर रिन की डिटर्जेंट टिकिया से धुलाई कहीं ज़्यादा सफ़ेद होती है. सिर्फ़ एक धुलाई में सफ़ाई का फ़र्क़ देखिए। इतना ही नहीं—सुपर रिन की धुलाई से कपड़े हर बार ज़्यादा सफ़ेद...ज़्यादा सफ़ेद. केवल सुपर रिन में अतिरिक्त सफ़ेदी लाने वाले तत्व शामिल हैं. ये तत्व भरपूर झाग में अपना कमाल दिखाते है ताकि आपको सदा अपनी मनचाही सफ़ेदी मिल सके.
आपके पैसों के बदले ज़्यादा सफ़ेदी-सुपर रिन
हिन्दुस्तान लीवर का एक उत्कृष्ट उत्पादन
लिंटास - RIN. 19A-77 HI
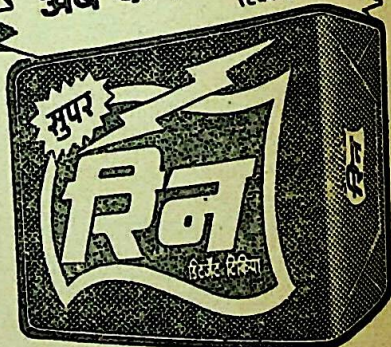
योजना को स्थगित कर दीजिये। याद तो कीजिये कि पहले आपको मेरे इलाज से कितना फायदा होता था! अब फिर से वैसा फायदा होने लगेगा, अगर आप इस योजना का बोझ अपने मन पर से उतार दें। हर हिटलर के पास जाइये और इसे मुल्तवी करने की चर्चा कीजिये।'

हिमलर ने कर्स्टन का हाथ थाम लिया और उसे भींचते हुए कहा—'हां, मेरे प्यारे डाक्टर! मुझे लगता है, आप ठीक कह रहे हैं। पर मैं हिटलर के पास जाकर कहूंगा क्या?'

'कहिये कि एक साथ दो जिम्मेवारियों का बोझ उठाना संभव नहीं है। उन्हें बताइये कि जहाजों की कितनी कमी है, सड़कें भी खाली नहीं हैं। उनसे साफ-साफ कहिये कि इस जिम्मेवारी का बोझ आपके स्वास्थ्य के लिए घातक है और इससे एस-एस के विस्तार की योजना को बहुत नुक्सान पहुंचेगा।'

'आपने ठीक कहा।' हिमलर जैसे चीख पड़ा—'हां, मैं हिटलर से बात करूंगा। बस, आप मुझे बल दीजिये—इन पीड़ाओं से एक बार छुटकारा दिलाइये।'

कर्स्टन जैसे नयी उमंग और नये विश्वास के साथ उसकी मालिश करने लगा। कुछ ही देर में हिमलर आराम महसूस करने लगा। आखिर उसकी पीड़ा जाती रही। बिस्तर से उठते हुए उसने सुख की सांस ली। फिर बेहद आनंदपूर्ण स्वर में बोल उठा—'मुझे आराम मिल गया है! सचमुच आराम मिल गया है!'

'सिर्फ इसलिए कि आपने हर हिटलर से बात करने का फैसला किया है। सो अब देर न कीजिये।' कर्स्टन ने उत्तर दिया।

तभी फोन की घंटी बज उठी। हिमलर फोन का चोंगा कान से लगाये चुपचाप सुनता रहा। फिर चोंगा रखकर कर्स्टन से कहा—'युगोस्लाविया पर हमारा कब्जा हो गया है। हिटलर बर्लिन लौट रहे हैं। उन्होंने मुझे भी वापस चलने को कहा है।'

बर्लिन के रास्ते में हिमलर का दर्द फिर जाग उठा। कर्स्टन के मन में आया कि हिमलर का दर्द बर्लिन पहुंचने तक पूरी तरह दूर न हो तो ही अच्छा है; वरना वह हिटलर से बात करने को राजी नहीं होगा।

बर्लिन के निकट पहुंचने पर कर्स्टन ने हिमलर की मालिश करते हुए फिर कहा—'जब तक आप उस देशनिकाले वाले काम का बोझ अपने मन पर से पूरी तरह उतार नहीं देते, आपको पूरा आराम नहीं मिल सकता। देखिये तो, कितना लंबा इलाज करना पड़ रहा है इस बार!'

'मैं भी समझ तो रहा हूं', हिमलर ने कहा और स्टेशन से सीधे वह हिटलर से मिलने चला गया। दो घंटे के बाद उसने कर्स्टन को फोन किया और बताया—'हिटलर जितने प्रतिभावान हैं, उतने ही दयावान भी हैं। उन्होंने देशनिकाला मुल्तवी कर दिया है।'

जब यह बात हाइड्रिच को पता लगी, तो कर्स्टन के बारे में उसके मन में नयी शंकाएं पैदा हो गयीं। एक दिन उसने कर्स्टन को

बुलवा भेजा। उस समय ब्रांड्ट और हिमलर दोनोंही दफ्तर में मौजूद नहीं थे। मुलाकात के लिएं जाने से पहले कर्स्टन ने दफ्तर के एक कर्मचारी से कहा—'राइशफ्यूहरर को फोन करके सूचित करो कि मैं कुछ ही देर में हाइड्रिच के दफ्तर में पहुंच रहा हूं। यह संदेश बहुत जरूरी है।'

हाइड्रिच अपने दफ्तर में कर्स्टन से बहुत नरमी से पेश आया। कुछ देर इधर-उधर की बातें करने के बाद उसने उसी नरमी से कहा—'अफसोस है कि मुझे आपको गिरफ्तार करना पड़ रहा है। मुझे यकीन है कि आप ही ने हिमलर पर प्रभाव डालकर डच लोगों का देशनिकाला मुल्तवी कराया है।'

तभी साथ वाले कमरे में फोन की घंटी बजी और हाइड्रिच वहां गया। फिर लौटकर उसने सिगरेट सुलगायी और मुस्कराकर कहा—'हैरानी की बात है कि हालैंड में जो कुछ हो रहा है, उसकी आपको इतनी ज्यादा जानकारी रहती है! क्या आप इस जानकारी का स्रोत बताने की कृपा करेंगे?'

कर्स्टन अपने भय को हंसी में छिपाते हुए बोला—'शायद मैं सर्वदर्शी हूं।'

'शायद मैं भी हूं', हाइड्रिच ने उत्तर दिया—'और एक दिन मैं सबूत देकर बताऊंगा कि असल में आप कौन हैं।' उसने कुछ क्षण कर्स्टन को सख्ती से घूरा, फिर उठ खड़ा हुआ—'अब आप जा सकते हैं। अभी-अभी हिमलर का फोन आया था कि आपको छोड़ दिया जाये। मगर एक दिन यहीं पर फिर हमारी मुलाकात होगी। तैयार रहियेगा उसके लिए।'

लेकिन उनकी फिर मुलाकात हुई नहीं। सितंबर १९४१ में हाइड्रिच को बोहीमिया का अधिरक्षक बनाकर प्राग भेजा गया था और वहीं १९४२ में वह चेक देशभक्तों के हाथों मार डाला गया। उसकी जगह अर्न्स्ट काल्टनब्रूनर को गेस्टापो का प्रमुख अधिकारी बनाया गया। [हाइड्रिच की हत्या से संबंधित विवरण शीघ्र ही आप पुस्तक-संक्षेप के रूप में नवनीत में पढ़ सकेंगे।—संपादक]

२१ जून १९४१ को जब हिटलर ने सोवियत रूस पर हमला किया, तो हिमलर की रेलगाड़ी पूर्वी सीमा की ओर रवाना हुई। कर्स्टन को भी उसके साथ जाना पड़ा। जर्मन फौजें जीत पर जीत हासिल करती हुई आगे बढ़ती जा रही थीं। तीन महीने बीत गये। जब शीतकाल शुरू हुआ, तो जर्मन फौजों को रुकना पड़ा। चारों ओर बर्फ छा गयी थी। रूसी फौजें मोर्चों पर डटी हुई थीं। उन्हें पता था कि सरदियां और बर्फ उनके हक में जायेंगे। हिमलर वापस बर्लिन रवाना हो गया।

बर्लिन में एक दिन उसकी हालत बहुत खराब हो गयी। कर्स्टन ने आते ही पूछा—'क्यों, क्या तकलीफ है?'

हिमलर पहले तो बताने से झिझकता रहा; पर अंत में चुप न रह सका। बोला—'आप मेरे एकमात्र दोस्त हैं। आप ही ऐसे एकमात्र व्यक्ति हैं, जिन्हें मैं अपने दिल की बात बता सकता हूं। फ्रांस की हार के बाद

अप्रैल

हिटलर ने कई बार ब्रिटेन से सुलह करने की कोशिश की, पर यहूदियों ने—जिनके कि हाथ में उस देश की बागडोर है—सुलह होने न दी। जब तक उनके हाथ में शक्ति है, यानी जब तक उनका अस्तित्व कायम है, इस धरती पर शांति स्थापित नहीं हो सकती। सो, हिटलर ने मुझे हुक्म दिया है कि जितने भी यहूदी हमारे कब्जे में हैं, उन सबका सफाया कर दिया जाये। उनकी पूरी नस्ल को खत्म कर दिया जाये।'

'मगर यह आप कैसे कर सकते हैं? जरा सोचिये तो, कितनी भयंकर तबाही होगी! सारा संसार जर्मनी के बारे में क्या सोचेगा?' कर्स्टन ने कहा।

'महापुरुषों को लाशों पर से गुजरना ही होगा। यही तो उनकी त्रासदी है।' कहकर हिमलर ने सिर झुका लिया। उसके चेहरे पर बेचैनी झलकने लगी।

'निश्चय ही आप इसके हक में नहीं हैं, वरना आप इतने बेचैन न होते।' कर्स्टन ने बात आगे बढ़ायी।

हिमलर ने झुका हुआ सिर एकाएक ऊपर उठाया और उदास स्वर में कहा—'अब तक मैं मूर्ख बना रहा। जब भी हिटलर ने मुझसे कुछ करने को कहा, मैंने बिना सोचे जवाब दिया कि हां, मेरे फ्यूहरर! मैं और मेरे एस-एस. के सिपाही आपके लिए जान देने को तैयार हैं। पर इस बार मैंने कह दिया कि इस काम की जिम्मेवारी मुझ पर न डालिये। सुनते ही हिटलर को गुस्से का दौरा-सा पड़ा, जसे उन्हें कभी-कभी पड़ा करता है। वे तनिक-सा भी विरोध सहन-नहीं कर सकते। उन्होंने लपककर मुझे गर्दन से पकड़ लिया और बेहद ऊंची आवाज में चिल्लाये कि मैंने तुम्हें यहां तक पहुंचाया है और अब तुम मेरा हुक्म मानने से इन्कार कर रहे हो! तुम्हारा यह रवैया गद्दारों का-सा है। तब मैंने भयभीत होकर कहा—मेरे फ्यूहरर, मुझे माफ कर दीजिये। आपका जो भी हुक्म हो, मैं मानने को तैयार हूं...... हर हुक्म मानने को तैयार हूं। मगर यह न कहिये कि मैं गद्दार हूं। इस पर हिटलर बोले कि जंग जल्दी ही खत्म हो जाने वाली है और संसार को मैं वचन दे चुका हूं कि जंग खत्म होने पर इस पृथ्वी पर एक भी यहूदी जिंदा नहीं रहेगा। सो हमें जल्द से जल्द कदम उठाना होगा। लेकिन शायद तुम इस काम के काबिल नहीं हो।' हिमलर ने थके-हारे आदमी की तरह कर्स्टन की ओर देखा और पूछा—'अब समझे आप!'

कर्स्टन अच्छी तरह समझ रहा था। हिमलर की बेचैनी का कारण यह नहीं था कि उसे लाखों यहूदियों को मौत के घाट उतारने का काम सौंपा गया था; उसकी बेचैनी का कारण यह था कि हिटलर को उसमें पूरा विश्वास नहीं है।

०००

सन १९४२ की सरदियों में एक दिन हिमलर ने कर्स्टन से पूछा—'क्या आप एक ऐसे आदमी का इलाज कर सकते हैं, जिसे सख्त सिरदर्द रहता हो, चक्कर आते हों, और नींद बिलकुल न आती हो?'
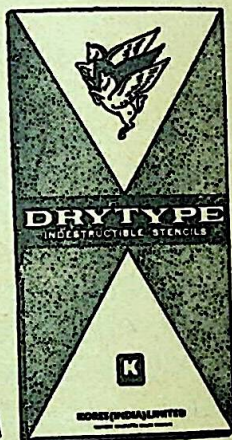
'पहले उसे देखना होगा। उसका मुआयना करने पर ही कुछ कहा जा सकता है।' कर्स्टन ने उत्तर दिया।

हिमलर गहरी सांस लेकर बोला—'आपको कसम खानी होगी कि इस बात को बिलकुल गुप्त रखेंगे।'

'यह तो डाक्टर के नाते यों भी मेरा फर्ज है।'

हिमलर ने अलमारी में से कागजों का एक मोटा पुलिंदा निकालकर कर्स्टन की ओर बढ़ाया। 'लीजिये, इसे पढ़िये। यह हिटलर की बीमारियों की रिपोर्ट है।'

छब्बीस पृष्ठों की उस रिपोर्ट को पढ़कर कर्स्टन हैरान रह गया। रिपोर्ट के अनुसार, हिटलर को आतशक हो चुका था। इलाज कराने पर वह ठीक तो हो गया था, पर १९३७ में रोग फिर से उभर आया था। १९४२ के शुरू में ऐसे चिह्न दिखाई दिये थे, जो इस बात का सबूत थे कि हिटलर को आतशक से होने वाले पक्षाघात का खतरा है।......

कर्स्टन ने बिना कुछ कहे वह पुलिंदा हिमलर को लौटा दिया। यह जानकारी इतनी भयंकर थी कि कुछ क्षण वह सोच ही न पाया कि क्या कहे।

'सो? क्या कुछ हो सकता है?' हिमलर ने पूछा।

'अफसोस है कि मैं इसमें कोई मदद नहीं कर सकता। मैं इन बीमारियों का डाक्टर नहीं हूं। क्या उनका इलाज हो रहा है?'

हिमलर बोला—'हां, डाक्टर मोरेल, जो उनका निजी डाक्टर है, उन्हें इंजेक्शन दे रहा है। उसका कहना है कि बीमारी आगे बढ़ने से रुक जायेगी और हिटलर की कामकाज करने की क्षमता कायम रहेगी।'

'जहां तक मैं जानता हूं, इस बीमारी का कोई इलाज नहीं है।'

हिमलर इस बीच तेजी से चहलकदमी करने लगा था, बोला—'मेरा भी यही खयाल था। हिटलर को किसी अस्पताल में ले जाकर इस बीमारी का मुआयना कराना तो संभव है नहीं। शत्रु देशों के जासूसों को फौरन पता लग जायेगा और वे जर्मन फौजों और जर्मन जनता तक खबर पहुंचा देंगे। तब बहुत जल्दी हमारी हार हो सकती है। डाक्टर मोरेल इस कोशिश में है कि हमारी जीत होने तक हिटलर की हालत और ज्यादा खराब न होने पाये।...... देखा आपने, मैं कैसी-कैसी चिंताओं से घिरा हुआ हूं! संसार की नजर में हिटलर असाधारण शक्ति और गुणों से संपन्न व्यक्ति हैं। मैं चाहता हूं कि इतिहास में भी उनका यही रूप अंकित हो। उन जैसा महान प्रतिभाशाली पुरुष आज तक नहीं पैदा हुआ है। अगर वे बीमार हैं तो क्या हुआ—खासकर अब जबकि उनका काम लगभग पूरा हो चुका है!'

कुछ वक्त के बाद एक दिन फिर हिमलर ने कर्स्टन से प्रश्न किया—'हिटलर के इलाज के बारे में क्या आपने कोई बात सोची है?'

कर्स्टन ने कह ही तो दिया कि इस बीमारी से हिटलर का मानसिक संतुलन पूरी तरह बिगड़ जाने का डर है। सिरदर्द, नींद

का न आना, हाथों का कांपना, हकलाना, अंगों का ऐंठना आदि उनकी शिकायतें और ज्यादा बढ़ जायेंगी। हिटलर को डाक्टर मोरेल के रहम पर छोड़ना बहुत बड़ी गलती है। लाखों लोगों की किस्मत हिटलर के फैसलों पर निर्भर है। कौन कह सकता है कि ये फैसले किस हद तक असंतुलित मानसिक अवस्था में किये जा रहे हैं।

हिमलर कुछ न बोला। कर्स्टन को अपने आप पर अचरज हुआ कि मैं हिटलर के बारे में यह सब कुछ कैसे कह गया! इससे उसका साहस बढ़ा और उसने कहा—'शासन करने का हक केवल उसी व्यक्ति को है, जो मानसिक रूप से स्वस्थ हो और जिसका दिमाग ठीक तरह से काम कर रहा हो। मगर हिटलर के बारे में यह बात नहीं कही जा सकती। सो, उन्हें फ्यूहरर मानना आपके लिए कहां तक ठीक है?'

'मैं यह सब सोच चुका हूं,' हिमलर ने उत्तर दिया—'आपकी बातें बिलकुल तर्कसंगत हैं। पर इस मामले में तर्क पीछे रह जाता है। अब कुछ नहीं हो सकता। फिर फ्यूहरर के खिलाफ मैं कुछ नहीं कर सकता। अगर मैंने कुछ भी किया, तो दुनिया सोचेगी कि मैं उनका स्थान लेना चाहता हूं।'

'तो क्या आप हिटलर की हालत को और ज्यादा बिगड़ने देंगे?' कर्स्टन पूछ बैठा—'इसका मतलब यह है कि आप जर्मन लोगों की किस्मत एक ऐसे आदमी के हाथ में सौंप रहे हैं, जो बुरी तरह मनोरोगग्रस्त है।'

'खैर, अभी ऐसी हालत नहीं है कि मैं कोई कदम उठाऊं। मगर आगे चलकर जरूरत आ पड़ी तो देखा जायेगा।' हिमलर ने निर्णयात्मक अंदाज में कहा।

०००

सितंबर १९४३ में फिनलैंड सरकार ने कर्स्टन को हेलसिन्की आकर अपनी रिपोर्ट देने की आज्ञा दी।

जब वह हेलसिंकी जाने को तैयार हो रहा था, स्वीडन के राजदूत ने कहा कि कुछ दिन स्टाकहोम में रुकें, क्योंकि स्वीडन के कुछ मंत्री आपसे बातचीत करना चाहते हैं।

स्टाकहोम पहुंचने पर कर्स्टन की मुलाकात स्वीडन के विदेश-मंत्री क्रिश्चियन गुंथर से हुई। गुंथर ने कहा—'कन्सेन्ट्रेशन कैंपों में पड़े हजारों कैदियों को बचाने की एक योजना बनायी गयी है। उसमें हमें आपकी मदद की जरूरत है।'

'जो कुछ भी मुझसे संभव होगा, मैं जरूर करूंगा।'

'इस योजना के अनुसार, स्वीडन की सरकार कैदियों को अपने यहां शरण देने को तैयार है। इस काम में रेडक्रास से भी हमें सहयोग मिलेगा। परंतु कैदियों को स्वीडन जाने की अनुमति देने के लिए हिमलर को राजी करना आपका काम है। यह बहुत ही मुश्किल काम है।'

'बेशक! लेकिन कोई न कोई रास्ता निकालूंगा मैं।'

जब कर्स्टन हेलसिंकी से वापस जर्मनी आया, तो हिमलर बहुत खुश हुआ। उसने कहा—'आपके बारे में तो अफवाहें फैल गयी

अप्रैल

थीं कि आप वापस नहीं लौटेंगे।'

'मैं अकेला ही नहीं आया हूं, बल्कि अपनी पत्नी और पुत्र को भी साथ लेता आया हूं।'

इसके बाद तो हिमलर कर्स्टन पर अंधभक्ति जैसा विश्वास करने लगा। वास्तव में उसका विश्वास जीतने के लिए ही कर्स्टन ने पत्नी और पुत्र को साथ लाने का खतरा मोल लिया था।

कई दिन तक कर्स्टन स्वीडन के मंत्री गुंथर की बतायी योजना के बारे में सोचता रहा। गेस्टापो का प्रमुख अधिकारी काल्टनब्रूनर हाइड्रिच से भी ज्यादा खतरनाक आदमी था और उसे कर्स्टन फूटी आंखों नहीं सुहाता था। अंततः उसने किसी दुर्घटना के जरिये कर्स्टन को मरवा डालने की योजना बनायी। कर्स्टन को इसका किसी ढंग से सुराग मिल गया और वह दुर्घटना का शिकार होने से बच गया। इस बात का जिक्र उसने हिमलर से किया। हिमलर ने फौरन ब्रांड्ट को बुलवाकर इस साजिश की असलियत का पता लगाने की आज्ञा दी।

अगले दिन असलियत का पता लगने पर हिमलर ने काल्टनब्रूनर को अपने यहां खाना खाने बुलाया। कुछ देर तक तो वे चुपचाप खाना खाते रहे। फिर मौका पाकर जब काल्टनब्रूनर ने कर्स्टन का जिक्र छेड़ा, तो हिमलर अचानक उसकी बात काटते हुए बोला पड़ा—'सुन लीजिये काल्टनब्रूनर! कर्स्टन की मौत हो जाती तो उसके बाद आप एक घंटा भी जीवित न रहते।'

काल्टनब्रूनर का चेहरा पीला पड़ गया। हिमलर ने कहना जारी रखा—'मैं चाहता हूं कि डाक्टर कर्स्टन और आप दोनों ही लंबी उम्र भोगें। आप दोनों ही मेरे लिए महत्त्वपूर्ण हैं। मैं कोई दुर्घटना नहीं देखना चाहता। अगर भविष्य में डाक्टर कर्स्टन को कुछ भी हुआ तो उसका नतीजा आपके लिए बहुत-बहुत बुरा होगा। समझ गये न?'

'बिलकुल ठीक राइशफ्यूहरर!' काल्टनब्रूनर ने कहा।

०००

इस घटना के कुछ ही दिन बाद कर्स्टन ने एक दिन मौका देखकर हिमलर से कुछ देशों की ३,००० बंदी स्त्रियों को शरणार्थियों के तौर पर स्वीडन भेजने का सुझाव दिया। हिमलर 'ना' नहीं कर सका। साथ ही, कर्स्टन ने यह भी कहा है कि स्कैंडिनेवियाई कैदियों को किसी ऐसी जगह भेजा जाये, जहां बमबारी न हो रही हो। हिमलर ने यह बात भी मान ली।

कर्स्टन की खुशी का ठिकाना नहीं था। फिर उसे खबर मिली कि स्विट्जरलैंड २०,००० यहूदियों को अपने यहां शरण देने को तैयार है। जब उसने इस बारे में हिमलर से बात की, तो हिमलर ने कहा—'यह बात मन में भी मत लाइये। हिटलर को पता चल गया तो तत्काल मुझे मौत के घाट उतार दिया जायेगा।'

परंतु कर्स्टन अपनी बात पर डटा रहा। अंततः हिमलर बोला—'मैं ज्यादा से ज्यादा दो अथवा तीन हजार यहूदियों को छोड़

सकता हूं।'

०००

जब जर्मनी की हार पर हार होने लगी, तो हिटलर के गुस्से के दौरे पागलपन की हद तक पहुंच गये। ऐसे ही एक दौरे में उसने हिमलर को हुक्म दिया कि ज्यों ही दुश्मन की फौजें जर्मनी से आठ किलोमीटर दूर जायें, कन्सेन्ट्रेशन कैंपों को, उनके आठ लाख कैदियों समेत, बारूद से उड़ा दिया जाये। जब मित्र देशों को अपने जासूसों के जरिये इस बात का पता लगा, तो उन्होंने स्वीडन की सरकार से अनुरोध किया कि वह इस तबाही को रोकने के लिए कोई कदम उठाये। इस पर स्वीडन के मंत्रि-मंडल ने कर्स्टन को बुलाकर बातचीत की।

एक दिन इलाज के दौरान कर्स्टन ने हिमलर से कहा—'क्या यह सच है कि शत्रु देशों की फौजों के जर्मनी के निकट पहुंचते ही कन्सेन्ट्रेशन कैंपों को बारूद से उड़ाने का हुक्म दिया गया है?'

हिमलर ने उत्तर दिया—'हां, अगर हमारी हार हुई, तो हमारे दुश्मनों को भी हमारे साथ मरना होगा।'

कर्स्टन ने बहुत ही नरमी से कहा—'पुराने जमाने के महान जर्मन ऐसा काम हर्गिज नहीं करते। और आप आज के जमाने के सर्वश्रेष्ठ जर्मन नेता हैं। इस समय आप हिटलर से भी अधिक शक्तिशाली हैं। आपका देश हार रहा है। आपके जनरल कुछ कर नहीं पा रहे हैं और आपके पास बस अब एक ही शक्ति बाकी बची है—एस-एस पुलिस की। इस समय अपनी उदारता का प्रमाण दीजिये।'

'पर उस उदारता के लिए कौन होगा मेरा कृतज्ञ?... कोई नहीं।'

'इतिहास आपका कृतज्ञ होगा', कर्स्टन ने कहा—'आठ लाख प्राण बचाने के लिए आपका नाम इतिहास में गौरव के साथ लिया जायेगा।'

हिमलर ने इन्कार में सिर हिलाया।

परंतु कर्स्टन ने अगले दो दिन फिर यही विषय छेड़ा और उदारता दिखाने के लिए हिमलर पर दबाव डाला।

आखिर २२ मार्च १९४५ को हिमलर ने खुद अपने हाथ से एक असाधारण दस्तावेज तैयार किया, जिसका नाम था—'मानवता के नाम पर अनुबंध-पत्र'। उसमें निम्नलिखित आदेश जारी किये गये:

१. कन्सेन्ट्रेशन कैंपों को बारूद से उड़ाया नहीं जायेगा।

२. आज से किसी भी यहूदी की हत्या नहीं की जायेगी।

३. यहूदी कैदियों के पास सामान भेजने की स्वीडन को इजाजत है।

पहले हिमलर ने, फिर कर्स्टन ने इस दस्तावेज पर हस्ताक्षर किये।

कुछ ही दिन बाद कर्स्टन ने स्टाकहोम जाकर इसकी खबर स्वीडन के विदेश-मंत्री गुंथर को दी और कहा—'मैंने हिमलर को इस बात के लिए भी राजी कर लिया है कि वह अखिल विश्व यहूदी कांग्रेस के एक प्रतिनिधि को उससे मिलने का समय दे।'

सुनकर क्रिश्चियन गुंथर को जैसे विश्वास ही न हुआ। उसने कहा—'आपने तो असंभव को संभव कर दिखाया है!'

स्टाकहोम से वापसी के बाद कर्स्टेन ने हिमलर से और ५,००० यहूदियों को स्वतंत्र कराया।

इस दौरान में अखिल विश्व यहूदी कांग्रेस ने नोबर्ट मेसर नामक यहूदी को हिमलर से मिलने के लिए अपना प्रतिनिधि नियुक्त किया। कर्स्टेन पुनः स्टाकहोम गया और मेसर को अपने साथ बर्लिन लाया। हिमलर के साथ उन दोनों की लंबी मुलाकात हुई और लंबी बहस के बाद अंततः हिमलर ने मेसर की यह प्रार्थना मान ली कि जर्मनी में जो यहूदी जीवित बचे हैं, उनकी जान न ली जाये।

मुलाक़ात की समाप्ति पर हिमलर जब जाने के लिए उठा, तो कर्स्टेन कार तक गया। कार में बैठने से पहले हिमलर ने उससे कहा—'पता नहीं, मैं और कितने समय जिंदा रहूं। जो भी हो, मेरी आपसे प्रार्थना है कि मेरे बारे में बुरा न सोचें। बेशक मैंने बहुत बड़ी गलतियां की हैं। हिटलर चाहते थे कि मैं सख्ती से काम लूं। जर्मनी का सर्वोत्तम अंश हमारे साथ नष्ट हो जायेगा।' फिर कार में बैठकर उसने कर्स्टेन का हाथ अपने हाथ में लेकर दबाया और रुंधे गले से कहा—'कर्स्टेन, मैं सभी चीजों के लिए आपका आभारी हूं। मुझ पर तरस खाइयेगा। इस समय मुझे अपने परिवार का खयाल आ रहा है।'

और तब कर्स्टेन ने देखा कि हिमलर की आंखों में आंसू थे—हिमलर जिसने अपने आदेश से इतनी बड़ी संख्या में, इतने विशाल पैमाने पर लोगों को मौत के घाट उतरवाया था, जिसकी विश्व-इतिहास में दूसरी मिसाल न थी, उसकी आंखों में आंसू थे!

इसके दो सप्ताह बाद जर्मनी ने आत्मसमर्पण कर दिया। अन्य अनेक नाजी नेता पकड़ लिये गये थे; परंतु हिमलर का कहीं पता न था।

फिर २१ मई १९४५ को उत्तर-पश्चिम जर्मनी के एक छोटे-से शहर में एक व्यक्ति पुलिस के हाथ आया, जो अपना नाम हाइनरिश हिट्ज़िन्गर बतलाता था। उसके दस्तावेज देखने पर पुलिस को शक हुआ। पूछताछ करने पर प्रकट हुआ कि वह हिमलर है। यद्यपि उसने अपना हुलिया बदल लिया था, फिर भी असलियत छिपी न रह सकी। लेकिन उसे अदालत में न लाया जा सका, क्योंकि पकड़े जाने के कुछ ही दिन बाद जेल में उसने जहर खाकर आत्महत्या कर ली।

०००

युद्ध के बाद डा. कर्स्टेन स्वीडन जाकर रहने लगा। लेकिन वहां काफी लंबे समय तक उस पर नजर रखी गयी, चूंकि वह इतने बड़े हत्यारे नाज़ी नेता का चिकित्सक रह चुका था। फिर कुछ डच लोगों ने उसके खिलाफ आवाज उठायी और दबाव डाला कि उस पर मुकद्दमा चलाया जाये। लिहाजा, युद्धकाल की उसकी गतिविधियों

की जांच-पड़ताल करने के लिए एक कमेटी नियुक्त की गयी। सन १९४९ में बीसियों गवाहियों और सैकड़ों दस्तावेजों के आधार पर कमेटी ने उसे निर्दोष ठहराया। तब डच सरकार ने उसे एक पदक देकर संमानित किया।

सन १९५३ में डा. कर्स्टन को स्वीडन की नागरिकता प्रदान की गयी और उसे हजारों कैदियों की प्राणरक्षा के लिए स्वीडन सरकार ने संमान-पत्र दिया। कर्स्टन स्टाकहोम में रहकर चिकित्सा करता रहा। उसके मरीजों में जर्मनी, हालैंड और फ्रांस के भी रोगी रहते थे। चिकित्सा में उसने पहले से भी अधिक यश प्राप्त किया। १६ अप्रैल १९६० को दिल का दौरा पड़ने से उसका देहांत हो गया।

राजधर्म

चौथे खलीफा हजरत अली एक दिन नमाज के बाद उपदेश दे रहे थे कि एक अदना-से अरब ने उन्हें खूब गालियां दीं और कहा कि तुम्हें खलीफा बने रहने का कोई हक नहीं; पदत्याग कर दो।

खलीफा का सरेआम यह अपमान देखकर उपस्थित भक्तजन बहुत क्रुद्ध हुए। मगर खलीफा को तनिक भी क्रोध न आया। उपदेश पूरा होने पर उन्होंने अपने भक्तों से शांतिपूर्वक कहा—'जरा पूछताछ करो कि क्या इस आदमी का कोई सगा मर गया है, या इस पर कर्ज चढ़ गया है, या इसे खाने-पीने के लाले पड़ गये हैं?' पूछताछ से पता चला कि उस पर बहुत कर्ज चढ़ गया है और साहूकार ने उसे कैद कर लिया है। खलीफा ने अपने घर से पैसा मंगवाकर उसका कर्ज चुकता किया और उसे मुक्त करा दिया। तब से वह उनका परम भक्त बन गया।

हजरत अली ने उस समय कहा था—'जब कोई साधारण प्रजाजन किसी बड़े आदमी की पद-प्रतिष्ठा का खयाल न करके उसका अपमान करने पर उतर आये, तब समझ लेना चाहिये कि उसके हृदय में कोई गहरी वेदना है, और उसके निवारण का उपाय करना चाहिये। उस वक्त उस पर गुस्सा करना नेता के रूप में अपने धर्म का पालन न करना है।'

*

हम कोना

मटमैली धरती को हरी धानी चूनर, या सरसों का पीतांबर, या सूरजमुखी की वासंती चोली पहनाकर सजा देने वाले किसान और कृषि-विज्ञानी मुझे ऐसे लैंड-स्केप-कलाकार लगते हैं, जो निर्जीव रंगों से नहीं, सजीव वनस्पतियों से कला की सृष्टि करते हैं—कला भी ऐसी, जो आंखों की प्यास ही नहीं, पेट की आग भी बुझाती है।

पिछले दिनों अपनी दक्षिण-यात्रा में मैंने देखी कोयंबतूर और ऊटी में गेहूं और जौ की फसल ! संपूर्ण तटवर्ती भारत एक ही धान्य को जानता-पहचानता आया है—यानी धान को। मगर हमारे कृषि-विज्ञानी

डा. महाबल राम

ऐसे चतुर चितेरे हैं, जिन्होंने सदियों से एक ही धानी रंग में डूबी धरती पर गेहुंए रंग की कूंची फेर दी।

यही हुआ है पश्चिम बंगाल में भी। मच्छी-भात पर कुरबान बंगवासी अब बड़े चाव से चावल छोड़ गेहूं उगा रहे हैं। अब वे खेतों को न पटसन (जूट) के बाद खाली छोड़ते ह और न धान के बाद। पटसन-गेहूं और धान-गेहूं का चक्र वहां ऐसा लोकप्रिय हुआ है कि पिछले साल पश्चिम बंगाल ने ६। लाख टन से ज्यादा गेहूं पैदा किया !

इधर उत्तर में आ जाइये तो पंजाब खरीफ में मक्का-बाजरा के बजाय धान की फसल को प्रधानता दे रहा है। 'गेहूं के कटोरे' पंजाब ने १९७३-७४ में ११॥ लाख टन से अधिक धान पैदा किया।

तो क्या हमारे किसान अब तक गलत फसलें उगा रहे थे ?

यह सवाल जब मैंने भारतीय कृषि अनु-संधान परिषद् के युवा विज्ञानी डा. महा-बल राम के सामने उठाया, तो उन्होंने कई रोचक बातें बतायीं। डा. महाबल राम स्वयं पूर्वी उत्तर प्रदेश के आजमगढ़ जिले के एक गांव के किसान-परिवार में जनमे हैं, सो हमारी खेती-समस्याएं उनके लिए दाल-

रोटी की तरह हैं।

उन्होंने बताया कि एक जमाने में खेती का मतलब था, जैसे-तैसे गुजर-बसर करना। गेहूं या धान उगा लिया कि किसी तरह परिवार का पेट भर जाये। गन्ना उगा लिया कि खाने को गुड़ हो जाये और बेचकर कुछ गहने-कपड़े आ जायें, या साहूकार का थोड़ा कर्ज उतर जाये। हमारे किसान ने कभी खेती को उद्योग के स्तर पर नहीं अपनाया। ज्यादा नफे-नुक्सान की उसने चिंता नहीं की। लेकिन अब दृष्टिकोण बदल गया है। अब खेती जीवन-निर्वाह का साधन-भर नहीं है, पूरा एक उद्योग है।

इस नये दृष्टिकोण ने ही किसान को यह चतुराई सिखायी कि वह अब पूरी योजना बनाकर खेती करता है। अब वह बित्ता-भर जमीन भी खाली नहीं छोड़ना चाहता। काली मिट्टी वाले कपास-क्षेत्र में पहले किसान केवल कपास की फसल लेकर बाकी महीने खाट पर पड़े गप्पें हांकते और हुक्का गुड़-गुड़ाया करते थे। अब वे कपास के साथ ही मूंगफली उगा लेते हैं और मक्का-गेहूं और धान-गेहूं के बाद बैसाखी मूंग ले लेते हैं।

गुजरात-महाराष्ट्र में जो कृषक सिर्फ मूंगफली उगाते थे, वे देख रहे हैं कि सूरजमुखी मूंगफली से ज्यादा नफे की है। मूंगफली जमीन के अंदर दबी रहती है। भूमि में पलने वाला कीट 'ह्वाइट ग्रब' लग गया तो फसल चौपट। सो, क्यों न सूरजमुखी उगायें, जो रबी-खरीफ हर फसल में उग आती है और जिसके उत्साह को न अधिक वर्षा ठंडा कर सकती है, न पानी की कमी।

असल में सूरजमुखी ने हर हालत में दूसरी तिलहनी फसलों से ज्यादा उपज देकर सचमुच किसानों का मन मोह लिया है। इसी तरह नयी उभरती फसलों में सोयाबीन ने भी परंपरागत फसलों की जगह ली है—प्रोटीन और तेल के स्रोत के रूप में।

फिर, जल्दी पकने वाली किस्मों के आने से साल में तीन-चार तक फसलें लेना संभव हो गया है। जहां आस-पास मंडी है, बाजार है या पक्की सड़क है, वहां किसानों ने सब्जियां उगाना शुरू कर दिया। पहले सब्जियां उगाना हेय काम समझा जाता था। हिंदी-क्षेत्र में तो सिर्फ एक खास कौम—काछी—ही यह काम करती थी। अब व्यावसायिक समझदारी ने इन बेमानी संकोचों को पीछे छोड़ दिया है।

वैज्ञानिकों ने किसान के बदलते दृष्टिकोण की मांग पूरी करने के लिए आवश्यक अनुसंधान किये हैं। उत्तर भारत में आम, लीची एवं अमरूद के बागों में छाया में उगने वाली अदरक और हल्दी जैसी फसलें उगायी जा सकती हैं। नये बाग-बगीचों में आम-अमरूद के पौधे जब तक छोटे हों, तब तक खाली जगह में केले के पौधे लगाये जा सकते हैं तथा उनके बीच जो खाली जगह हो उसमें मटर, चना, सरसों या चारे की फसलें—जैसे बरसीम और जई—उगायी जा सकती है। इसी तरह दक्षिण भारत में नारियल के बागों में केला, टैपियोका तथा काली मिर्च की खेती की जा सकती है।

बारानी क्षेत्रों में जहां केवल एक ही फसल ली जाती थी, अब वहां कम दिनों में होने वाली दो फसलें जैसे सोयाबीन-गेहूं, अरहर-गेहूं, मूंग-गेहूं उगायी जा सकती हैं। गेहूं के साथ सरसों और चने की मिलवां खेती तो किसान पहले से कर रहे थे, वैज्ञानिकों ने बताया है कि गन्ने के साथ गेहूं की मिलवां फसल ली जा सकती है। इसी तरह आलू की कतारों के बीच खाली जगह में गेहूं की एक अच्छी फसल लेना संभव है।

मिट्टी, पानी और तापमान के अनुसार फसलों के विकल्प तैयार हैं। गेहूं में ४-५ सिंचाइयां करनी पड़ती हैं। फिर आप बारानी क्षेत्र में गेहूं क्यों उगाते हैं? अरहर, चना, मसूर, अरंडी उगाइये। अरहर के साथ सोयाबीन एवं अरंडी की मिलवां खेती बहुत अच्छी तरह की जा सकती है। गेहूं ही उगाते हैं तो बुआई के २०-२१ दिन बाद गेहूं की जड़ों की मूंछ यानी क्राउन जड़ें निकल आने पर पहली सिंचाई जरूर करें और दूसरी सिंचाई बुआई के साठ-बासठ दिन बाद दानों का पकना शुरू होने पर जरूर करें।

गरज यह कि हर हाल में खेती के लिए नये तरीके वैज्ञानिकों ने निकाल दिये हैं। बाढ़ आती है। उतने दिन खेत खाली छोड़िये। पानी निकल जाने पर उसी खेत में दो-तीन फसलें ले लीजिये। इन नयी खोजों के आधार पर जो भी किसान लीक से हटे हैं, उन्होंने अपने भाग्य की लकीरें पलटकर रख दी हैं। कई बार मुझे क्षोभ होता है कि हमारे चित्रकार अपने कैन्वास पर इस तेजी से बदलते भू-दृश्य की तस्वीर क्यों नहीं उतारते!

—र. द. श.

★

एक था चारण—वाक्पटु, आशुकवि। उसे एक राजा के दरबार में रहते बहुत समय बीत गया, फिर भी राजा ने उसे उचित पुरस्कार नहीं दिया था। चारण को यह बात खटकी। एक दिन भरी सभा में उसने यह पंक्ति गढ़ी और सुनायी :

भीमा तू भाटो बीजे मोटा परवत माय।

[अर्थात् राजा भीमसिंह, तू अगले जन्म में किसी बड़े पर्वत में पत्थर बनना।]

राजा तिलमिलाकर रह गया। मंत्रियों ने संकेत किया कि कवि को रोकिये मत, चुप रहने को भी मत कहिये; उसे उचित दक्षिणा देना ही इस समय उपयुक्त है। इस पर राजा ने प्रथम पंक्ति पर ऊपर से प्रसन्नता जताते हुए यथोचित दक्षिणा दी और दोहा पूरा करने को कहा। तब चारण ने दूसरी पंक्ति तुरंत गढ़कर सुना दी :

संकर जूं सेवा करूं, राखूं हिरदां माय।।

[अर्थात् तब मैं शंकर की तरह तेरी सेवा करूंगा और तुझे हृदय में रखूंगा।]

चारण की चतुराई और उसकी आशुकविता से प्रभावित होकर सारी सभा 'वाह-वाह' कर उठी।

—डा. देवव्रत जोशी

★

[[पृष्ठ ४८ का शेष]

धरती के सृजनात्मक नियमन का दायित्व उठाने की तत्परता भी होनी चाहिये। जन्म से ही मनुष्य प्रकृति में गुंथा होता है, वह केवल दूसरे मनुष्यों पर ही नहीं अन्यान्य जीव-जंतुओं पर भी निर्भर होता है। वे सब उसके साथ उगते हैं। वे सब उस जीवन-शृंखला के अनिवार्य अंग हैं, जिसमें मनुष्य महज एक कड़ी है। अत: निर्ममता से उनका नाश करना अंतत: मनुष्य के लिए आत्म-हत्या सिद्ध होगा।

जिस सुख और सामंजस्यपूर्ण सामाजिक संबंध की खोज मनुष्य कर रहा है, उसकी प्राप्ति के लिए महज भौतिक सुविधाएं, पदार्थों की प्रचुरता और रोगों का नियंत्रण व उन्मूलन काफी नहीं है। उसके लिए तो प्रकृति और समूचे ब्रह्मांड के साथ अपने संबंधों की अधिक प्रत्यक्ष अनुभूति की हमें आवश्यकता होगी। यह अनुभूति हमारे जीवन को समृद्ध तो करेगी ही, यह हमारी धार्मिक भावना का स्थान भी ग्रहण कर सकती है। समाज का सदस्य होने की मान-सिक आवश्यकता मनुष्य की उस आदिम प्रवृत्ति को, जो अभी तक उसके सामाजिक ढांचे की बुनियाद और राष्ट्रीयता का ऐति-हासिक आधार रही है, भले ही आधुनिक स्वरूप प्रदान कर दे, मगर उससे मनुष्य में सभ्यता और संस्कारिता का उदय नहीं हो सकता। उसके लिए हमें प्रकृति के साथ स्नेह का नाता स्थापित करना होगा तथा उसके प्रति कृतज्ञता की सूक्ष्म अनुभूति अपने मन में जगानी होगी। प्रकृति की कृपा से हम कृतार्थ हैं, यह अहसास हमारी चेतना को ऊंचा उठायेगा।

परोपकार और अहिंसा

द्युबोस मानते हैं कि भले ही मनुष्य मृगया-जीवी रहा हो परंतु अधिकांश जीव-हत्या मनुष्यों के लिए एक कष्टकर अनुभूति ही होती है। इसके विपरीत परोपकार-वृत्ति मनुष्य में बहुत पुराने जमाने से चली आ रही है और कभी-कभी वह आत्मबलि-दान की सीमा तक जा पहुंचती है। उसकी जड़ें मनुष्य के जैविक अतीत में हैं। उसका कारण बहुत सीधा-सा है—वह समूह और समाज के अस्तित्व के लिए अपरिहार्य है। प्रागैतिहासिक काल से ही परोपकार-भावना तथा दूसरों के प्रति उदारता एक अत्युच्च मूल्य रही है, जिसके द्वारा मनुष्य पशुता से ऊपर उठ पाया है।

दूसरों के प्रति स्नेह व लगाव निएन्डर-थल मानव में भी था, जिसे आदिमनुष्य कहा जाता है। इराक की श्नाइडर गुफाओं में वयस्क निएंडरथल पुरुष का कोई ५० हजार वर्ष पुराना अस्थि-पंजर मिला है। उस आदमी की एक बांह कुहनी के ऊपर से कटी हुई थी और संभवत: वह अंधा भी था। उसकी मृत्यु गुफा की दीवार ढह जाने से हुई थी। मृत्यु के समय वह ४० वर्ष का था। शारीरिक दृष्टि से असमर्थ होते हुए भी उसका इतने लंबे समय तक जीना सिद्ध करता है कि उसके साथियों ने उसकी देखभाल की होगी। यह देखभाल ही परोप-

कार की वृत्ति है, जो मनुष्य में स्वार्थ-भावना की पूरक बनकर अनादि काल से विद्यमान है। उसी काल की कब्रों में इस बात के प्रमाण मिले हैं कि मृतकों को फूलों और खाद्य सामग्री के साथ दफनाया जाता था, जो कि मनुष्य की स्नेहशीलता का एक और प्रमाण है।
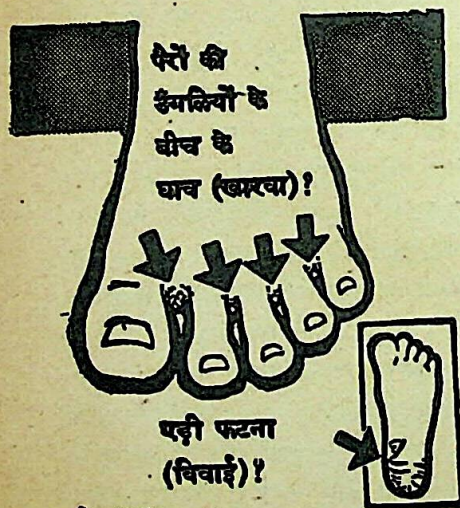
आदिमानव की स्नेहशीलता के ऐसे अनेक पुरातत्त्वीय प्रमाण ड्युबोस ने अपनी पुस्तक 'बीस्ट ऑर एंजिल' में दिये हैं। वे तो मानते हैं कि बुद्ध और ईसा के समय जिस अहिंसा का व्यवस्थित दर्शन तैयार हुआ, वह अहिंसा उससे पहले एक लंबी अवधि में विकसित हुई थी। उसका सबसे पहला सूत्र था—'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।' ईसा से छह सौ वर्ष पूर्व जरथुस्त्र ने भी यही संदेश दिया था।

आनंद ही जीवन-सर्वस्व है

ड्युबोस आनंद को मनुष्य-जीवन का लक्ष्य मानते हैं। उनका कहना है कि आनंद की अनुभूति अथवा प्रसन्नता संक्रामक है तथा उसकी अभिव्यक्ति करना मानव-जाति की बहुत बड़ी सेवा और उसके प्रति एक उच्च कर्तव्य है। भगवान बुद्ध ने कहा था कि प्रसन्न व्यक्ति ही प्रसन्न विश्व का निर्माण करते हैं। ड्युबोस की मान्यता है कि भौतिक वस्तुओं का उत्पादन करने वाले नहीं, वरन अपने चारों ओर आनंद की सृष्टि करने वाले लोग समाज के लिए सर्वाधिक उपयोगी नागरिक हैं। दुर्भाग्य का सामना करने की सर्वोत्तम तरकीब है—हंसकर जीना। हां, यह बनावटी हंसी नहीं वरन वैसी सहनशील हंसी हो, जिसका उदय सांसारिक वस्तुओं की क्षणभंगुरता के भान में से होता है। यह हंसी शिकारी अवस्था में मनुष्य के पास थी। अफसोस! वह जैविक-स्वर्ग उससे कभी का छिन चुका है।

आनंद अथवा प्रसन्नता की व्याख्या करते हुए ड्युबोस कहते हैं कि एक आनंद है महज जिंदा रहने का—यानी भौतिक अस्तित्व का। यह आनंद मनुष्य और पशुओं दोनों को मिलता है। इससे भिन्न एक और प्रकार का आनंद भी है, जिसका जन्म मनुष्य के इस अहसास में से होता है कि मेरा व्यक्तिगत जीवन तो मेरे निजी स्वप्नों की सिद्धि है और मेरा सामूहिक जीवन एक ऐसा सृजनात्मक उपक्रम है, जो मानव-जाति के सपनों को ठोस आकार प्रदान करता है। यह दूसरा आनंद ही सच्चा आनंद है।

'होने' से बनने तक

ड्युबोस कहते हैं कि मनुष्य 'होने' का अर्थ है चयनशील होना। मानव-जाति का अनूठापन उसकी इस क्षमता में है कि वह अपनी जैविक परंपरा के चंगुल से बच निकलती है। हम चाहें तो अपनी पाशविकता का दमन कर सकते हैं। मनुष्य की नैतिक स्वतंत्रता का वास्तविक अर्थ और अभिप्राय भी यही है कि वह अपनी प्रकृति का गुलाम नहीं है तथा उस पर विजय प्राप्त कर सकता है।

मनुष्य की अधिकांश हलचल, गतिविधि और कर्मण्यता का मूल कारण यह है कि

वह होने और बनने के दो ध्रुवों के बीच झूलता रहता है। 'होना' उसकी नियति है, 'बनना' उसकी आकांक्षा। यह 'बनना' वास्तव में अपनी ही प्रकृति पर विजय पाने की आकांक्षा है। होने से बनने तक की यह हलचल सृजनात्मक होती है। वह मनुष्य को अपनी तलाश करने, अपने वातावरण और पर्यावरण को समझने के लिए प्रेरित करती है, जिससे वह अपनी जैविक विवशताओं अर्थात् पाशविक प्रकृति को लांघकर इस धरती पर मानवता की प्रतिष्ठा करता है।

मानव की प्रकृति को समझने की दृष्टि से ड्युबोस इस बात पर ध्यान देने का आग्रह करते हैं कि मनुष्य के जीवन का अधिक भाग उन कलाओं, विज्ञानों, अनुष्ठानों और असंख्य बलिदानों की साधना में क्यों व्यतीत होता है, जिनकी उसके जीवन की दृष्टि से कोई तात्कालिक उपयोगिता नहीं होती। मनुष्य सबसे अधिक संतोष अथवा सच्ची प्रसन्नता उन कार्यों से प्राप्त करता है, जो पाशविकता से पूर्णतया मुक्त होते हैं।

वे इस बात पर बल देते हैं कि यह समझना काफी नहीं है कि मनुष्य के पुरखे बनमानुस थे, क्योंकि सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि मनुष्य 'बनना' क्या चाहता है, उसे क्या बनने की कोशिश करनी चाहिये।

मानव-जाति का पुरस्कार

पिछले हजारों वर्षों में ऐसे क्षण बिरले ही मिलेंगे, जब मनुष्य ने वातावरण के सामने चुपचाप घुटने टेक दिये हों। उसने हमेशा अपनी इच्छा के अनुकूल अवस्थाओं की तलाश की है और यदि ये अवस्थाएं प्रकृति में उपलब्ध नहीं हुईं तो उसने उनका निर्माण किया है। इस प्रकार मनुष्य ने वातावरण के चयन द्वारा सभ्यताओं का निरंतर पुनर्निर्माण किया है।

ड्युबोस मानते हैं कि सभ्यताएं मरणशील होती हैं, परंतु मानव-मन की कल्पना और संकल्प-शक्ति के बल पर उन्हें पुनर्जीवित किया जा सकता है। जिस सीमा तक हम जैविक और वातावरण संबंधी विवशताओं से ऊपर उठने के लिए अपनी इच्छाशक्ति का प्रयोग करते हैं, उसी सीमा तक हम मनुष्य हैं। यही आत्मसृजन है—अर्थात् मनुष्य का अपने हाथों अपना निर्माण—जो मनुष्य-जाति का दायित्व और पुरस्कार है।

इसी दायित्व-चेतना से प्रेरित होकर ड्युबोस चिंतन और लेखन में प्रवृत्त हुए। जीवाणु-विज्ञान संबंधी लगभग एक दर्जन ग्रंथों के साथ ही उन्होंने मानव-जाति के आत्मसृजन की विधा पर भी प्रायः इतने ही ग्रंथ लिख डाले हैं। इनमें लुई पाश्चर से संबंधित दो पुस्तकों के अलावा 'युटोपियाज़, प्रोग्रेस एंड चेंज', 'ड्रीम्स ऑफ रीज़न : सायंस एंड युटोपियाज़', 'द टार्च ऑफ लाइफ', 'द कल्चरल रूट्स एंड द सोशल लिविंग एक्सपीरियन्स', 'मैन एडैप्टिंग', 'सो ह्यूमन एन एनिमल', 'रीज़न एवेक' 'ए गॉड विदइन', 'ओन्ली वन अर्थ' तथा 'बीस्ट ऑर एंजिल' विशेष उल्लेखनीय हैं। 'सो ह्यूमन एन एनिमल' के लिए १९६९ में उन्हें पुलित्जर पुरस्कार दिया गया था।

★

* व्यक्तिगत
* किसलिए
* अमीर खुसरो
* मेरी प्रिय कहानियां
* बातूनी लड़की

***व्यक्तिगत*लेखक : लक्ष्मीनारायण लाल; प्रकाशक : राजपाल एंड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली; पृष्ठसंख्या : ७१; मूल्य : छह रुपये।**

यह डा. लक्ष्मीनारायण लाल का नया नाटक है। जिसे पश्चिम में अस्तित्व-वाद कहते हैं, उसका गठबंधन मार्क्सवाद से यहां किया गया है। सार्त्र के नाटक और बादल सरकार के नाटकों के ढंग की चीज है। श्री एम. के. रैना ने १९७४ में इसका निर्देशन किया था और हिंदी रंगमंच की एक अविस्मरणीय घटना घटित हुई थी।

नाटक सचमुच बहुत सशक्त और कौशलपूर्ण है। आधुनिक नाटकों में भी इस ढंग की यह पहली रचना है। डा. लक्ष्मी-नारायण लाल तकनीक समझते हैं। फ्लैप पर जो यह कहा गया है कि 'इस नाटक में समय, काल का उपयोग अनेक अर्थों में किया गया है,' सच है। सबसे प्रशंसनीय नाटक का कथोपकथन है, जो मुख्तसर और मार्मिक है। चरित्र केवल दो हैं, प्रधानतः—मैं और वह—पति-पत्नी। बाकी और भी चरित्र हैं, मगर वे बहुत गौण होते हुए भी प्रधान चरित्रों को उभारते हैं। नाटक की सफलता की कल्पना सहज ही हो आती है।

ऐसे नाटक से कुछ बुनियादी सवाल सामने आते हैं। सवाल पुराने हैं—पहला व्यक्ति और टाइप का। यह सवाल आज से तीस साल पहले जैनेंद्र के उपन्यासों को लेकर बहुत ही गरम हुआ था। नाटक में चरित्र का व्यक्तित्व पूर्णतः टाइप होने से क्या लाभ-हानि है? सारांश यह कि मान-वीय चरित्र को कहां तक प्रतीक मात्र बनाया जाये, यह सवाल है। श्री एम. के. रैना ने 'निर्देशक की बात' में यह सवाल यों उठाया है :

क्या 'मैं' को जीने का अधिकार है?—मेरा स्वयं का उत्तर है—'नहीं, नहीं, नहीं। उसे मार देना होगा। मारदो। किल हिम।'

क्या किसी न किसी रूप में 'मैं' का कुछ अंश हम सबमें ही नहीं है? मगर यह

अप्रैल

सवाल उठाना लेखक को अभीष्ट नहीं है।

एक और बात—नाटक के प्रथम भाग में जो सांकेतिकता है वह मूलतः मानव-चरित्र पर ही लगाया गया सवाल है, जबकि उत्तरार्ध में सवाल अर्थ-व्यवस्था से जोड़ा गया है। फिर भी खेल आदि खिलवाकर एक प्रतीकात्मक क्रिया, एक रिचुअल का निर्माण किया गया है।

सन १९७५ में प्रकाशित चार सर्वोत्कृष्ट उपलब्धियों में से एक और डा. लक्ष्मीनारायण लाल की सृजनयात्रा का एक नवीन विकास-बिंदु!

०००

*** किसलिए * लेखक : प्रभाकर माचवे; प्रकाशक : राजपाल एंड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली; पृष्ठसंख्या : १९६; मूल्य : दस रुपये।**

यह माचवेजी की नयी पुस्तक है, जिसे उन्होंने उपन्यास कहा है। वस्तुतः सारी पुस्तक प्रोफेसर प्रभाकर माचवे का एक लंबा लेक्चर है, जिसमें उन्होंने अनीति से पाठक को आगाह किया है और सीधे-सीधे पतित मानवता पर आंसू बहाये हैं—'हम अपनी ही छोटी-छोटी निरर्थकताओं के दास हैं!' —'हम सब अपने आपको ठगने में कितने होशियार हैं'—'धर्म को अधर्म ने ढंक डाला है जैसे आग को राख ने, पानी को शैवाल ने, आईने को मैल ने!'—'हाय; पता नहीं, अर्थ-पिशाच किस-किससे क्या-क्या कराये?' ऐसे ही वर्णनात्मक ढंग से कहानी के बीच बड़े शिक्षाप्रद वाक्य मिलते हैं! कहानी में दो चरित्र हैं—अ और ब; और माचवेजी के अलावा उनका वक्तृत्व भी पाठक को उपलब्ध है। माचवेजी को दस साल पहले यह कहने की आदत थी—'अरे, वह क्या लेखक है? खोमचा बेचता है, खोमचा!' मालूम नहीं, उन्हें याद है कि भूल गये! अब उनकी भाषा के कुछ नमूने देखिये—'चिपटकर भागते नहीं थे!' 'पैसे कमाकर उसका वह क्या करेंगे?' 'मौनता-प्रार्थी', 'वास्तव धरातल', 'हम विदेशी को अधिक निकटतम समझते हैं!'

शेक्सपियर का अनुवाद भी देखिये—'प्रेम काल का विदूषक नहीं है' शेक्सपियर ने कहा था।

हिंदी के लेखकों को श्री प्रभाकर माचवे अपनी उच्च संस्कृति के कारण कितना हीन देखते-समझते हैं, इसकी बानगी पृष्ठ १२४ पर—'तुम तो औसत हिंदी लेखकों, अध्यापकों और विद्वानों के घर में लटके भड़कीले कैलेंडरों वाली कला को ही अपने सौंदर्य-बोध की चरम उपलब्धि मानकर संतुष्ट रह सकते हो!'

आशा है, माचवेजी सीधे ललित कला अकादमी से ही अच्छे प्रिंट खरीदकर लगाते हैं। यदि पुस्तक को उपन्यास भी माना जाये तो भी वह आधुनिक साहित्य की एक 'उपलब्धि' है। —अनंत कुमार पाषाण

०००

*** अमीर खुसरो : भावात्मक एकता के अग्रदूत * संपादक : डा. मलिक मोहम्मद; प्रकाशक : राजपाल एंड सन्स, दिल्ली-६; पृष्ठसंख्या : २३० ; मूल्य : २५ रुपये।**

अमीर खुसरो के सातवें शताब्दी उत्सव के संदर्भ में गत वर्ष छपे इस स्मृतिग्रंथ में संकलित निबंधों में से अधिकांश की तर्ज यह है– '......कविवर अमीर खुसरो अद्भुत प्रतिभासंपन्न महामानव थे......अमीर खुसरो इस देश के चेतनावादी, मानवतावादी, समन्वयवादी महापुरुषों में से हैं, जिन्होंने इस देश की महती सेवा में अपना जीवन अर्पित कर दिया'......(संपादक का निवेदन, पृ. ६)। खुसरो निःसंदेह विलक्षण बहुमुखी प्रतिभा का धनी था और उसने हमारी सामासिक संस्कृति को पुष्ट किया। किंतु यह कहना कि 'अमीर खुसरो मुस्लिम साहित्य-संसार की महानतम विभूति हैं' स्तुतिपाठ में संतुलन खो बैठना है।

गजब का जटिल और अंतर्विरोध-भरा व्यक्ति रहा होगा खुसरो, जो एक साथ सूफी था, मुसाहिब था, फिर भी जनजीवन से जुड़ा हुआ था; जो ख्वाजा निजामुद्दीन औलिया का अतिप्रिय शिष्य था, मगर बलबन, अलाउद्दीन खिलजी और गयासुद्दीन तुगलक आदि सात सुलतानों का दरबारी कवि और प्रशस्तिकार भी था। इस चित्ताकर्षक संश्लिष्ट व्यक्तित्व को ओझल करके यहां हमें बताने की चेष्टा की गयी है कि खुसरो 'सामंतवादी कविता का अंत करने वाले महान क्रांतिकारी कवि थे' (पृ.४३), 'वे साधारण वर्ग में पैदा हुए जनकवि थे' और 'जनता की भाषा में जनता के लिए लिखते रहे' (पृ. ३७), जबकि पुस्तक के परिशिष्ट में स्पष्ट उल्लेख है कि खुसरो की २२ उपलब्ध पुस्तकों में से केवल एक (खालिकबारी) जनभाषा हिंदवी में है। खुसरो के नाम से प्रचलित पहेलियों व मुकरियों को भाषाशास्त्रीय एवं ऐतिहासिक कसौटी पर परखने की कोई इच्छा यहां नजर नहीं आती। फिर पृ. ३६ पर घोषित किया गया है कि 'खुसरो ने यह अच्छी तरह अनुभव कर लिया था ...... वर्ग-वैषम्य के कारण समाज में संघर्ष पैदा होता है।'

ऐसे वक्तव्य पढ़ते हुए जब आधुनिक हिंदी पांडित्य पर ही संदेह-सा होने लगता है, तब आचार्य बृहस्पति का लेख 'भारतीय संगीत को अमीर खुसरो का योगदान' अपनी तथ्यनिष्ठता एवं ऐतिहासिक विवेचन दृष्टि से प्रभावित करता है। इसमें उन्होंने बताया है कि 'ईरानी बारह स्वरों के आधार पर राग-वर्गीकरण का श्रीगणेश' भारतीय संगीत को खुसरो की स्थिर देन है और साथ ही खुसरो के सितार व तबला के आविष्कारक होने के प्रवादों का निराकरण किया है। फिर भी ये प्रवाद अन्य निबंधों में बेखटके परोसे गये हैं। —नारायण दत्त

०००

*** मेरी प्रिय कहानियां * लेखक : रमेश बक्षी; प्रकाशक: राजपाल एंड संस, दिल्ली; पृष्ठसंख्या: १२४; मूल्य: सात रुपये।**

रमेश बक्षी द्वारा स्वयं चुनी हुई सात कहानियों का यह संग्रह उनके विगत जीवन और सृजन को समझने में किंचित् सहायता देता है। उनके शब्दों में 'ये मेरी तथाकथित प्रिय कहानियां हैं, वे मेरी बेहतर कहानियां

होंगी जिन्हें लिखना जीने से भी मुश्किल काम होगा।'

परंपराओं और रूढ़ियों के प्रति युवा मन का तीव्र आक्रोश इन कहानियों के प्रमुख पात्र में समाहित है। पूर्व-स्मृतियों, प्रेम-संबंधों और सेक्स पर अच्छी टिप्पणियां हैं, जीवन के अनुभवों का निचोड़ अनुस्यूत है। रूमानी प्रतीकों के सहारे महानगरों के मानवीय संबंधों का परदाफाश सुंदरता से किया है। कहानीकार की टिप्पणी रोचक, खुली और पठनीय है। आवरण अच्छा है।

०००

* बातूनी लड़की * लेखक : राम सरूप अणखी; प्रकाशक : चित्रलेखा प्रकाशन, १४७ सोहबतिया बाग, इलाहाबाद-६; पृष्ठसंख्या : १०३, मूल्य : सात रुपये।

हिंदी में रचनाएं छपने पर लोकप्रिय होने वाले पंजाबी कथाकार अणखी का हिंदी में प्रकाशित यह पहला कहानी-संग्रह है। ये कहानियां हिंदी की कहानी-पत्रिकाओं में छप चुकी हैं; लेकिन उन्हें एकसाथ पढ़ना रोचक अनुभव है। बिना लाग-लपेट के, सहजता से अपनी बात कहते हुए कथा की गति बनाये रखना अणखी की विशेषता है। संप्रेषण की गुणवत्ता उनमें विद्यमान है। पंजाब और आस-पास के कस्बों-शहरों का सामाजिक अंतरंग और आम आदमी का व्यावहारिक एवं प्रेम-प्रसंगों का दृष्टिकोण इन कहानियों से भली भांति जाना जा सकता है। 'गर्दिश के दिन' पढ़ने के बाद कहानियों की केंद्रीय भावना का मूल स्रोत मिल जाता है। तथाकथित शिल्प-गठन, विचारोत्तेजना, नयी संवाद-तकनीक आदि खोजने वालों को उनसे निराशा ही हाथ लगेगी। अधिकांश कहानियों का अनुवाद सुदीप ने किया है। आवरण आकर्षक है। —डा. विष्णु भटनागर

खतरनाक आनंद

जब सोल्जेनित्सिन को सोवियत लेखक-संघ से निकाल दिया गया, उसके दो दिन बाद सड़क पर एक लेखक-मित्र से मेरी मुलाकात हो गयी। वह सामने से आ रहा था और मैंने देखा कि वह बहुत प्रसन्न है, उसका चेहरा चमक रहा है। मैं सोचने लगी—'यह प्रेम-बेम में पड़ गया है क्या ? इसकी आंखें चमक क्यों रही हैं इस कदर ?' हमने एक-दूसरे से 'हेलो' कहा, क्षण-भर रुककर बातचीत की, फिर अपनी-अपनी राह पर बढ़ गये दोनों। फिर मैं लेखक-क्लब में पहुंची। वहां उस लेखक के व मेरे एक साझे मित्र ने बताया—'वह अभी-अभी, सोल्जेनित्सिन के लेखक-संघ से निकाले जाने के बारे में बहुत सख्त विरोध-पत्र लिखकर यहां से गया है।' तब मेरी समझ में आया कि उसके चेहरे पर चमक इसलिए थी कि प्रयत्न करके वह अपने को भीतर से और खुल्लमखुल्ला बाहर से ईमानदार आदमी बनाने में सफल हो गया था।

—श्रीमती एलेना सखारोव

★

[पृष्ठ ४१ का शेष]

'अमृतानुभव' का सार बताया जाता है।

इन ग्रंथों के अलावा ज्ञानेश्वर ने स्फुट अभंगों की भी रचना की है, जो कि भक्ति-परक हैं। वारकरी संप्रदाय में 'बाप रखुमा-देवीवरु' छाप वाले उनके अभंग बड़ी श्रद्धा से गाये जाते हैं। इनमें कीर्तन, भक्ति, हरि-हर-ऐक्य, संतों की महिमा, विट्ठल एवं कृष्ण का अभेद आदि विषय विवेचित हैं।

महाराष्ट्र में ज्ञानेश्वर का स्थान अत्युच्च है। हिंदी-क्षेत्र में जो महिमा गो. तुलसीदास की है, वही महाराष्ट्र में ज्ञानेश्वर की है। उनमें हम विद्वत्ता, कवित्व और साधुत्व का त्रिवेणी-संगम पाते हैं, जिसके कारण उनका साहित्य सात सौ वर्ष पुराना होते हुए भी चिरनवीन है। उनकी वाङ्मय-गंगा में आत्मानुभवी अध्यात्म और काव्य का अपूर्व संयोग हुआ है। जनभाषा में गूढ आध्यात्मिक विचारों का ऐसा सरस एवं गरिमामय निरूपण लोकोत्तर चेतना से ही संभव है।

महाराष्ट्र में स्थित एलोरा का कैलाश मंदिर अत्यंत उच्च कोटि की स्थापत्य-कला का नमूना है। ठीक वैसी ही अद्भुत कृति है 'ज्ञानेश्वरी' भी। जिन्हें तत्त्वार्थरूपी चिंतामणि को उपलब्ध करने की कामना हो, जिन्हें गीता के दर्शन करने हों, उन्हें 'ज्ञानेश्वरी' का अध्ययन अवश्य ही करना चाहिये। उन्हें अनुभव होगा कि यह तो साक्षात् गीतारत्न-प्रासाद है।

संन्यासी के समाज-तिरस्कृत पुत्रों को समाज के प्रति विद्रोह करने का पूर्ण अधिकार था। परंतु ज्ञानेश्वर और उनके भाई-बहनों ने विरोध और प्रतिवाद के बजाय सबके प्रति मानवीयता-भरी सद्भावना, मैत्रीभाव, निर्वैरता एवं करुणा का मार्ग अपनाया। अपने आत्मिक वैभव एवं वाग्वैदग्ध्य से ज्ञानेश्वर ने सिद्ध कर दिखाया कि दुरूह एवं निगूढ अध्यात्म-विषय भी सरस काव्य रसोद्रेक से सिंचित हो सकता है। महाराष्ट्र, भारत और समूचे अध्यात्म-जगत को उनकी यह महान देन है।

—हिंदी विभाग, पूना विद्यापीठ, पूना-७

★

ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग

केले का छिलका बेकार है, ऐसा मानकर उसे फेंक देना ज्ञानमार्ग है; और यह छिलका भी उपयोगी है, ऐसा समझकर प्रेमभाव से उसे गाय को खिला देना भक्तिमार्ग है।

व्यर्थ मानकर फेंके गये केले के छिलके पर कभी किसी के फिसलकर गिरने की संभावना बनी रहती है, किंतु गाय को प्रेमभाव से खिलाया गया छिलका दूध में रूपांतरित होकर जीवन का फिर से पोषक बनेगा।

इसी तरह ज्ञानमार्ग में कभी-कभी अभिमान के कारण फिसल जाने का डर बना रहता है, जबकि भक्तिमार्ग में तो प्रेम ही प्रेम और आनंद ही आनंद होता है।

—डोंगरे महाराज

★

उम्र का सवाल

बलवीर

एक बार एक पहाड़ी कौवे ने एक मैना को देखा। वह उसे बहुत सुंदर लगी। उसके मन में आया कि मैना से शादी कर लूं। वह उससे बातें करने लगा।

बातों के दौरान कौवे ने पूछा—'तुम इतनी छोटी क्यों हो?'

'मैं अभी पूरी तरह बड़ी नहीं हुई हूं न।' मैना ने उत्तर दिया।

'तो इसका मतलब है कि तुम अभी और बड़ी होगी?'

'हां, अभी तो मेरी उम्र ही क्या है!'

कुछ देर बातें करने के बाद मैना ऊब-सी गयी और उसने कहा—'कोई दिलचस्प बात सुनाओ, नहीं तो मुझे नींद आ जायेगी।'

'जितनी चाहो सुनो,' कौवे ने कहा—'इस जंगल के उस पार एक गांव है। एक बार मैं वहां गया, तो एक खेत में मटर का पौधा देखा। वह पौधा इतना ऊंचा था कि केंचुआ उस पर चढ़कर बादलों तक पहुंच गया!'

'बस इतना-सा पौधा था वह?' मैना बोली—'पिछले साल मैंने मटर का एक इतना ऊंचा पौधा देखा कि एक टिड्डा उस पर चढ़कर सूरज तक पहुंच गया और वहां से आग ले आया।'

कौवा सोच में पड़ गया। वह चाहता था कि कोई उससे भी दिलचस्प बात सुनाऊं। कुछ देर सोचने के बाद बोला—'एक और बात याद आयी। तीन साल पहले उसी गांव में इतने जोर की हवा चली थी कि खड़े होकर चलना मुश्किल हो गया था। पेड़ तक धरती को छूने लगे थे। सो, लोग हाथ-पैरों के बल चलने लगे थे।'

'पर दस साल पहले उसी गांव में इतने जोर की हवा चली थी कि शायद ही कभी चली हो। उस हवा में गांव की पनचक्की का पंखा इतनी तेजी से घूमने लगा था कि नजर नहीं आता था।'

कौवा और ज्यादा दिलचस्प बात सोचने लगा, फिर बोला—'पंद्रह या सोलह साल पहले वहां इतनी बर्फ पड़ी थी कि सारा जंगल उसके नीचे दब गया था।'

'यह तो कुछ भी नहीं है', मैना ने कहा—'पचीस साल पहले यहां जो बर्फ गिरी थी, उसका मुकाबला नहीं किया जा सकता। पचीस साल पहले ......'—

इस पर कौवे ने मैना को बड़े गौर से देखा। अब भी वह पहले की तरह ही बहुत सुंदर लगी; पर सोचा अगर इसने पचीस साल पहले की बर्फ देखी है, तब तो मुझसे उम्र में बहुत बड़ी है और बूढ़ी हो चुकी है। सो, इससे शादी नहीं करनी चाहिये।

मैना बोले जा रही थी। कौवा कोई बहाना करके वहां से उड़ गया और फिर कभी उससे मिलने नहीं गया।

★

वार्षिक मूल्य रु. २४) (मूल्य रु. २-५०

अप्रैल (१-४-१९७६) मूल्य रु. २-५०. Regd. No. BYW